ed by Arya Samaj Foundation Chennai and eGa

2

गुलेरी रचनावली

संपादक
डॉ. मनो

R
०८१
४६२

Pub omai Guruk angri Collection, Ha

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



संपादक डा. मनोहर लाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R
०८५
४६.२

98401

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

98481

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या ०८१ / ४६.२ आगत संख्या 98481

पुस्तक—वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुलेरी रचनावली

(दो)

98481

[कालजयी साहित्यकार पं० श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी विरचित साहित्य का प्रामाणिक सम्पादित संकलन]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किताब घर

किताब घर
नयी दिल्ली-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
98461

गुलेरी रचनावली

खण्ड दो

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

संपादक

डॉ० मनोहरलाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ISBN—81-7016-084-7

© संपादक

प्रकाशक
किताबघर
२४/४८६६, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

प्रथम संस्करण
१९९१

मूल्य
पांच सौ रुपये (दो खण्ड)

मुद्रक
चोपड़ा प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

GULERI RACHANAWALI (Hindi)
Edited by Dr. Manohar Lal
Price : Rs. 500.00 (Two Volumes)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुलेरी जी के अनन्य मित्र

स्व० पं० झाबरमल्ल शर्मा

एवं

अनन्य हिंदी-सेवी

स्व० मुरारीलाल जी केडिया

की

पुण्य स्मृति

को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



बायें से खड़े : बाबू श्यामसुंदरदास, रामनारायण मिश्र, रामचंद्र शुक्ल
बैठे हुए : जगन्नाथदास 'रत्नाकर', कामताप्रसाद 'गुरु',
महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात

मैंने मनीषी साहित्यकार पं० श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रतिनिधि कृतियों को, सुधी आलोचकों के अभिमत सहित, उनकी जन्मशती (१९८३ ई०) पर **गुलेरी-साहित्यालोक** के रूप में सम्पादित करके प्रस्तुत किया था, जिसका विमोचन करते हुए अमर कथा-शिल्पी स्व० जैनेन्द्रकुमार जी ने कहा था—"गुलेरी जी विलक्षण विद्वान थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनमें गज़ब की ज़िन्दादिली थी। और, उनकी शैली भी अनोखी है। गुलेरी जी न केवल विद्वत्ता में अपने समकालीन साहित्यकारों से ऊँचे ठहरते हैं, अपितु एक दृष्टि से वह प्रेमचन्द से भी ऊँचे साहित्यकार हैं। प्रेमचन्द ने समसामयिक स्थितियों का चित्रण तो बहुत बढ़िया किया है, पर व्यक्ति-मानस के चितेरे के रूप में गुलेरी का जोड़ नहीं है। प्रेमचन्द अपने साहित्य में सामाजिक सम्बन्धों के चित्रण से आगे नहीं बढ़े, जबकि गुलेरी ने 'उसने कहा था' में ही मानवतावाद की आत्मा का स्पर्श कर लिया है। आश्चर्य है कि उनके निधन के इतने वर्ष बाद भी उनकी रचनाएं प्रामाणिक पाठ के साथ पुस्तक रूप में नहीं आ पाईं। 'गुलेरी साहित्यालोक' इस दिशा में एक प्रेरक प्रयास कहा जाएगा।"

स्व० जैनेन्द्र जी के शब्दों से मुझे विशेष प्रेरणा मिली और मैंने मन-ही-मन गुलेरी जी की अन्य रचनाओं को संकलित-सम्पादित करने का प्रण ले लिया जो **गुलेरी-रचनावली** के रूप में साकार हो सका है। मैंने इसमें तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे उनके कृतित्व को—कथा/कहानी, निबंध/लेख, शोध, पुरानी पाण्डुलिपियां, संस्मरण, इंटरव्यू, वैदिक और पौराणिक साहित्य, लोककला, राजनीति/धर्म, समीक्षा, काव्य तथा जीवनचरित; और पुरानी हिंदी, भाषा, इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, विविध, टिप्पणियां, पत्र-साहित्य, संस्कृत-साहित्य तथा अंग्रेजी-साहित्य शीर्षकों के अन्तर्गत रख दिया है जिससे उनकी तलस्पर्शी गुरुगम्भीर बहुआयामी सृजनशीलता का परिचय हो सके। यही नहीं, प्रत्येक रचना के प्रामाणिक पाठ के साथ उसके प्रथम प्रकाशन का विवरण भी दिया है। गुलेरी जी की यह गद्य-सृष्टि उस समय खड़ीबोली के बन रहे रूप-स्वरूप की प्रामाणिक परिचायिका है। उनके भाषा-प्रयोग—उनने, जिनने, सबके, करै, करें, चाहै, पावै, पावें, चलावें, कहें, कहैं, रहै, तो, हो, हों, छै, कैसं, लेवै आदि को को यथावत् रहने दिया है, उनकी भाषा में तद्भव तथा देशज शब्दों की बहुलता है।

'रचनावली' में, गुलेरी जी का लगभग ९५ प्रतिशत कृतित्व ही अभी संचित हो पाया है। अभी 'भारतमित्र', 'पाटलीपुत्र' तथा 'अभ्युदय' में भी दर्जनों रचनाएं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने की संभावना है जिनकी खोज तथा पहचान शेष है। 'पहचान' इसलिए कि उन्होंने 'कण्ठा', 'कौस्तुभ का कण्ठा', 'बी० ए०', 'एक ब्राह्मण', 'स्पष्टवक्ता', 'घर-घूमन दादा', 'चिट्ठीवाला', 'प्रतिनिधि' तथा 'समालोचक' आदि छद्मनामों से भी लिखा है। उनको लिखे गए पत्रों में ऐसे उल्लेख हैं कि उनकी रचनाएं उनके नामोल्लेख के बिना भी छपी हैं। 'भारत मित्र' इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

गुलेरी जी की रचनाओं की मोटी पहचान यह है कि उनमें हिमाचली पहाड़ी (कांगड़ी) के शब्द निहित रहते हैं। इसलिए उनके समय की छद्मनामी या अनामी जिन रचनाओं में यह प्रवृत्ति मिले, उन्हें बेखटके उनकी रचनाओं में सम्मिलित किया जा सकता है। विश्वास है, विज्ञ पाठक एवं विद्वान गुलेरी जी की कृतियों के संधान में अपनी जानकारियों से लाभान्वित करेंगे।

'परिशिष्ट' में अन्याय की जानकारियों के साथ-साथ 'गुलेरी साहित्यालोक' तथा 'पुरानी हिंदी और शेष रचनाएं' में दी गई 'रचना-सूची' को संशोधित तथा परिवर्धित करके प्रस्तुत किया है, अब इसे ही प्रामाणिक माना जाए।

गुलेरी जी की रचनाओं के संधान में मुझे श्यामसुंदर शर्मा (स्व० झाबरमल्ल शर्मा के पौत्र), ओंकारलाल मेनारिया, कलानाथ शास्त्री, जयपुर, स्व० मुरारीलाल केडिया, काशी तथा गुलेरी बंधुओं का विशेष सहयोग मिला है। मैं आप सब के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूं।

'रचनावली' के संयोजन तथा सम्पादन-कार्यकाल में गुलेरी जी के संस्कृत-वर्चस्व को समझने में बाल-साहित्यकार स्व० पं० संतराम वत्स्य का सच्चा मार्ग-दर्शन मिला था। उनकी स्मृति को मेरा नमन !

'रचनावली' के विन्यास में आदरणीय श्री कृष्ण विकल जी ने मुझे श्री वत्स्यजी का अभाव नहीं खलने दिया। आपके प्रति औपचारिक धन्यवाद ज्ञापित करके उऋण हो पाना मेरे लिए कतई सम्भव नहीं है।

मैं उन सब विद्वानों, मित्रों तथा पाठकों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करता हूं जिन्होंने मेरे प्रथम प्रयास 'गुलेरी साहित्यालोक' को सराहा और इस दिशा में और अधिक काम करने के लिए प्रेरित किया। साथ ही उन विद्वानों का भी विशेष ऋणी हूं जिनकी कृतियों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सहायता मिली।

प्रकाशक भाई सत्यव्रत जी शर्मा का मैं इसलिए विशेष आभारी हूं कि उन्होंने गुलेरी जी के अज्ञात और उपेक्षित पड़े दुर्लभ कृतित्व को सुचारु रूप से प्रकाशित करके हिंदी-जगत् को सौंपा है।

चोपड़ा-बंधु इस कृति को सघन रुचि के साथ छापने के लिए साधुवाद के पात्र हैं।

—मनोहरलाल

रीडर एवं अध्यक्ष : हिन्दी-विभाग
श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स, दिल्ली
श्रीकृष्णजन्माष्टमी, २०४८ वि०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

प्रथम खंड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय खण्ड

शेष साहित्य

भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास

पुरातत्त्व

विज्ञान

विविध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्र-साहित्य

खुली चिट्ठियां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत-साहित्य

अंग्रेजी साहित्य

परिशिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहला भाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरानी हिन्दी

हिंदुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे 'संस्कृत' कहते हैं, परन्तु जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मँजी, छँटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरौने के बांध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारोंवाली, छोड़ी बड़ी, पथरीली, रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिए कैसा कुछ आन्दोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। सदा इस **संस्कृत** नहर को देखते-देखते हम **असंस्कृत** या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और, फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छंद होकर समतल और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़कर जल-स्वभाव से कहीं टेढ़ा कहीं सीधा, कहीं गँदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति—हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण का आरम्भ ही यों किया है कि संस्कृत प्रकृति है, उससे आया, इसलिए 'प्राकृत' कहलाया—यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। संभव है कि हमें इसका फिर भी काम पड़े। वेद या छंदस् की भाषा का जितना सात्म्य पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्ग-क्रम यह है—

१-मूल भाषा २-छंदस् की भाषा, < ३-प्राकृत ५-अपभ्रंश / ४-संस्कृत

संस्कृत अजर-अमर तो हो गई किन्तु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था। हां, उसकी सम्पत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश, और पीछे हिन्दी आदि भाषाएं पुष्ट होती गईं और उसने भी समय-समय पर इनकी भेंट स्वीकार की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरानी हिन्दी

हिंदुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे 'संस्कृत' कहते हैं, परन्तु जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मँजी, छँटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरीने के बांध से उसमें सारा जल खेंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारोंवाली, छोड़ी बड़ी, पथरीली, रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिए कैसा कुछ आन्दोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। सदा इस संस्कृत नहर को देखते-देखते हम असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और, फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छंद होकर समतल और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़कर जल-स्वभाव से कहीं टेढ़ा कहीं सीधा, कहीं गँदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति—हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण का आरम्भ ही यों किया है कि संस्कृत प्रकृति है, उससे आया, इसलिए 'प्राकृत' कहलाया—यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। संभव है कि हमें इसका फिर भी काम पड़े। वेद या छंदस् की भाषा का जितना सात्म्य पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्ग-क्रम यह है—

१-मूल भाषा २-छंदस् की भाषा, < ३-प्राकृत ५-अपभ्रंश / ४-संस्कृत

संस्कृत अजर-अमर तो हो गई किन्तु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था। हां, उसकी सम्पत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश, और पीछे हिन्दी आदि भाषाएं पुष्ट होती गईं और उसने भी समय-समय पर इनकी भेंट स्वीकार की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक (छंदस् की) भाषा का प्रवाह प्राकृत में बहता गया और संस्कृत में बंध गया। इसके कई उदाहरण हैं—

१. वेद में 'देवा:' और 'देवास:' दोनों हैं, संस्कृत में केवल 'देवा:' रह गया और प्राकृत आदि में 'आसस्' (दुहरे 'जस्') का वंश 'आओ' आदि में चला गया।

२. 'देवै:' की जगह 'देवेभि:' (अधरेहिं) कहने की स्वतंत्रता प्राकृत को रिक्थक्रम (विरासत) में मिली, संस्कृत को नहीं।

३. संस्कृत में तो अधिकरण का 'स्मिन्' सर्वनाम में ही बंध गया, किन्तु प्राकृत में 'म्मि', 'म्हि' होता हुआ हिन्दी में 'में' तक पहुंचा।

४. वैदिक भाषा में षष्ठी या चतुर्थी के यथेच्छ प्रयोग की स्वतंत्रता थी, वह प्राकृत में आकर चतुर्थी विभक्ति को ही उड़ा गई, किन्तु संस्कृत में दोनों, पानी उतर जाने पर चट्टानों पर चिपटी हुई काई की तरह रह गईं।

५. वैदिक भाषा का 'व्यत्यय' और 'बाहुलक' प्राकृत में जीवित रहा और परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में एक विभक्ति 'ह', 'हँ' बहुत 'ही'; से कारकों का काम देने लगी, संस्कृत की तरह लकीर ही नहीं पिटती गई।

६. संस्कृत में पूर्वकालिक का एक 'त्वा' ही रह गया और 'य' भिच गया, इधर 'त्वान' और 'त्वाय' और 'य' स्वतन्त्रता से आगे बढ़ आए (देखो, आगे)।

७. क्रियार्था क्रिया (Infinitive of Purpose) के कई रूपों में से (जो धातुज शब्दों के द्वितीया, षष्ठी या चतुर्थी के रूप हैं) संस्कृत के हिस्से में 'तुम्' ही आया और इधर कई।

८. 'कृ' धातु का अनुप्रयोग संस्कृत में केवल कुछ लम्बे धातुओं के परोक्ष भूत में रहा, छंदस् की भाषा में और जगह भी था, किन्तु अनुप्रयोग का सिद्धान्त अपभ्रंश और हिन्दी तक पहुंचा।

यह विषय बहुत ही बढ़ाकर उदाहरणों के साथ लिखा जाना चाहिए, इस समय केवल प्रसंग से इसका उल्लेख ही कर दिया गया है।

अस्तु। अकृत्रिम भाषाप्रवाह में (१) छंदस् की भाषा, (२) अशोक की धर्मलिपियों की भाषा, (३) बौद्धग्रंथों की पाली, (४) जैनसूत्रों की मागधी, (५) ललितविस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और (६) खरोष्ठी और प्राकृत शिलालेखों और सिक्कों की अनिर्दिष्ट प्राकृत, ये ही पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा 'मागधी' या 'अर्द्धमागधी' कही गई है। उसे 'आर्ष प्राकृत' भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देशभेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की छांट की, किन्तु मागधीवाले कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण बोलते थे।[1] जिन पुराने नमूनों का हम उल्लेख

१. हेमचंद्र ने 'जिणिदाण वाणी' को 'देशीनाममाला' के आरंभ में 'असेसभ सपरिणामिणी' कहकर वंदना करते हुए क्या अच्छा अवतरण दिया है—

देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शार्बरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर चुके हैं वे देशभेद के अनुसार इस नामकरण में किसी एक में ही अन्तर्भूत नहीं हो सकते। बौद्धभाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिए हुए है, सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी है, शुद्ध प्राकृत के नमूने जैन सूत्रों में मिलते हैं। यहां दो बातें और देख लेनी चाहिएं। एक, तो जिस किसी ने प्राकृत का व्याकरण बनाया, उसने प्राकृत को भाषा समझकर व्याकरण नहीं लिखा। ऐसी साधारण बातों को छोड़कर कि प्राकृत में द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं है, सारे प्राकृत-व्याकरण केवल संस्कृत-शब्दों के उच्चारण में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं इनकी परिसंख्या-सूची मात्र हैं। दूसरी यह कि संस्कृत-नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत-व्याकरण के नियमों से, त की जगह य और क्ष की जगह ख रखकर, सांचे पर जमा कर, गढ़ी गई है। वह संस्कृत-मुहाविरों का नियमानुसार किया हुआ रूपान्तर है, प्राकृति भाषा नहीं। हां, भास के नाटकों की प्राकृत शुद्ध मागधी है। पुराने काल की प्राकृत-रचना, देशभेद के नियत हो जाने पर, या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में; शौरसेनी, पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देशभेद मात्र रह गईं, जैसा कि प्राकृत-व्याकरणों में उन पर कितना ध्यान दिया गया है, इससे स्पष्ट है। मागधी अर्धमागधी तो आर्ष प्राकृत रहकर जैन सूत्रों में ही बंद हो गई, वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई। प्राकृत-व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरी तरह विवेचन कर उसी को आधार मानकर, शौरसेनी आदि के अन्तर को उसी के अपवादों की तरह लिखा है। या यों कह दो कि देशभेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत-साहित्य की प्राकृत एक ही थी। जो पद पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को मिला। वह परम प्राकृत और सूक्ति-रत्नों का सागर कहलाई। राजाओं ने उसकी कदर की। हाल (सातवाहन) ने उसके कवियों की चुनी हुई रचना की 'सतसई' बनाई, प्रवरसेन ने सेतुबंध से अपनी कीर्ति उसके द्वारा सागर के पार पहुंचाई, वाक्पति ने उसी में गौड़वध किया किन्तु यह पंडिताऊ प्राकृत हुई, व्यवहार की नहीं। जैनों ने धर्म-भाषा मानकर उसका स्वतंत्र अनुशीलन किया और मागधी की तरह महाराष्ट्री भी जैन-रचनाओं में ही शुद्ध मिलती है। और, छन्दों के होने पर भी जैसे संस्कृत का 'श्लोक' अनुष्टुप् छन्दों का राजा है, वैसे प्राकृत की रानी 'गाथा' है, लम्बे छंद प्राकृत में आए कि संस्कृत की परछाईं स्पष्ट देख पड़ी। प्राकृत कविता का आसन ऊंचा हुआ। यह कहा गया है कि देशी शब्दों से भरी प्राकृत कविता के सामने संस्कृत की कौन सुनता है[1] और राजशेखर ने, जिसकी प्राकृत उसकी संस्कृत के समान ही

---

१. ललिए महुरक्खरए जुबईयणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढ़िउं॥

(बज्जालग्ग, २६)

(ललित, मधुराक्षर, युवतीजनबल्लभ, सश्रृंगार प्राकृत कविता के होते हुए संस्कृत कौन पढ़ सकता है?)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्र और उद्भट है, प्राकृत को मीठी और संस्कृत को कठोर कह डाला।[1]

शौरसेनी और पैशाची (भूत भाषा)

इन प्राकृतों के भेद[2] में से हमें शौरसेनी और पैशाची का देशनिर्णय करना है। यद्यपि ये दोनों भाषाएं मागधी और महाराष्ट्री से दब गई थीं और इनका विवेचन व्याकरणों में गौण या अपवाद रूप में ही किया गया है तथापि हिन्दी से इनका बड़ा सम्बन्ध है। शौरसेनी तो मथुरा ब्रजमण्डल आदि की भाषा है। इसमें कोई बड़ा स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता, किन्तु इसका वही क्षेत्र है जो ब्रजभाषा, खड़ीबोली और रेखते की प्रकृत भूमि है। पैशाची का दूसरा नाम 'भूतभाषा' है। यह गुणाढ्य की अद्भुतार्था 'बृहत्कथा' से अमर हो गई है। वह 'बड्डकथा' अभी नहीं मिलती। दो कश्मीरी पंडितों (क्षेमेंद्र और सोमदेव) के किए उसके संस्कृत-अनुवाद मिलते हैं (बृहत्कथामंजरी और और कथासरित्सागर)। कश्मीर का उत्तरी प्रांत पिशाच (पिश्—कच्चा मांस, अश्—खाना) या 'पिशाश देश' कहलाता था और कश्मीर ही में 'बृहत्कथा' का अनुवाद मिलने से 'पैशाची' वहां की भाषा मानी जाती थी। किन्तु वास्तव में 'पैशाची' या 'भूतभाषा' का स्थान राजपूताना और मध्य भारत है। मार्कंडेय ने प्राकृत-व्याकरण में 'बृहत्कथा' को 'केकयपैशाची' में गिना है। केकय तो कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रांत है। संभव है कि मध्यभारत की भूतभाषा की मूल 'बृहत्कथा' का कोई रूपांतर उधर हुआ हो जिसके आधार पर कश्मीरियों के संस्कृतानुवाद हुए हैं।[3] राजशेखर ने, जो विक्रम संवत् की दसवीं शताब्दी के मध्य भाग में था, अपनी 'काव्यमीमांसा' में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें उस समय के भाषानिवेश की चर्चा है—"गौड़ (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाटदेशियों की रुचि प्राकृत में परिचित है, मरुभूमि, टक्क (टांक, दक्षिण-पश्चिमी पंजाब) और भादानक[4] के वासी अपभ्रंश प्रयोग करते हैं, अवंती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चंबल का निकास) और दशपुर (मंदसोर) के निवासी 'भूत-भाषा' की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश में (कन्नौज, अंतर्वेद पंचाल आदि) रहता है वह सर्व भाषाओं में स्थित है।"

राजशेखर को भूगोल-विद्या से बड़ी दिलचस्पी थी। 'काव्यमीमांसा' का एक अध्याय का अध्याय भूगोल-वर्णन को देकर वह कहता है कि विस्तार देखना हो तो

---

१. परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरुष महिलाणं जेन्तिअमिहन्तरं तेत्तियमिमाणं ॥ (कर्पूरमंजरी)
(संस्कृत की रचना परुष और प्राकृत-रचना सुकुमार होती है, जितना पुरुष और स्त्रियों में अंतर होता है उतना इन दोनों में है।)

२. अगले लेखों में इस विषय पर कुछ और आता जायगा।

३. लाकोटे, वियना ओरिएंटल सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ६४, पृ० ९५ आदि।

४. बीजोल्यां के लेख में भी 'भादानक' का उल्लेख है, यह प्रांत राजपूताने में ही होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा बनाया 'भुवनकोश' देखो। अपने आश्रयदाता की राजधानी महोदय (कन्नौज) का उसे बड़ा प्रेम था। कन्नौज और पांचाल की उसने जगह-जगह पर बहुत बड़ाई की है। महोदय (कन्नौज) को मानो भूगोल का केन्द्र माना है, कहा है दूरी की नाप महोदय से ही की जानी चाहिए, पुराने आचार्यों के अनुसार अंतर्वेदी से[1] नहीं। इस महोदय की केन्द्रता को ध्यान में रखकर उसका बताया हुआ राजा के कविसमाज का निवेश बड़ा चमत्कार दिखाता है। वह कहता है कि राजा कविसमाज के मध्य में बैठे, उत्तर को संस्कृत के कवि (कश्मीर पांचाल), पूर्व को प्राकृत (मागधी की भूमि मगध) पश्चिम को अपभ्रंश (दक्षिण पंजाब और मरुदेश) और दक्षिण को 'भूतभाषा' (उज्जैन, मालवा, आदि) के कवि बैठें।[2] मानो राजा का कविसमाज भौगोलिक भाषानिवेश का मानचित्र हुआ। यों कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अंतर्वेद, पांचाल और शूरसेन और इधर मरु, अवंती, पारियात्रा और दशपुर—'शौरसेनी' और 'भूतभाषा' के स्थान थे।

अपभ्रंश

बाँध से बचे हुए पानी की धाराएं मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं। उनमें देशी की धाराएं भी आकर मिलती गईं। देशी और कुछ नहीं, बाँध से बचा हुआ पानी है या वह जो नदी-मार्ग पर चला आया, बाँधा न गया। उसे भी कभी-कभी छानकर नहर में ले लिया जाता था। बाँध का जल भी रिसता-रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा। अब सूत से नपे किनारे और नियत गहराई नहीं रही। राजशेखर ने संस्कृत-वाणी को सुनने योग्य, प्राकृत को स्वभाव-मधुर, अपभ्रंश को सुभव्य और भूतभाषा को सरस कहा है।[3] इन विशेषणों की साभिप्रायता योग्य है। वह यह भी कहता है कि कोई बात एक भाषा में कहने से अच्छी लगती है, कोई दूसरी में, कोई दो तीन में।[4] उसने काव्यपुरुष का शरीर शब्द और अर्थ का बनाया है जिसमें संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघनस्थल, पैशाच को पैर और मिश्र को 'उरु' कहा है। विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह 'पुरानी हिन्दी' में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है। विभक्तियां घिस गई हैं, खिर गई हैं, एक ही विभक्ति 'हैं' या 'आहैं' कई काम देने लगी है। एक कारक की विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगा है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियों के खिर जाने से कई अव्यय या पद लुप्तविभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो विभक्तियां नहीं हैं। क्रियापदों में मार्जन हुआ। हां, इसने केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद नहीं

१. विनशनप्रयागयोर्गंगायमुनयोश्चान्तरर्वेदी। तदपेक्षया दिशो विभजेत इत्याचार्याः। तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्य इति यायावरः। (काव्यमीमांसा, पृ० ९४)
२. काव्यमीमांसा; पृ० ५४-५५
३. बालरामायण
४. काव्यमीमांसा, पृ० ४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए, किन्तु धनवती अपुत्रा मौसी से भी कई तत्सम पद लिए[1]। साहित्य की प्राकृत साहित्य की भाषा ही हो चली थी, वहां 'गत' भी 'गय' और 'गज' भी 'गय', काच, काक, काय = (शरीर) कार्य सबके लिए 'काय'। इसमें भाषा के प्रधान लक्षण—सुनने से अर्थबोध—का व्याघात होता था। अपभ्रंश में दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं। जैसे शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि भेदों के होते हुए भी प्राकृत एक ही थी वैसे शौरसेनी अपभ्रंश, पैशाची अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि होकर एक ही अपभ्रंश प्रबल हुई। हेमचंद्र ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आधार पर है। मार्कंडेय ने एक 'नागर' अपभ्रंश की चर्चा की है जिसका अर्थ नगरवासी (चतुर, शिक्षित, गँवई से विपरीत) लोगों की भाषा, या गुजरात के नागर ब्राह्मणों या नगर (वडनगर, वृद्ध नगर) के प्रांत की भाषा हो सकती है। गुजरात की अपभ्र श-प्रधानता की चर्चा आगे है। किन्तु उसके उस नगर का 'वडनगर' या 'नगर' नाम प्राचीन नहीं है इसलिये 'नगर की भाषा' अर्थ मानने पर मार्कंडेय के व्याकरण की प्राचीनता में शंका होती है।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में कई श्लोक दिए हैं जिनमें वर्णन किया है कि किस देश के मनुष्य किस तरह संस्कृत और प्राकृत पढ़ सकते हैं। यहां इस पाठ-शैली के वर्णन की चर्चा कर देनी चाहिए। यह वर्णन रोचक भी है और कई अंशों में अब तक सत्य भी। उच्चारण का ढंग भी कोई चीज है। वह कहता है कि काशी से पूर्व की ओर से जो मगध आदि के देशों वासी हैं वे 'संस्कृत' ठीक पढ़ते हैं किन्तु 'प्राकृत भाषा' में कुंठित हैं। बंगालियों की हँसी में उसने एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सरस्वती ब्रह्मा से प्रार्थना करती है कि मैं बाज आई, मैं इस्तीफा पेश करती हूं या तो गौड़ लोग गाथा पढ़ना छोड़ दें या कोई दूसरी ही सरस्वती बनाई जाय।[2]

गौड़ देश में ब्राह्मण न अतिस्पष्ट, न अश्लिष्ट, न रूक्ष न अति कोमल, न मंद और न अतिसार स्वर से पढ़ते हैं। चाहे कोई रस हो, कोई रीति हो, कोई गुण हो, कर्णाट लोग घमंड से अंत में टंकारा देकर पढ़ते हैं। गद्य पद्य, मिश्र कैसा ही काव्य हो, द्रविड़ कवि गाकर ही पढ़ेगा। संस्कृत के द्वेषी लाट प्राकृत को ललित मुद्रा से सुंदर पढ़ते हैं। सुराष्ट्र[3], त्रवण[4] आदि संस्कृत में अपभ्रंश के अंश मिलाकर एक ही तरह पढ़ते हैं। शारदा

---

१. तद्भव प्रयोगों के अधिक घिस जाने पर भाषा में एक अवस्था आती है जब शुद्ध तत्समों का प्रयोग करने की टेव पड़ जाती है। हिंदी में अब कोई 'जस' या 'गुनवंत' नहीं लिखता, 'यश' और 'गुणवान्' लिखते हैं। बोलें चाहे तरों, परसोतम् और हर्‌किसुन, लिखेंगे तरह, पुरुषोत्तम और हरकृष्ण।

२. ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौड़(स्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती॥

३. सोरठ—गुजरात काठियावाड़।

४. पश्चिमी राजपूताना। जोधपुर के राजा वाउक के वि० सं० ८९४ के शिलालेख में उसके चौथे पूर्वपुरुष शिलुक का त्रवणी और वल्ल देश तक अपने राज्य की सीमा नियत करना कहा गया है। वल्ल देश भाटियों का जैसलमेर है, त्रवणी उसके दक्षिण में होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रसाद से कश्मीरी सुकवि होते हैं किन्तु उनका पाठक्रम क्या है कान में मानो गिलोय की पिचकारी है। उत्तरापथ के कवि बहुत संस्कार होने पर भी गुन्ना (नाक में) पढ़ते हैं। पांचाल देश वालों का पाठ तो कानों में शहद बरसाता है, उसका कहना ही क्या।[1]

पुरानी अपभ्रंश 'संस्कृत' और 'प्राकृत' से मिलती है और पिछली 'पुरानी हिन्दी' से। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही 'पुरानी हिन्दी' की भूमि है। अंतर्वेद, व्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र—यहीं की यह भाषा एक ही मुख्य अपभ्रंश थी जैसे पहले देशभेद होने पर भी एक प्राकृत थी। अभी 'अपभ्रंश' के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं, न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। 'अपभ्रंश' कहां समाप्त होती है और 'पुरानी हिन्दी' कहां आरम्भ होती है। उसका निर्णय करना कठिन, किन्तु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें 'अपभ्रंश' भी कह सकते हैं, 'पुरानी हिन्दी' भी। संस्कृत-ग्रंथों में लिखे रहने के कारण 'अपभ्रंश' और 'पुरानी हिन्दी' की लेखशैली की रक्षा हो गई जो मुखसुखार्थ लेखनशैली में बदलती-बदलती ऐसी हो जाती कि उसे प्राचीन समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उसी प्राचीन लेखशैली को हिन्दी की उच्चारणानुसारिणी शैली पर लिख दें (जिस प्रकार कि वह अवश्य ही बोली जाती होगी) तो अपभ्रंश-कविता केवल पुरानी हिन्दी हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती। इसलिये यह नहीं कह सकते कि पुरानी हिन्दी का काल कितना पीछे हटाया जाय। हिन्दी उपमावाचक 'जिमि' या 'जिम' ऐसी पुरानी कविता में 'जिम्वँ' लिखा मिलता है। उसके उच्चारण में प्रथम स्वर संयुक्ताक्षर के पहले होने से गुरु नहीं हो सकता (जिम्म्व) क्योंकि जिस छंद में वह आया है उसका भंग होता है। इसलिये चाहे वह 'जिम्वँ' लिखा हो उसका उच्चारण 'जिंव' था जो 'जिम' ही है। संस्कृत 'उत्पद्यते' का प्राकृत रूप 'उप्पज्जइ' है जो छंट-खिरकर 'उप्पजइ' के रूप में है। अब यह 'उप्पजई' अपभ्रंश माना जाय या पुरानी हिन्दी? 'जइ' का उच्चारणानुसार लेख करने से 'उपजै' हो जाता है (संयुक्त प्रकार के कारण 'उ' की मात्रा की गुरुता मानकर 'उपजै' सही) जिसे हम हिन्दी पहचानते हैं। सम्भव है कि जैसे आजकल हिन्दी के विद्वानों में 'गये' 'गए' पर दलादली है वैसे ही 'उपज्जइ, उपजइ, उपजै, ऊपजै' पर कई शताब्दियों तक चली हो, यद्यपि उसे अरुंतुद बनाने के लिए छापाखाना न था।

इन पोथियों के लिखने वाले संस्कृत के पंडित या जैन साधु थे। संस्कृत-शब्दों को तो उन्होंने शुद्धि से लिखा, प्राकृत को भी, किन्तु इन कविताओं की लेखशैली पर

---

१. मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां
संपूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यान नहीं दिया। कभी पुराना रूप रहने दिया, कभी व्यवहार में परिचित नया रूप धर दिया। यह आगे के पाठांतरों से जान पड़ेगा।

ऐसी कविता के लिए 'पुरानी हिन्दी' शब्द जान-बूझकर काम में लिया गया है। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेलकर बनाए गए हैं। भेदबुद्धि दृढ़ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक ही-सी थी। जैसे, नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाखा' कहलाती थी वैसे अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।

पिछले समय में भी हिन्दी कवि संत लोग विनोद के लिये एकआध पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी वाणियां 'भाखा' में लिखते रहे जैसे कि कुछ शौरसेनी, पशाची का छींटा देकर कविता महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती थी। मीराबाई के पद 'पुरानी हिन्दी' कहे जायं या गुजराती या मारवाड़ी ? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाड़ी या हिन्दी ? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी। जैसे अपभ्रंश में कहीं-कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदास जी 'रामायण' को पूरबी भाषा में लिखते-लिखते संस्कृत में चले जाते हैं।[1] यदि छापाखाना, प्रांतीय अभिमान, मुसलमानों का फारसी अक्षरों का आग्रह, और नया प्रांतिक उद्बोधन न होता तो हिन्दी अनायास ही देशभाषा बनी जा रही थी। अधिक छपने छापने, लिखने और झगड़ों ने भी इस गति को रोका।

आजकल लोग 'पृथ्वीराजरासो' की भाषा को हिन्दी का प्राचीनतम रूप मानते हैं, उसका विचार हम 'अपभ्रंश' के अवतरणों के विचार के पीछे करेंगे किन्तु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं को 'पुरानी हिन्दी' नहीं कहा जाय तो 'रासो' की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाड़ी गुजराती-मारवाड़ी-चारणी-भाटी' कहना चाहिए, हिन्दी नहीं। ब्रजभाषा भी हिन्दी नहीं और तुलसीदासजी की मधुर उक्तियां भी हिन्दी नहीं।

यह पुरानी कविता बिखरी हुई मिलती है कोई मुक्तक श्रृंगार रस की कविता, कोई वीरता की प्रशंसा, कोई ऐतिहासिक बात, कोई नीति का उपदेश, कोई लोकोक्ति और वह भी व्याकरण के उदाहरणों में या कथाप्रसंग में उद्धृत। मालूम होता है कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था। उसमें 'महाभारत' और 'रामायण' की पूरी या उनके आश्रय पर बनी हुई छोटी-छोटी कथाएं थीं। 'ब्रह्म' और 'मुंज' नाम के कवियों का पता चलता है। जैसे प्राकृत के पुराने रूप भी श्रृंगार की चटकीली मुक्तक गाथाओं में (सातवाहन की सप्तशती) या जैन धर्मग्रन्थों में हैं, वैसे पुरानी हिन्दी के नमूने भी या तो श्रृंगार वा वीर रस के अथवा कहानियों के चुटकुले हैं या जैन धार्मिक रचनाएं। हेमचंद्र की बड़ी बड़ाई कीजिए कि उसने प्राकृत उदाहरणों में तो पद वा वाक्यों के टुकड़े

---

१. जैसे—कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख अहममलिनजनेषु।
रन जीति रिपुदलमध्यगत पस्यामि राममनामय ।। इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही दिए, पर ऐसी कविताओं के पूरे छन्द उद्धृत किए। इसका कारण यही जान पड़ता है कि जिन पंडितों के लिये उसने व्याकरण बनाया वे साधारण मनुष्यों की 'भाखा' कविता को वैसे प्रेम से नहीं कंठस्थ करते थे जैसे संस्कृत और प्राकृत को।

संस्कृत के श्लोक और प्राकृत की गाथा की तरह इस कविता का राजा 'दोहा' है। सोरठा, छप्पय, गीत आदि और छंद भी हैं, पर इधर दोहा और उधर गाथा ही पुरानी हिन्दी और प्राकृत का भेदक है। 'दोहा' का नाम कई संस्कृताभिमानियों ने 'दोधक'[1] बनाया है किन्तु शाब्दिक समानता को छोड़कर इसमें कोई सार नहीं है और संस्कृत में दोधक छंद दूसरा होने से इसमें धोखे की सामग्री भी है। दोहा पद की निरुक्ति दो की संख्या से है, जैसे चौपाई और छप्पय की—दो + पद, दो + पथ, या दो + गाथा। 'प्रबंधचिंतामणि' में एक जगह एक प्राकृत का 'दोधक' भी दिया है जो दोहा छंद में है। पूर्वार्ध सपादलक्ष (अजमेर-सांभर) के राजा ने समस्या की तरह भेजा था और उत्तरार्द्ध की पूर्ति हेमचंद्र ने की थी।[2] यह ऐसा ही विरल विनोद जान पड़ता है जैसा कि आजकल हमारे मित्र भट्ट मथुरानाथ जी के संस्कृत के मनहर दंडक और सवैये। 'प्रबंधचिंतामणि' में ही एक जगह दो चारणों को 'दोहाविद्यया स्पर्धमानौ' अर्थात् दोहाविद्या से होड़ाहोड़ी करते हुए कहा गया है। उनकी कविताओं में एक दोहा है, एक सोरठा, किन्तु रचना 'दोहाविद्या' कही गई है यह बात ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार रेखता छंद से रेखते की बोली कहला गई थी (रेखते के उस्ताद तुमही नहीं हो गालिब !)।

'पुरानी हिन्दी' का गद्य बहुत कम लिखा हुआ मिलता है। पद्य दो तरह रक्षित हुआ है, मुख से और लेख से। दोनों तरह की रक्षा में लेखक के हस्तमुख और वक्ता के मुखसुख से इतने परिवर्तन हो गए हैं कि मूल शैली की विरूपता हो गई है। लिखनेवाला प्रचलित भाषा के ग्रन्थों या लोकप्रिय काव्यों में 'मक्खी के लिए मक्खी' नहीं लिखता। उसके बिना जाने ही कलम नए रूपों पर चल जाती है। गुसाइंजी के 'तइसइ' 'जुगुति' 'कालसुभाउ' 'अउरउ' अब क्रम से 'तैसेहि', 'युक्ति', 'कालस्वभाव' और 'औरो' हो गए हैं। जो कविता के मुख से कान, मुख से कान, चलती है उसमें तो बहुत ही परिवर्तन हो जाते हैं। हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण' (आठवें अध्याय) के उदाहरणों में एक 'अपभ्रंश' या 'पुरानी हिंदी' के दोहे को लीजिए। अपभ्रंश और और 'पुरानी हिन्दी' में सीमारेखा बहुत ही अस्पष्ट है और जैसा कि आगे स्पष्ट हो जाएगा, पुरानी हिन्दी का समय बहुत ऊपर चढ़ जाता है। वह दोहा यह है—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥

[वियोगिनी कौआ उड़ाने लगी कि मेरा पिया आता हो तो उड़ जा। इतने में

१. प्रबंधचिंतामणि, पृ० ५६, १५७

२. पइली ताव न अनुहरइ गोरीमुहकमलस्स।
अदिट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चंदस्स॥ प्र० चिं०, पृ० १५७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने अचानक पिया को देख लिया। कहां तो वह वियोग में ऐसी दुबली थी कि हाथ बढ़ाते ही आधी चूड़ियां जमीन पर गिर पड़ीं और कहाँ हर्ष से इतनी मोटी हो गई कि बाकी चूड़ियां तड़-तड़ कर चटक गईं।]

चारणों के मुख से कई पीढ़ियों तक निकलते-निकलते राजपूताने में इस दोहे का अब मंजा हुआ रूप प्रचलित है—

काग उड़ावन जाँवती, पिय दीठो सहसत्ति।
आधी चूड़ी कागगल, आधी टूट तडित्ति॥

निशाना ठीक लग गया, चूड़ियां जमीन पर न गिर कर कौए के गले में पहुंच गईं और चूड़ी टूटने का अशकुन भी मिट गया।

उसी व्याकरण में से एक दोहा और लीजिए—

पुत्तें जाएं कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

[उस बेटे के जन्म लेने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि कि जिसके होते बाप की धारती पर दूसरा अधिकार कर ले।]

इस दोहे का परिवर्तन होते-होते यह रूप हो गया है—

बेटा जायाँ कवण गुण, अवगुण कवण धियेण[1]।
जो ऊभाँ[2] धर[3] आपणी, गंजीजै[4] अवरेण[5]॥

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मूल दोहे में 'मुये पुत्र से क्या अवगुण' कहा गया है किन्तु पीछे, स्त्री जाति की ओर अपमान बुद्धि बढ़ जाने और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी (—पुत्री, संस्कृत—दुहितृ, पंजाबी—धी) से क्या अवगुण' हो गया है। अस्तु। ऐसी दशा में जो पुरानी कविता या गद्य संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण और छन्द आदि के ग्रन्थों में, बच गया है, वह पुराने वर्णविन्यास की रक्षा के साथ उस समय की भाषा का वास्तव रूप दिखाता है।

---

१. धी से, पुत्री से।
२. खड़े-खड़े।
३. पृथ्वी, धरा।
४. गंजन की जाय, जीती जाय।
५. मलसीसर के ठाकुर श्री भूरसिंहजी का विविध संग्रह, पृ० ४८। इस संग्रह में यह दोहा तथा 'एहि ति घोड़ा एहि थल०—' वाला दोहा ठाकुर साहब ने कविवर हेमचंद्र के नाम से दिया है किंतु ये हेमचंद्र की रचना नहीं हैं, उससे पहले के हैं, उसने अपने व्याकरण में उदाहरण की तरह और बहुत-सी कविता के साथ दिए हैं। 'एहि ति घोड़ा०' की चर्चा यथास्थान होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तथा अग्रिम लेखों में 'दोहाविद्या' के उदाहरण संग्रह किए जाएंगे। आवश्यक कथाप्रसंग तथा मूल का परिचय दिया जाएगा। पुराने शब्दों के वर्तमान रूप और कुछ तारतम्यात्मक विवेचन दिखाया जायगा। पाठांतरों में से उतने ही दिए हैं जिनमें विशेषता है। लेखकों ने ह्रस्व-दीर्घ का व्यत्यय किया है वह ज्यों का त्यों रहने दिया है, छन्द के अनुसार पढ़ना चाहिए "जिन्भा जाणादि छन्दो"। पाठांतरों से जान पड़ेगा कि कोई लेखक पुरानी अक्षरयोजना को रखता है, कोई प्राकृत की चाल पर चलता है, कोई मंजी हुई देशभाषा की रीति पर आ उतरता है।

१. शार्ङ्गधर-पद्धति से

शार्ङ्गधर नामक कवि ने एक सुभाषित संग्रह 'शार्ङ्गधर-पद्धति' नामक बनाया है। वृक्षायुर्वेद और वैदक के भी उसके ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। उसने अपना परिचय यों दिया है कि शाकंभरी देश के चाहुवाण राजा हंमीर के सभासदों में मुख्य राघवदेव थे। उनके गोपाल, दामोदर और देवदास नामक पुत्र हुए। दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण थे। यह हंमीर रणथंभोर का प्रसिद्ध हंमीर है जो अलाउद्दीन खिलजी से संवत् १३५७ में बड़ी वीरता से लड़कर परास्त हुआ। चौहानों की राजधानी पहले शांकभरी (सांभर) थी, जिससे अजमेर में आने पर भी वे 'शाकंभरीश्वर' ही कहलाते रहे। पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्द ने शहाबुद्दीन गोरी की अधीनता स्वीकार कर ली जिससे उसके चचा हरिराज ने उसे निकाल दिया। वह रणथंभोर में जाकर राज्य जमा कर बैठा। उसी का अन्तिम सातवां वंशधर हंमीर था। उसके सभासद के पौत्र का उसे शांकभरीप्रदेश का स्वामी कहना ऐतिहासिक और उचित है। यों शार्ङ्गधर का समय विक्रमी संवत् की चौदहवीं शताब्दी का अन्त हुआ। 'शार्ङ्गधर-पद्धति' में कई जगह उस समय की बोलचाल का भाषा के मंत्र, शब्द और वाक्य दिए हैं जो उस समय की हिन्दी के नमूने हैं।

'शार्ङ्गधर-पद्धति' में (१) एक विष हटाने का शाबर मंत्र दिया है। (पीटर्सन का संस्करण, नं० २८७०)। शाबर का अर्थ वहां यह दिया है कि जब शिव ने शबर (किरात) रूप से अर्जुन से युद्ध किया उस समय जो मंत्र उन्होंने कहे थे वे 'शाबर मंत्र' हैं। वे वैसे ही मंत्र हैं जिनके लिए गुसांई तुलसीदासजी ने लिखा है कि 'अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रकट प्रभाव महेश प्रतापू।' दहने हाथ में पानी का बरतन लेकर बाएं हाथ की अनामिका से सात बार मंत्र पढ़कर उसे हिलाकर जिसे वह जल पीने को दिया जाय वह तत्क्षण निर्विष हो जाता है। (नं० २८६८-९) मंत्र यह है—

ओं गुरु के पाय शरणम्। ओं चवि चवि चारि भार विसुमाटी ॥

(=कह, कह, विष की मट्टी के चार भार, चव=कहना, यथा—सुकवि चंद सच्चो चवै)

(२) नं० २९४२ में सांप के विष से बचने का यह मंत्र दिया है। इसे सात बार पढ़कर कपड़े में गांठ दे ले, जब तक वह गांठ वाला वस्त्र देह पर रहेगा तब तक सांप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भय न हो—

ओं दष्ट कर अष्ट कर कालिगनाग हरिनाग।
सर्प डुण्डी विसु दाढ बन्धन शिवगुरु प्रसाद ॥

(डुण्डी = डुण्डुभ, निर्विष, जल का सांप, विसु = विष, दाढ = दंष्ट्रा)

(३) नं० ३०१८ में टीडी, सारस, तोते, सुअर, हरिन, चूहे, खरहों को खेतों से हटाने का मंत्र दिया है—

ओं नमः सुरेभ्यो बल बल ज ज चिरि चिरि मिलि मिलि स्वाहा।

(ज = जा, जादूगर अब तक 'इरि मिरि चिरि' कहा करते हैं।)

(४) नं० ३०१९ में लिखा है कि मंत्र जाननेवाला धनुष की नोक से अपने साथ (सार्थ, कारवाँ) के चारों ओर रेखा से कुंडल करे और इस शाबर मंत्र का जप करे तो सिंह से रक्षा हो—

नन्दायणु[1] पुत्त[2] सायरिउ[3] पहारु[4] मोरी[5] रक्षा कुक्कुर जिम पुंछी[6] दुल्लावइ[7] उरहइ[8] पुंछी परहई[9] मुहि[10] जाह[11] रे जाह। आठ संकला[12] करि उर[13] बन्धउं[14] बाघ बाघिणी कउ[15] मुह बन्धउ कलियाखिणी[16] की दुहाई महादेव की पूजा पाई टालहि जई[17] आगिली विष देहि।

(५) नं० ३०२०—३०२२ में कहा है कि जोर से 'बोलला' कहने से जहां तक शब्द सुनाई पड़े वहां तक सिंह ठहरता नहीं। शबर की स्त्री इस मंत्र को पढ़े तो चुगलखोर, सिंह, चोर, अपमृत्यु और बाण से रक्षा होती है, तर्जनी अंगुली से आठों दिशाओं में इस मंत्र से रक्षा करे या मंत्रित करके 'कर्कर' (कंकरियाँ या कौड़ियाँ आठों दिशाओं की ओर फेंके—

ओं आडू चूडू बाढी कोडी चोरु चाटु कालु कांडु बाघ स्वाहा।

(६) भाषा चित्र में एक श्लोक (नं० ५४६) दिया है जिसमें कई हिन्दी शब्द आए हैं। श्लोक संस्कृत का है और संधि आदि से उसका ठीक संस्कृत अर्थ होता है। चमत्कार यह है कि पढ़ते समय धोखा होता है कि संस्कृत में अपभ्रंश कैसे आ गए। पुराने ग्रन्थों में ऐसे चमत्कार के लिये जो श्लोक दिए जाते थे उनमें संस्कृत में प्राकृत-बुद्धि हो जाती थी, अर्थात् संस्कृत और प्राकृत का स्थान हिन्दी ने लिया है—

उत्सरंगकलितोरु कटारीभाजिराउत भयंकर भालाः।
संतु पायकगणा जयतैस्त्वं गाम गोहर मिलापाइलावी॥

---

१. नंद का? २. पुत्र। ३. सायरी का? ४. पहाड़। ५. मेरी। ६. पूंछ। ७. डुलाता है, हिलाता है, संस्कृत दोलापयति (!)। ८. और रहता है? ९. छोड़ता है? १०. मुझे। ११. जा। १२. सांकल। १३. छाती। १४. बांधू। १५. को (= का)। १६. कलि यक्षिणी। १७. मुझे टाल कर जा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें और हिन्दी शब्द तो देखने में ही हिन्दी हैं, जैसे उरुकट + अरि + इभ + आजि + राः, किन्तु पायक ठीक हिन्दी अर्थ (सेवक) में व्यवहृत हुआ है (सो किमि मनुज···जाके हनूमान से पायक—तुलसीदास)

(७) वहीं पर भाषाचित्र का एक नमूना और (नं० ५५०) दिया है जिसमें कुछ संस्कृत है, कुछ हिन्दी। इसका कर्ता श्रीकंठ पंडित है और इसमें श्रीमल्लदेव राजा की वीरता का वर्णन है कि उसकी सेना के जोधा मार-काट चिल्ला रहे हैं और वैरि-नारी अपने पति से कह रही है कि घमंड छोड़कर मल्लदेव की शरण जाओ।

नूनं बादल छाइ खेह[1] पसरी निःश्राणशब्दः खरः
शत्रुं पाडि लुटालि तोडि हनिसौं[2] एवं भणंत्युद्भटाः।
झूठे गर्व भरा मघालि(?)सहसा रे कन्त मेरे कहे
कंठे पाग निवेश[3] जाह शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम्॥

इन अवतरणों से जान पड़ता है कि उस समय हिन्दी के दोनों रूप प्रचलित थे, खड़ा और पड़ा। 'बादल छाइ खेह पसरी' भी है और 'रे कंत मेरे कहे' भी है, 'कुक्कुर जिमि पुंछी दुल्लावइ', 'बाघणी कउ मुख' भी है और 'कालियाखिणी की दुहाई' और 'गुरु के पाय' भी है। अपभ्रंश का नपुंसक प्रथमा एकवचन का चिह्न 'उ भी चलता था, वर्तमान में भी 'उ' था, आज्ञा में इ, उ, हु, हया, हि, हटकर कोरा धातु भी रह गया था।

२. प्रबन्धचिन्तामणि से

'प्रबन्धचिन्तामणि' नामक संस्कृत-ग्रन्थ जैन आचार्य मेरुतुंग ने संवत् १३६१ में वढ़वान में बनाया। बम्बई के डाक्टर पीटर्सन के शास्त्री दीनानाथ रामचन्द्र ने बम्बई में सं० १९४४ में कई हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर इसका मूल छापा जो अब दुष्प्राप्य है। उन्होंने इसका बढ़ाया हुआ गुजराती भाषांतर भी छपवाया था जो मैंने देखा नहीं। सन् १९०१ में टानी ने और कई मूल प्रतियों की सहायता से इसका अंगरेजी अनुवाद छापा। दोनों के अनुवाद कैसे हैं यह यथास्थान प्रकट होगा। इस पुस्तक में कई ऐतिहासिक प्रबन्ध या किस्से हैं। कई बातों में यह 'भोजप्रबन्ध' के ढंग की है। जैन

---

१. धूल।

२. फाड़, लूट और तोड़कर मारूंगा (हनिसौं, मिलाओ राजस्थानी करस्यूं संस्कृत हनिष्ये)।

३. पगड़ी उतारना और गले में कपड़ा आदि डालकर सामने आना अधीनता का चिह्न है, जैसे वर्तमान बंगालियों का अभिवादन, 'दसन गहहु त्रिन कंठ कुठारी' (तुलसीदास), अपनीत शिरस्त्राणाः शेषास्तं ययुः (रघुवंश ४।) अल्पसैन्यो मल्लसूनूर्यावत्तत्माद शंकत। अपनीतशिरस्त्राणस्तावत्स तमवन्दत) राजतरंगिणी ७।१५४४) कण्ठवद्धशिरःशाटःशीर्षेणोपानहं वहन्। मुक्त वेलोऽपि भूपालं कर्तुं नाशकद क्रुधम्। (राजतरंगिणी ८।२२७३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक साहित्य में अपने मत की 'प्रभावना' बढ़ानेवाले किस्सों का स्थान बहुत ऊँचा है। जैन धर्मोपदेशक अपने साधु तथा श्रावक शिष्यों के मनोविनोद और उपदेश के लिए कई कथाएं कहा करते हैं जो पौराणिक, ऐतिहासिक, या अर्ध ऐतिहासिक होती हैं। इन कथाओं में कई संग्रह-ग्रन्थ हैं जिनमें पुराने कवियों की रचना, नये कवियों के नाम, पुराने राजाओं के कर्तव्य, नयों के नाम, विक्रमादित्य भी जैन, सालिवाहन भी जैन, बराहमिहिर भी जैन, ब्राह्मण विद्वानों और अन्य शाखा-सम्प्रदायों के जैन विद्वानों का अपने इष्ट सम्प्रदाय के आचार्यों से सदा पराजय, आदि बातें भी रहती हैं जो वर्तमान दृष्टि से ऐतिहासिक नहीं कहला सकतीं। किन्तु उस समय के हिन्दू-ग्रन्थ भी ऐसे ही हैं; उनमें देखा जाय तो ऐतिहासिकता की उपेक्षा, जैनों की अपेक्षा अधिक की गई है। इसलिए केवल जैनों को ही उपालम्भ दिया नहीं जा सकता। इतना होने पर भी जैन विद्वानों के इतिहास की ओर रुचि रखने और उसकी मूलभित्ति का सहारा न छोड़ने के प्रमाण मिलते हैं। यों तो सम्राट् अशोक की धर्मलिपि के शब्दों में "आत्मपाषंडे पूजा परपाषंडे गर्हा" सभी दिखाते हैं। सं० १३६१ का समय पृथ्वीराज और रासे के कल्पित कर्ता चन्द के समय (१२५० सं०) से ११० (वर्ष) पीछे ही का है। उस समय की प्रचलित भाषा-कविता अवश्य मनन करने योग्य है। सं० १३६१ मेरुतुंग के इस 'चिन्तामणि' के संग्रह करने का समय है। कोई भी उद्धृत कविता उसने स्वयं नहीं रची है। कथाओं में प्रसंग प्रसंग पर जो कविता उसने दी है वह अवश्य ही उससे पुरानी है। कितनी पुरानी है इसका ऊर्द्धतम समय तो स्थिर नहीं किया जा सकता, किन्तु 'प्रबन्धचिन्तामणि' की रचना का समय उसका निम्नतम उपलब्धि काल अवश्य है। उससे पचास-साठ वर्ष पहले यह कविता लोककथाओं में प्रचलित हो या ऐसे घिसे सिक्के यदि सौ दो सौ वर्ष पुराने भी हों तो आश्चर्य नहीं।

कुछ दोहे ऐसे हैं जो धार के प्रसिद्ध राजा भोज के चाचा मुंज के नाम पर हैं, उसके बनाए हुए कहे गए हैं। एक गोपाल नाम किसी व्यक्ति ने भोज से कहा था। दो चारणों ने हेमचन्द्र को सुनाए थे। कुछ नवघन राजा के मरसिये हैं। सं० १३६१ के लिखित ऐतिह्य के अनुसार वे उस समय के हैं। इन कबिताओं को शास्त्री ने 'मागधी' और टानी ने 'प्राकृत' समझा है।

सेवेल ने गणित से सिद्ध किया[1] है कि गुजरात के चावड़े राजाओं के संवत् आदि मेरुतुंग ने अशुद्ध लिखे हैं और मिति, वार, नक्षत्र, लग्न सब गड़बड़ दिए हैं, उनका ऐतिहासिक मूल्य कुछ नहीं है। पुरानी घटनाओं के बारे में चाहे कितनी ऐतिहासिक गड़बड़ हो, अपने समीप के काल की घटनाएं तो मेरुतुंग ने जहां तक वे प्रबन्ध की पुष्टि कर सकती हैं, प्रामाणिक ही लिखी हैं। सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, हेमचन्द्र, वस्तुपाल, तेजपाल का काल गुजरात में संस्कृत और प्राकृत की विद्या तथा जैनधर्म के प्रचार का स्वर्णयुग था। भोज के समय धारा में जो विद्या और विद्वानों की ज्योति चमकी थी

१. राय० एशि० सोसा० जर्नल, जुलाई १९२०, पृ० ३३७ आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह दो-ढाई सौ वर्ष पीछे पश्चिमी गुजरात में भी देदीप्यमान हुई। उस समय की बातें जैनों के गौरव की हैं और उनकी संरक्षा उन्होंने बहुत सावधानी से की है।

'प्रबन्धचिन्तामणि' के एक ऐसे हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता है जिसमें ऐतिहासिक और शाब्दिक टिप्पणियां हों। इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है किन्तु वह संस्कृत भी देशभाषाओं की उत्पत्ति और विकास के समझने में उपयोगी है। इस समय की 'जैन संस्कृत' में एक मनोहारिता यह है कि जैन लेखक 'गुजराती' या 'देशभाषा' में सोचते थे और लिखते थे 'संस्कृत' में। परिशिष्ट पर्व १।७५ में हेमचन्द्र लिखते हैं कि 'स कालं यदि कुर्वीत को (कां) लभेत ततो गतिम्'। मरने के अर्थ में 'काल करना' संस्कृत का महाविरा तो है नहीं, देशभाषा का है। मंजे-छंटे संस्कृत के प्रेमी इसे 'बर्बर संस्कृत' कहें किन्तु यह जीवित संस्कृत है, इसमें भाषापन है। रुचि की तो बात है, किसी को कश्मीर की कुराई के काम से सजा अखरोट की लकड़ी का सुढंग तख्ता अच्छा लगता है, किसी को हरी कोंपलों से लदी-फदी टेढ़ी टहनी। यहां कुछ शब्द और वाक्य इस संस्कृत के दिए जाते हैं; जिन पर* ऐसा चिह्न है वे अन्यत्र शिलालेखों, काव्यों आदि में भी देखने में आए हैं—

छुप्तवान्—छुआ।

***उच्छीर्षक**—तकिया, ओसीसा (राजस्थानी, बाण की कादम्बरी)

करवडी—दोनों हाथ मिलाकर पानी पीने के लिए पात्र-सा बनाना (करपुटी)[1]

धवलगृह—प्रधान महल (धवल=जो जिस जाति में उत्तम हो, देशी, हेम० देशी नाममाला ५।५७, तुलसीदासजी के 'धवल धाम' का यही अर्थ है, 'सफेद महल' नहीं।

सर्वावसर—राजा का सबसे मिलना, दीवान-ए-आम।

राजपाटिका—राजमार्ग।

***धर्मवहिका**—(धर्म के लेखे की) बही।

छुट्टितः—छूटा।

झोलिका—झोली (यदि झोलिका संस्कृत में रूढ़ न हो तो यह भी देशी है, हेम० देशी० ३।१५६)।

धाटीप्रताप—धाड़ा डालना।

***पञ्चकुल**—पंचोली राजकर्मचारी (ना० प्र० पत्रिका, भाग १, सं० २, पृ० १३४)।

उद्ग्राहणक—उगाही, उद्ग्राह्य—उगाहकर, उद्ग्राहित—उगाहा हुआ।

निरुद्धं—(अमुक काल से) लेकर, लगाकर (यहां तक)।

वहमान—चलता हुआ (सिंहलग्ने वहमाने)।

न्युञ्छन—न्योछावर।

नृपतेः कः समयः ?—महाराज क्या काम कर रहे हैं ? कैसा मौका है ?

---

१. कांगड़ी में 'छाँब'।—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुदर—तम्बू, खेमा।

*वसहिका—मंदिर। (पत्रिका, भा० १, सं० ४, पृ० ४५०)।

चिंतायक—सम्हालनेवाला, रखवाला।

*दवरक—कटीदवरक—डोरा (डोरः कटिसूत्र, हर्षचरित की टीका)।

*रसवती—रसोई।

यमलपत्र—(राजाओं के आपस के) पत्र, मुरासिले।

भेटितः—मिला।

पादोऽवधार्यताम्—पधारो (पगु धारे—तुलसी०)।

*खत्तक—द्वार प्रांत का ताक।

मदनपट्टिका—मोम की पट्टी, मैण (=मोम) का संस्कृतीकृत 'मदन'।

कच्चोलक—कटोरी, कचोला, कचोली (राजस्थानी)।

जीर्णमञ्चाधिरूढः—टूटी खाट पर पड़ा हुआ (क्रोध में)।

सवाहटिको घटः—प्याले सहित घड़ा (वाहटी = बाटी या बाट की = कटोरी)?

हक्कित—बुलाया गया, सम्बोधित।

दानी—दंड राजकर, दाणी, दाण (मारवाड़ी)।

गोण्डित—बीमार हुआ (पशु)।

कामुक—काम करने वाले नौकर, (पंजाबी) काम्मा, (मारवाड़ी) कामेती। कार्म (हर्षचरित) (=भृतकाः) ठानी—Well-wishers ! शुभचिंतक)।

छिम्पिका—छींपी (वस्त्र रंगनेवाली जाति)।

निजतनक गृह—अपना घर (तणा, या तणु, या तणी—मारवाड़ी गुजराती 'का')।

व्याघुटन्ती—लौटती हुई, (मारवाड़ी) बावड़ना, (पंजाबी) बौढ़ना। व्याघुटितु—लौटने को।

वलितः—लौटा, मुड़ा।

वासण—भांडे, रुपयों की थैली (वासणी)।

विहंगिका—वहँगी, कावड।

*कार्मण—जादू टोना, कामण (मारवाड़ी)।

उत्तेजितं निर्माप्य—उत्तेजित (शान चढ़ा हुआ) बनाकर, करवाकर।

संग्रहणी—वेश्या।

*पट्टकिल—पटेल, पट्टक (जिले) का प्रबन्धक।

सेजवाली—पालकी।

स्थपनिका—गिरो रखना।

समारोपयत्—सौंप दिया।

पादौ त्यजसि—पाँव छोड़ता है (डरकर भागता है)।

पोत—वस्त्र (मारवाड़ी पोतिया)।

आरात्रिकमुत्तार्य—आरती उतारकर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्पट्टकं विपाट्य मुमोच—पट्टा फाड़कर (राजकर) छोड़ दिया।

*मारि—मारना, अमारि—अभय।

युगलिका—डाक की चिट्ठी (हरकारे दो साथ दौड़ते हैं), टानी।

शकुनं भरितं विधेहि—शकुन भरो (=शकुन लो)।

पाषाणसत्कजातीय, सत्क=का।

*कारापक—करानेवाला।

*तापिका—तई (कड़ाही), तपेली (तापकोऽपूपादि करणस्थानं तापिका काकपालिका यत्र तैलादिना भक्ष्याः पच्यन्ते, 'हर्षचरित' पर संकेत टीका)।

वप्ता—वाप (देखो आगे ११)।

चतुःसर—चौसर, एक तरह का फूलों का हार।

फुल्लावयिष्यसि—फुलावेगा, फूल उपजावेगा।

*कर्तुं लग्न—करने लगा।

धातुओं की अनंतता, आकृतिगण और उणादि की अक्षय निधि से सम्पन्न वे विद्वान जो मा धातु से डियां, डुलक, डौलाना प्रत्यय बनाकर मियां, मुलक, मौलाना सिद्ध कर लेते हैं या हमारे आचार्यदेशीय सुग्रीहीतनामा सर्वतंत्रस्वतंत्र सतीर्थ्य जो 'जयौ जयशीलौ ऊरू यस्याः सा जयोरूः=जोरू (स्त्री) बनाते हैं, उन्हें इन उदाहरणों में कुछ चमत्कार न जान पड़े किन्तु ये देशभाषा से गढ़े हुए संस्कृत के उदाहरण हैं। कितना ही बांध दो, जल तो नीचे की ओर रिसता ही है। देशी शब्द और वाग्धारा संस्कृत के लिए अछूत न थी, संस्कृत में इतना लोच था कि उन्हें अपना लिया करती।

'प्रबन्धचिन्तामणि' में एक जगह 'आशिष' शब्द अकारांत काम में लिया है (मातुराशिषशिखांकुरिताद्य—वस्तुपाल की रचना, पृ० २६६) 'श्वान' भी (सन्निहितश्वानेन शुण्डादण्डे निहत्य पृ० १८०,—कुक्कुरस्तु शुनिः श्वान इति वाचस्पतिः, शास्त्री)। जयमंगल सूरि 'चातुर्यंता' लिखकर हिन्दी के डबल भाववाचक का बीज बोते हैं (पौरवनिताचातुर्यंतानिर्जिता, पृ० १५४)।

कवि श्रीपाल ने सिद्धराज जयसिंह के 'सहस्रलिंग सरोवर' की प्रशस्ति बनाई। उसमें यह श्लोक भी था—

कोशेनापि युतं दलैरुपचितं नोच्छेत्तुमेतत्क्षमं
स्वस्यापि स्फुटकण्टकव्यतिकरं पुंस्त्वं च धत्ते नहि॥
एकोप्येष करोति कोशरहितो निष्कण्टकं भूतलं
मत्वैवं कमला विहाय कमलं यस्यासिमाशिश्रियत्॥

[कमल में कोश—डोडी और खजाना है, दल-पत्ते और सेना—है, उखड़ नहीं सकता, आप ही इसमें कंटक-कांटे और शत्रु का उपद्रव है, कभी इसमें पुंस्त्व—पुंल्लिग और पुरुषत्व नहीं आता, और सिद्धराज जयसिंह का खड्ग अकेला, बिना कोश-मियान-के, भूमंडल को निष्कंटक कर देता है, इसलिए लक्ष्मी कमल को छोड़कर उसी में चली आई।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं कि इसमें रामचंद्र पंडित ने दो दोष निकाले, एक तो 'दल' शब्द का अर्थ 'सेना' भाषा में होने पर भी संस्कृत में नहीं है, दूसरे 'कमल' शब्द पुंल्लिग और नपुंसक-लिंग दोनों ही है। नित्य क्लीव नहीं। इस पर राजा ने सब पंडितों से आग्रह करके (उपरुध्य) 'दल' शब्द को राजसेना के अर्थ में प्रमाणित करवाया[1] किंतु लिंगानुशासन में कमल की नित्यनपुंसकता नहीं थी, उसे कौन निर्णय करे? इसलिये 'पुंस्त्व च धत्ते न वा' (पुरुषत्व धारण करता है या नहीं) यह पाठ बदल दिया। (प्रबंधचिंतामणि, पृ० १५५-६)। यों संस्कृत के क्षीरसिंधु में भी कोई कांजी का शीकर पहुंच जाता था।[2]

विषयांतर होता है किंतु इस जैन-संस्कृत की एक बात की चर्चा बिना किए आगे बढ़ा नहीं जाता। हिंदी में क्रियापदों में लिंग देखकर बहुत लोग चौंकते हैं, 'वह आता है, वह आती है' न संस्कृत में है, न लैटिन में, न अंग्रेजी फारसी आदि में, इससे बहुत से अन्य भाषा-भाषी हिंदी सीखने से घबरा उठते हैं। क्रियापदों में लिंग के आने का बड़ा रोचक इतिहास है। धातु के शुद्ध क्रिया-वाचक रूप (संस्कृत तिङन्त) में तो लिंग नहीं होता, धातु से बनने वाले क्रियावाचक विशेषणों (वर्तमान या भूत कृदन्त) में उनके विशेषण होने के कारण लिंगभेद होता है। हिन्दी में केवल 'है' धातु का शुद्ध रूप है, उसमें लिंग नहीं है, और जो पद वर्तमान या भूतकाल बताते हैं वे धातुज वर्तमान या भूत विशेषण हैं [आता है=आता (हुआ) है, आती है=आती (हुई) है, करता है, करती है, आता था, आती थी, करता था, करती थी, सं० आयान् (आयान्त्) आयान्ती, कुर्वन् (कुर्वन्त्, करन्त्), कुर्वन्ती (करन्ती)] अवश्य ही आज्ञा, विधि क्रिया में लिंग नहीं है क्योंकि वे धातु के ही रूप हैं। इन धातुज वर्तमान और भूत धातुज विशेषणों का क्रिया के स्थान पर काम में आना भाषा के विकास में एक नया युग प्रकट करता है। वैदिक संस्कृत में भूतकाल की क्रिया के तिङन्त रूप ही आते हैं, स गतः, तेन कृतम्, अहं पृष्ठवान् आदि रूप अलभ्य नहीं तो अतिदुर्लभ हैं। पीछे संस्कृत में ये निष्ठा के रूप क्रिया का काम देने लगे, उनमें विशेषण होने के कारण लिंग-भेद भी था। भाषा में बड़ी सरलता आ गई, सः (सा) चकार, अकरोत्, आकार्षीत् की जगह स कृतवान्, सा कृतवती, तेन कृतम्, तया कृतम् से काम चलने लगा। यों भूतकालवाची धातुज कृदन्त को (Past participle), चाहे वह कर्तरि प्रयोग हो चाहे कर्मणि या भावे, विशेषण की तरह रखकर आगे अस्ति (होना क्रिया का वर्तमान काल का रूप) का

---

१. 'दल' का संस्कृत में 'सेना' अर्थ जयसिंह और श्रीपाल ने कराया यह कहना पूजार्थ ही है क्योंकि सं० १०८३ और ११०७ के बीच में उदयसुन्दरी कथा का कर्ता सोड्ढल कायस्थ लिखता है, ननु कथमसाध्योऽयमरातिरस्मद्दलानाम्। (गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज नं० ११, पृ० ४)

२. क्या अब यह बंद हो गया है? आंदोलन, संपादक आदि संस्कृत में अब क्या अर्थ देने लग गए हैं? कई लोग हिंदी की छाया पर 'आवश्यक्तां' प्रगटीकर्तुं' लिखते हैं और संस्कृत साहित्य सम्मेलन के कर्णधारों के व्याकरण कषायितोदर मुख से बिना जाने ही कभी-कभी 'इयं महिमा' निकल जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याहार करके भूतकाल का काम चलाया जाने लगा। आर्ष प्राकृत में कुछ भूतकालिक क्रियापद हैं, पीछे प्राकृत में आसी (आसीत्-पंजाबी सी) को छोड़कर भूतकालिक क्रिया मानो रही ही नहीं, इन्हीं त-वाले विशेष्य-निघ्न शब्दों से काम चला। यह तो पहली सीढ़ी भाषा की सरलता में हुई। संस्कृत और प्राकृत के रचनावैचित्र्य में इससे बहुत सहायता मिली कि वैदिक संस्कृत से प्राकृत और लौकिक संस्कृत में आते-आते भूतकालिक क्रिया का काम विशेषण देने लगे, वैयाकरणों की भाषा में 'कृदभिहित आख्यात' हो गया। इसी तरह वर्तमान काल की क्रिया भी केवल अस्ति (होना धातु की) रहकर वर्तमान धातुज विशेषणों का क्रियापद का काम देने लगना दूसरी सीढ़ी है जो प्राकृत से 'अपभ्रंश' या 'पुरानी हिन्दी' बनने के समय हुआ। उपजइ, उपजै, करइ, करै यह तो धातु के (तिङन्त) रूप हैं, इनमें लिंग-भेद नहीं है, इनका इ (या मुखसुख का ऐ) संस्कृत 'ति' और प्राकृत 'इ' है। किन्तु उपजता है (या उपजती है), करता है (या करती है) में 'है' (अहै-अहइ-अस्ति) धातु का रूप है और पहले पद वर्तमान धातुज विशेषण (Present Participle) है (उपद्यन्—उत्पद्यंत—उपजन्त; उत्पद्यन्ती—उपजंती—उपजती; कुर्वन्—कुर्वत—करंत—करत, कुर्वंती—करंती—करती)। इस विशेषण के वास्तव रूप के ०अंत ०अंती ही है जो संस्कृत और पुरानी हिन्दी दोनों में स्पष्ट है। उसी का ०अत, ०अती हो जाता है। करतो, उपजतो में 'ओ' 'उ' की जगह है जो पुंल्लिग के कर्ता के एकवचन के चिह्न (संस्कृत 'स' या ':') का अपभ्रंश है।

अब इस विषय को अधिक न बढ़ाकर प्रसंग की बात पर आते हैं कि इस काल की जैन-संस्कृत में भी वर्तमान धातुज विशेषण का क्रिया की तरह काम देना पाया जाता है—यथागतं व्रजामीत्यापृच्छन्नस्मि (प्र० चि०, पृ० ११), नृपस्तस्य सौधमलंकुर्वन् (पृ० ५५) वन्दिनः श्रीसिद्धराजस्य कीर्ति वितन्वंतः (पृ० १८२) इत्यादि। देश भाषा में सोचने वाले कवि ने उसकी छाया संस्कृत में पहुंचा दी और संस्कृत की स्थिर भाषा में भी समय की गति का प्रभाव पड़ा। वर्तमान धातुज विशेषण 'होना' क्रिया के वर्तमान के रूप के साथ वर्तमान क्रिया का काम देने लगा और भूतकालिक धातुज विशेषण (निष्ठा, था-थी, हतो-हती, भयो-भयी) के साथ भूतकाल का। 'था' और 'हता' अस् (अस्ति) के हैं, और भया, भू (भवति) का।

अब 'प्रबन्धचिन्तामणि' का कुछ पानी[1] देखिए—

(१)

अम्मणिओ संदेसडओ तारय कन्ह कहिज्ज।
जब दालिद्दिहि डुब्बिउं बलिबंधणह मुहिज्ज॥

पाठांतर—पुरानी जैन-पोथियों में 'ओ' 'औ' 'को' 'उ' 'उँ' लिखते थे। इसके

१. हिन्दी में पानी मोती की ओप के लिए ही आता है किंतु 'गणरत्नमहोदधि' में वर्धमान ने एक उदाहरण 'भुजंगमस्येव मणिः सदंभा' देकर मणि के लिए भी अंभः (पानी) का प्रयोग दिखाया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धोखे में आकर छापने वाले कहीं 'ओ' छाप देते हैं। शुद्ध पाठ छन्द की मात्राओं के अनुसार पढ़ना चाहिए। 'अउ' और 'अइ' पुरानी लिखावट है, उनकी जगह 'ओ' और 'ऐ' पिछली, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। इसलिए यहाँ पर 'अम्मणिअउ, संदेसडउ, डुब्बिअउ' पाठ उचित हैं, पीछे से लेखकों की मुखसुखानुकारी लिखावट से वे अम्मणिओ, संदेसडो डुब्बिओ हो गए होंगे जो कविता की हिन्दी से बहुत दूर नहीं हैं। ऐसे ही जैन-पोथियों में 'स्थ' 'च्छ' 'ज्झ' 'ब्भ' 'त' 'भ' सदृश लिखे हुए मिलते हैं, अतएव ऐसे पाठांतर कोई पाठांतर नहीं हैं, पुरानी लिपि के ठीक-ठीक न पढ़ने से उपजे हुए भ्रम मात्र हैं। शास्त्री तथा टानी के संस्करणों में जो पाठान्तर दिए हैं उनमें से हमने यहां कुछ दे दिए हैं—नारायणह कहिज्ज, जगु, दुत्थिउ (दुच्छिउ)। परसवर्ण नियम वैकल्पिक होने से हमने कहीं-कहीं अनुस्वार का प्रयोग किया है और ह्रस्व-दीर्घ को अधिक बदला नहीं।

अर्थ—एक समय विक्रमादित्य रात को नगर में घूम रहे थे कि एक तेली को उन्होंने यह आधा दोहा पढ़ते सुना कि 'हमारा सन्देशा तारने वाले (तारक) कान्ह (पाठान्तर में नारायण) को कहना'। राजा बहुत देर तक ठहरा रहा कि देखें आगे क्या कहे किन्तु उत्तरार्द्ध न सुनकर लौट आया। सवेरे दरबार में बुलाए जाने पर तेली ने दोहा यों पूरा किया—जग दारिद्र्य में डूब रहा है, बलिबन्धन को छोड़ दीजिए'। दैत्य बलि बड़े दानी थे जिन्हें नारायण ने बांधकर पाताल में भेज दिया था। यदि तेली की प्रार्थना पर तारक कान्ह उसके बन्धन छोड़ देते तो जग दारिद्र्य से उबर आता। बलि का अर्थ 'राजकर' भी होता है। राजा कदाचित यह समझ रहा हो कि तेली मेरी बड़ाई से कुछ कहेगा किंतु वह तो राजा को ताने से सुना रहा है कि हम तो दारिद्र्य में डूब रहे हैं और बलिबन्धन (करों का बोझ) छुड़ाने की प्रार्थना करते हैं। टानी ने पूर्वार्द्ध का अर्थ किया है—'हमारा राजा वास्तव में नारायण कहलाने योग्य है', और उत्तरार्द्ध के लिए शास्त्री तथा टानी दोनों कहते हैं कि 'बलिबन्धन नहीं छोड़ा गया।' 'सन्देसडउ' का अर्थ टानी ने राजा कैसे किया, यह चिन्त्य है। 'बलिबन्धणह' को 'बलिबन्ध ण ह' पढ़ने से उत्तरार्द्ध का यह अर्थ हो सकता है कि 'बलिबन्ध न छोड़ा गया' किन्तु कहिज्ज (कहीजै, कहजै, कहिए) के साथ से मुहिज्ज का अर्थ छोड़िए ही ठीक है, छोड़ा गया (मोचित) नहीं।

विवेचन—अम्मणिअउ—अम्हणिअउ, सं० अस्मानं (!), अस्मनीय (!), आगे अम्हीणा=हमारा आवेगा। 'ण' (सं० नाम्) सम्बन्ध कारक का है (प्रा० अम्हाणं), गीतों की पंजाबी में ण का ड हो गया है मैंडा, तेंडा। संदेसडउ—जैसे संस्कृत में अल्प, अज्ञात, कुत्सित स्वार्थ में 'क' आता है वैसे पुरानी हिन्दी में 'ड' या 'डल' आता है जैसे, मोर-मोरडो, नींद नींदडली (मारवाड़ी), रत्ति (रात)-रत्तिड़ी आदि। तारय-तारक (को)। कन्ह-कृष्ण, कन्ह, ब्रजभाषा का कान्ह। कहिज्ज—विधि, प्रेरणार्थक, और कर्मवाच्य में जहां-जहां संस्कृत में 'य' आता है वहां 'ज' या 'ज्ज' आता है जैसे, मरीजै (मरा जाय), करीजै (किया जाय, महाराज कहँ तिलक करीजै,—तुलसीदास), कहज्ये (राजस्थानी)—तू कहना, लिखीज गयो (मारवाड़ी) लिखा गया; दीजिए (दिज्जिय, दीजै, दिज्जै) पहले कर्मवाच्य प्रयोग था, पीछे कर्तृवाच्य हो गया। दालिद्दिहि-मिलाओ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्राम्य दलिद्दर, दलिद्दरी। डुब्बिअउ—संस्कृत धातु ब्रुड है जो देशी से बनाया जान पड़ता है, हिन्दी में डूबना, बूड़ना दोनों रूप हैं, व्यत्यय का उदारहण है। दुत्थिअउ—दुःस्थित। मुहिज्ज—छोड़िए, छोड़ा जाय, देखो ऊपर, कहिज्ज। शास्त्री इसका अर्थ 'मोचित' (छोड़ा गया) करते हैं।

(२)

कच्छ के राजा लषाक[1] को कपिलकोटि के किले में मूलराज ने घेर लिया। लाषाक (लाखा) बहुत से बोधवाक्य कहकर रणभूमि में उतर आया और वीरता दिखाकर काम आया। उन बोध-वाक्यों में से एक यह दिया है—

ऊग्या ताविउ जहिं न किउ लक्खउ भणइ निघट्ट।
गणिया लब्भइ दीहडा के दहक अहवा अट्ठ॥

इस दोहे को यदि कुछ नई लिखावट में बदलकर लिख दें तो यह इतना बेगाना नहीं जान पड़ेगा—

ऊग्याँ तापित जेहि न किय लक्खो भणै निघट्ट ।
गिण्या लब्भै दीहडा के दहक अहवा अट्ठ ॥

अर्थ—(जिस) उदय पाए हुए (पराक्रमी वीर) से (शत्रु) तापित न किए गए, न तपाए गए, तो कुशल लक्खा कहता है कि (उसे जीने के) गिने हुए दिन ही मिलते हैं, या दस या आठ। यदि वीरता न दिखाकर पड़ा रहे तो कितने एक दिन जी लेगा? उम्र के थोड़े से दिन। एक न एक दिन तो मरना है ही। इससे अच्छा है कि शत्रुओं को लोहा चखाकर मर जाय।

ऊग्या—उगे हुए से, उदित से या उदित होने पर। ताविउ—तापित।

---

१. यह कच्छ का प्रसिद्ध राजा लाखा फूलाणी (फूल का पुत्र था) जिसका नाम धनाढ्यता तथा उदारता के लिए प्रसिद्ध है। यह जाडेचा जाति के चंद्रवंशी यादवों में से था। मूलराज के हाथ से इसकी मृत्यु का काल पुरानी गुजराती कविता के अनुसार कार्तिक शुक्ल ८ शुक्रवार शक सं० ९०१ (वि० सं० १०३६—ई० सन् ९७९) है। कन्नौज के राठौड़ राजा जयचंद के पोते या पड़पोते सियाजी का मूलराज की कन्या से विवाह होना तथा इसके प्रत्युपकार में सियाजी का लाखा फूलाणी को मारना आदि अप्रामाणिक है क्योंकि सियाजी के दादा या पड़दादा जयचंद का समय वि० सं० १२५० (ई० सन् ११९३) है। इससे सियाजी का समय वि० सं० १३०० के पीछे आना चाहिए। उस समय लाखा तथा मूलराज को हुए तीन सौ वर्ष हो चुके थे। (देखो: पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का लेख 'लाखा फूलाणी का मारा जाना', **समालोचक** (जयपुर) जनवरी-फरवरी, १९०४)। मूलराज का राज्याभिषेक वि० सं० १०१७ में होना प्रामाणिक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निघट्ट—कुशल (हेमचंद्र, देशी नाममाला, णिग्घट्ट ४।३४) शास्त्री कहते हैं निकृष्टः (!) दीहड़ा—दिन, देखो (१) की टिप्पणी में संदेसडो। पंजाबी : ध्याडा (दिहाड़ा)—दिन, धन्न धियाडो धिन घड़ी (ऊमा झीमा की कविता, मारवाड़ी) के—या, कै तापस तिय कानन जोगू (तुलसीदास)। दह—दस, मिलाओ चौदह। अहवा—अथवा। शास्त्री और टानी दोनों के अनुवाद अशुद्ध हैं।

(३)

मालवा के राजा (परमार) मुंज का राजकार्य तो रुद्रादित्य नामक मंत्री देखता था। और, मुंज किसी स्त्री पर आसक्त था। रात-ही-रात में चिरक्किल नाम के ऊँट पर चढ़कर उसके पास बारह योजन चला जाता और लौट आता। कुछ दिन पीछे मुंज ने आना-जाना छोड़ दिया तो उस खंडिता ने मुंज को यह दोहा लिख भेजा—

मुंज षडल्ला दोरडी पेक्खेसि न गम्मारि।
आसाढि घण गज्जीइँ चिक्खिलि होसेऽवारि॥

पाठांतर—जै गम्मारि।

अर्थ—मुंज, (प्रेम की) डोरी ढीली हो गई है, खसक गई है, गँवार। तू नहीं देखता कि आषाढ़ में घन (मेघ) गरजने पर अब (भूमि) फिसलनी हो जायगी।

शास्त्री ने अर्थ किया है कि 'आषाढ़' का (आषाढ़ीय) घन गरजता है, किंतु आषाढ़ि का 'इ' अधिकरण कारक है, और गज्जीइँ वर्तमान काल ही नहीं, किन्तु वर्तमान धातुज विशेषण (गरजता हुआ) की भावलक्षण सप्तमी भी जान पड़ती है। आगे शास्त्री कहते हैं कि 'तेरे विरह से उपजने वाले अश्रुओं की धाराओं से फिसलनी जमीन पर कैसे आओगे इति दिक्' किन्तु यह दिशा नहीं दिशाभूल है। सीधी बात यह है कि गर्मियों में डोरी सूख जाय या ढीली हो जाय तो बरसात में मुलायम होकर तनती है (आन गाँठ घुलि जात त्यों मान गाँठ छुटि जात—बिहारी) सो बरसात होने पर तुम्हें बिना आए सरेगा ही नहीं, नाक के बल आओगे, किन्तु फिसलनी जमीन में ऊँट कैसे चलेगा? इसलिए अभी से आते रहो। बरसात में ऊँटों को चलने में कष्ट होता है जैसा कि एक मारवाड़ी दोहा है—

ऊँटां टेघां टेरडां गुड गाडर गाडांह।
सारा दोहरा आवशी मैंडक बोल्यां नाडांह॥

ऊँट, बकरे, बैल, भेड़ और गाड़े, ये सब कठिनाई से आवेंगे मैंडकों के नाडियों (तलैयाओं) में बोलने पर। आं, आंह—कर्ता का बहुवचन, दोहरा—(सं०) दुष्कर, बोल्यां नाडांह—भावलक्षण (सप्तमी) खडल्ला—(सं०) स्खलिता, (?) सूखी खड़-खड़ाती। दोरडी—डोरी, देशी से गढ़ा हुआ संस्कृत दवरकी, पद्धतियों में डोरक—संस्कृत ही बन गया है। बाण के 'हर्षचरित' में 'डोर' पद आया है जिसका अर्थ संकेत टीकाकार ने 'कटिसूत्र' किया है। (देखो, पीछे पृ० ३४) **पेक्खिसि**—(सं०) प्रेक्षसे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाबी में अब-ईक्ष अभी देखने के अर्थ में है, तू वेख, वह वेखदा है। **गम्मारि**—गँवार। **आसाढि**—छंद के लिये 'इ' को दीर्घ पढ़ो। **गज्जीइँ**—सं० गर्जंति, या गर्जत्सु, ऊपर व्याख्या देखो। **चिक्खिलि**—कीचड़ली, फिसलनी, पंजाबी चिफली (संस्कृत पिच्छिल का व्यत्यय) हेम० देशी० ३।११ चिक्खल्ल। **होसे**—मिलाओ, गुजराती मारवाड़ी होशे। **अबारि**=राजस्थानी अबार (=अब)।

(४)

तैलिंग देश के राजा तैलप (कल्याण के सोलंकी तैलप दूसरे) की छेड़छाड़ पर मुंज ने उस पर चढ़ाई की। मंत्री रुद्रादित्य ने मुंज को रोका और समझाया कि गोदावरी के उस पार न जाना किंतु मुंज तैलप को पहले छै बार हरा चुका था, इसलिये उसने मंत्री की सलाह की उपेक्षा की। रुद्रादित्य ने राजा का भावी अनिष्ट समझ और अपने को असमर्थ जान चिता में जलकर प्राण दे दिए।[1] गोदावरी के पार मुंज की सेना छलबल से काटी गई तैलप मुंज को मूँज की रस्सियों से बन्दी करके ले गया। वहाँ उसे लकड़ी के पिंजड़े में कैद रखा। तैलप की बहन मृणालवती से मुंज का प्रेम हो गया। एक दिन मुंज काँच में मुँह देख रहा था कि मृणालवती पीछे से आ खड़ी हुई और मुंज के यौवन और अपनी अधेड़ उमर के विचार से उसके चेहरे पर म्लानता आ गई। यह देख मुंज ने यह दोहा कहा—

मुंज भणइ मुणालवइ, जुव्वण गयुं न झूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय, तो इस मीठी चूरि॥

अर्थ—मुंज कहता है, हे मृणालवती! गए हुए यौवन को (का) सोच मत कर, यदि शक्कर के सौ टुकड़े हो जाएं तो वह चूरी (चूर्ण की हुई) भी मीठी होती है।

भणइ—भणै, कहै (सं० भणति)। **मुणालवइ**—स्वर ऋ कि 'उ' श्रुति देखो। **जुव्वण**—जोबन, यौवन। **गयुं**—गयो (कर्म कारक)। **झूरना**—पछताना, विलाप करना। **जइ** (सं० यदि, हिं० जे) **सय**—शत। **थिय**—वर्तमान 'था' का स्त्री लिंग, सं० स्थित, थी; गुजराती—थई। **इस**—यह।

बीकानेर के राजा पृथ्वीराज की रानी चाँपादे ने पति को अपने धोलों (श्वेत केशों) पर पछताया करते देख ऐसे ही दोहे कहे थे—**नरां नाहरां डिगमरां पाकां ही रस होय,...नरां तुरंगां वन फलां पक्कां पक्कां साव (महिलामृदुवाणी)।**

(५)

रुद्रादित्य तो मर गया था। वह उदयन—वत्सराज के मंत्री यौगंधरायण की तरह अपने स्वामी को बचाने के लिए पागल का वेश धर के नहीं पहुंचा। किंतु मुंज के कुछ सहायक तैलप की राजधानी में पहुंच गए। उन्होंने बन्दीगृह तक सुरंग लगा ली।

---

१. देखो : पत्रिका भाग १, पृष्ठ ३२५-३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भागते समय मुंज ने मृणालवती से कहा कि मेरे साथ चलो और धारा में रानी बनकर रहो। उसने कहा कि गहनों का डब्बा ले आती हूं, किंतु यह सोचकर कि वह मुझ अधेड़ को वहां जाकर छोड़ दे तो न घर की रही न घाट की, उसने सब कथा अपने भाई से कह दी। वत्सराज की तरह घोषवती वीणा और वासवदत्ता को लेकर निकल जाना तो दूर रहा, मुंज बड़ी निर्दयता से फिर बांधा गया। उससे गली-गली भीख मँगाई गई। उसके विलाप की कविता में कई श्लोकों के साथ कुछ पुरानी हिंदी कविता भी है जिसकी यहां चर्चा की जाती है। टानी कहते हैं कि छपी पुस्तक में कई प्राकृत काव्य इस प्रसंग के नहीं दिए हैं जो एक प्रति में हैं। संभव है कि उनमें कुछ और हिन्दी कविता रही हो।

सउचित्तहरिसट्ठी मम्मणह, बत्तीस डीहियां।
हियम्मि ते नर दड्ढ सीझे जे, वीससइ थियां॥

पाठांतर—चित्तहसट्ठी मणह, अस्सी ते नर, हरिसट्ठी मम्मणछत्ति, हिअम्मि, पंचासडीहिया, हियम्मी, सिय जे पत्तिज्जइ तांह, अम्मी सीजें, पंतिठवइ तियांह।

अर्थ—सब (के) चित्तों को हर्षित करने (या हारने) के अर्थ प्रेम की बातें बनाने में चतुर स्त्रियों में जो विश्वास करते हैं वे हृदय में बहुत दुःख पाते हैं। पाठान्तरों से इस दोहे के कई रूपान्तर हों, यह जान पड़ता है। 'जे पत्तिज्जइ तांह' (जो पतीजते हैं उन्हें या उनमें) से जान पड़ता है कि पूर्वार्द्ध का अंत और तरह भी रहा हो। 'मम्मणह बत्तीस' का अर्थ कामदेव की बातें किया जाता है, किन्तु पाठान्तरों में छत्ति (स) पञ्चास मिलने से संभव है कि यह बत्तीस भी संख्या हो और इसमें स्त्रियों के पुरुष को मोहन करने की कलाओं की परिसंख्या हो, जैसे नाई को 'छत्तीसा' या 'छप्पन्ना' कहते हैं। छप्पन्ना का अर्थ, ५६ कलायुक्त नहीं किंतु छै बुद्धिवाला (सं षटप्रज्ञ) है। 'षटप्रज्ञ' बुद्ध की उपाधि भी है।

सऊ—सब, राजस्थानी सैं, सौ, मारवाड़ी सेंग (हैंङ)। हरिसट्टी—हर्ष + अर्थ, या हर (ण) + सार्थ, राजस्थानी साठे = हाठे = आठे या आटे = वास्ते, मराठी साठीं = लिए। **मम्मणह**—मन्मथ = कामदेव, या मणमण करना, महीन-महीन बातें (चोचले), ह = का। **बत्तीस**—बातों में। **डीहियाँ**—चतुरों (सं० दक्ष) में, गुजराती मारवाड़ी डाह्या, **डीहि** = दीर्घ, बढ़ीचढ़ी, मिलाओ सं० दीर्घिका (बावडी) = हिं० दिग्घी, डिग्गी, डीघी। हियम्मि—सं० स्मिन् और हिं० में के बीच में 'म्मि' है। **दड्ढ**—दृढ़। **सीझे**—दुःख पाता है। राजस्थानी। **सीझना** = गलना या पकना (दाल का) सं० 'सिध्यति' से है, सम्भव है कि यहां पाठ खीझे हो जो सं० 'खिद्यति' से है। बीससइ—विश्वास करते हैं। पत्तिज्जइ = पतीजते हैं, पतियाते हैं, प्रत्यय करते हैं, 'सहसा जनि पतियाहु' (तुलसीदास) पंजाबी में पतियाने का अर्थ मानना या रिझाना भी है। पंतिस्वइ—केवल पत्तिज्जइ का लेखप्रमाद है, अनुस्वार पर आगे टिप्पणी देखो। **थियां**, तियाँह—स्त्रियों में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६)

झाली तुट्टी किं न मुउ किं त हुयउ छारपुंज।
हिंडइ दोरीबंधीयउ जिम मंकड तिम मुंज ॥

[कुछ बदला हुआ रूप आधुनिक हिंदी का सा—

जलि टूटि किमि न मुआ, किम न हुयो छरपुंज।
हिंडै डोरी बाँधियो, जिमि मंकड तिमि मुंज ॥]

पाठांतर—झोली तुट्टि वि किं न कउ मुयउ, छारहपुंज, घरि घरि तिम्म नचावइ जिम, तुटवि, झोली त्रुटी हूयउ।

अर्थ—(आग में) जलकर या (फाँसी की रस्सी) टूटकर (मैं) क्यों न मरा ? राख का ढेर क्यों न हुआ ? डोरी से बंधा हुआ जैसे बंदर घूमता फिरता है वैसे मुंज (फिरता है)। पाठांतरों में—झोली (फाँसी का फंदा) टूटकर भी कुछ न किया···घर-घर वैसे नचाया जाता है, जैसे···।

झाली—जलकर सं० ज्वल, राजस्थान में आग की लपट (ज्वाला) को 'झाल' या 'झल' कहते हैं। तुट्टी, तुटवि—तूट (टूट, सं० त्रुट) कर। मुअउ—मृत (हुआ), ऐसे ही हुयउ—हुआ। किं—क्यों। छार—मात्रा के लिए 'छर' पढ़ो, छार और राख दोनों भस्म के अर्थ में एक ही देशी पद के व्यत्यय हैं, सं० क्षार (खारा) से केवल सादृश्य है, राख से संस्कृत 'रक्षा' बनाया गया है। हिंडइ=सं० हिंडति, घूमता है, पंजाबी हंडना=भटकना, जैसे—'गलियां दा हंडना छाड़ि देईं कान्हा, हुण होया तू घरबारी' (गीत—कान्ह ! तुम गलियों का भटकना छोड़ दो, अब तुम गृहस्थी हो गए हो, हुण=सं० अधुना) दोरी—देखो पीछे (३)। मंकड—सं० मर्कट। पुराने लेखक द्वित्व वाला अक्षर बताने के लिए दुबारा अक्षर (युक्त) लिखने के परिश्रम से बचने के लिए अक्षर पर अनुस्वार के सदृश बिंदी लगा दिया करते थे, वही कई शब्दों में लेखक भ्रम से 'न' श्रुति हो गई, जैसे, सं० मर्कट—प्रा० मक्कड (लिखा गया) मंकड-भ्रम से मङ्कड, सं० खड्ग-प्रा० खग्ग-खंग हिन्दी—खङ्ग, ऊपर (५) में पतिज्जइ का पंतिज्जइ, सं० अत्यद्भुत-प्रा० अच्चब्भुअ-अच्चंभुअ-हिं० अचम्भा, इत्यादि।

पूर्वकालिक क्रिया के रूपों पर टिप्पण—संस्कृत वैयाकरणों ने त्वा (गत्वा, कृत्वा) को पूर्वकालिक की प्रकृति और य (सत्कृत्य, संगत्य) को धातु के पहले उपसर्ग आने पर विकृति माना है किन्तु पुरानी संस्कृत में यह भेद नहीं है। 'अकृत्वा' और 'गृह्य' दोनों मिलते हैं। वेद में 'कृत्वाय' मिलता है और पाली में 'छित्वान' और 'कातून'। अतएव पांच तरह के रूप हुए—कृत्वा, कृत्वाय, कृत्वान कर्तून, कर्य (कृत्य)। सूक्ष्म विचार से ये अव्यय नहीं किन्तु 'तु' अन्तवाले धातुज शब्द के तृतीया और चतुर्थी के रूपों के से जान पड़ते हैं, कृत्वा=कृतु से, करने से=कर कर, इत्यादि। प्राकृत में 'त्वा' बिलकुल नहीं है, 'य' है या पाली वाला 'त्वान' 'तून' जो 'तूण' या 'ऊण' होता हुआ मराठी घेऊन, म्हणून तक पहुंच गया है और मारवाड़ी में करीनै, लखीनै में रहा है। पुरानी हिन्दी अर्थात् अपभ्रंश में 'पोक्खिवि' 'बोल्लित्रि' आदि आते हैं। वहां भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

य=इय=इ है। हिन्दी में 'य' 'इ' के रूप में आया है (आइ, सुनि=आय्य, सुन्य—* सं० आयाय्य श्रुण्य (!), अब 'इ' भी उड़ गया है, और कर धातु के पूर्वकालिक अनुप्रयोग होता है जैसे खा कर=(पु०हिं०) खाई करि=पंजाबी, खाई करी=सं० * खाद्य कर्य (!)।

(७)

गय गय रह गय तुरग, गय पायक्कडा निभिच्च।
सग्गट्ठिय करि मन्तण उम्मुहंहुं (ता?) रुद्दाइच्च॥

पाठांतर—पायकडा, ठकुर रुदाइच्च, उंमुऊ, मतणु महता।

अर्थ—(जिसके) गज, दथ, घोड़े और पैदल चले गए हैं, जो बिना नौकर के है (ऐसे मुझ को) हे स्वर्गस्थित रुद्रादित्य! बुला ले। मैं तुम्हारी ओर मुंह किए हुए हूं।

गय—गत, 'गए'। **गय**—गज। **रह**—रथ। **तुरय**—तुरग। **पायक्कडा**—डा के लिए (१) में 'संदेसडो' की टिप्पणी देखो। **पायक**—पैदल, पदाति, पद्ग, पाजी (पुराना अर्थ), 'जाके हनूमान से पायक' (तुलसीदास)। **निभिच्च**—निभृत्य। **सग्गट्ठिय**—स्वर्गस्थित। **करि**—करु (आज्ञा)। **मंतण**—(आ) मंत्रण, बात करना, बुलाना। **उम्मुह**—उन्मुख। **रुद्राइच्च**—रुद्रादित्य।

(८)

मुंज गलियों में मांगता फिरता था। पहले कैदियों का यों अपमान किया जाता था। हाथ में उसके पडुआ (पत्तों का दौना) था। किसी स्त्री ने छाछ पिला दी और घमंड से सिर मटकाकर भीख न दी। मुंज बोला—

भोलि मुन्धि मा गव्वु करि, पिक्खिवि पडुगपांइ।
चउदसइ सइं छहुत्तरइं, मुञ्जह गयइ गयाइं॥

पाठांतर—धनवंती म गब्बु, पंडुरुआइ, पट्टकरुपाणि, पडुकयाणि, पडुकरुपाणि, चउदसइ, छउत्तर।

अर्थ—हे भोली, हे मुग्धे, (पाठांतर में—हे धनवन्ती) मत गर्व कर, मुझे हाथ में पडुग लिए देखकर; चौदह सौ छिहत्तर मुंज के हाथी (चले) गए।

मुंधि—सं० मुग्धा, मारवाड़ी में मोंधा 'मूर्ख' को कहते हैं। यह 'न' भी सं० मुग्ध, प्रा० मुग्ध ले दित्वसूचक चिह्न से बना है, देखो, (६) में मंकड की व्याख्या। **पिक्खिवि**—पेखकर। **पडुगु**—पडुआ, पत्तों का दोना, या भीख मांगने का पात्र। **पांइ**—पाणि, हाथ। **सइं**-सै, सौ। **चउदसइ, सइं, छहुत्तरइं, गयाइं** में इं कर्ताकारक का नपुंसक का बहुवचन (सं० नि) है और **मुंजह, गयह**—में ह सम्बन्ध कारक का है।

(९)

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ॥
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—जो मति पीछे सँपजती (होती) है वह मति पहली होय तो मुंज कहता है कि हे मृणालवति ! कोई विघ्न नहीं घेरे।

जा सा-जो सो (स्त्रीलिंग)। **संपज्जइ**—सं० संपद्यते, सं+पद्=संपजना, उद्+पद्=उपजना, निस्+पद्=निपजना। **वेढइ**—घेरता है, पंजाबी वेढ़ा, घिरा हुआ मकान, जनाना, वेढ़ी पूरी—बीच में कचौरी की तरह भरी हुई। शास्त्री का अर्थ है—विघ्न को कोई नहीं बहता (उठाता), टानी का 'कोई (मेरे मार्ग में) विघ्न नहीं डालता'।

(१०)

सायर पाई लंक गढ गढवइ दससिरि राउ।
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुंज म करि विसाउ।

अर्थ—सागर खाई, लंका गढ़ और दससिर राजा (रावण) गढ़पति—भाग्य का क्षय होने पर वही तहस-नहस हो गया, (तो) हे मुंज, विषाद मत कर।

गढवइ—गढपति, मिलाओ चक्रपति-चक्कवइ—चक्कवै। **भज्जिगय**-टूट गया, 'भाँज गढ़' वाला। √भंज धातुः, संस्कृत में भग्न का अर्थ टूटा या हारा होता है, उसी से हिन्दी √भागना बना, आगे देखो 'अह भग्गा अम्हत्तणा' आदि।

राजा मुंज, पुरानी हिन्दी का कवि

[धार के परमार राजा मुंज (वाक्पति राजा द्वितीय, उत्पलराज अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ और श्रीवल्लभ) ने कल्याण के सोलंकी राजा तैलप दूसरे पर चढ़ाई की और तैलप ने उसे हराकर निर्दयता से मारा—यह तो ऐतिहासिक सत्य है क्योंकि चालुक्यों के दो लेखों में इस बात का साभिमान उल्लेख किया है। मुंज के मंत्री का नाम रुद्रादित्य था, यह उसी के वि० सं० १०३६ (सन् ६७६ ई०) के दानपत्र से प्रकट है। मुंज का प्रथम दानपत्र सं० १०३१ का है और उसकी मृत्यु उसके राजकाल में अमितगति से 'सुभाषितरत्नसंदोह' के पूर्ण होने के संवत् १०५० और तैलप की मृत्यु के सं० १०५५ के बीच में होनी चाहिए। यों राजा मुंज विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के दूसरे चरण में था। (मुंज तथा भोज के कालनिर्णय के लिए देखो ना० प्र० पत्रिका नवीन सं०, भाग १, अंक २, पृ० १२१-५, और गौ० ही० ओझा, सोलंकियों का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ७६-८०)। 'प्रबंधचिंतामणि' में लिखा है कि मारे जाने के समय मुंज से कहा गया कि अपने इष्ट देवता का स्मरण करो तो उसने कहा—'लक्ष्मी गोविन्द के पास चली जायगी, वीरश्री वीरों के घर चली जायगी किन्तु यशःपुंज मुंज के मरने पर सरस्वती निरालम्ब हो जायगी।' चाहे यह मुंज की रचना न होकर उस समय के किसी कवि की हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह विद्या और विद्वानों का अवलम्ब था। उसके समय में जैसा ऊपर कहा जा चुका है अमितगति ने 'सुभाषितरत्नसंदोह' बनाया। सिंधुराज के कीर्तिकाव्य 'नवसाहसांकचरित' का कर्ता पद्मगुप्त,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धनपाल, 'दशरूप' का कर्त्ता धनंजय और उसका टीकाकार धनिक उसके आश्रित थे। 'पिंगलसूत्र' का टीकाकार हलायुध उसी के समय में था। प्रबंधों में और सुभाषितावलियों में मुंज के बनाए कई श्लोक दिए हैं और क्षेमेन्द्र ने, जो मुंज के ५० वर्ष ही पीछे हुआ, उसका एक श्लोक उद्धृत किया है। अब यह प्रश्न उठता है कि जिन दोहों की व्याख्या हम कर चुके हैं वे क्या स्वयं मुंज के बनाए हैं? हमारे दसवें दोहे की व्याख्या में शास्त्री कहते हैं कि यह 'रिपुनारी वाक्य' है किन्तु इसमें मुंज ने अपने ही को सम्बोधन किया हो तो क्या आश्चर्य है? प्रबन्धचिन्तामणिकार के समय (सं० १३६१) तक तो यह ऐतिह्य था कि ये दोहे मुंज के हैं। जो श्लोक दूसरे कवियों के बनाए जाने गये हैं और इन प्रबन्धकारों ने दूसरे कवियों या राजाओं के सिर मढ़ दिए हैं उनके ऐसे प्रसिद्ध दोहों पर संदेह नहीं किया जा सकता। ऐसे दोहे दन्तकथाओं में रह जाते हैं और दन्तकथाओं को छोड़कर उनकी रचना के बारे में कोई प्रमाण नहीं है। बीकानेर के पृथ्वीराज ने राणा प्रताप को सोरठे लिख भेजे, मानसिंह को अकबर ने 'सभी भूमि गोपाल की' वाला दोहा लिख भेजा, नरहरि कवि का 'अरिहु दन्त तृन गहहिं' वाला छप्पय अकबर के सामने पेश किया गया, 'ब्रह्म भनै सुन शाह अकब्बर' आदि दोहे बीरबल ही के हैं, हुलसीवाले उक्ति प्रत्युक्ति खानखाना और तुलसीदास के बीच में हुई थी, इत्यादि बातों का ऐतिह्य को छोड़कर और क्या प्रमाण है? वही प्रमाण यह मानने को है कि ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में, प्रसिद्ध विद्याप्रेमी भोज का चाचा, परमार राजा मुंज पुरानी हिन्दी का कवि भी था। एक प्रमाण और है—हेमचन्द्र के व्याकरण में जो अपभ्रंश के उदाहरण दिए हैं उनमें एक दोहा यह है—

बाह बिछोडवि जाहि तुहं, हउं तेवँइ को दोसु।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि, जाणउं मुंज सरोसु।।

अर्थात् बाँह बिछुड़ा कर तू जाता है (या जाती है), मैं भी वैसे ही जाता हूं या जाती हूं) (इसमें) क्या दोष है? हृदय (में) स्थित यदि (तू) निकले तो, मुंज (कहता है कि, मैं) जानूं (कि तू) सरोष है। चौथे चरण का यह अर्थ भी हो सकता है कि 'तो मैं जानूं कि मुंज सरोष है'। दूसरा अर्थ सीधा जान पड़ता है किन्तु मुंज की कविताओं में नाम देने की चाल देखकर पहला अर्थ भी असम्भव नहीं है। यह दोहा हेमचन्द्र के पहले का है, इससे दो ही परिणाम निकाल सकते हैं। एक तो यह कि सूरदास (?) के—

बाँह छुड़ाए जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदे से जब जाहुगे तो मैं जानौं तोहि।।

इस दोहे के पितामह 'बाह बिछोडवि' आदि दोहे का कर्ता राजा मुंज था और यह मुंज के नाम से अंकित दोहा सं० ११९९ (कुमारपाल की गद्दीनशीनी का समय जिसके पहले तो हेमचन्द्र का व्याकरण बन चुका था) से पहले प्रचलित था। दूसरा यह कि यदि दूसरा अर्थ मानें तो जिस नायिका ने फिसलनी भूमि वाला दोहा (ऊपर, संख्या ३) मुंज को लिखा था उसी की कृति यह भी हो। दोनों अवस्थाओं में या तो मुंज को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि मानना पड़ेगा या इन दोहों को उसके समय का बना मानना पड़ेगा। कम-से-कम यह तो मानना होगा कि यह दोहा सं० ११६६ (रासो के कल्पित समय से ५० साल पहले) से किसी समय पहले की रचना है जिसे उस समय या तो स्वयं मुंज का रचित या किसी से मुंज को प्रेषित माना जाता था।]

(११)

भोज के यहां एक सरस्वतीकुटंब आया जिसकी सूचना भोज के सेवक ने एक संस्कृत-देशी की खिचड़ी का श्लोक बनाकर दी—

बापो विद्वान् बापपुत्रोऽपि विद्वान्
आइ विउषी आईधुआपि विउषी।
काणी चेटि सापि विउषी वराकी
राजन् मन्ये विज्जपुञ्जं कुटुम्बम्॥

बाप भी विद्वान् है, बाप का पुत्र भी विद्वान् है, माँ पंडिता है, माँ की बेटी भी विदुषी है, बेचारी कानी दासी है वह भी विदुषी है, राजन्! मानता हूं यह कुटुंब विज्ञों का पुंज है।

बाप—पिता, यह देशी है किन्तु 'हेमकोश' के शेषकांड में संस्कृत माना गया है। 'प्रबंधचिन्तामणि' में इसका संस्कृतीकृत रूप बप्तृ (वप्ता-बीज बोनेवाला) भी आया है (पृ० ३०१) (देखो-पत्रिका, भाग १, अंक ३, पृ० २४६, टिप्पण १६)। **आई**-माता (मराठी)। **धुआ**—बेटी, सं० दुहितृ, पंजाबी-धी। **विज्ज**—विज्ञ।

पाठांतर—बप्पो, विद्गी, विध्री, विदुसी, विज्ञ, विद्व, केवल लेखप्रमाद हैं।

(१२)

राजा ने उनमें से ज्येष्ठ की पत्नी को समस्या दी—**कवणु पियावउ खीरु?** उसने यह पूर्ति की—

जइ यह रावणु जाईयउ, दहमुह इक्कु सरीरु।
जणणि वियम्भी चिन्तवइ, कवणु पियावउ खीरु॥

पाठांतर—जेइ।

अर्थ—जब यह रावण दस मुंह और एक शरीर वाला जनमा तो माता अचम्भे में आकर सोचती है कि कौन (से मुख) को दूध पिलाऊं?

जाईयउ—जायो। **वियम्भी**—विस्मिता। **चिंतवइ**—चिंतवै। **कवणु**—कौन। **पियावउ**—पियाऊँ। **खीरु**—सं०: क्षीर, दूध, सिन्धी: खीर अत्थि? दूध है क्या?

(१३)

दूसरी समस्या दी—**कंठि विलुल्लइं काउ?** इसकी पूर्ति कानी चेटी ने यों की—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काण वि विरहकरालिइं, पइ उड्डावियउ वराउ।
सहि अच्चभूउ दिट्ठ मइं, कण्ठि विलुल्लइ काउ॥

पाठांतर—अच्चिभू। 'अच्चब्भुअ' ठीक होता।

अर्थ—किसी विरह से दुखिया स्त्री ने खिझकर विचारे पति को उड़ा दिया। हे सखि! मैंने यह अति अचरज देखा कि अब किसके कंठ का सहारा लिया जाय? कलहांतरिता पहले तो पति को भगा चुकी है, अब मान टूटने पर पछताती है कि हाय! किसके गले से लिपटूं?

काण—किसी से या कैसे। **करालिइं**—करालिता (कराल हुई) से। **पइ**—पति। **उड्डावियउ**—उडावियो (गुजराती)। **वराउ**—वराक। **अच्चभूउ**—अत्यद्भुत, देखो पीछे (६)। **दिट्ठ**—दीठो। **मइं**—मैं, कर्मवाच्य में कर्ता कारक, 'ने' लगाने से (मैंने) दुहरा कारक चिह्न लगता है। **कण्ठि**—कंठ में। **विलुल्लइ**—लटका जाता है, विलमा जाता है। **काउ**—किसके।

ये दोनों दोहे 'कुमारपाल प्रतिबोध' में कुछ पाठान्तरों के साथ दूसरे प्रसंग में हैं। अगला लेख देखो। पिछला हेमचंद्र में भी है।

(१४)

एक समय भोज रात को नगर में घूम रहे थे कि एक दिगंबर को एक गाथा पढ़ते सुना। बेचारा दिगंबर तो हो गया था किंतु उसकी हविश पूरी नहीं हुई थी। दूसरे दिन भोज ने उसे बुलाया और उसके मनसूबे जानकर उसे अपना सेनापति बनाया। पीछे उसी कुलचंद्र ने अनहिलपट्टन जीतकर जयपत्र प्राप्त किया। वह गाथा या दोहा यह है—

एऊ जम्मु नग्गुहं गिउ, भडसिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खां तुरियां न माणियां, गोरी गलि न लग्गु॥

अर्थ—यह जन्म अकारथ गया, सुभटों के सिर पर (मेरी) तलवार नहीं टूटी, तीखे (तेज़) घोड़ों का उपभोग नहीं किया, न गोरी (युवती) के गले लगा।

पाठांतर—आउ (=आयु), निग्गहं। नग्गहं।

शास्त्री ने 'भडसिरि खग्ग' को एक पद लेकर अर्थ किया है 'भट-श्रीखड्गः'। तिक्खा का अर्थ 'तीक्ष्ण स्त्रीकटाक्ष' किया है और 'तुरिया' का अर्थ तूलिकादि शय्योपकरण' (रामायण की 'तुराई')। टानी 'तिक्खा तुरिया' का अर्थ कर्कश-स्वर-युक्त बाजे (सं० तूर्य) करते हैं।

एऊ—यह, यो। **नग्गुहं**—निर्ग्रह (सं०) निष्फल, शास्त्री कहते हैं 'नग्नोऽहं' में नंगा या दिगंबर हूं या निर्गुहं! **भड**—मारवाड़ी में वीर को अब तक 'भड' कहते हैं, विशेषकर ताने में। **माणियां**—उपभोग किया, (सं०) मंडन किया, मिलाओ मारवाड़ी—सेजां माणीज्यो, गोरी ने माणज्यो ढोला (गीत)। गोरी-नायिका के लिए साधारण

गु-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द, अब भी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी गीतों में आता है। हेमचंद्र ने भी इस पद के इस अर्थ का उल्लेख किया है।

(१५)

'प्रबंधचिंतामणि' की एक प्रति में उसी हौसिलेवाले कुलचंद्र का (जो कवि भी था और जिसे सुन्दर कविता के लिए भोज ने एक सुन्दर दासी दी थी) एक दोहा और दिया है—

नव जल भरीया मग्गडा, गयणि धडक्कई मेहु ।
इत्थन्तरि जरि आविसिइ, तउ जाणीसिइ नेहु ।।

अर्थ—मार्ग नए (बरसाती) पानी से भरे हैं, गगन में मेघ धड़कता है, इस (अवसर) में जो (तू)आवेगा तो नेह जाना जायगा। मुंज की रसीली तो बरसात में आना असम्भव जानकर 'गँवार' नायक को पहले ही बुलाती थी, किंतु कुलचंद्र उस समय आने ही को नेह की परीक्षा मानता है।

भरीया—भरे हुए। **मग्गडा**—देखो संदेसडो(१)। **जरि**—जब, यदि, मारवाड़ी में जर, जरां अब भी समयवाचक जब के लिए आता है। **जाणीसिइ**—जाना जायगा, सं० 'स्य' को सि' में पहचानो।

(१६)

भोज ने सभा में बैठकर गुजरातियों के भोलेपन की हँसी की। वहीं पर उस देश के एक आदमी ने कहा कि हमारे गोआले भी आपके पंडितों से बढ़कर हैं। यह समाचार सुनकर गुजरात के राजा भीम (सोलंकी) ने एक गोपाल भोज के पास भेजा। उसने राजा को एक दोहा सुनाया जिस पर राजा ने उसे 'सरस्वतीकंठाभरण गोप' की उपाधि दी।

भोय एहु गलि कण्ठुलउ, भण केहउ पडिहाइ ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसितिहि, सीम निबद्धी कांइ ।।

पाठांतर—भोज एव हु कण्ठलउ, स्तंभल्लउ, कंचुल, लच्छिहिं, काइं, सीम विहली, कोइ; पाठान्तरों में अधिकरण कारकवाले पद बिना 'इ' के भी हैं।

अर्थ—भोज ! कह तो सही, यह (तेरे) गले में कठला कैसा भाता है ? उर में लक्ष्मी और मुँह में सरस्वती के बीच यह सीमा बांधी है क्या ? विद्वान राजा के मुँह में सरस्वती और प्रभु के उर में लक्ष्मी—बीच में कठला क्या हुआ मानो उन दोनों के राज्य की मर्यादा जतला रहा है।

कण्ठुलउ—कंठलो, कठलो, गले का गहना। **केहउ**-केहो, कैसो। **पडिहाइ**—सं० प्ररिभाति। **निबद्धी**—नि+बांधी। **काँई**—क्यों, किसलिए, क्या।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१७)

एक समय भोज वीरचर्या से रात को नगर में घूम रहे थे कि उन्होंने किसी दरिद्र की स्त्री को यह दोहा पढ़ते सुना—

माणुसड़ा दसदस दसा, सुनियइ लोय पसिद्ध ।
मह कन्तह इक्कज दसा, अवरि ते चोरिंहि लिद्ध ।।

पाठांतर—माणसडी, दस-दस हवइ, माणसडा (दस-दस) दसइं देवेहि निम्मवियाइं, मुज्झ, नवोरहिं हरियाइं, ते वोरहिं हरियाइं, नवोरहिं, लिद्ध । पाठान्तरों से जान पड़ता है कि इस दोहे के दो पाठ हैं, एक में तो सिद्ध लिद्ध की तुक है, दूसरे में निम्मवियाइं हरियाइं की तुक है।

अर्थ—मनुष्य की दस-दस दशाएँ लोकप्रसिद्ध सुनी जाती हैं, या दस-दस दशा देवताओं ने बनाई हैं। अर्थात् जन्म भर में दश दशा बदलती हैं, किंतु मेरे कंत की एक ही दशा (दारिद्र्य) है और (जो थीं) उसे चोरों ने हर लीं (या और नौ औरों ने ले लीं)।

'मिलाओ, हस्तिनां दशवर्षप्रमाण दश दशाः किल भवंति' (हर्षचरित की संकेत टीका)।

माणुसड़ा—संबंध कारक के 'णा' और 'डा' के लिये देखो (१) डी—दसा एकवचन के लिए स्त्रीलिंग है, डा—बहुवचन। हवइ होती हैं, हवैं, ह्वैं, **सुनियइ**—कर्मवाच्य। **निम्मवियाइं**—निर्मित की गईं [सं०* निर्मापितानि] प्रेरणार्थक में प (व) के लिए देखो—ना० प्र० पत्रिका, भाग १, अंक ४, पृ० ५०७, टिप्पणी ११। **मुज्झ**—मेरे, संस्कृत में तुभ्यं, मह्यं चतुर्थी है, चतुर्थी और षष्ठी का प्रयोग वैदिक भाषा में बिना भेद के होता था, वैदिक भाषा में तुभ्यं षष्ठी के अर्थ में भी आया है—मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यताम्। मह, कंतह—ह संबंधकारक का चिह्न है। इक्कज में ज' 'ही' या 'केवल' के अर्थ में है, मारवाड़ी में अब तक आता है, जैसे आप रोज काम, एकज झूंपो (झोंपड़ा)। **अवरि**—दूसरी, अपरी (सं०*) टानी के अनुसार उपरि (ऊपर, अधिक) नहीं। **नवोरहिं**—नव+ओरहिं, हिंदी 'और' अपर (=अवर) से बना है, सं० १९२२ तक पुराने पंडित अवर लिखा करते थे—'अवर जब अइसा होय।' तब (एक पत्र से) लिद्ध-लब्ध, मारवाड़ी, गुजराती-लीधो। हरियाइं—हरी गईं।

(१८)

मरते समय भोज ने कहा था कि श्मशान यात्रा के समय मेरे हाथ अरथी के बाहर रक्खे जायं। भोज का यह वचन लोगों से एक वेश्या ने कहा—

कसु करु रे पुत्र कलत्र धी, कसु करु रे करसण वाडी ।
एकला आइवो एकला जाइवो, हाथपग वे झाडी ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—अरे, पुत्र, स्त्री, कन्या किसके हैं ? खेतीबाड़ी किसके (या सारा बाग किसका ?) अकेला आना है और दोनों हाथ-पांव झटकार कर अकेला जाना है ।

'कसु करु' का अर्थ टानी ने 'किसका हाथ' किया है और शास्त्री ने 'क्या पुत्र कलत्र' को दोनों ने संबोधन माना है, धी को दोनों भूल गए। **कसु करु**—किसका (सं० कस्य केरकः) **धी**—बेटी, देखो ऊपर (११) **करसण**—खेती, या कृत्स्न (शास्त्री) **आइबो**, जाइबो—आता हूं, जाता हूं (टानी) । **बे**—दो।

(१६)

सिद्धराज जयसिंह समुद्र के किनारे टहल रहे थे । एक चारण ने उनकी स्तुति में कविता कही जिसमें से एक सोरठा (?) दिया है—

को जाणइ तुह नाह चित, तु हालेइ चक्कवइ लउ ।
लंकहले वाहमग्गु, निहालई करणउत्तु ।।

पाठांतर—कौ, हालंतु, लंककाले, चक्कवइ लहु ।

अर्थ—सिद्धराज को समुद्र की ओर निहारते देखकर चारण कहता है कि नाथ ! तुम्हारे चित्त (की बात) को कौन जानता है ? तू चक्रवर्ती (पद) पाने की चेष्टा कर रहा है, कर्ण का पुत्र (सिद्धराज) लंका फल के (लेने के लिए) वाह का मार्ग देख रहा है ।

हालेइ--चलता है (सं० जंघालयति, शास्त्री) **लउ**—पाने को (सं० लब्धुं, शास्त्री) **लंकहले**—लंकाफल का । वाह—जहाजों का चलना । **निहालइ**—देखता है । (सं० निभालयति) पंजाबी में 'निहालना'—प्रतीक्षा करना । करणउत्तु—कर्ण + पुत्र, राजस्थानी करणोत । पिता के नाम के गौरव से पुत्र को संबोधन करना चारण कविता (डिंगल) का प्रसिद्ध लक्षण है ।

(२०)

सिद्धराज जयसिंह वर्द्धमानपुर (वढवाण) के आभीर राणक (राना) नवघन[1] पर चढ़ाई की और किले की दीवाल तोड़कर उसे द्रव्य की वासणियों (थैलियों) की मार से मार डाला । नवघन की रानी के शोकवाक्य ये हैं—

सइरु नहीं स राणइ, कुलाईउ नकुलाइ इ ।
सइ सउ षङ्गारिहि प्राणकइ, वइसानरि होमीइ ।।

---

१. गिरनार के चूड़ासमा यादवों की राजावली में कई नवघण नामक राजाओं का उल्लेख है, संभव है यह चौथा नवघन हो और खेंगार उसका उपनाम हो। फार्बस ने 'रासमाला' में खेंगार को नवघन का पुत्र कहा है, खेंगार और नवघन नाम इन राजाओं में कई बार आए हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठांतर—सयरू, नहिं, राण, न कुलाई न कुलाई, सइं, पाण, किन वइसारि होमिया ।

अर्थ—हे सखियो, वह राणा भी नहीं है, (हमारे) कुल भी अब नकुल (=नीच कुल) हैं, (मैं) सती खेंगार के साथ प्राणों को वैश्वानर (अग्नि) में होमती हूं।

सइरु—सखियो, रु वहुवचन। **सइ**—सती। **प्राणकइ**—प्राण कैं=को। वइसानरि वैश्वानर में, राजस्थानी—वैंसादर। **होमीइ**—होमती हूँ। **होमिया** —होमे ।

(२१)

राणा सव्वे वाणिया, जेसलु बड्डउ सेठि।
काहूं वणिजडु माण्डीयउ, अम्मीणा गढ हेठि ॥

अर्थ—सब राणा तो (छोटे) बनिये हैं, जैसल (सिद्धराज जयसिंह) बड़ा भारी सेठ है, क्या बणिज (व्यापार) मांडा (फैलाया) है (उसने) हमारे गढ़ के नीचे। (बड़े व्यापारी के सामने छोटे का दीवाला निकल जाता है।)

[टानी का उत्तरार्द्ध का अर्थ—बनिए के पेशे की कैसी शोभा हुई ? हमारा गढ़ नीचे पड़ गया।]

सव्वे—सं० सर्वे। **बड्डउ**—बड़ो। **बणिजडु**—देखो संदेसडउ (१)। **मांडीयउ**—देखो माणिया। (१४) अम्मीणा—हमारा, देखो (१)। हेठि—नीचे पंजाबी-हेठ, और जेठ सब सेठ (रामकहानी)।

(२२)

तइं गडूआ गिरनार, काहूँ, मणिमत्सरु धरिउ।
मारीतां षङ्गार, एक्क सिहरु न ढालिउं ॥

अर्थ—हे गुरु (भारी) गिरनार (पर्वत)! तैंने मन में कैसा कुछ मत्सर धारण किया कि खंगार के मारे जाते समय (अपना) एक शिखर भी न गिराया। (जिससे शत्रु कुचले जाते या अपने स्वामी के दुःख में तेरी सहानुभूति जानी जाती, जैसे कि शोक में भूषण उतार दिए जाते हैं।)

तइं—तैं, तैंने। **गडूआ**—(सं० गुरुक), भारी। **मारीतां**—मारे जाते हुए (भाव लक्षण) **सिहरु**—शिखर। **ढालिउं**—डाल्यौ, ढलकाया।

(२३)

जैसल मोडि मवाह, वलि वलि विरूप भावीयइ।
नइ जिम नवा प्रवाह, नवघण विणु आवइ नहि ॥

पाठांतर—वरुण भावीयइ, नवयण विन आवै नहि।

अर्थ—जैसल (जयसिंह) का मर्दन किया हुआ मेरा वास फिर विरूप जान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता है, जैसे नदी में नया प्रवाह बिना नवघन (नए मेघ, पक्ष में राणा नवघन) के नहीं आता।

'जैसल मोडि मवाह' का अर्थ टानी ने किया है—'जैसल, आंसू मत बहाओ।' शास्त्री का अर्थ भी संतोषदायक नहीं। यह अर्थ भी हो सकता है कि जैसल का मोड़ा हुआ (हमारा राज्य रूपी नदी का) प्रवाह बुरा लगता है, क्योंकि कहां नवघन से होनेवाला नदी की बाढ़ का सुन्दर प्रवाह और कहां दूसरे के पराक्रम से मोड़ा हुआ प्रवाह ? नवघन का अर्थ दोनों ओर लगता है।

मोडि—मोड़कर, मींड<मर्द् । **मवाह**—मद्+वास, मेरा घर (शास्त्री), मेरे मत में यों पढ़ना चाहिए जैसलमोडिम-वाह, जैसल का मोड़ा हुआ वास या प्रवाह। वलि वलि-मुड़—मुड़कर, फिर-फिर। **नइ**—नदी, सुरवरनई (तुलसीदास)।

(२४)

वाढी तो वढवाण वीसारतां न वीसरइ।
सोना समा पराण, भोगाधह पइँ भोगवीइ॥

पाठांतर—वादी, तवउं वढमाण, सूना, तइं, भोगिव्या।

अर्थ—हे वढमाण (वर्धमान) शहर ! तू (शत्रुओं से) काटा गया है तो भी भुलाने से भी नहीं भूला जाता, (मैं अपने) सोने के सदृश प्राणों को भोगावह (नदी) को भोग कराऊंगी। (या हे भोगावह ! मैं तुम्हें उन्हें भुक्त कराऊंगी)।

पूर्वार्द्ध का टानी का अनुवाद—उस (नवघन) का बढ़ाया हुआ बढवान (उसे) भुलाने से भी नहीं भूलेगा।

वाढी—सं० <वृध् के दोनों अर्थ हैं, बढना और काटना। **वीसारतां**—विसरना, सं० वि+<स्मर्। **समा**—बराबर। भोगावह भोगावर्त नामक नदी (शास्त्री)। **पइँ**—पै (को) या मैं।

इन सोरठों में कहीं-कहीं नवघन तथा खेंगार दोनों को एक ही मान लिया जान पड़ता है।

(२५)

हेमचंद्र की माता के उत्तरकर्म के समय कुछ द्वेषियों ने विमान भंग का अपमान किया। इससे क्रुद्ध होकर हेमचंद्र मालवे में डेरा डाले हुए राजा कुमारपाल के पास आए और उदयन मंत्री ने राजा से उनका परिचय कराया। हेमचंद्र ने सोचा कि—

आपण पइ प्रभु होइअं, कइ प्रभु कीजई हाथि।
कज्ज करिवा माणुसह, बीजउ मागु न आत्थि॥

पाठांतर—काजकरेवा माणुसह।

अर्थ—या तो आप समर्थ हो या (किसी) समर्थ को हाथ में कीजिए। मनुष्यों का कार्य (सिद्ध) करने के लिए दूसरा मार्ग नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपण—अपने । **पइ**—पँ, या । **होइअं**—होवे । **कइ**—कँ = या । **बीजउ**—बीजो, दूसरा । **मागु**—मग्गु, मार्ग । आत्थि—अत्थि (सं० अस्ति) है, राजस्थानी क्यूं आथ न साथ (=कुछ है ही नहीं) ।

(२६)

एक दिन हेमचंद्र कुमारपाल बिहार-मंदिर में कपर्दी नामक पंडित के हाथ का सहारा लिए जा रहे थे । वहां पर नाचने-बाली के कंचुक की डोर पीछे से खेंचकर कसी जा रही थी । इस पर कपर्दी ने एक दोहे का पूर्वार्द्ध कहा और उसके ठहरते ही हेमचन्द्र ने उसकी पूर्ति कर दी—

सोहग्गीउ सहि कञ्चुयउ, जुत्त उत्ताणु करेइ ।
पुट्ठिहिं पच्छइ तरुणियणु, जसु गुण गहण करेइ ।।

अर्थ—सुहागन को (या सुहाग को) भी सखियां कंचुक के युक्त (साथ) उत्तान (ऊंचा) करती हैं; जिसका तरुणि-जन पीठ से पीछे से गुण ग्रहण करती हैं । जिसके गुणों का पीछे से ग्रहण (वर्णन) किया जाय वह अवश्य ऊँचा (बड़ा) होता है ।

गुण—डोरी और सद्‌गुण दोनों । **सोहग्गीउ**—सौभाग्यवती भी (हिं० : सुहागिन) । **पुट्ठिहिं**—पीठ से, पुट्ठे(पूठ) से, (सं० : पृष्ठ), ऋ की उ-श्रुति पर ध्यान दो, पीठ पीछे (हिं०) पूठ पीछे (रा०) महाविरा है । **पच्छइ**—पाछे (मारवाड़ी), **करेइ**—करै ।

(२७)

सोरठ के दो चारण 'दूहाविद्या' में स्पर्धा करते हुए अणहिलपुर पाटन में आए । शर्त यह थी कि जिसकी रचना की हेमचन्द्र व्याख्या करें वह दूसरे को हरजाना देवे । एक ने हेमचन्द्र से मिलने पर यह सोरठा पढ़ा—

लच्छिवाणिमुहकाणि एयइ भागी मुह भरउं ।
हेमसूरि अच्छीणि जे ईसरते दे पण्डिया ।।

अर्थ—इस भागी (भाग्यवान् हेमचन्द्र) के मुख में भरे (स्थित हेमचन्द्र के नेत्र) लक्ष्मी और सरस्वती दोनों के मुखवाले (=युक्त) हैं, जिस पर वे कुछ भी प्रसन्न हो जाते हैं, वे पंडित हो जाते हैं ।

यह अर्थ कुछ खेंचकर किया गया है क्योंकि सोरठा स्पष्ट नहीं है । शास्त्री से एक पाठांतर का दूसरा अर्थ दिया है जो बिलकुल ऊटपटांग है । "लक्ष्मी कहती है कि ये यति (ए यइ) वाणी को मुख में रखने वाले हैं इसलिए (सौत की ईर्ष्या से) मैं मरती हूं । तो हेमसूरि से छिपे-छिपे (हेमसूरि आ छाणि) वे भाग गए, इसलिए जो ईश्वर (समर्थ) हैं वे पंडित हैं, पंडित लक्ष्मीवान् नहीं ।"

पाठांतर—पयइ, मरउ, सूरिआ, छाणि ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लच्छिवाणिमुहकाणि—मुखक (सं०) = प्रभृति, आदि। **एयइ**—यह, ऐसा। **भरउं**—भयों। ईसरते—ईषद्रते ? (सं०) कुछ भी प्रेम करते हुए। **छाणि** (सं०* छन्य छाद्य ?) छिपकर, राजस्थानी—छाने।

(२८)

वह चारण तो बैठ गया। इतने में 'कुमारपाल विहार' में आरती के समय महाराज कुमारपाल आए और उनके प्रणाम करने पर हेमचन्द्र ने उनकी पीठ पर हाथ रखा। इतने में दूसरे चारण ने कहा—

हेम तुहाला कर भरउं, जांह अच्चंभ्भू रिद्दि।
जेवं पह हिठा मुहा तांह ऊपहरी सिद्धि॥

पाठांतर—जिह अच्चुपुयरिद्धि, जे चंपह हिठा मुहा तीह उबहरी सिद्धी।

अर्थ—हे हेम, तुम्हारा हाथ जिन पर भरा (रक्खा) है उनके तो अचंभे की-सी रिद्धि होती है और जिनका मुंह नीचा होता है (या जो नीचे मुख से [आपके पांव] दबाते हैं) उन्हें आपने सिद्धि उपहार में दी। यह अर्थ शास्त्री और टानी दोनों के अर्थ से भिन्न है, वे दोनों संतोषदायक नहीं हैं। चारण कुमारपाल की अचंभे की-सी संपत्ति को हेमचन्द्र के पीठ पर हाथ रखने और सिद्धि के उपहार को नीचे मुंह से पैरों में प्रणाम करने के कारण मानता है। यह विरोधाभास भी हो सकता है कि मुँह नीचा और सिद्धि ऊंची (उपहरी)। कवि की इस अछूती उक्ति पर राजा प्रसन्न हुआ और उससे दोहा बार-बार पढ़वाया। तीन बार पढ़कर चारण ने, शिवाजी के सामने भूषण की तरह बेसबरी से कहा कि क्या प्रति पाठ पर लाख दोगे ? राजा ने तीन लाख दिए। कहानी अधूरी है, हेमचंद्र ने किसी को सराहा। न मालूम उनकी होड़ाहोड़ी का क्या हुआ।

तुहाला—तुम्हारा, तुहाडा (पंजाबी) देखो (१)। **जांह**—जिसमें, जहां। [**अच्चंभ्भू**—अत्यद्भुत, देखो (६), (१३)। **जे चंपह**—जो दबाते हैं (चारणों को), पगचंपी (राजस्थानी) पैर दबाना। **जेंव**—जिनका। **पह**—पैरों पं। **हिट्टा**—हेठा, देखो (२१)। **ऊपहरी**—उपहार दी गई। (सं० उपहृता) या ऊपर की, ऊँची।

(२९)

जब कुमारपाल शत्रु जयतीर्थ में गए तो वहां एक चारण को प्रतिमा के सामने यह सोरठा नौ बार पढ़ते देखकर उन्होंने नौ सहस्र दिए—

इक्कइ फुल्लह माटि देअइ, सामी सिद्धि सुहु।
तिणि सिउं केही साटी, भोलिम जिणवरह॥

पाठांतर—देवइ सिद्धि सुठु···केहि साटि कटि (रि ?), रे भोति (लि ?) म, तिणिसउं।

अर्थ—एक फूल के लिए, एक फूल की खातिर, स्वामी सिद्धिसुख (या सौ सिद्धि) देते हैं, इस तरह हे जिनवर आप किसलिये (इतने) भोले हैं ? या जिनवर का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतना भोलानन क्यों है? टानी ने तिणिसउं का अर्थ किया है 'यह निश्चित है (तन्निश्चितं !) इसलिए जिनवर को कभी न भूलो' (भोलि म)

माटि—लिए, खातिर। **तिणि सिउं**—उससे (इस कारण से), (सं० तन्निश्रया शास्त्री) उसी प्रकार से। **केही साटी**—किसलिए, देखो (५) किस बदले में। **भोलिम**—भोलापन।

(३०)

कुमारपाल का उत्तराधिकारी और भतीजा अजयपाल बड़ा निर्दयी था। उसने जैनों पर उतने ही अत्याचार किए जितनी उसके पूर्वज ने भलाइयां की थीं। उसने गिन-गिनकर विद्वानों और प्रधानों को मारा। पंडित रामचंद्र ने सौ ग्रन्थ बनाए थे, उसे तत्ते तांबे पर चढ़ा दिया। बेचारा यह दोहा पढ़कर दाँतों से अपनी जीभ काटकर वेदना से मर गया।

महिवीढह् सचराचरह्, जिण सिरि दिह्ण्णा पाय।
तसु अत्थमणु दिणे सरह्, होउत होइ चिराय ॥

पाठांतर—जिणि सिरि दिन्ना दिणसरसु, होइतु होहु, विराय।

अर्थ—पृथ्वी के पीठ पर जिसने सचराचर सब (भूमंडल) के सिर पर पाँव दिया उसी दिनेश्वर (सूर्य) का अस्त होता है, सच है, जो होना होता है वह देर से कभी-न-कभी भी होकर रहता है।

महिवीढह्—महीपीठ (में या का), पीठा (सं०)—हिं० पीढ़ा। **सचराचरह्** (में या का। जिण सिरि दिह्ण्णा पाय—का शास्त्री ने अर्थ किया है जिसने श्री दी प्रायः (!)। **तसु**—तासु। **अत्थमणु**—सं० अस्तमन, अँथवणो आथणो (=अस्त), **आथण**(=सायंकाल) आँथूणी (=पश्चिम दिशा), राजस्थानी। **होउत**—भवितव्य।

चौथे चरण का टानी का अनुवाद—'होना पड़ता है और बहुत काल के लिए होगा।'

(३१)

सिद्धसेन दिवाकर को केतलासर ग्राम को जाते हुए एक वृद्धवादी मिला उसने रोककर कहा, विवाद करो। सिद्धसेन ने कहा, नगर में चलो, वहां पुरवासी मध्यस्थ होंगे। वृद्धवादी ने कहा, ये गोआले ही सभ्य हैं, ये ही निर्णय कर देंगे। सिद्धसेन ने संस्कृत में बहुत कुछ कहा—फिर वृद्धवादी ने एक गाथा पढ़ी जिसे सुनकर ग्वालों ने कहा—तुम ही जीत गए, दूसरा कुछ नहीं जानता। वह गाथा यह है—

नवि मारीयए नवि चोरीयए, परदारगमण निवारीयए।
थोवा विहु थोवं दाइयए, इम सग्गि टगमगु जाईयए ॥

अर्थ—न मारिए, न चोरिए, परदारगमन को छोड़िए, थोड़े से भी थोड़ा दान दीजिए, यों चटपट स्वर्ग जाइए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवि—न + अपि। **थोवा**—थोड़ा (सं० स्तोक, हिंदी शब्द में वही 'ड' आया है, स्तोकक)। **दाइयए**—दीजिए। **सग्गि**—स्वर्ग में। **टगमगु**—झटपट, हड़बड़ाते हुए।

(३१ क)

'प्रबंधचिंतामणि' में जितनी पुरानी हिंदी की कविता थी उसका व्याख्यान हो चुका। दो प्रसंगों पर उसमें कुछ गद्य भी आया है और वहां की कथा रोचक है इसलिए उनका भी उल्लेख यहां किया जायगा। कुमारपाल के मंत्री साह आंबड ने कुंकुण के राजा मल्लिकार्जुन को जीतकर उसके सिर के साथ और जो भेंट राजा के सामने रखी उसकी सूची में संस्कृत के साथ कुछ देशभाषा दी है। वह यह है—**श्रृंगार कोडा साडी** (श्रृंगार-कोटि साड़ी), **माणिकउ पखेवडउ** (माणिक नाम पखेवड़ा = पक्षपट, दुपट्टा या ओढ़ना, राजस्थानी पछेवड़ा), (**पापखउ हारु**),··· **मौक्तिकानां सेडउ** (सेडो ? = सेटक, सेर या लड़ी ?)।[1]

---

१. 'प्रबन्धचिंतामणि' की इबारत यह है—श्रृंगारकोडी साडी १ मणिकउ पछेवडउ २ पापखउ हारु ३ संयोगसिद्धि सिप्रा ४ तथ (मुडा ? = तथा ?) (हेमकुंभा ३२ स्तथा मौक्तिकानां सेडउ ६ चतुदंत हस्ति १ पात्राणि १२० कोडी सार्द्ध १४ द्रव्यस्य दंड: (पृ० २०३)। इसी प्रसंग के वर्णन में जिनमंडन के 'कुमारपाल प्रबंध' (सं० १४९२) में तीन श्लोक दिए हैं जिनसे अर्थ स्पष्ट होता है—

शाटीं श्रृंगारकोट्याख्यां पटं माणिक्यनामकम्।
पापक्षयङ्करं हारं मुक्ताशुक्ति (—सेडउ ?) विषापहाम्॥
हैमान् द्वात्रिंशतं कुम्भान् १४ मनुभारप्रमाणतः।
षण् मूटकां (= सेडउ ?) स्तु मुक्तानां स्वर्ण कोटीश्चतुर्दश॥
विंशं शतं च पात्राणां चतुर्दन्तं च दन्तिनम्।
श्वेतं सेदुकनामानं दत्वा नव्यं नवग्रहम्॥

(आत्मानंद सभा, भावनगर का संस्करण : पत्र ३९, पृ० २)।

पापक्षय किसी विशेष प्रकार के हार की संज्ञा थी क्योंकि सिद्धराज जयसिंह का पिता कर्ण (भोगी कर्ण) जब सोमनाथ के दर्शन करने गया तो उसने प्रतिज्ञा की थी कि पापक्षय हार, चंद्र, आदित्य नाम के कुंडल और श्रीतिलक नाम अंगद (बाजूबंद) पहनकर दर्शन करूं (वही प० ४ पृ० २)। 'सेडउ' के अर्थ में संदेह रह जाता है किंतु कुमारपाल के राजतिलक के वर्णन में वहीं (पत्र ३४, पृ० १) में एक अस्पष्ट पंक्ति और है—'मुक्तानां सेतिका क्षिप्ता तस्य शीर्षे सफल्पिका (?) संजाता राज्ञः समग्रैश्चर्यवृद्धि सूचियति स्म' यहां सेतिका का अभिप्राय लड़ी से ही हो सकता है। सम्भव है कि यही अर्थ 'सेडउ' का भी हो।

कुंकण की लड़ाई के लिए, देखो—ना० प्र० पत्रिका, भाग १ पृ० : ३९९-४०१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरा प्रसंग यह है कि एक समय हेमचन्द्र ने कपर्दि मंत्री से पूछा कि तेरे हाथ में क्या है? उसने उत्तर दिया कि 'हरडइ' (=हरडै, हर्र)। इस पर हेमचन्द्र ने पूछा कि 'क्या अब भी? कपर्दी ने उनका आशय समझकर कहा कि नहीं अब क्यों? अन्त से आदि हो गया और मात्रा (धन) में अधिक हो गया। हेमचन्द्र उसकी चातुरी पर बहुत प्रसन्न हुए। पीछे समझाया कि मैंने 'हरडइ' का अर्थ 'ह रडइ' [=ह (कार) रडइ, रटित, रोता है] लेकर पूछा था कि क्या 'हकार' अब भी रोता है? कपर्दी ने उत्तर दिया कि पहले वह वर्णमाला में अन्तिम था, अब आप के नाम में प्रथम वर्ण हो गया और कोरा 'ह' न रहकर ए कार की मात्री से बढ़ गया, अब क्यों रोने लगा?

समय-सूचक सारिणी

इस लेख में जिन ऐतिहासिक बातों का उल्लेख हुआ है उनका आगा-पीछा समझाने के लिए उनके संवत् एक जगह लिख दिए जाते हैं––

विक्रम संवत	घटना
९५० से १०००	राजशेखर का लिखा अपभ्रंश, भूतभाषा और शौरसेनी का देशविन्यास।
१०२९ से १०५० तक किसी समय	परमार राजा मुंज का राज्याभिषेक।
१०५० से १०५४ तक किसी समय	मुंज की मृत्यु।
,, ,,	भोज का राज्याभिषेक।
१०३६	मूलराज सोलंकी के हाथ कच्छ के राजा लाखा फूलानी का मारा जाना।
११५०	सिद्धराज जयसिंह का गद्दी बैठना।
११६२ (?) } ११५० से ११९९ तक किसी समय }	आभीर राणा नवघन की मृत्यु।
११९९	सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु।
११९९	कुमारपाल का राज्याभिषेक।
१२३०	कुमारपाल की मृत्यु।
११९९ से १२३० तक किसी समय	हेमचन्द्र के व्याकरण की रचना।
१२४९	पृथ्वीराज की मृत्यु।
१३६१	'प्रबंधचिंतामणि' की रचना।

सोमप्रभाचार्य के 'कुमारपालप्रतिबोध' से

मेरुतुंगाचार्य ने 'प्रबंधचिंतामणि' ग्रंथ सं० १३६१ में बनाया। उसमें कोई कविता उसकी अपनी नहीं है। पुरानी कविता जो उसने उद्धृत की है उसका निम्नतम समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो उसका समय है, ऊर्ध्वतम समय का पता नहीं। वह कविता पहले लेख में उद्धृत और व्याख्यात की जा चुकी है। अब और पीछे चलिए। सं० १२४१ की आषाढ़ शुक्ल अष्टमी रविवार को अनहिलपट्टन में सोमप्रभसूरि ने 'जिनधर्मप्रतिबोध' अर्थात् 'कुमारपालप्रतिबोध' की रचना समाप्त की।[1] उसमें जो पुरानी हिंदी-कविता है वह इस लेख का विषय है।

सोमप्रभसूरि का 'कुमारपालप्रतिबोध' गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज की चौदहवीं संख्या में छपा है। इसके पाँच प्रस्ताव हैं जिनमें लगभग आठ हजार आठ सौ श्लोक हैं।[2] ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश गद्य तथा पद्य में है; किन्तु ३२ अक्षर का एक अनुष्टुप् श्लोक मानकर श्लोकों में गणना करने की पुरानी चाल है। इसकी एक प्रति सं० १४५८ की ताड़पत्र पर लिखी हुई सम्पूर्ण तथा एक उससे पुरानी बिना मिति की खंडित मिली थी। उन्हीं पर से मुनि जिनविजय जी ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का सम्पादन[3] किया है और भूमिका में कई बहुत उपयोगी बातें बताई हैं जिनमें से कुछ का यहाँ आधार लिया जाता है।

सोमप्रभ आचार्य वृद्धगच्छ की पट्टावलियों में महावीर स्वामी से तियालीसवें गिने जाते हैं।[4] इनके शिष्य जगच्चन्द्र सूरि ने तपागच्छ की स्थापना की। सोमप्रभाचार्य का बनाया हुआ एक 'सुमतिनाथ चरित्र' प्राकृत में है जिसमें पाँचवें जैन तीर्थंकर की कथा और प्रसंग से जैनधर्म का उपदेश है। इसकी संख्या साढ़े नौ हजार ग्रंथ (श्लोक) है। दूसरा ग्रंथ 'सूक्तिमुक्तावली' है जो प्रथम श्लोक के आरम्भ के शब्दों में 'सिंदूरप्रकर' या कवि के नाम से 'सोमशतक' भी कहलाता है। इसमें भी सदाचार और जैनधर्म का उपदेश है। ग्रंथ बहुत ही अद्भुत है—वह केवल एक श्लोक[5] है। किन्तु कवि ने इस एक श्लोक के सौ अर्थ किए हैं जिनसे कवि का नाम ही 'शतार्थी' हो गया है। यह एक ही श्लोक व्याख्या के प्रभाव से चौबीसों तीर्थंकर, कई जैन आचार्य, शिव, विष्णु आदि अजैन देवों से लेकर स्वर्ण, समुद्र, सिंह, हाथी, घोड़े आदि का बर्णन करता है और जैन

---

१. शशिजलधिसूर्यवर्षे शुचिमासे रविदिने सिताष्टम्याम्।
जिनधर्म प्रतिबोधः क्लृतोऽम् गूर्जरेंद्रपुरे ।। (पृ० ४७८)

२. प्रस्तावपंचकेऽप्यत्राष्टौ सहस्राण्यनुष्टुभाम्।
एकैकाक्षरसंख्यातान्यधिकान्यष्टभिः शतैः ।। (पृ० ४७८)

३. इतनी अपूर्ण सामग्री पर भी संपादन बड़ी योग्यता से किया गया है। इतना कहकर यह लिखना कि पृ० ९० में पांच गाथाएं भी गद्य में घिलमिल छप गई हैं, दोषदर्षिता नहीं कहलाना चाहिए।

४. क्लांट, इं० एं० जिल्द ११, पृ० २५४

५. कल्याणसारसवितानहरेक्षमोह
कांतारवारणसमानजयाद्यदेव।
धर्मार्थकामदमहीदयधीरवीर
सोमप्रभावरमागमसिद्धसूरे ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य वादिदेवसूरि, प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र, गुजरात के चार क्रमागत सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज), कुमारपाल, अजयदेव, मूलराज, कवि सिद्धपाल, सोमप्रभ के गुरु अजितदेव और विजयसिंह तथा स्वयं कबि सोमप्रभ का वर्णन करके अपने १०० अर्थ पूरे करता है। पदच्छेदों से, समासों से, अनेकार्थों से इसे एक श्लोक के भागवत के पहले श्लोक 'जन्माद्यस्य यतः' की तरह सौ अर्थ करना बड़े पांडित्य की बात है। चौथा ग्रंथ यह हमारा 'कुमारपालप्रतिबोध' है। शतार्थ काव्य में कुमारपाल विषयक व्याख्या में दो श्लोक "यदवोचाम==जैसा हमने (अन्यत्र) कहा है" कहकर लिखे हैं जो इनके बाकी काव्यों में नहीं है, इससे सम्भव है कि सोमप्रभ ने और भी रचना की हो। इसी शतार्थ काव्य की प्रशस्ति से जाना जाता है कि सोमप्रभ दीक्षा लेने से पूर्व पोरवाड़ जाति के वैश्य थे, पिता का नाम सर्वदेव और दादा का नाम जिनदेव था। दादा किसी राजा का मंत्री था।

'सुमतिनाथचरित' की रचना कुमारपाल के राज्यकाल में हुई। उस समय कवि अणहिलपाटन में सिद्धराज जयसिंह के धर्म-भाई पोरवाड़ वैश्य सुकवि श्रीपाल के पुत्र, कुमारपाल के प्रीतिपात्र कवि सिद्धपाल की औषधशाला में रहता था। श्रीपाल का उल्लेख 'प्रबंधचिंतामणि' वाले लेख में आ गया है। यह श्रीपाल सोमप्रभ की आचार्य-परम्परा में गुरु देवसूरि का शिष्य था और सोमप्रभ के सतीर्थ्य हेमचन्द्र (प्रसिद्ध वैयाकरण से भिन्न) के बनाए 'नाभेयनेमि' काव्य को उसने संशोधित किया था, उस काव्य की प्रशस्ति में श्रीपाल को 'एक दिन में महाप्रबन्ध बनाने वाला' कहा है।[1] कुमारपाल की मृत्यु सं० १२३० में हुई। उसके पीछे अजयदेव राजा हुआ जिसने सं० १२३४ तक राज्य किया। उसके पीछे मूलराज ने दो ही वर्ष राज्य किया। शतार्थी काव्य में उस तक का उल्लेख है, इसलिए उस श्लोक और उसकी सौ व्याख्याओं की रचना सं० १२३६ तक हुई। 'कुमारपालप्रतिबोध' सं० १२४१ में, अर्थात् कुमारपाल की मृत्यु के ग्यारह वर्ष पीछे सम्पूर्ण हुआ। उस समय भी कवि उसी कवि सिद्धपाल की वसति में रहता था। वहाँ रहने का कारण नेमिनाग के पुत्र श्रेष्ठि अभयकुमार के पुत्र हरिश्चन्द्र आदि और कन्या श्रीदेवी आदि की प्रीति थी। संभवतः हरिश्चन्द्र ने इस ग्रन्थ की कई प्रतियाँ लिखाईं, किन्तु प्रशस्ति का वह श्लोक, जिसके आधार पर हम यह कह रहे हैं, त्रुटित है। सेठ अभयकुमार कुमारपाल के राज्य में धर्मस्थानों का सर्वेश्वर अर्थात् अधिकारी था। 'कुमारपालप्रतिबोध' की प्रशस्ति में सोमप्रभ ने अपने वृहद्‌गच्छ (वृद्ध-गच्छ, बड्‌डगच्छ) के इन आचार्यों का यथाक्रम उल्लेख किया है—मुनिचन्द्र सूरि और मानदेव (साथ-साथ), अजितदेवसूरि (साथ ही देवसूरि आदि), विजयसिंह सूरि, फिर

---

१. मिलाओ—वि० सं० १२०८ की आनंदपुर वप्र की प्रशस्ति (काव्यमाला, प्राचीन लेखमाला, नं० ४५) का अंतिम श्लोक—

एकाहनिष्पन्नमहाप्रबंधः श्रीसिद्धराजप्रतिपन्नबन्धुः।
श्रीपालनामा कविचक्रवर्ती प्रशस्तिमेतामकरोत् प्रशस्ताम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं सोमप्रभ। रचना के पीछे हेमचन्द्र के शिष्य महेन्द्र मुनिराज ने वर्धमान गणि[1] और गुणचन्द्र गणि के साथ यह ग्रन्थ सुना। इन सब बातों को लिखकर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सोमप्रभ सूरि ने सिद्धराज जयसिंह का, कुमारपाल का और हेमचन्द्र का समय देखा था।

'कुमारपालप्रतिबोध' में ऐतिहासिक विषय इतना ही है कि अणहिल्लपुर में सोलंकी राजा मूलराज के पीछे क्रम से चामुंडराज, वल्लभराज (जगझंपण), दुर्लभराज, भीमराज, कर्णदेव और (सिद्धराज) जयसिंह हुए। उसके संतानरहित मरने पर मंत्रियों ने कुमारपाल को, जो भीमराज के पुत्र क्षेमराज के पुत्र देवप्रसाद के पुत्र त्रिभुवनपाल का पुत्र, यों जयसिंह का भतीजा था, गद्दी पर बिठाया। उसे धर्मजिज्ञासा हुई तो ब्राह्मणों के पशुबधमय यज्ञों के वर्णन से वह शांत न हुई। तब बाहड़ मन्त्री ने हेमचन्द्र का परिचय कराया कि गुरु दत्तसूरि ने रायणपुर (बागड़) के राजा यशोभद्र को उपदेश दिया, राजा गृहस्थाश्रम छोड़कर यशोभद्रसूरि बन गया, उसके पीछे प्रद्युम्नसूरि और देवचन्द्रसूरि क्रम से हुए। देवचन्द्रसूरि को मोढ जाति के वैश्य चाच और चाहिनी का पुत्र चंगदेव शिष्य मिला जो माता-पिता की अनिच्छा पर भी अपने मामा स्तंभतीर्थ (खंभात) के नेमि के समझाने पर दीक्षित हुआ और 'सोमचन्द' कहलाया। यही सोमचन्द विद्वान होकर आचार्य हेमचन्द्र बना, सिद्धराज जयसिंह के यहाँ मान्य हुआ। उसी के कहने से सिद्धराज ने पाटन में 'रायविहार' और सिद्धपुर में 'सिद्धविहार' मन्दिर बनवाए और उसी ने 'नि:शेषशब्दलक्षणनिधान' सिद्धहैमव्याकरण जयसिंह देव के वचन से बनाया। (पृ० २२) उसके अमृतोपमेय वाणी-विलास को सुनने से जयसिंह को क्षणभर भी तृप्ति नहीं होती थी। यदि आप भी यथास्थित धर्मस्वरूप जानना चाहें तो उसी मुनिवर से पूछें। बस। हेमचन्द्र आए और राजा ने उपदेश सुना। यहां बाहड़ मन्त्री द्वारा हेमचन्द्र का परिचय कराये जाने का उल्लेख केवल 'पूजार्थ' ही है क्योंकि राजा होने के पहले ही दुर्गत अवस्था में ही कुमारपाल हेमचन्द्र का कृपापात्र था, हेमचन्द्र ने उसके प्राण बचाए, राजा होने की भविष्यवाणी कही, इत्यादि बातें कई प्रबन्धों से प्रकट हैं। अस्तु। हेमचन्द्र ने एक-एक धर्म की बात ली, उस पर कोई इतिहास या कथा कही, राजा ने कहा कि मैं यह करूँगा और यह छोड़ूँगा। फिर राजा ने उस विषय में क्या-क्या किया यह भी इस ग्रन्थ में वर्णित है। गुरु-शिष्य संवाद रूप से कथा के द्वारा

---

१. यह वर्धमान 'गणरत्नमहोदधि' का कर्ता वर्धमान नहीं हो सकता क्योंकि 'गणरत्न-महोदधि' की रचना सं० ११९७ (ई० ११४०) में हो चुकी थी—

सप्तनवत्यधिकेठवेकादशसु शतेष्वतीतेषु।
वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः॥

वह भी सिद्धराज जयसिंह के यहाँ, सम्भवतः हेमचंद्र के पहले था और इसने 'सिद्धराजवर्णन' नामक काव्य भी बनाया था। चालीस वर्ष से कम अवस्था में 'गणरत्नमहोदधि' के-से ग्रंथ की कोई क्या रचना करेगा और सं० १२४१ में वह ८४ वर्ष का होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म कहना सनातन रीति है। पुराणों में 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्'—'हन्त ते कथयिष्यामि' की धारा बहती जाती है। जैन सूत्रों में, बौद्धग्रन्थों में सब जगह है। उपदेश की कथाएँ भी सर्वसाधारण हैं। मद्यपान निन्दा में द्वारकादाह और यादवों के नाश की कथा, द्यूत के विषय में नल की कथा, (सुवर्ण) चोरी में वरुण की कथा, तपस्या में रुक्मिणी की कथा आदि वे ही हैं जो हिन्दू पुराणों में हैं। विशेष जैन-धर्मों पर प्रसिद्ध जैन आख्यानों की कथाएं हैं। कुछ स्थूलिभद्र की-सी अर्ध ऐतिहासिक कथाएं भी हैं। 'पंचतंत्र की-सी सिंह-व्याघ्र की कथा भी है। कुल ५७ कथाएं हैं जिनमें एक 'जीव, मन और इन्द्रियों की बातचीत' पूर्वलिखित कवि सिद्धपाल की बनाई है। इन सबमें सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, कथानक, आलंकारिक आदि कई चमत्कार हैं।

जिन कथाओं को 'हिन्दू कथाएं' कहा करते हैं उनके कुछ भेद हैं। कृष्ण को अरिष्टनेमि ने उपदेश और यदुवंश के नाश की चितावनी दी थी। दमयन्ती की रक्षा किसी जैन साधु के आशीर्वाद से हुई। रुक्मिणी का सौभाग्य किसी जिन प्रतिमा के अर्चन से हुआ इत्यादि। जैनों के यहां 'रामायण', 'महाभारत' पुराण पृथक् हैं जिनमें कथाएं भिन्न हैं। जैनों ने हमारी कथाओं को बदलकर अपने धर्म की प्रभावना बढ़ाने के लिए रूपान्तर दे दिया यह कहना कुछ साहस की बात है। नदी का जल लाल भूमि पर बहता है तो लाल हो जाता है, काली पर काला। कथाएं पुरानी आर्य-कथाएं हैं, जैन, बौद्ध, वैदिक सब की समान सम्पत्ति हैं। पुराणो में ही कथाओं में भेद पाया जाता है। एक ही निर्दिष्ट राजा की पुत्रप्राप्ति एक जगह एकादशी व्रत से कही गई है, दूसरी जगह किसी और व्रत से। हिमवत् की बेटी उमा ने शिव का-सा पति, कोई कहता है कि घोर योग और तपस्या से पाया, कोई कहता है कि पिता से असहयोग करके, अर्थात् हरितालिका व्रत से पाया। यदि बौद्धों के 'दसरथजातक' में सीता, राम की बहन है तो 'यजुर्वेद' में अंबिका रुद्र स्वसा है।[1] यों ही इन कथाओं के पाठांतरों को समझना

---

१. कुछ बंगला-रामायणों तथा काश्मीर की कथाओं में 'अद्भुत रामायण' के आधार पर यह कथा है कि सीता रावण की स्त्री मंदोदरी की पुत्री थी। नारद ने लक्ष्मी को शाप दिया था कि तू राक्षसी के गर्भ से जन्म ले। इधर गृत्समद ऋषि की स्त्री ने कामना की कि मेरे गर्भ में लक्ष्मी कन्या रूप से उत्पन्न हो। ऋषि ने एक मंत्रित कुशा इसीलिये घड़े में रक्खी। रावण ने जब ऋषियों को सताकर उनका रुधिर कर की तरह लिया तो इसी घड़े में भरा और मंदोदरी को यह कहकर सुरक्षित रखने को दिया कि यह विष से भी भयंकर है। रावण के देवकन्याओं आदि से विलास करने से जलकर मंदोदरी ने आत्मघात करना चाहा और 'विष से भी भयंकर' घट के रुधिर का पान किया। उसके गर्भ रह गया और रावण की अनुपस्थिति में ऐसा होने की लज्जा से बचने के लिए वह सरस्वती-तीर पर गर्भ को गिरा आई। वहीं पर हल चलाते हुए जनक ने वह गर्भ कन्या-रूप में पाया और उसका नाम सीता रक्खा। (ग्रियर्सन ज० रा० ए० सो०, जुलाई १९२१, पृ० ४२२-४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। हेमचन्द्र बड़े दूरदर्शी और सर्वमित्र थे। जिनमंडन रचित 'कुमारपालप्रबन्ध' (सं० १४९२) से दो कथाएं उद्धृत कर दिखाया जाता है कि इन कथाओं पर उनका क्या मत था। सिद्धराज जयसिंह से मिलते ही उन्होने 'पुराणोक्त' सर्वदर्शनाविसंवादिनी यह कथा कही—शंख नामक सेठ की स्त्री ने सौतिन के दुःख से किसी बंगाली जादूगर की औषध खिलाकर पति को बैल बना दिया। पीछे बहुत रोई-पीटी और बैल (पति) को जंगल में चराने ले जाती। शिव-पार्वती घूमते हुए आ गए, पार्वती ने कथा सुनी और उसके अत्याग्रह से शिव ने बताया कि इसी वृक्ष की छाया में पशुओं को पुरुष बनाने की ओषधि है। स्त्री ने यह सुनकर सारी छाया रेखांकित करके उसके नीचे का सब घासपात बैल को खिलाया, वह पुरुष हो गया। यों ही सब धर्मों की सेवा करने से सत्य धर्म मिल जाता है, दया, सत्य आदि को मानकर सभी धर्मों का पालन करना चाहिए, घास में जड़ी भी मिल जाती है। दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणों ने हेमचन्द्र पर यह आक्षेप किया कि पांडव आदि हमारे थे, जैन झूठे ही कहते हैं कि वे मुक्ति के लिए हिमालय नहीं गए इत्यादि। हेमचन्द्र ने कहा—"हमारे पूर्वसूरियों के वर्णनानुसार उनकी हिमालय में मुक्ति नहीं हुई, किन्तु यह पता नहीं है कि हमारे शास्त्रों में जो पांडव वर्णित हैं वे वेही हैं जिनका व्यास ने वर्णन किया है या दूसरे। क्योंकि महाभारत में भीष्म ने पांडवों से कहा था कि मेरा संस्कार वहां करना जहां कोई पहले न जलाया गया हो। वे उसका देह पहाड़ की चोटी पर ले गए और उस स्थान को अछूता समझकर दाह करने वाले ही थे कि आकाशवाणी हुई—'यहां सौ भीष्म जल चुके हैं, तीन सौ पांडव, हजार दुर्योधन, और कर्णों की तो गिनती ही नहीं।'[1] इस 'भारत' की उक्ति से ही हम कहते हैं कि कोई पांडव जैन भी रहे होंगे।" बस ऐसे मौकों पर हमारे यहां जो गड़बड़ मिटानेवाला महास्त्र है, चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से उसमें भोंदापन और जंग हो, वही यहां काम देगा कि—**कल्प[2]भेदेन व्याख्येयम्**।

सोमप्रभ की रचना मुख्यतः प्राकृत में है, अन्त में एक-दो कथाएं बिल्कुल संस्कृत में और एक-आध अधिकतर अपभ्रंश में है। यों प्रसंग-प्रसंग पर, बीच-बीच में संस्कृत-श्लोक और पुरानी हिन्दी के दोहे भी आ गए हैं, किन्तु ग्रन्थ प्राकृत का ही है। प्राकृत बहुत सरस, स्फीत और शुद्ध है, कहीं-कहीं श्लेष बहुत अच्छी तरह लाए गए हैं। एक जगह प्राकृत लिखते-लिखते कवि गद्य में ही उस समय की हिन्दी पर उतर गया है, पर झटपट संभल गया है—

भो आयन्नह मह वयणु, तणु लक्खणिहिं मुणामि।
इहु बालक एयह घरह कमिण भविस्सइ सामी॥[3]

---

१. अत्र भीष्मशतं दग्धं पाण्डवानां शतत्रयम्। दुर्योधन सहस्रं तु कर्णसंख्या न विद्यते।

२. अर्थात् भिन्न-भिन्न कल्पों में भिन्न-भिन्न घटनाएं हुईं, यह मानकर व्याख्या करो। कल्प का अर्थ कल्पना भी होता है।

३. भो सुनो मेरे वचन को तनुलक्षणों से जानता हूँ। यह बालक इस घर का क्रम से होगा स्वामी। आयन्नह मह वयणु=अकनो मो बैन, गुसांई जी के 'अवनिप अकनि राम पगु धारे' में अकन=आकर्ण, सुनना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस ऐतिहासिक विकास को न माननेवाले भले ही 'महाराष्ट्री प्राकृत' कहें किन्तु है यह देशभाषा।

'कुमारपालप्रतिबोध' में पुरानी हिन्दी-कविता दो तरह की है—एक तो वह जो स्वयं सोमप्रभ की और कवि सिद्धिपाल की रचित है। वह डिंगल-कविता से बहुत मिलती है और हमने उसके अवतरण अधिक नहीं दिए हैं। जब पुस्तक छप गई है तब उनका फिर प्रकाशित करना अनावश्यक है। इस लेख के दूसरे भाग में इन दोनों की अपनी रचनाओं की कविताओं की संख्या और पृष्ठांक दे दिए हैं और कुछ चुने हुए नमूने। प्रथम भाग में वह पुरानी कविता संगृहीत है जो सोमप्रभ से पुरानी है और उसने स्थान-स्थान पर उद्धृत की है। प्राकृत रचना में कहीं-कहीं ऐसा एक-आध दोहा आ गया है। सोमप्रभ ने ग्रामोफोन की तरह हेमचन्द्र की उक्ति नहीं लिखी है। उसने किसी विशेष धर्म के उपदेश में कोई पुरानी विशेष कथा जो लोक में प्रचलित थी हेमचन्द्र के मुंह से अपने शब्दों में कहलवा दी है। कथाएं उसने गढ़ी नहीं हैं, प्रचलित तथा पुरानी ली हैं जो उस समय देश भाषा, गद्य, पद्य में प्रचलित होंगी। फिर क्या कारण है कि सारी कथा प्राकृत में कहकर वह कोई बीजश्लोक, या कथा का संग्रह श्लोक या नल ने जो दमयंती से कहा, या नल को खोजनेवाले ब्राह्मण का 'क्व नु त्वं कितव छित्वा' के ढंग का दोहा, 'प्राकृत' में ही न कहकर 'अपभ्रंश' में कह रहा है? जहां उसने इतिहास या कुमारपाल का धर्मपालन स्वयं लिखा है वहां तो वह, ग्रंथ की समाप्ति के पास बारह भावनाओं के वर्णन को छोड़कर, अपभ्रंश' काम में नहीं लाता। वह कथाओं को रोचक बनाने के लिए, उन्हें सामयिक और स्थानिक रंग देने के लिए, अज्ञात और प्रसिद्ध कवियों के दोहे बीच-बीच में रख रहा है जो सर्वसाधारण में प्रचलित थे। इन दोहों में कई हेमचन्द्र के व्याकरण के उदाहरणों में हैं, कई 'प्रबन्धचिंतामणि' में हैं, कई जिनमंडन के 'कुमारपालप्रबन्ध' तक चले आए हैं। जो दोहे सं० ११९९ (सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु हैमव्याकरण की रचना का संभावित अन्तिम समय) में मिलते हैं, जो सं १२४१ (सोमप्रभ का रचनाकाल) तक मिलते हैं, जो सं० १३६१ में (प्रबन्धचिंतामणि) उपलब्ध होते हैं, जो सं० १४९२ (जिनमंडल का 'कुमारपाल प्रबन्ध') तक कथाओं में परम्परा से चले आते हैं, यों जिनकी आयु इधर तीन सौ वर्ष है, क्या वे उधर सौ सवा सौ वर्ष के न होंगे? इनमें कथाओं के बीजश्लोक हैं, प्रचलित उक्तियां हैं, नायिकाओं के चोचले हैं, वियोगियों और वियोगिनों के विलाप हैं, कहावतें हैं, ऋतुवर्णन हैं, समस्या-पूर्तियां हैं जिन्हें कोई किसी की राजसभा में रखता है, कोई किसी की में—अर्थात् वह सामग्री है जो अलिखित दंतकथाओं में सुरक्षित रहती है और सदा और सर्वत्र कथा कहने वाले के दिल को प्यारी है। आज भी राजपूताने में कहानी कहनेवाला, जहां सुन्दरी का वर्णन आता है, वहीं बीच में यह दोहा जोड़ देता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कद तैं नाग विसासिया, नैंण दिया मृग झल्ल ।
गोरी सरवर कद गई, हंसां सीखड़ हल्ल ।।[1]

जहां मित्रता का वर्णन आता है, वहाँ यह दोहा घुसेड़ता है—

मो मन लग्गा तो मना, तो मन मो मन लग्ग।
दूध विलग्गा पाणियां, (जिमि)पाणिय दूध विलग्ग ।।[2]

जहां किसी वीर नारी का प्रसंग आया तो चट ये दोहे आ जायेंगे।

ढोल सुणंतां मंगलो, मूछां भौंह चढंत।
चँवरी ही पहिचाणियो, कँवरी मरणो कंत ।।
ढोल बजंता हे सखी, पति आयो मोहि लैण।
बागां ढोलाँ मैं चली, पति को बदलो लैण ।।
मैं परणंती परक्खियो, तोरण री तणि यांह।
मो चूडल्लो उतरसी, जद उतरसी घणियांह ।।[3]

अवश्य ही ये दोहे कहानी कहनेवाले के नहीं हैं, प्राचीन हैं।

वस्तुतः इन गाथाओं का 'कुमारपालप्रतिबोध' में वही पद है जो विशेष राजाओं के यज्ञ और दान की प्रशंसा की अभियज्ञगाथाओं का ब्राह्मणों में। 'ऐतरेय' और 'शतपथ ब्राह्मण' में ऐंद्रमहाभिषेक और अश्वमेध आदि के प्रसंग पर ऐसी नाराशंसी गाथाएं दी गई हैं जो अवश्य ही ब्राह्मणों की रचना के समय लोक में प्रचलित थीं, और जिन्हें 'तदेषा अभियज्ञगाथा गीयते' कहकर ब्राह्मणों में इसी तरह उद्धृत किया है।[4] वे या

---

१. कब तैंने नागों को विश्वासयुक्त किया (कि वे तेरे केशों के रूप में आ गए)? मृगों ने तुझे नयन कब सौंप दिए ? गोरी ! हंसों से चाल सीखने तू सरोवर कब गई थी ?

२. मेरा मन तेरे मन से लगा और तेरा मन मेरे मन से लगा, जैसे दूध पानी से लगा और पानी दूध से।

३. विवाह के समय में मंगल के ढोल सुनते ही नायक की मूंछें भौंह तक चढ़ जाती थीं तो नायिका ने चँवरी (विवाह-मंडप) में ही पति का (युद्ध में) मरना पहचान लिया।

हे सखि ! पति मुझे लेने को ढोल बजाकर आया था, मैं भी युद्ध के बागे (वस्त्र) पहनकर और ढोल बजाकर पति का बदला लेने चली हूं।

मैंने तोरण के पास विवाह के समय पहचान लिया (नायक की वीरता को देखकर) कि जब मेरा चूड़ा उतरेगा (मैं विधवा होऊंगी) तब बहुतों का उतरेगा। (यह बहुतों को मारकर मरेगा)।

४. ऐसी कुछ ऐतिहासिक गाथाओं का अनुवाद मैंने 'मर्यादा' के 'राज्याभिषेक अंक में कर दिया था (मर्यादा, दिसंबर १९११-जनवरी १९१२)। ऐसी गाथाओं का एक नमूना यह है—

मरुतः परिवेष्टारो मरुतस्यावसन् गृहे ।
आविक्षितस्याग्निः क्षत्ता विश्वेदेवाः सभासदः ।। शतपथ १३।५।४।६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैसी ही कई गाथाएं 'महाभारत' आदि पुराणों में उद्धृत की हैं।[१] ये पुराणों और ब्राह्मणों के पहले की गाथाएं पुराणों की बीजस्वरूप हैं और वैसे ही मौकों पर उद्धृत की गई हैं जैसे सोमप्रभ की रचना में अपभ्रंश कविता। भाषा-विचार से देखा जाय तो जैसे ब्राह्मणों की रचना से ये गाथाएं सरल मालूम देती हैं, जैसे 'भारत' आदि की रचना से इन उद्धृत गाथाओं में अधिक सरलता है, वैसे ही सोमप्रभ की कृत्रिम प्राकृत के नए टकसाली सिक्कों से ये घिसे हुए लोकप्रचलित सिक्के अधिक परिचित और प्रिय मालूम देते हैं।

कृत्रिम प्राकृत की चर्चा आने से कुछ उसकी बात भी कर लेनी चाहिए। यह कोई न समझे कि जैसी प्राकृत पोथियों में मिलती है वह कभी या कहीं की देशभाषा थी। महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी नामों से उन्हें वहां की देशभाषा नहीं मानना चाहिए। संस्कृत के नए-पुराने नाटकों में भिन्न-भिन्न पात्रों के मुँह से जो भिन्न-भिन्न प्राकृत कहलवाने की चाल है, उससे भी यह न जानना चाहिए कि उस समय वह जाति या वर्ग वैसी भाषा बोलता था। यह केवल साहित्य का संप्रदाय है कि अमुक से अमुक भाषा या विभाषा कहालानी चाहिए। प्राकृत भी एक तरह की संस्कृत की-सी रूढ़ किताबी भाषा हो गई थी। पुराने से पुराने पत्थर और धातु पर के लेख संस्कृत के नहीं मिलते, वे प्राकृत या गड़बड़ संस्कृत के मिलते हैं। उस प्राकृत को किसी देशभेद में आप बाँध नहीं सकते। मागधी का मुख्य लक्षण 'र' की जगह 'ल' और अकारांत शब्दों के कर्ताकारक के एकवचन में संस्कृत स् (:) या शौरसेनी 'ओ' की जगह 'ए' का आना गिरनार आदि पश्चिमी लेखों में मिलता है और महाराष्ट्री के कई चिह्न पूर्वतट के लेखों में मिलते हैं। शौरसेनी के कई माने हुए लक्षण दक्षिण की कन्हेरी आदि गुफाओं के अभिलेखों में मिलते हैं। साहित्य की भाषा तो व्याकरण की जानकारी, महाविरों की बदल और कवि-संप्रदाय के प्रभाव से बदल जाती है, पोथियों में प्राचीन भाषा की शैली समयानुसार बदलती रहती है, किन्तु पत्थर की लीक पत्थर की लीक ही है। पुराने से

---

१. जैसे महाभारत में शकुन्तला की दुष्यन्त से बातचीत—

> माता भस्त्रा पितुः पुत्रो यस्माज्जातः स एव सः।
> भरतस्य पुत्रं दौष्यन्ति सत्यमाह शकुंतला॥
> रेतोधाः पुत्र उन्नयति नृदेव महतः क्षयात्।
> त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुंतला॥

या 'कर्णपर्व' में शल्य और कर्ण की बातचीत में कई विनोदात्मक गाथाएं तथा कई जो 'गाथामप्यत्र गायंति ये पुराणविदो जनाः' कहकर उद्धृत की गई हैं। यथा 'विष्णुपुराण' में—

> शनैर्यात्यबला रम्या हेमंति चंद्रभूषिता।
> अलंकृता त्रिभिर्भावैस्त्रिशंकुग्रहमंडिता॥

ऐसी गाथाओं का पूरा तथा तुलनात्मक संग्रह बहुत उपादेय होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराने लेख इस अनिर्वचनीय प्राकृत में मिलते हैं। फिर कुछ काल तक प्राकृत, संस्कृत और मिश्रित संस्कृत साथ ही साथ सर्वत्र मिलती है। फिर प्रौढ़ संस्कृत आती है जिसके आते ही लेखों से प्राकृत गायब हो जाती है। इधर साहित्यिक प्राकृत के उदय से तांबे-पत्थर की प्राकृत गायब हो जाती है। साहित्य की प्राकृत लेखों में कभी नहीं मिलती और लेखों की प्राकृत साहित्य में कभी नहीं पाई जाती। साहित्य की प्राकृत जो खुदी मिलती है वह भोज के 'कूर्मशतक' के-से काव्य हैं। जो लिखित प्राकृत साहित्य के जमे हुए नियम हैं—कहाँ 'न' और कहाँ 'ण', कहाँ 'ख' का 'क्ख' और कहाँ 'घ', कहाँ 'त, ग' की जगह 'य' और कहाँ 'अ'—सबका भंग, सबका विकल्प, खुदाई की प्राकृत में मिलता है। जब प्राकृतों के मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देश नाम रक्खे गए तब उनमें कुछ तो उस देश की प्राकृत भाषा का सहारा लिया गया, कुछ विशेष लक्षण वहाँ की चलित बोली के लिए गए, किन्तु ढचर संस्कृत का ही गढ़ा गया। यह मान सकते हैं कि मगध, उड़ीसा, मद्रास आदि के पूर्वी लेखों की विशेषताएं मागधी में; गुजरात, काठियावाड़, कन्हेरी गुफा आदि के पश्चिमी दक्षिणी लेखों की रीतियाँ महाराष्ट्री में और मध्यप्रदेश अर्थात् मथुरा, कुशनों तथा क्षत्रपों के संस्कृत और मिश्र लेखों की बातें संस्कृतप्राय शौरसेनी में मिल जाती हैं, किन्तु यह कहना कि सातवाहन (हाल) की 'सप्तशती' और वाक्पति गौडवहो की महाराष्ट्री महाराष्ट्र की देशभाषा थी, ठीक नहीं। वस्तुतः शब्दों के बोधगम्य रूप अपभ्रंश और पैशाची आदि 'घटिया प्राकृतों' में अधिक रह गए हैं। ऊँची प्राकृतों में 'र' उड़कर मूर्ख का भी 'मुक्ख' और मोक्ष का भी 'मुक्ख', उष्ट्र को भी 'उठ्ठ' हो जाता है किन्तु अपभ्रंश और पैशाची में मूरुख, और उष्ट या उष्ट्र भी बच गया है। प्राकृत-कविता व्याकरण के सहारे समझने लायक हो चली, या यों कहो कि जैसे पहले गंगाप्रवाह में से संस्कृत का नरौने का बाँध बाँधकर नपे-कटे किनारों की नहर बना ली गई थी वैसे फिर मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की नहरें छाँट ली गईं, जिसके किनारे भी संस्कृत की प्रकृति की तरह काटे-तराशे गए, किन्तु भाषा-प्रवाह—सच्ची गंगा—अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के रूप में बहता गया। अपभ्रंश कई नहीं थे, अपभ्रंश एक देश की भाषा नहीं थी, कहीं-कहीं नहरों का पड़ोस होने से उसे नहर के नाम से भले ही पुकारते हों किन्तु वह देश भर की भाषा थी जो नहरों के समानांतर बहती चली जाती। वैदिक भाषा, सच्ची संस्कृत, सच्ची प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, हिन्दी—देश की एक ही भाषा रही है; पंडितों की संस्कृत, वैयाकरणों या नाटकों की प्राकृत, महाराष्ट्री या ऐसे ही नाम के अपभ्रंश, पश्चिमी राजस्थानी या पुरानी गुजराती या बंगला, गुजराती आदि सब इसकी Side-shows हैं, नट की न्यारी-न्यारी भूमिकाएँ हैं।

हेमचंद्र कहते हैं—'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं, तत आगतं वा प्राकृतम्।' यह **भव** या **आगत** कहना ठीक नहीं। वररुचि संस्कृत को शौरसेनी की प्रकृत और शौरसेनी को महाराष्ट्री और पैशाची की प्रकृति कहते हैं। 'षटभाषा' यह नाम हमारे यहाँ पुराना चला आया है। एक प्राकृत व्याकरण 'षटभाषा-चंद्रिका' कहलाता है। लोष्टदेव कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रशंसा में मंख कहता है कि छै भाषाएं उसके मुँह में सदा विराजती हैं।[1] जयानक सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज की बड़ाई करता है कि छै भाषाओं में उसकी शक्ति थी।[2] पृथ्वीराजरासे का कर्ता हिन्दी के इतिहास लेखकों को यह कहकर चक्कर में डाल गया है कि—

षट भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।[3]

और, वे इसमें पंजाबी, बैसवाड़ी, राजस्थानी खोजते फिरते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के बूंदी के कवि, वंशभास्कर के कर्ता, भीषण चारण सूरजमल भी षट् भाषाओं की मुहारनी पढ़ गए हैं। यह षट् भाषाओं की खटपट क्या है?—

संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तद्उद्भवा।
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च॥[4]

संस्कृत **उससे** प्राकृत, **उससे उत्पन्न** शौरसेनी, उससे मागधी, पहले की तरह **पैशाची** और **देशजा** ये छै हुईं।

मालूम होता है कि प्रकृति शब्द के अर्थ में भ्रम होने से **तत आगतं, तद्उद्भवा** और **ततः** आदि की कल्पना हुई। प्रकृति का अर्थ यहाँ उपादान कारण नहीं है। जैसे—भाष्यकार ने बहुत उदाहरण दिया है कि सोने से रुचक बनता है, रुचक की आकृति को मोड़-तोड़कर कटक बनते हैं, कटकों से फिर खैर की लकड़ी के अंगारे के-से कुंडल बनाए जाते हैं, सोने का सोना रह जाता है, वैसे भाषा से भाषा कभी नहीं गढ़ी गई। यहाँ 'प्रकृति' शब्द मीमांसा के रूढ़ अर्थ में लिया जाना चाहिए। वहाँ पर **प्रकृति** और **विकृति** शब्द विशेष अर्थों में लिए गए हैं। साधारण, नियम, नमूना, माडल, उत्सर्ग इस अर्थ में प्रकृति आता है, विशेष, अलौकिक, भिन्न, अंतरित अपवाद के अर्थ में विकृति आता है। अग्निष्टोम यज्ञ प्रकृति है, दूसरे सोमयाग उसकी विकृति है। इसका अर्थ यह नहीं है कि और सोमयाग अग्निष्टोम से निकले हैं या उससे आए हैं। अग्निष्टोम की जो रीति है उससे दूसरे सोमयागों की रीति बहुत कुछ मिलती और कुछ-कुछ भिन्न है, साधारण रीति प्रकृति में दिखाकर भेदों को विकृति में गिन दिया है। पाणिनि ने भाषा (व्यवहार) की संस्कृत को प्रकृति मानकर वैदिक संस्कृत को उसकी विकृति माना है, साधारण या उत्सर्ग नियम संस्कृत के मानकर वैदिक भाषा को अपवाद बना दिया है वहां प्रकृति का उपादान कारण अर्थ मानकर क्या वैदिक भाषा को 'तत आगत' या 'तद्उद्भव' कह सकते हैं, उल्टी गंगा बहा सकते हैं? शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत और महाराष्ट्री की

१. ···मुखे यस्य भाषाः षडविशेरते।···लोष्टदेवस्य··· (श्रीकंठचरित, अंतिम सर्ग)
२. बाल्येऽपि लीलाजिततारकाणि गीर्वाणवाहिन्युपकारकाणि।
जयंति सोमेश्वरनंदनस्य षण्णां गिरां शक्तिमतो यशांसि॥
(पृथ्वीराजविजय, प्रथम सर्ग)
३. देखो: प्रतिभा, जिल्द ३, पृ० २६४-७ में मेरा लेख।
४. मंख के 'श्रीकंठचरित' की टीका से उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति शौरसेनी कहने का यही आशय है कि साधारण नियम उनके संस्कृत या शौरसेनी के-से और विशेष नियम अपने-अपने भिन्न हैं। प्रकृति से जहाँ समानता है, उसका विचार व्याकरणों में नहीं है, जहाँ भेद है वहीं दरसाया गया है। हेमचंद्र ने पहले (महाराष्ट्री) प्राकृत का व्याकरण लिखा। आगे शौरसेनी के विशेष नियम लिखकर कहा, शेषं प्राकृतवत् (८।४।२८६), फिर मागधी के विशेष नियम लिखकर कहा—'शेषं शौरसेनीवत्' (८।४।३०२), अर्द्धमागधी को आर्ष मानकर उसका विवेचन नहीं किया। फिर पैशाची का विवेचन करके कहा—'शेषं शौरसेनीवत्' (८।४।३२३)। यों ही चूलिका पैशाची के नियम विशेष बतलाकर कहा—शेषं प्राग्वत् अर्थात् पैशाचीवत् (८।४।३२८)। अपभ्रंश के विशेष नियम लिखकर लिखा—'शौरसेनीवत्' (८।४।४४६) और उपसंहार में सभी प्राकृतों को लक्ष्य करके लिखा—'शेषं संस्कृतवत्सिद्धम्' (८।४।४४८) तो क्या उसका अर्थ यह किया जाए कि यह इन भाषाओं का कुर्सीनामा हुआ ? क्या पहली-पहली भाषा जनक हुई और अगली-अगली उससे आगत या उससे उद्भूत ? नहीं, साधारण नियम 'प्रकृति' में समझाए गए, विशेष नियम 'विकृति में। यही प्रकृति और विकृति का प्रकृति अर्थ है।

मार्कंडेय के व्याकरण में प्राकृत के इतने भेद दिए हैं—

१. भाषा—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवंती, मागधी, अर्द्धमागधी।

२. विभाषा—शाकारी, चांडाली, शावरी, अभीरी, टाक्की, औड्री, द्राविडी।

३. अपभ्रंश।

४. पैशाची।

यह विभाग परिसंख्या मात्र है, तर्कानुसार विभाग नहीं है। कुछ नाम देशों से बने और कुछ जातियों से बने हैं। 'प्राच्या' पूर्वी बोली है, जो शूरसेन और अवंती की प्राकृतों से बनी कही जाती है। अवंती की भाषा में कहते हैं कि 'र' का लोप नहीं होता और लोकोक्ति और देशभाषा के प्रयोग अधिक होते हैं। तो वह अपभ्रंश की बहनेली हुई। उसे महाराष्ट्री और शौरसेनी का संकर भी कहा है। अवंती (मालवा) महाराष्ट्र और शूरसेन देशों के बीच में है ही। अर्द्धमागधी तो यहां गिन ली, पर चूलिका पैशाची (छोटी पैशाची) नहीं गिनी। शकार की कोई अलग भाषा नहीं है; जैसे किसी नाटक का कोई पात्र 'है सो ने' या 'जो है शो' अधिक बोलता हो तो उसकी बोली में वही तकिया-कलाम अधिक आवेगा, वैसी गढ़ी हुई बोली 'शकारी' है। चांडाल, शबर जातियाँ हैं। अभीर जाति भी, देश भी। 'टक्क' पंजाब का दक्षिण पश्चिमी भाग है जिसकी चर्चा पहले लेख में हो चुकी है और जहां की लिपि 'टाकरी' कहलाई। 'उड्र' उड़ीसा या उत्कल है, 'द्राविड़ी' द्रविड़ की अनार्य भाषा तमिल नहीं, किन्तु एक गढ़ी हुई अपभ्रंश है। राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी में कविता महाराष्ट्री और गद्य में शौरसेनी काम में ली है। नाटकों में पात्रानुसार भाषा विशेष का प्रयोग न दैशिक तत्व में पर है, न जातिक पर; केवल रूढ़ संप्रदाय है। वररुचि की महाराष्ट्री और हेमचन्द्र की जैन महाराष्ट्री में भी दो मुख्य अन्तर हैं—वररुचि कहता है कि वर्ण लोप होने पर दो स्वरों के बीच में 'य' श्रुति नहीं होती; जैन 'य' श्रुति मानते हैं, जैसे कविता की महाराष्ट्री में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरित् का 'सरिआ' जैन महाराष्ट्री में ईषत्स्पृष्टतर 'य' श्रुति से 'सरिया'। यह हमारे चिरपरिचित 'गये, गए' झगड़े का पुराना रूप है। दूसरा यह है कि कविता की महाराष्ट्री में संस्कृत 'ण' का सदा 'न' होता है, जैन दोनों काम में लाते हैं, पदादि में 'ण' कभी नहीं लाते। साहित्य की प्राकृत को जब आवश्यकता पड़ी तब उसने देशी शब्द लिए और संस्कृत भी जब चाहती है तब उन्हें सुधार-संवारकर ले लिया करती है। साहित्य की प्राकृत में यह बात भी है कि प्रत्येक संस्कृत शब्द को वह अपने ही नियमों से तत्सम या तद्भव रूप बनाकर काम नहीं ले सकती, जो शब्द आ गए हैं, उन्हीं का विवेचन उसके नियम करते हैं, उन्हीं नियमों से नए शब्द बनाए नहीं जा सकते। हेमचन्द्र कह गए हैं (८।२।१७४)—"इसीलिए कृष्ट, घृष्ट, वाक्य, विद्वस्, वाचस्पति, विष्टरश्रवस्, प्रचेतस्, प्रोक्त, प्रोत आदि शब्दों का, या जिनके अन्त से क्विप् आदि प्रत्यय हों उन अग्निचित् सोमसुत् सुग्ल, सुम्ल आदि शब्दों का, जिन्हें पहले कवियों ने प्रयोग नहीं किया, प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि वैसा करने से प्रतीति में विषमता आती है, दूसरे शब्दों से ही उनका अर्थ कहा जाय जैसे कृष्ट के लिए 'कुशल', वाचस्पति के लिए 'गुरु', विष्टरश्रवा के लिए 'हरि' इत्यादि।"

आगे इस लेख के उदाहरणांश के दो भाग हैं—पहले में सोमप्रभ की उद्धृत कविता है, दूसरे में उसकी तथा सिद्धपाल की रचना के नमूने। विस्तारभय से अर्थ देने की यह रीति रक्खी है कि प्रत्येक पद का मिलता हुआ हिंदी अर्थ क्रम से रख दिया है फिर स्वतंत्र अनुवाद नहीं किया, उसीको मिलाकर पढ़ने और पढ़ती बार मन में अन्वय कर लेने से अर्थ प्रतीत हो जायगा।

प्रथम भाग

प्राचीन

(१)

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज।
मा दुज्जनकरपल्लविंहि दंसिज्जंतु भमिज्ज॥

मान, प्रनष्ट हो, यदि, न, शरीर, वह, कुदेश, तजिए; मत दुर्जन-कर-पल्लवों से, दिखाए जाते हुए, घूमिए। मान प्रनष्ट ही (तो शरीर छोड़ना चाहिए), यदि शरीर न (छोड़ा जाय) तो देश को (तो अवश्य) तज दीजिए। पूर्वार्द्ध का यह अर्थ और भी अच्छा है। **जइ न तणु**—देह न जावे तो भी मान जावे तो। **देसडा**—देखो प्रबंध०—(१) 'संदेसडो' की टिप्पणी। **चइज्ज, भमिज्ज**-तजीजै, भ्रमीजै। **दंस**—दिखाने के अर्थ का प्राकृत धातु [दृश के]। पंजाबी-दस्स, देखो—(४६)। यह दोहा हेमचन्द्र में भी है ८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

एक मनुष्य यज्ञ के लिए बकरे को ले जा रहा था और बकरा मिमियाता था। एक साधु ने उसे यह दोहा कहा तो बकरा चुप हुआ। साधु ने समझाया कि यह इसी पुरुष का बाप रुद्रशर्मा है, इसने यह तालाब खुदवाया, पाल पर पेड़ लगाए, प्रतिवर्ष यहाँ बकरे मारने का यज्ञ चलाया। वही रुद्रशर्मा पांच बार बकरे की योनि में जन्म लेकर अपने पुत्र से मारा जा चुका है। यह छठा भव है। बकरा अपनी भाषा में कह रहा है कि बेटा, मत मार, मैं तेरा बाप हूं, यदि विश्वास न हो तो यह सहिदानी बताता हूं कि घर के अन्दर तुझसे छिपाकर निधान गाड़ रक्खा है, दिखा दूं। मुनि के कहने पर बकरे ने घर में निधान दिखा दिया और फिर बकरे और उसके मनुष्य पुत्र को स्वर्ग मिल गया।

खड्ड खणाविय सइं छगल सइं आरोविय रुक्ख।
पइं जि पवत्तिय जन्न सइं किं बुब्बुयहि मुरुक्ख॥

खड्ड (=ताल), खनाया, स्वयं, हे छागल !, स्वयं आरोपित किए, रूख, पै (या तैंने), जो प्रवर्तित किया, यज्ञ, स्वयं, क्यों बुबुआता है ? मूर्ख ! **खणाविय**—खणाव्युं, **आरोविय**—आरोप्यो, पइं-तैं के लिए देखो हेमचन्द्र ८।४।३७०। **बुब्बुयहि**—अनुकरण, बलबलाना।

(३)

एक नगर में अशुभ की शांति पशुवध से की जानेवाली थी, तब देवता ने कहा—

वसइ कमलि कलहंसि जिंम्वँ जीवदया जसु चित्ति।
तसु पय पक्खालण-जलिण होसइ असिव निविति॥

बसती है, कमल में, कलहंसी, जिमि, जीवदया, जिसके चित्त में, उसके पद (पैर) पखालने (धोने) के जल से, होगी, अशिव (की) निवृत्ति। होसइ—होसै। देखो (२३)।

(४).

एक विवाह के बधावे (वर्धापन-वद्धावग-बधाई) का वर्णन—

आभरण-किरण-दिप्पंत-देह अहरीकिय-सुरवहू-रूपरेह।
घण-कुंकुम-कद्दम घरदुवारि खुप्पंत-चलण नच्चंति नारि॥

स्पष्ट है। **दिप्पंत**—दीप्यमान, **अहरीकिय**—अधरीकृत, नीची दिखाई, **रेह**—रेखा, **घण-कुंकुम-कद्दम**—विशेषण के आगे विभक्ति नहीं है, **घरदुवारि**—घर-द्वार में या पर, **खुप्पंत-चलण**—पैर फिसलते हैं (कर्दम में) जिनके ऐसी नारियां।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५)

तीयह तिन्न पियाराइं कलि कज्जल सिंदूरु।
अन्नइ तिन्नि पियाराइं दुद्धु जम्वाइ उ तूरु॥

स्त्रियों के (या को) तीन प्यारे (हैं) : झगड़ा, कज्जल (और) सिंदूर, अन्य (भी) तीन प्यारे हैं : दूध, जँवाई और बाजा। तूर—तूर्य।

(६)

एक राजा अपनी रानी से अपनी गद्दी का भविष्य कह रहा है—

नरवइ आण जु लंघिहइ वसि करिहइ जु करिंदु।
हरिहइ कुमरि जु कणगवइ होसइ इह सु नरिंदु॥

नरपति (की) आन जो उलांघेगा बस में करेगा जो करींद्र को, हरेगा जो कुमारी कनकवती (को) होगा यहाँ वह नरेंद्र। अभयसिंह कुमार ने तीनों बातें पूरी की हैं। यहाँ 'आण' को संस्कृत 'आसा' से मिलाते हैं किन्तु इसका अर्थ 'शपथ' या 'दुहाई' है। जैसे—राजपूताने में 'दरबार की आन' (मोहि राम रावरि आन [= रावली आन] दसरथ सपथ—('तुलसी-रामायण' में निषाद का वाक्य)। आगे कथा में स्पष्ट होता है कि 'आन' का अर्थ यहाँ कोई आज्ञा नहीं है। आधी रात को अभयसिंह चला जा रहा था कि नगर-रक्षक ने टोका और न ठहरने पर राजा की 'आन' दी। 'अपने बाप को राजा की आन दे' यों कहकर अभयसिंह चल दिया।[1] इसी कथा में आगे चलकर एक अद्‌भुत महाविरा है। राजकुमारी कनकवती पर हाथी ने मोहरा कर दिया है। उसका परिजन पुकारता है—"है कोई 'चउद्दसीजाओ' जो हमारी स्वामिनी को इस कृतांत के-से हाथी से बचावे?" यहाँ चउद्दसीजाओ=चौदस का जाया=चतुर्दशी के दिन जनमा हुआ, बड़े भाग्यवान् या पराक्रमी के अर्थ में आया है, जैसे जिसकी छाती पर बाल हों वह यह काम करे, जिसने माँ का दूध पिया है, कोई चाँदनी (शुक्लपक्ष की) चौदस का जाया जो···इत्यादि।

(७)

बसंत वर्णन :

अह कोइल-कुल-रव-मुहुलु भुवणि वसन्तु पयट्ठु।
भट्टु व मयण-महा-निवह पयडिअ-विजय-मरट्ठ॥
अथ कोयल-कुल-रव-मुखर भुवन (में) वसंत पैठा।
भट इव मदन महा नृप का प्रकटित-विजय-पुरुषार्थ॥

मरट्ठ=वीरता, मराठापन?

---

१. नयरारक्खेण दिन्ना रन्नों आणा। देसु निअपिउणो रत्नों आणंति भणंतो अभयसीहो बच्चइ। (पृ० ३८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८)

सूर पलोइवि कंत-करु उत्तर-दिसि-आसत्तु ।
नीसासु व दाहिण-दिसय मलय समीर पवत्तु ।।

सूर्य (को, के ?) देखकर कंत (के) कर उत्तर-दिशा-आसक्त ।
निःश्वास इव दक्षिण दिशा के मलय समीर प्रवृत्त (हुए) ।

'कुमारसंभव' के "कुवेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलंघ्य। दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज" का भाव है। कर—में श्लेष है। पलोइवि—प्रलोक्य, देखकर। विभक्तियों की वेकदरी होने से यह बीच में आ गया है और सूर और कंत दूर पड़ गए हैं।

(९)

काणण-सिरि सोहइ अरुण-नवपल्लव परिणद्ध ।
नं रत्तंसुय-पावरिय महु-पिययम संबद्ध ।।

कानन (की) श्री सोहै अरुण नवपल्लवों से ढकी। मानो रक्तांशुक (लाल कपड़े) से लिपटी मधु (चैत्र, वसंत) (रूपी) प्रियतम से संबद्ध ।।

विवाह में 'सूहा सालू' पहनते ही हैं। पावरिय = प्रवृत्त, ढकी हुई।

(१०)

सहयारिहि मंजरि सहहि भ्रमर-समूह-सणाह।
जालाउ व मयणानलह पसरिय-धूम-पवाह ।।

सहकार (आम) की मंजरी सोहती हैं भ्रमर-समूह (से) सनाथ।
ज्वालाएँ इस मदनानल की प्रसरित-धूम-प्रवाह ।।

यहाँ 'सहहि' का अर्थ 'सहती हैं' नहीं हो सकता, 'सोहहिं' का अर्थ बैठता है। सो के ओ की एक मात्रा मानने से काम चलाया है। देखो (२२), (४१)

(११)

दमयंती के वस्त्र पर नल उसे छोड़ते समय अपने रुधिर से लिख गया था—

वड-रुक्खह्न दक्षिण-दिसिंहि जाइ विदब्भहि मग्गु।
वाम-दिसंहि पुण कोसलिहि जाह रुच्चइ नहिं लग्गु ।।

वड (के) रूख की, दक्षिण दिशा में, जाय, विदर्भ को, मार्ग ।
वाम दिशा में, पुनः, कोसल को, जहाँ, रुचै, तहाँ, लग (जिधर चाहे उधर जा)।।
जहिं तहिं = जिसमें तिसमें ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१२)

कुसल नामक एक विप्र ('महाभारत' के नलोपाख्यान का पर्णाद) खुड्डक को (क्षुद्रक, 'महाभारत' का बाहुक—नल, विकृत रूप में) देखकर यह दोहा (दुहयं) गाता है—

निट्ठुर निक्किवु काउरिसु एकुजि नलु न हु भंति ।
मुक्कि महासइ जेण विणि निसि सुत्ती दमयंति ।।

निष्ठुर; निष्कृप (कृपारहित) । कापुरुष, एक, जी, नल (है) नहीं ही, भ्रांति (इस बात में) छोड़ी, महासती, जिसने वन में, निशा में सूती दमयंती ।

मुक्ति—मुक्ता, महासइ—देखो ना० प्र० पत्रिका (भाग १) पृष्ठ १०४

(१३)

परदारगमन के विषय में उज्जयिनी के राजा प्रद्योत की कथा लिखी है, उसी में प्रसंग से उदयन वत्सराज, वासवदत्ता, यौगंधरायण आदि की कथाएं भी आ गई हैं जो बौद्ध जातकों में, 'वृहत्कथा' (कथासरित्सागर) और भास के नाटक में है । इस कथा में भास के नाटक 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' की कथा से कुछ भेद है किन्तु दो श्लोक उसी नाटक के उद्धृत किए हैं । अस्तु । राजगृह के राजा श्रेणिक के पुत्र अभय को प्रद्योत ने छल से बाँधकर अपने यहाँ रख छोड़ा था । उसने कई मार्के के काम किए, प्रद्योत ने उससे वर माँगने के लिए कहा तो उसने यह ऊटपटांग वर मांगा जिसका अभिप्राय यह था कि मुझे अपने यहां से विदा कर दो—

नलगिरि हत्थिहिंमि ठितइं सिवदेविहि उच्छंगि ।
अग्गिभीरु रह दारुइहि अग्गि देहि मह अंगि ।।

प्रद्योत के यहाँ नलागिरि प्रसिद्ध हाथी था, शिवा देवी थी और अग्निभीरु रथ था जो आग में नहीं जलता था । अभय कहता है कि नलागिरि हाथी में (पर) बैठे हुए, शिवदेवी की गोद में, अग्निभीरु रथ की लकड़ियों से, आग, दे, मेरे, अंग में । उच्छंग—तुलसीदासजी का 'उछंग', सं० 'उत्संग' । हत्थि-हिंमि—दोहरी विभक्ति ।

(१४)

जाते समय अभय बदला लेने की यह प्रतिज्ञा कर गया और पीछे आकर परदार-गमन-रसिक प्रद्योत को दो स्त्रियों से विलमा कर बाँध ले गया ।

करिवि पईवु सहस्सकरु नगरी मज्झिण सामि ।
जइ न रडंतु तइं हरउं [तइ] अग्गिहिं पविसामि ।।

करके, प्रदीप, सहस्रकर (=सूर्य) को, अर्थात् दिन दहाड़े, नगरी के मध्य से, हे स्वामी यदि न चिल्लाते हुए को, तुझे, हरूं, तो, अग्नि में, प्रवेश करूं । रडंतु—पंजाबी : रडचांदा, हिं० : रटता ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१५)

वेस विसिट्ठह वारियइ जइ वि मणोहर-गत्त।
गंगाजलपक्खालिय वि सुणिहि किं होइ पवित्त॥

वेश-विशिष्टों को, वारिये (=उनसे बचिए), यदि, भी मनोहर-गात्र (वे हों); गंगाजल प्रक्षालित, भी, कुत्तियाँ, क्या, होयं, पवित्र? वेस विसिट्ठह—वेश-विशिष्टा, अच्छे-अच्छे वेशवाली, वेश्या, वेश का अर्थ 'वेश्याओं का वाड़ा' भी होता है उस अर्थ में 'वेश्याओं के बाड़े में घुसी हुई' देखो (१६)। सुडि—सं० शुनी।

(१६)

नयणिहि रोयइ मणि हसइ जणु जाणइ सउ तत्तु।
वेस विसिट्ठह तं करइ जं कठ्ठह करवत्तु॥

नयनों से, रोवै, मन में, हँसै, जानो, जानै, सब (या सौ), तत्त्व वेशविशिष्टा, वह (वैसे), करै, जो (जैसे) काठ का (=को), करौती। इन दोनों दोहों में 'वेस विसिट्ठह' अलग-अलग पद मानें तो पहले में अर्थ होगा 'वेश्या विशिष्टों (अच्छे लोगों) से वारित की जाती है', और दूसरे में 'वेश्या विशिष्टों का (=को) वह करै' इत्यादि। करवत्तु=सं० करपत्र, हिं० करौती।

(१७)

पिय हउं थक्किय सयलु दिणु तुह विरहग्गि किलंत।
थोडइ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत॥

पिया!, मैं, रही, सकल, दिन, तेरी, विरहाग्नि में, उबलती, थोड़े, जल में, ज्यों, मछली, तड़फड़ाहट, करती (हुई)। थक्किय—थकना=रहना (बंगला—थाक्) तल्लोविल्लि—तले-ऊपरी, छटपटाना।

(१८)

मइं जाणियउं पिय विरहियह क वि धर होय वियालि।
नवरि मयंकु वि तह तवइ जह दिणयरु खयकालि॥

मैं, जान्यो, पिय-विरहित का, (=को), कोई, भी, सहारा, होवे, रात में, नहीं पर (=यह पता नहीं कि यह तो दूर रहा, उलटा), मयंक, भी, वैसे, तपै, जैसे, दिनकर (सूर्य), लयकाल में। धर-धरनेवाली बात, आधार, सहारा। वियालि=विकाल में, वि=द्वि, दूसरी वेला अर्थात् रात। मयंक=मृगांक, चन्द्र। खयकाल—प्रलय। नवरि इस देशी का ठीक भाव प्राकृत की संस्कृत छाया बनाने वाले नहीं ला सकते। ऊपर अर्थ दिया है। यह दोहा हेमचन्द्र के व्याकरण में भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१९)

अज्जु विहाणउं अज्जु दिणु अज्जु सुवाउ पवत्तु ।
अज्जु गलत्थिउ सयलु दुहु जं तुहुं मह घरि पत्तु ।।

आज विहान (हुआ), आज, दिन आज, सुवायु, प्रवृत्त (हुआ), आज, गलहत्था दिया (निकाल दिया), सकल दुःख, जो, तू, मेरे, घर में प्राप्त (हुआ)। विहाणउं—नामधातु विहान्यो, हिन्दी-विहान, सं०—विभात, विभान । गलत्थिउ—सं० गलहस्तित, गले में हाथ देकर निकाल दिया (अर्द्धचन्द्र दिया, गलहस्तेन माधवः) ।

(२०)

पडिवज्जिवि दय देव गुरु देवि सुपत्तिहि दाणु ।
विरइवि दीणजणुद्धरणु 'करि सफलउं अप्पाणु' ।।

चौथे चरण की समस्यापूर्ति । दया, देव और गुरु को प्राप्त होकर (स्वीकार करके), देकर, सुपात्र को दान, रच करके, दीनजनोद्धरण, कर, सफल, अपने को। पडिवज्जिवि—प्रतिपद्य, अंगीकार करके। विरइवि—विरचय्य, विरच कर। अप्पाण—आत्मानं, तुलसीदास जी का 'अपान' । पडिवज्जिवि देवि, विरइवि पूर्वकालिक क्रियाएं।

(२१)

पुत्तु जु रंजइ जणयमणु थी आराहइ कंतु ।
भिच्चु पसन्नु करइ पहु 'इहु भल्लिम पज्जंतु' ।।

समस्यापूर्ति—पूत, जो, रंजावे, जतक (का) मन, स्त्री, आराधै, कंत (को), भृत्य, प्रसन्न, करै, प्रभु (को), ये (या यहाँ) भलेपन को, पाते, हैं। रंजइ, रंजयति, रंजै, प्रसन्न करै। आराहइ—आराधना करे। इहु—ये अथवा यहां। भल्लिम—भलाई (संस्कृत का इमनिच्) । पज्जंतु—पाईजते हैं, पाते हैं, या इह भल्लिमपज्जन्तु = 'यह भलाई की पर्यंत (=सीमा) हैं' यह भी अर्थ हो सकता है।

(२२)

मरगय वन्नह पियह उरि पिय चंपयपह देह । **(समस्या)**
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह ।। **(पूर्ति)**

मरकत वर्ण के (साँवरे), पिया के, उर पर, प्रिया, चंपक (की-सी) प्रभा (वाले) देह की, कसौटी पर, दीनी, सोहती है, नाइं, सुवर्ण की, रेखा। हेमचन्द्र के व्याकरण में इससे बहुत मिलती हुई एक दूसरी कविता है उसका व्याख्यान आगे देखो। क्या यह कहने की आवश्यकता है कि यह किस अवस्था का वर्णन है ? सहइ, देखो ऊपर (१०) (४१) ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२३)

चूडउ चुन्नी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तु । (समस्या)
सासानलिण झलक्कियउ वाहसलिलसंसित्तु ।। (पूर्ति)

चूड़ा, चूर्ण (चूरा-चूरा), हो जायगा, हे मुग्धे ! कपोल पर, रक्खा हुआ, श्वास (की) अनल (अग्नि) से, झलकाया, वाष्प सलिल से सींचा (हुआ)। पहले तो जलते साँस चूड़े को तपा देंगे फिर उस पर आँसू पड़ेंगे, क्या वह चूरा-चूरा न हो जायगा ? मुद्धि कवोलि—को समास भी मान सकते हैं, मुग्धा के कपोल पर। चूडउ—चूडो, संभवतः दाँत का। चुन्नी होइसइ—अभूततद्भाव का 'इ' पहचान लो। मुद्धि—देखो प्रबन्ध० 'मुंधि' (दू० ८)। झलक्कियउ—झल=ज्वाला, देखो : प्रबन्ध० (दू० ६) 'झाली'। यह हेमचन्द्र में भी है।

(२४)

हउं तुह तुट्ठउ निच्छइण मग्गि मणिच्छिउ अज्जु ।
तो गोवालि वज्जरिउ पहु मह वियरहि रज्जु ।।

मैं, तेरे (या तुझपर), तूठा हूं, निश्चय से, मांग, मन इच्छित, आज (देवता के ऐसा कहने पर) तब, गोपाल ने कहा, प्रभु ! मुझे, दे, राज। वज्जरिउ—देसी, उचरा, कहा। वियरहि—वितर [+हिं] सं० संभव है यह सोमप्रभ की ही रचना हो, किन्तु अधिक संभव है कि यह कहानी का संग्रहश्लोक हो।

(२५)

एक कोहल नामक कबाड़ी था जो काठ की कावड़ कंधे पर लिए-लिए फिरता था। उसकी सिंहला नामक स्त्री थी। उसने पति से कहा कि देवाधिदेव युगादिदेव की पूजा करो जिससे जन्मांतर में द्रारिद्र्य दुःख न पावें। पति ने कहा—"तू धर्म-गहली (पागल) हुई है, पर-सेवक मैं क्या कर सकता हूं ?" तब स्त्री ने नदी-जल और फूल से पूजा की। उसी दिन वह विषूचिका से मर गई और जन्मांतर में राजकन्या और राज-पत्नी हुई। अपने नए पति के साथ कभी उसी दिन मन्दिर में आई तो उसी पूर्व पति दरिद्र कबाड़िये को वहां देखकर मूर्छित हो गई। उसी समय जातिस्मर होकर उसने यह दोहा पढ़ा। कबाड़ी ने स्वीकार करके जन्मांतर कथा की पुष्टि की—

अडविहि पत्ती नइहि जलु तो वि न वूहा हत्थ ।
अव्वो तह कव्वाडियह अज्ज विसज्जिय वत्थ ।।

अटवी (जंगल) की, पत्ती, नदी का, जल (सुलभ था) तो, भी, (तैंने) न हिलाए, हाय, हाय ! उसके, कबाड़िये के, आज, विसर्जित हैं, वस्त्र (तन पर कपड़ा भी नहीं, और मैं रानी हो गई)। वूहा—व्यूहित किए। अव्वो—आश्चर्य और खेद में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२६)

जे परदार-परम्मुहा ते वुच्चहिं नरसीह।
जे परिरंभहिं पररमणि ताहं फुसिज्जइ लीह ॥

जो, परदारा (से) पराङ्मुख (हैं), वे, कहे जाते हैं, नरसिंह, जो, आलिंगन करते हैं, पररमणी (को), उनकी, पुँछ जाती है, रेखा (सज्जनों की पंक्ति से)। वुच्चहिं—सं० उच्यंते। फुसिज्जइ—पोंछ दी जाती है, मिटाई जाती है, संस्कृत में पोंछने के लिए उत्+पुंस् धातु कश्मीरी कवियों ने प्रयोग किया है। लीहरेह, लीक।

(२७)

एक बहू पशु-पक्षियों की भाषा जानती थी। आधी रात को शृगाल को यह कहता सुनकर कि नदी का मुर्दा मुझे दे दे और उसके गहने ले ले, नदी पर वैसा करने गई। लौटती बार श्वसुर ने देख लिया। जाना कि यह अ-सती है। पीहर पहुंचाने ले चला। मार्ग में करीर के पेड़ के पास से कौआ कहने लगा कि इस पेड़ के नीचे दस लाख की निधि है, निकाल ले और मुझे दही-सत्तू खिला। अपनी विद्या से दुःख पाई हुई कहती है—

एक्के दुन्नय जे कया तेहिं नीहरिय घरस्स।
बीजा दुन्नय जइ करउं तो न मिलउ पियरस्स ॥

एक, दुर्नय, जो, किया, उससे, निसरी (निकली) घर, से, दूसरा, दुर्नय, यदि, करूं, तो, न, मिलूं (कभी भी), पियारे से। घरस्स, पियरस्स—संस्कृतषष्ठी 'स्स' से हिन्दी-पंचमी और तृतीया दोनों का काम सरा है। पियरस्स, प्रिय से तो हिन्दी पिय या पिया बना है—और प्रियकर, पियर, से पियारा, प्यारा।

(२८)

रुक्मिणी-हरण के समय कण्ह (कान्ह, कृष्ण) रुक्मिणी से कहता है—

अम्हे थोडा रिउ बहुय इउ कायर चिंतंति।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करंति ॥

हेमचन्द्र में भी है। हम, थोड़े (हैं), रिपु, बहुत (हैं), यों, कायर चींतते हैं, भोली!, देख, गगन तल में, कै (कितने), उदोत (प्रकाश), करते हैं? बहुत से तारे या एक चन्द्र? अम्हे—राजस्थानी—म्हे। मुद्धि—मुग्धे? (देखो २३)। निहालहि—आज्ञा, उपनिषदों का निभालयति। उज्जोउ—उद्योत।

(२९)

सो जि वियक्खणु अक्खियइ छज्जइ सोज्जि छइल्लु।
उप्पह पट्ठिओ पहि ठवइ चितु जु नेह-गहिल्लु ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह, जी, विचक्षण, कहा जाता है, छाजता है (शोभित होता है), वही जी, छैल, उत्पथ-प्रस्थित (कुमार्ग पर चले हुए) को, पथ पर, टिकाता, है, चित्त को, जो नेह-गहले (प्रेम से मतवाले) को। आक्खियइ—आखा जाय, आखना = आ + ख्या, पंजाबी —आखना = कहना। छज्जइ—छाजै। सोज्जि—सोउ + जि, वही, जी (पादपूरण)। छइल्लु—संस्कृत छेक = विदग्ध, चतुर, प्राकृत कविता में छइल्ल का अर्थ चतुर है, पंजाबी-छैल = अच्छा। इस छइल तथा बनावट के प्रेमी छैला (छविल, छबीला) का भेद तुलसीदास ने दिखाया है, 'छरे छबीले छैल सब'। ठवइ—थापै, स्थापयति (सं०)। गहिल्लु (सं०) गहिल, आग्रही इससे गहला या घेला = हठी या पागल।

(३०)

रिद्धि विहूणह माणुसह न कुणइ कुवि सम्माणु।
सउणिहि मुच्चहि फलरहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु॥

रिद्धिविहीन (का), मनुष्य (का), न करता है, कोई भी, संमान, पक्षियों से, छोड़ा जाता है, फल रहित, तरुवर यहां, प्रमाण (यह है)॥ रिद्धि = ऋद्धि (सं०)। विहूण—विहीन, डिंगल कविता में आता है, निष्ठा के रूप में 'ई' और 'उ' की बदल के लिए मिलाओ जीर्ण = जूर्ण = जूना। सउणि = शकुनि (सं०)। इत्थु—प्राकृत एत्थ, सं० अत्र, पंजाबी—इत्थुं॥

(३१)

जइबि हु सूरु सुरूवु विअक्खणु।
तहयि न सेवइ लच्छि पइक्खणु॥
पुरिस-गुणागुण-मुणण-परम्मुह ।
महिलह बुद्धि पयंपहिं जं बुह॥

यद्यपि, हो, शूर, सुरूप, विचक्षण, तथापि, नहीं, सेती है, लक्ष्मी (उस मनुष्य को) प्रति। क्षण (क्योंकि) पुरुषों (के) गुण अगुण (के) विचार (से) पराङ्मुख महिलाओं की, बुद्धि (होती है), कहते हैं, जो, बुध॥ मुणण—विचारना। पयंपहिं—सं० प्र + जल्प। जं—जिसे, वा ज्यों (यथा)।

(३२)

जेण कुलक्कमु लंघियइ अवजसु पसरइ लोइ।
तं गुरु-रिद्धि-निबंधणु वि न कुणइ पंडिओ कोइ॥

जिससे, कुलक्रम, उलांघा जाता है (और) अपजस, पसरता है, लोक में, उस (को), बहुत संपत्ति उपजानेवाले (काम) को, भी, न, करता है, पंडित कोई। गुरु-रिद्धि-निबंधणु = गुरु + ऋद्धि + निबंधन (ला बाँधनेवाला)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३३)

जं मणु मूढह माणुसह वंछइ दुल्लह वत्थु।
तं ससि-मंडल-गहण किंहि गयणि पसारइ हत्थु ।।

जो, मन, मूढ़ (का), मनुष्य का, वांछा करता है, दुर्लभ, वस्तु को, तो शशि-मंडल-ग्रहण (के लिये) क्या, गगन में, पसारता है, हाथ।

(३४)

रावण जायउ जहिं दियहि दह मुह एक्क सरीरु।
चिंताविय तइयहि जणणि कवणु पियावउं खीरु ।।

शंखपुर के राजा पुरंदर के यहां एक सरस्वती कुटुंब आया, राजा ने इस दोहे का चौथा चरण 'पुत्र माता' से समस्या की तरह पूछा, उसने पूर्ति की। 'प्रबन्धचिंतामणि' में सरस्वती कुटुंब भोज के यहां आया है वहां भी यह समस्या गृहपत्नी ने यों ही पूर्ण की है। इसका अर्थ यही है कि दोहा पुराना है, कथालेखक इसकी रचना किसी भी राजा की सभा पर चिपका देते हैं। 'प्रबन्धचिंतामणि' वाले लेख में इसका और अगले दोहे का अर्थ और पाठांतर देखो (पत्रिका, भाग २ : पृ० ४५, सं० १२)।

रावण जाया (जन्मा), जिस (में), दिन में, दस-मुख, एक-शरीर। चिंतित। किया; तभी जननी (को), किस (को) पियाऊँ, क्षीर (=दूध)? चिंताविय—चिंतापिता (!) सं० 'प' 'व' के लिये देखो—ना० प्र० पत्रिका : भाग १, पृ० ५०७।

(३५)

पुत्र की घरवाली ने यह समस्यापूर्ति की—

इउ अच्चब्भुउ दिट्ठु मइं 'कंठि व लुल्लइं काउ'।
कीइवि विरह-करालियहे उड्डावियउ वराउ ।।

यह दोहा हेमचन्द्र में भी है। यह, अत्यद्भुत, दीठा (देखा) मैं (ने), कंठ में, लगा जाय, किसके, किसी भी, विरहकरालिता ने, उड़ा दिया, वराक (बेचारा) (पति)।। इउ=यो।

(३६)

सीहु दमेवि जु वाहिहइ इक्कु वि जिणिहइ सत्तु ।
कुमरि पियंकरि देवि तसु अप्पहु रज्जु समत्तु ।।

गजपुर के राजा खेमंकर के सुतारा देवी से एक कन्या उत्पन्न हुई। राजा-रानी के मरने पर मंत्रियों ने उसे 'पियंकर' नाम देकर 'पुरुष' कहकर गद्दी पर बैठाया। फिर कुलदेवी अच्युता की पूजा करके पूछा कि इसका पति किसे करें। देवी ने उत्तर दिया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंह को, दमन करके, जो, वाहैगा (सवारी करेगा), एक (अकेला), भी, जीतेगा शत्रुओं को, कुमारी, प्रियंकरी, देकर, अर्पण करो, राज, समस्त। ऐसा ही एक मिल गया और कहानी कहानियों की तरह चली।

दूसरा भाग

सोमप्रभ और सिद्धपाल की रचित कविता

(१) 'कुमारपालप्रतिबोध', गायकवाड़ संस्कृत सिरीज, पृ० ७७, एक छंद।।

(३७)

कुलु कलंकिउ मलिउ माहप्पु
मलिणीकय सयणमुह
दिन्नु हत्थु नियगुण कडप्पह
जगु ज्झंपियो अवजसिण
वसण विहिय सन्निहिय अप्पह।
दूरह वारिउ भद्दु तिणि ढक्किउ सुगइदुवारु।
उभयभवुब्भडदुक्खकरु कामिउ जिण परदारु।।

यह सप्तपद छंद उस समय की रचना में बहुत मिलता है। अंत के दो चरण छप्पय के हैं। परदार गमन की निन्दा में कवि कहता है—कुल, कलंकित (किया), मल दिया, माहात्म्य, मलिन किया, सज्जनों का मुँह, दीना, हाथ, निज गुण समूह को, (= धक्का देकर निकाल दिया), जग, झंप (गल +) हत्था (ढक दिया), अपजस से, व्यसन, विहित (किए) सन्निहित, अपने, दूर से, निवारण किया, भद्र, उसने, ढँक दिया, सुगति का द्वार, दोनों भव (यह लोक और परलोक) में उद्भट दुःखों की करने वाली, कामित की (=चाही), जिसने, परदारा। सयण—सजन, मित्र हिं०—साजन। दिन्नु हत्थु—हाथ दिया, गलहस्त दिया, अर्धचंद्र दिया, निकाल बाहर किया। देखो—ऊपर (१६)। कडप्प=? समूह; झंप=घूमना, ढकना, या जीतना। इसी से मिलता हुआ एक श्लोक सोमप्रभ की 'सूक्तिमुक्तावली' (सिंदूरप्रकरस्तोत्र) में है—

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चकं
चारित्र्यस्य जलांजलिर्गुणगणारामस्य दावानलः।।
संकेतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिंतामणि।।[1]

(२) पृष्ठ ३११, १४ छंद, बारह भावनाएँ, नमूने (३८-४०)।

---

१. काव्यमाला गुच्छक ७, पृ० ३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिइ[1] माय भाय सुकलत्तु[2] पुत्तु
पहु[3] परियणु[4] मित्तु सणेहजुत्तु[5]
पहवंतु[6] न रक्खइ[7] कोवि मरणु
विणु धम्मह[8] अन्नु[9] न अत्थि[10] सरणु ॥
राया[11] वि रंकु सयणो[12] वि सत्तु[13] ।
जणुओ[14] वि तणउ[15] जणणि वि कलत्तु ।
इह होइ नड[16] व्व कुकम्मवंतु
संसाररंगि[17] बहुरुवु[18] जंतु ॥
एक्कल्लउ[19] पावइ जीवु जम्मु
एक्कल्लउ मरइ विढत[20] कम्म ।
एक्कल्लउ परभवि[21] सहइ दुक्खु
एक्कल्लउ धम्मिण[22] लहइ मुक्खु[23] ॥[1]

(३) पृ० ३५०-५१, वसंतवर्णन, छंद ५—नमूना—

(४१)

जहिं रत्त सहहिं कुसुमिय पलास नं फुट्टए पहियगण हियमास ।
सहयारिहि रेहहि मंजरीओ नं मयण जलण जालावलीओ ॥

जहाँ, रक्त, सोहते हैं, कुसुमित, पलाश, मानो, फूटे हैं, पथिक गण (के) हृदय के मांस, सहकारों (आमों) में, विराजती हैं, मंजरियां, मानो, मदन (रूपी) ज्वलन (अग्नि) की ज्वालावलियां ॥ सहहिं—देखो (१०) (२२)

(४) पृ० १७८, ग्रीष्मवर्णन, चार छंद, नमूना—

(४२)

जहिं दुट्ठ नरिंदु व सयलु भुवणु परिपीडइ तिव्वकरेहिं तवणु ।
जहिं दूहव महिलय जण समग्ग संतावइ सूय सरीर लग्गु ॥

जहां, दुष्ट, नरेंद्र, इव, सकल, भुवन को, परिपीड़ित करता है, तीव्र करों से, तपन (=सूर्य्य), जहां, दुर्भगा (वियोगिनी) महिला, जन, समग्र (को), सतावै, सूर्य (?), शरीर में, लगा । कर—किरण, राज देय ।

---

१. स्पष्ट है । कठिन शब्दों पर टिप्पणी दी है—

१. पिता । २. सुकलत्र (स्त्री) ३. प्रभु ४. परिजन ५. स्नेहयुक्त ६. समर्थ होता हुआ (प्रभवन्) ७. रक्षा करता है, बचाता है, ८. धर्म के ९. अन्य १०. है । ११. राजा १२. साजन १३. शत्रु १४. जनक (पिता), १५. तनय (पुत्र), १६. नट; इव, १७. रंग पर, नाटक भूमि पर १८. बहुरूप १९. अकेला २०. अर्जित, २१. परलोक में २२. धर्म से, २३. मोक्ष ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) पृष्ठ ४२३ से ४३७, जीवमनः करण संलाप, छंद १-२, ४-२७, २९-३०, ४७, ५१-५२, ५४-५६, ६१, ६४-६५, ६७-१०४ (बाकी प्राकृत हैं)। कवि सिद्धपाल ने जीव, मन और इंद्रियों की बातचीत राजा कुमारपाल को सुनाई है। देहनामक पट्टण (नगर) में आत्मा राजा, बुद्धि महादेवी, मन, महामंत्री और फरिसण (स्पर्श), रसण (रस), ग्घाण (घ्राण), लोयण (लोचन), सवण (श्रवण) ये पाँच प्रधान—यों कथा चलती है। नमूने—

(४३)

जं तिलुत्तम-रूव-वक्खित्त्
खण बंभु चउमुहु हुउ
धरइ गोरि अद्धंगि संकरु
कंदप्पपरवसु चलण
ज पियाइ पणमइ पुरंदरु
जं केसवु नच्चावियउ गोठंगणि गोवीहिं।
इंदियवग्गह विप्फुरिओ तं वन्नियह कईहिं ॥६१॥

जो, तिलोत्तमारूप (से) व्याक्षिप्त (व्याकुल), क्षण में, ब्रह्मा, चतुर्मुख, हुआ, धरै, गोरी को, अर्द्धाङ्ग में, शंकर; कंदर्प (के) परवश, चरण, जो, प्रिया के, प्रणाम करता है, पुरंदर; जो, केशव, नचाया गया, गोष्ठ आँगन में, गोपियों से, इंद्रियवर्ग का विस्फुरित, वह वर्णन किया जाता है, कवियों से।

(४४)

वालत्तणु असुइ-विलित्ति-देहु
दुहकर दंसणुग्गम कन्नवेहु।
चिंतंतह सव्वविवेय रहिउ
मह हियउं होइ उक्कंपसहिउ ॥८५॥

बालकपन, अशुचि (पदार्थों से) विलिप्त देह, दुःखकारक, दशनों (दाँतों) का उद्गम (निकलना), कर्णवेध, (इनको) सोचते हुए का, सर्वविवेक-रहित, मेरा, हृदय, होता है उत्कंपसहित।

(४५)

ईसा-विसाय-भय-मोह-माय।
भय-कोह-लोह-वम्मह-पमाय ॥
मह सग्गगयस्स वि पिट्ठि लग्ग।
ववहरय जेव रिणिअह समग्ग ॥९७॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईर्षा, विषाद्, भय, मोह, माया, मद, क्रोध, लोभ, मन्मथ, प्रमाद (ये सब) मेरे स्वर्गगत के, भी, पीठ पर, लगे, वौहरे (लेनदार) जैसे ऋणी (कर्जदार) के, सब।

(६) पृ० ४४३-४६१ स्थूलिभद्र कथ छंद १-४, १-१४, २३-२५, ३१-३२, ३४-३८, ४०-४५, ४६-६२, ६४-६६, ६८-८२, ८४, ९४, ९७-९८, १००, १०१-१०५ (बाकी प्राकृत हैं) पाडलिपुत्त के राजा नवम् नंद के मंत्री सगडाल (शकटार) ने किस प्रकार अपनी श्रुतधर कन्याओं की सहायता से वररुचि का नई कविताएं सुनाकर नंद से धन पाना बंद किया, वररुचि का गंगा से दीनार पाने का चेटक, नंद का सगडाल पर क्रोध, सगडाल के पुत्र सिरिय का पिता को मारना, सिरिय के बड़े भाई स्थूलिभद्र का 'कोसा' नामक वेश्या से प्रेम, कोसा[1] के उपदेश से श्रमण का वहां भी संयम से रहना आदि वर्णन बहुत ही अच्छा है। नमूने—

जसु वयण विणिज्जिउ न ससंकु अप्पाण निसिहि दंसइ ससंकु।
जसु नयणकंति जियलज्जभरिण वणवासु पवन्नय नाइ हरिण ॥८॥

जिसके बदन से विनिर्जित, मानो, शशांक, अपने को, निशा में, दिखाता है सशंक, जिसकी नय कांति (से) जित, लज्जाभर से, वनवास (को) प्रपन्न हुए, मानो, हरिण। दंसइ—देखो (?)

(४७)

नंदु जंपइ परकव्व
कह एस वररुइ सुकइ
कहइ मंति मह धूय सत्त वि
एयाइं कव्वाइं
पहु पढइं बालाउ हुंत वि
तत्थ तुम्ह नरनाइ जइ मणि वट्टइ संदेहु।
ताउ पढंतिय कोउगेण ता तुम्हें निसुणेहु ॥३२॥

नंद, कहता है, "पढ़ै, परकाव्य, कैसे, यह वररुचि, सुकवि ?" कहै, मंत्री, "मेरी, बेटियाँ, सातों, ही, इन्हीं (को), काव्यों को, प्रभु ! पढ़ैं, वाला होती हुई भी; वहाँ तुम्हें, नरनाथ, यदि, मन में, वर्तता है (है) संदेह, वे, पढ़ती हुई, कौतुक से, उन्हें, तुम, सुनो। कन्याओं में पहली एक बार सुनकर, दूसरी दो बार, यों सातवीं सात बार सुनकर श्लोक कंठस्थ कर लेती थीं। वररुचि ने नया श्लोक पढ़ा कि पहली ने पढ़ दिया। यों दो बार सुनकर दूसरी ने इत्यादि। फिर नंद ने कुपित होकर वररुचि को निकाल दिया।

---

१. पाठान्तर : कोशा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४८)

खिविवि संझहिं सलिल दीणार
गोसग्गि सुरसरि थुणइ
हणइ जंतसंचारु पाइण
उच्छिलिवि ते वि वररुईहिं
चर्डाहं हत्थि तेण घाइण
लोउ पइंपइ बररुइह गंग पसन्निय देइ।
मुणिवि नंदु वुत्तंतु इहु सयडालस्स कहेइ ॥३५॥

फेंककर संध्या को, जल में, दीनार, सवेरे, (वररुचि) गंगा को (=की) स्तुति करता है (और) हनता है (दबाता है) यंत्र संचार को, पांव से; उछलकर, वे, भी, वररुचि के, चढ़ते हैं, हाथ में, उससे, घात से; लोग कहते हैं (कि) वररुचि को, गंगा प्रसन्न होकर, देती है; जानकर, नंद, वृत्तांत, यह शकटाल को, कहता है। **खिविवि**—सं० क्षिप्। **खिविवि, उच्छिलिवि, मुणिवि** पूर्वकालिक। **गोसग्ग**—सं० गोसर्ग सवेरा, **थुणइ**—स्तु (स्तुति करना) हु (होम करना) धातु 'नु' वाले अर्थात् पांचवें गण के भी माने जाने चाहिए। **प्राकृत थुणइ**=स्तुति करता है, पुराणों तथा पद्धतियों में हुनेत् और हुनुयात् आता है ('रामचरितमानस' में हुने अनल मुँह वार बहु), कृ का 'कृणोति' वेद में तथा 'कुणइ' प्राकृत में। **पइंपइ**-प्रजल्प (सं०), **पसन्निय**—प्रसन्निता (!)सं०। फिर शकटार ने सिखाए आदमी भेजकर वररुचि को सायं-काल नदी में दीनार रखते पा लिया; स्वयं निकलवा लिए, सवेरे नंद के सामने वररुचि ने बहुत स्तुति की और यंत्र चलाया, पर कुछ न मिला।

(४९)

कोसा ने सोचा कि श्रमण मेरे अनुराग में इतना पगा है इसे सुमार्ग में लगाऊँ। कहा कि मुझे, **'धम्मलाभु'** से क्या, **'दम्मु लाभु'** (दाम-लाभ) चाहिए। उसने पूछा 'कितना?' कोसा ने लाख मांगा।

तीइ वुत्तइ सो सनिव्वेउ
मा खिज्जसि किंचि तुहं
झत्ति वच्च नेवाल मंडलु
तहं देइ सावउ निवइ
लक्खु मुल्लु साहुस्स कंबलु
सो तहिं पत्तउ दिठ्ठु निवु दिन्नइ कंवल तेण।
तं गोविव दंडय तलइ तो वाहुडिउ जवेण ॥ ८९॥

उस (कोसा) से कहा गया, वह सनिर्वेद, मत, दुखी हो, कुछ, तू, झट, जा, नेपालमंडल, वहाँ, देवे, श्रावक, नृपति, लाख (के) मोल का, साधु को, कंबल, वह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ, प्राप्त हुआ, देखा, नृप; दीनो, कंबल, उसने; उसे गुप्त करके, दंड के तले में, वह, लौटा, वेग से। **बुत्त**-सं० उक्त, वच्च—सं० व्रज, **बाहुडिउ**-सं० व्याघुटित (पत्रिका, भाग २, पृ० २७)। मार्ग में चोर मिले जिन्हें लाख दीनारों के मिलने के शकुन हुए थे। श्रमण जान उन्होंने छोड़ दिया, किन्तु फिर सगुन हुए तो अभय देकर पूछा कि कहीं तैंने लाख दीनार छिपा रक्खे हैं ? श्रमण ने कंबल दिखाया जो संभवतः पोली लकड़ी में समेटकर छिपाया था। दुशाले की इतनी बारीकी से ही लाख का मोल होगा।

(५०)

तो मुक्कउ गउ दित्तु तिण कंबलु कोसहि हत्थ।
सी पेच्छंतह तीइ तसु खित्तु खालि अपसत्थि ॥६१॥

तब, मुक्त किया (चोरों ने), (वह) गया; दिया, उसने, कंबल, कोसा के, हाथ; वह देखते, हुए, उसने, उसके, फेंका, खाला में, अप्रशस्त में। **तिण**—पंजाबी-तिन्नी, **पेच्छत**—सं० प्रेक्षत्, डि० पेखन्त, **खाला** = खेली, गंदे पानी की मोरी।

(५१)

समणु दुम्मणु भराइ तो एउ
बहुमुल्लु कंबलरयणु
कीस कोसि पइं क्खालि खित्तउ
देसंतरि परिभमिवि
मइं महंत दुक्खेख पत्तउं
कोस भणइ महापुरिस तुहुं कंबलु सोएसि।
जं दुल्लहु संजम-खणु हारिस तं न मुणेसि ॥६२॥

श्रमण, दुर्मना (होकर), कहता है, तब, "यह, बहुमूल्य, कंबल रत्न, कैसे, कोसा ! तैंने, खाली में, फेंका, देशांतर में, परिभ्रमण कर, मैं (ने) बहुत दुःख से, प्राप्त किया"। कोसा, कहती है, "महापुरुष ! तू, कंबल को, सोचता है, जो दुर्लभ, संयम (का) क्षण, हारा (खोया) है, उसे नहीं जानता ॥" **खित्तउ, पत्तउ** = खित्तो, पत्तो; क्षिप्त, प्राप्त। **मुण** = जानना, देखो (३५)।

(७) पृ० ४७१-७२, आठ छप्पय, मागधों के गाए, जिन्हें सुनकर प्रातःकाल कुमारपाल जागता था। इनमें से एक नमूने की तरह यहाँ देकर उसका वर्तमान हिन्दी के अनुसार अक्षरांतर कर दिया जाता है। यह पहले कहा जा चुका है कि पुरानी कविता से सोमप्रभ की अपनी कविता क्लिष्ट है तथा नमूनों से पाठकों ने भी यह जान लिया होगा। यह कविता डिंगल कविता के ढंग की है और पृथ्वीराजरायसे के कल्पित समय से कुछ वर्ष पहले की है। इसका वर्तमान हिन्दी में परिवर्तन चाहे कुछ कठिन दीखे पर खड़ीबोली के प्रसिद्ध वर्तमान कवियों की रचना से, जिसमें कभी-कभी 'था', 'है' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिवाय कोई पद हिन्दी का नहीं मिलता, सभी संस्कृत के तत्सम होते हैं, अधिक कठिन नहीं है—

(५२)

गयणमग्गसंलग्गलोलकल्लोलपरंपरु
निक्करुणुक्कडनक्कचंकमणदुहंकरु
उच्छलंतगुरुपुच्छमच्छरिंछोलिनियंतरु
विलसमाणजालाजडालवडवानलदुत्तरु ॥
आवत्तसयायलु जलहि लहु गोपउ जिम्ब ते नित्थरहि ।
नीसेसवसनगणनिट्ठवणु पासनाहु जे संभरहि ॥

अक्षरांतर—

गमन-मार्ग संलग्न लोल कल्लोल-परंपर ।
निठकरुणोत्कट-नक्र-चक्र-चंक्रमण-दुःखं (!) कर ॥
उछलत गुरु पुच्छ-मत्स्य रिंछोलि-निरंतर ।
विलसमान-ज्वाला जटाल-वडवानल दुस्तर ।
आवर्त-शताकुल जलधि लघु गोपद जिमि ते निस्तरें ।
निःशेष-व्यसन-गण-निःस्थापन पार्श्वनाथ जो संभरें ॥

रिंछोलि—पंक्ति (देशी) । **निट्ठवन**—बितानेवाला; समाप्त करनेवाला, **नीठ जाना**—बीतना (मारवाड़ी) । **संभरहिं**—संभरना, सांभरना, संभारना, संभालना (मराठी), **सुम्भालना** (पंजाबी)—याद करना, संस्मरण करना ।

(१) माइल्ल धवल के पहले का दोहा ग्रंथ

दिगंबर जैनों के यहाँ एक ग्रन्थ 'बृहत् नयचक्र' के नाम से प्रसिद्ध है । उसके कर्ता श्रीदेवसेन मुनि कहे जाते हैं, किन्तु जैन इतिहास और साहित्य के विद्वान् शोधक नाथूराम जी प्रेमी ने सिद्ध किया है[1] कि इसका नाम 'दव्वसहावपयास' अर्थात् 'द्रव्य-स्वभावप्रकाश' है और इसका वास्तव कर्ता माइल्ल धवल है । माइल्ल धवल भी इसका कर्ता नहीं है, गाथा कर्ता है । वह स्वयं लिखता है कि पहले 'दव्वसहावपयास' दोहाबंध में देखा जाता है । उसे सुनकर किसी शुभंकर महाशय ने हँसकर कहा कि यहां अर्थ सोहता नहीं, इसे गाथाबंध से कह दो तब माइल्ल धवल ने उसे गाथाबंध से रच दिया ।

दव्वसहावपयासं दोहयबंधेन आलि जं दिट्ठं ।
तं गाहाबंधेण च रइयं माइल्लधवलेण ॥
सुणिऊण दोहरत्थं सिग्घं हसिऊण सुहंकरो भणइ ।
एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेन तं भणह ॥

---

१. जैनहितैषी, भाग १४, अंक १०-११, जुलाई-अगस्त १९२०, पृ० ३०५-३१० ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह 'दव्वसहावपयास' गाथा में अर्थात् प्राकृत में है। उसमें दो गाथाओं में णयचक्क अर्थात् 'नयचक्र' नामक ग्रंथ को और तीसरी में नयचक्र के कर्ता देवसेनदेव गुरु को नमस्कार लिखा है। देवसेन के लिए कवि ने यहाँ 'गुरु' शब्द का प्रयोग किया है और एक दूसरी गाथा में लिखा है कि देवसेनयोगी के चरणों के प्रसाद से यह (मुझे) प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि नयचक्र (जो लघुनयचक्र कहलाता है) के कर्ता देवसेनसूरि से माइल्ल धवल का निकटस्थ गुरु-शिष्य संबंध था, परंपरागत नहीं। देवसेन सूरि ने 'भावसंग्रह' ग्रंथ में अपने को श्रीविमलसेन गणधर का शिष्य कहा है और 'दर्शनसार' के अंत में लिखा है कि धारानगरी में निवास करते हुए पार्श्वनाथ के मंदिर में सं० ६६० में माघ शुदि दशमी को यह ग्रंथ रचा। यह संवत् विक्रम संवत् ही है क्योंकि धारा "(मालवा प्रांत) में यही प्रचलित था और दर्शनसार को अन्य गाथाओं में जहां-जहां संवत् का उल्लेख दिया है वहां-वहां विक्कमराअस्स मरणपत्तस्स" पद देकर विक्रम संवत् ही प्रकट किया गया है।[1] यही और इससे २०।३० वर्ष आगे तक ही माइल्ल धवल का काल है।

माइल्ल धवल के इस कथन पर ध्यान दीजिए कि (१) दव्वसहावपयास 'दोहयबंध' में 'दिट्ठ' था, (२) 'दोहरत्थ' को सुनकर हँसकर शुभंकर ने कहा कि इसमें अर्थ नहीं सोहता, इसे 'गाहाबंध' में कहो (३) माइल्ल धवल ने इसे 'गाहाबंध' में रच दिया। 'प्रबंधचिंतामणि' वाले लेख के उपक्रम में दिखाया गया है कि 'गाथा' प्राकृत का उपलक्षण है और दोहा अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का, पुरानी हिंदी 'दोहाविद्या' कहलाती थी, और छंद चाहे दोहा हो चाहे सोरठा, 'दोहाविद्या' में आ जाता था, इसलिए दोहयबंध = पुरानी हिंदी और गाहाबंध = प्राकृत। यदि दोहयबंध में भी वही प्राकृत भाषा होती, केवल छंद का भेद होता तो शुभंकर को हँसने, नाक चढ़ाने और यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि यहाँ अर्थ नहीं सोहता, गाथाबंध में भण दो। दोहरत्थ को सुनकर उसने शीघ्र यह कहा। इसका आशय यह है कि शुभंकर को यह बात खटकी कि धर्म-विषयक ग्रंथ इस गंवारी बोली में क्यों है, क्यों नहीं यह अपने और धर्मग्रंथों की पवित्र भाषा 'प्राकृत' में हो। इसलिए शुभंकर के कहने से माइल्ल धवल ने पुरानी हिंदी के काव्य का प्राकृतानुवाद कर दिया। **विक्रम की दशम शताब्दी के अंत में दोहाबद्ध पुरानी हिंदी के काव्य के होने का यह प्रमाण है।** माइल्ल धवल ने अपने मूलग्रंथ का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख तो किया, उन पंडितों की तरह नहीं जिन्हें तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' के-से 'भाषानिबंधमतिमंजुल' का सहन न हुआ कि 'भाखा' में अलौकिक चमत्कारपूर्ण ग्रंथ कहां से हो जाय, जिन्होंने कल्पित 'शंभु' कवि का कल्पित संस्कृत 'रामचरितमानस' बनाकर भद्दा जाल रचा और यह कहने का साहस किया कि तुलसीदास जी ने इसकी 'भाखा' की है।[2]

---

१. नाथूराम प्रेमी, जैनहितैषी, भाग १४, अंक १०-११, जुलाई-अगस्त १६२०; पृ० ३०६।

२. कहते हैं कि यह काव्य, जो वास्तव में 'रामचरितमानस' से अनुवाद किया गया है, इटावे में मिला। पं० बलभद्रप्रसाद ने इसे छपवाया भी था। देखो : ग्रियर्सन, ज० रा० ए० सो०, जनवरी, १६१३; सीताराम, वही, अप्रैल, १६१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) खड़ी बोली : म्लेच्छभाषा

एक समय मैंने हिंदी के एक वैयाकरण मित्र से कहा था कि खड़ी बोली उर्दू पर से बनाई गई है, अर्थात् हिंदी मुसलमानी भाषा है। यह हँसी में कहा था किंतु मेरे मित्र को बुरा लगा। मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि हिंदुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही मिलती है, अर्थात् 'पड़ी बोली' में पाई जाती है। खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरंभ काल के गद्य और पद्य को देखकर यह जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी अरबी तत्सम या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने-अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रंगे थे, उसकी परंपरागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' बनाकर अपने लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया, किसी प्रांतीय भाषा से उनका परंपरागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण या राष्ट्रभाषा हो चली, हिंदू अपने-अपने प्रांत की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिंदू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखापढ़ी और साहित्य की भाषा हिंदी हो, मुसलमानों में बहुतों की घर की बोली खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की 'विभाषा' है, किंतु 'हिंदुई' भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई, फिर हिंदुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिंदी को अपना लिया। हिंदी-गद्य की भाषा लल्लूलाल के समय से आरंभ होती है, उर्दू-गद्य उससे पुराना है, खड़ी बोली कविता हिंदी में नई है। अभी-अभी तक ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था, उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिंदी गद्य और पद्य—खड़े रूप में—मुसलमानी हैं हिंदू कवियों का यह सम्प्रदाय रहा है कि हिंदू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलवाते थे और मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली।

(१) ना० प्र० पत्रिका भाग १, पृष्ठ १७८-९ में राव अमरसिंह के सलावत खाँ के मरने के दो कवित्त उद्धृत हैं। वहां इस विषय की टिप्पणी भी दी है। वहां शाहजहां की उक्ति का कवित्त तो इस प्रकार की भाषा में है कि—

वजन माँह भारी थी कि रेख में सुधारी थी
हाथ से उतारी थी कि साँचे हू में ढारी थी।
सेख जी के दर्द माँहि गर्द-सी जमाई मर्द
पूरे हाथ साँधी थी कि जोधपुर सँवारी थी॥
हाथ में हटक गई गुट्टी-सी गटक गई
फेंफड़ा फटक गई आँकी बाँकी तारी थी।
'शाहजहाँ' कहे यार सभा माँहि बार-बार
अमर की कमर में कहां की कटारी थी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि की अपनी उक्ति ऐसी है—

साही को सलाम करि मार्यो थो सलावत खाँ
दिखा गयो मरोर सूर वीर धीर आगरो।
मीर उमरावन की कचेड़ी धुजाय सारी
खेलत शिकार जैसे मृगन में बागरो॥
कहे 'रामदीन' गर्जसिंह के अमरसिंह
राखी रजपूती मजबूती नव नागरो।
पाव सेर लोह से हलाई सारी पातसाही
होती समशेर तो छिनाय लेतो आगरो॥

(२) भूषण की भाषा से सब परिचित हैं। वह हिंदू कविता की टकसाली भाषा, पड़ी भाषा, ब्रजभाषा का प्रयोग करता है। किंतु 'शिवाबावनी' में जहां 'मुगलानियाँ मुखन की लालियाँ' के मलिन होने और बेगमों की विपद का वर्णन है उन छंदों में कुछ छींटा मुसलमानी अर्थात् खड़ी बोली का स्वाभाविक रंग लाने के लिये दिया है। मिलाओ[1]—

(क) वाजि गजराज शिवराज सैन साजत ही०
(ख) कत्ता की कराकन चकत्ता को कटक काटि०
(ग) ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहन वारी०
(घ) उतरि पलंग ते जिन दियो ना धरा में पग०
(ङ) अंदर ते निकसी न मंदर को देख्यो द्वार०
(च) अतर गुलाब रस चोआ घनसार सब०
(छ) सोंधे के अधार किसमिस जिनको अहार०

इन छंदों में कई शब्द, विशेषत: क्रियापद, ध्यान देने योग्य हैं। विस्तार-भय से पूरे छंद नहीं दिए जाते क्योंकि वे प्रसिद्ध हैं। अंतिम छंद का अंतिम चरण है—

'तोरि-तोरि आछे से पिछौरा सों निचोरि मुख कहें सब (यहाँ तक कवि की भाषा) कहाँ पानी मुकतो में पाती हैं' (यह पात्र की भाषा)।

एक यह कवित्त भी देखिए जिसमें 'भूषण' की उक्ति और परोक्ति का मिश्रण है—

अफजल खां को जिन्होंने मयदान मारा
मारा बीजापुर गोलकुंडा मारा जिन आज है।
'भूषन' भनत फरासीस त्यों फिरंगी मारि
हबसी तुरक डारे उलटि जहाज है॥
देखत में खान रुस्तम जिन खाक किया
सालति सुरति आजु सुनी जो अवाज है।
चौंकि चौंकि चकत्ता कहत चहुघाँ ते यारो
लेत रहो खबर कहाँ लौं शिवराज है॥

१. हिंदी-साहित्य सम्मेलन का संस्करण, पृ० १५२-१५५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) भानुचंद्र नामक जैन विद्वान अकबर के यहां थे। उन्होंने कादंबरी की टीका लिखी है। (ना० प्र० पत्रिका, भाग-१, पृ० २३६)। स्वरचित 'विवेक-विलास' तथा 'भक्तामर स्तोत्र' की टीका में उन्होंने अपना एक विशेषण 'सूर्यसहस्रनामाध्यापकः' अर्थात् सूर्यसहस्रनाम का पढ़ाने वाला भी दिया है। यह प्रसिद्ध है कि बादशाह अकबर सूर्य की ओर मुँह करके सूर्य के एक हजार एक नाम पढ़ा करता था।[1] यह 'सहस्रनाम-स्तोत्र' भानुचंद्र ने संग्रह किया और अकबर को पढ़ाया था। ऋषभदास कवि (सं० १६८५) अपने 'हीरविजयसूरिरास' (गुजराती) में लिखता है कि—

पातशाह काशमीरें जाय भाणचंद पूंठे पणि थाय।
पूछइ पातशा ऋषि ने जोइ खुदा निजीक कोने वली होइ।
भाणचंद बोल्या ततखेव नजीक तरणी जागतो देव।
ते समर्प्यो करि बहु सार तस नामि ऋद्धि अपार।
हुओ हुकम ते तेणीवार संभलावे नाम हजार।
आदित्य ने अरक अनेक आदिदेव माँ घणो विवेक।

जैनाचार्य प्रसिद्ध शोधक विजयधर्मसूरिजी महाराज के संग्रह में इस 'सूर्य-सहस्रनाम' की एक प्रति है जिसके अंत में लिखा है कि अकबर इसे रोज सुनते थे।[2] अस्तु। यह भानुचद्र फिर जहाँगीर के राज्य में उसके पास आया। जहाँगीर ने उसे कहा कि जैसे बाल्यावस्था में तुम मुझे धर्मोपदेश किया करते थे[3] वैसे अब मेरे पुत्र को पढ़ाओ। इसका वर्णन कवि लिख तो पुरानी गुजराती (पड़ी) में रहा है, किंतु जहांगीर की उक्ति उसने खड़ी बोली में दी है—

मिल्या भूपनइं भूप आनंद पाया
भलइं तुमे भलइं अहीं भाणचंद आया।
तुम पसिथिइं मोहि सुख बहुत होवइ
सहरिआर भणवा तुम बाट जोवइ॥
पढ़ाओ अम्ह पूत कूं धर्मवात
जिउं अवल सुणता तुम्ह पासि तात।
भाणचंद कदीम तुम हो हमारे
सब ही थकी तुम्ह हो हम्महि पियारे॥[4]

---

१. अलबदाउनी, लो का अनुवाद, जिल्द २, पृ० ३३२।
२. अमुं श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रं प्रत्यहं प्रणमत्पृथ्वीपतिकोटीरकोटिसंघट्टित पदकमल-त्रिखंडाधिपतिदिल्लीपतिपातिसाहि श्री अकब्बरसाहिजलालदीनः प्रत्यहं शृणोति सोऽपि प्रतापवान् (मुनिराज विद्याविजय रचित सूरीश्वर अने सम्राट्, पृ० १४६)।
३. भानुचंद्र को उपाध्याय पदवी बादशाह के सामने लाहौर में दी गई थी। उसने जहाँगीर और दीनदयाल को जैन शास्त्रों का अभ्यास कराया था (वही, पृ० १५३)।
४. ऐतिहासिक राससंग्रह, भाग ४, पृ० १०६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) पूर्वोक्त कवि ऋषभदास ने 'श्रीहीरविजयसूरिरास' में श्रीहीरविजयसूरिजी तथा अकबर की मुलाकात का वर्णन किया है जो गुजराती में है। अकबर कह रहा है कि आगरे से अजमेर तक मैंने खंभे बनवाए हैं।[1] आपने देखे होंगे, प्रत्येक पर पाँच-पाँच सौ हरिणों के सींग मैंने लगवाए हैं। इस प्रसंग को कवि यों लिखता है—

देखे हजूरे हमारे तुम्ह एक सो चउद(ह) कीए वे हम्म।
अकेके सिंह पंच से पंच पातिग करता नहिं बलबंच॥

(५) सं० १६०२ की कार्तिक शुक्ल एकादशी को भट्ट नारायण ने पव्येक पंडित के पुत्र केदार के बनाए 'वृत्तरत्नाकार' पर टीका लिखी। उसने अपने पूर्व-पुरुषों का यह पता दिया है—भट्ट नागनाथ, (पुत्र) चांगदेव भट्ट, (पुत्र) भट्ट गोविंद रामभक्त, (पुत्र) भट्ट रामेश्वर, विश्वामित्र वंश (गोत्र) रूपी समुद्र का चंद्र, (पुत्र) ग्रंथकर्ता नारायण, काशी में। वह लिखता है कि जाति, वृत्त दोनों प्रकार का छंद केवल संस्कृत में ही नहीं, कवि की इच्छा से प्राकृत, देशभाषाओं में भी होता है। प्राकृत के कुछ उदाहरण देकर उसने भाषा के कुछ उदाहरण दिए हैं।

(क) महाराष्ट्र भाषा में उपजाति छंद का उदाहरण—

अगा मुरारी भवदुःख भारी कामादि वैरी मन हें थरारी।
मी मूढ़ देवा न करींच सेवा माझा कुठावां परितां करावा॥

(हे मुरारी, भवदुःख भारी हैं, काम आदि वैरी हैं, इनसे मन काँपता है, हे देव, मुझ मूढ़ ने आपकी सेवा न की, मेरी दुरवस्था को दूर कर)।

(ख) गुर्जर भाषा में स्रग्विणी छंद का उदाहरण—

वित्ततें संचवूं युक्ततें भोगवूं अग्नितें होमवूं विप्रतें आपवूं।
पापतें खंडवूं कामतें दंडवूं पुण्यतें संचवूं रामतें सेववूं॥

(वित्त का संचय करो, उसे जुगत से भोगो, अग्नि में होमो, ब्राह्मण को दो, पाप का खंडन करो, काम को दंडित करो, पुण्य संचय करो, राम को सेओ। यदि 'तें' विभक्ति न मानी जाय और मध्यमपुरुष का सर्वनाम माना जाय तो 'तुझ से वित्त का संचय किया जाय' इत्यादि अर्थ होगा)।

---

१. अकबर प्रतिवर्ष अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की जियारत को आता था। मार्ग में जहाँ पड़ाव थे वहाँ महल और कोस-कोस पर खंभा और कुआँ बनवाया था। (अलबदाऊनी, लो का अनुवाद, जिल्द २, पृ० १७६)। अब भी स्थान-स्थान पर कई खंभे या उनके भग्नावशेष दिखाई देते हैं। एक जयपुर से आमेर जाती सड़क पर है, पर दूसरा जयपुर से कुछ ही दूर पूर्व को रेल के किनारे दिखाई देता है। इन पर सींग लगाने की बात जैन ग्रंथों में ही है। ये लश्कर के रास्ता न भूलने के लिए मार्गचिह्न और कूच का नागारा बजाने के लिए थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) 'कान्यकुब्ज भाषा' में वसंततिलका का उदाहरण—

कन्दर्परूपजवने तुललीन कृष्ण
से कोप काम हमहीं बहु पीर छोड़ी।
तो भेटिके विरह पीर नसाउ मारी
यौं भाँति दूति पठई कठिलात गोपी।।

(बहुत अस्पष्ट है। काशी के संस्कृतज्ञ पंडित ने इसे 'कान्यकुब्ज भाषा' कहा है, वस्तुतः यह ब्रजभाषा और पूर्वी का मिश्रण अर्थात् प्रचलित 'पड़ी बोली' है। आशय यह जान पड़ता है कि काम के रूप को जीतनेवाले कृष्ण! अपने में लीन गोपी को बहुत पीड़ा देकर कोप करके तैंने क्यों छोड़ा? मिल के मेरी विरह पीड़ा नष्ट कर—यों दूतिका भेजी।)

(घ) म्लेच्छ और संस्कृत के संकर में मालिनी, किसी कवि का--

हरनयनसमुत्थज्वालवह्निज्जलाया
रतिनयनजलौघैः खाक बाकी बहाया।
तदपि दहति चेतो मामकं क्या करोंगी
मदनशिरसि भूयः क्या बला आगि लागी।।

(कामदेव की बात देखिए—पहले उसे शिवजी के तृतीय नेत्र की अग्निज्वाला ने जला दिया, बाकी खाक रही थी, वह रति के आँसुओं से बह गई, तो भी वह मेरे चित्त को जलाता है! क्या करूंगी? न मालूम कामदेव के सिर पर फिर यह क्या बला की आग लगी, जल बहकर भी जी उठा!!)

कवि ने इसे म्लेच्छभाषा केवल खाक, बाकी और बला शब्दों पर से ही नहीं कहा है, इसकी खड़ी रचना पर से ऐसा लिखा है। संस्कृत के पंडित की दृष्टि में यह पक्की बोली म्लेच्छों की भाषा थी!!

हेमचंद्र के व्याकरण और 'कुमारपालचरित' में से

पाणिनि

"शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः"[1]

संस्कृत-व्याकरण में जो यश पाणिनि को मिला वह किसी के भाग्य में नहीं था। ऐसा सर्वांगसुन्दर पूर्ण व्याकरण किसी काल में किसी भाषा में न बना। यों तो महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री कहते हैं[2] कि मैकडानल (मुग्धानलाचार्य) ने अब पाणिनि

१. पतंजलि, २।३।६६।

२. The Professor's Vedic Grammar is a unique work in so far as he has done it without Panini's Vaidika Prakriya. He has evolved the grammar from the language itself and is as scientific as his great predecessor, Panini—एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के वार्षिकोत्सव पर सभापति का व्याख्यान, पृष्ठ ६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का-सा ही वैज्ञानिक व्याकरण स्वतंत्र रीति पर बना दिया है किंतु उस व्याकरण की रचना पाणिनि के व्याकरण के होने से ही संभव हुई। विभु आकाश, समुद्र या विष्णु की तरह पाणिनि के व्याकरण की नाप न ईदृक्ता से हो सकती है, न इयत्ता से। वह वही है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह ऐसा है या इतना है। जैसे पाणिनि अपने पहले के सब संस्कृत वैयाकरणों का संघात है, वैसे ही वह अपने पिछले सब वैयाकरणों का उद्गम है। अपने से पहले जिन वैयाकरणों का नाम उसने, मतभेद दिखाने के लिए या पूज्यार्थ[1] ले दिया उनका नाम तो रह गया, बाकी के नाम तक का पता नहीं। पूर्वाचार्यों की जो संज्ञाएँ उसने प्रचलित समझकर ले लीं वे रह गईं[2], बाकी पुराने सिक्के पाणिनि की नई टकसाल की मोहरों के आगे न मालूम कहां चले गए। पहले के व्याकरणों का एकदम अभाव देखकर कोई यह कल्पना करते हैं कि पाणिनि शास्त्रार्थ में जिन वैयाकरणों को हराता गया उनके ग्रंथों को जलाता गया। कोई कहता है कि शिवजी के हुंकार-वज्र से, जो, जैसा कि आगे कहा गया है, पाणिन के दुर्बल पक्ष की हिमायत पर चलता गया था, सब नष्ट हो गए। कोई कहता है कि सब वैयाकरण विश्वामित्र का नाम विश्व+अमित्र बनाकर उसके शापभाजन हुए, पाणिनि ने 'मित्रे चर्षौ' सूत्र (६।३।१३०) बनाकर उसकी खुशामद की तथा वर पाया।[3] पाणिनि को जलाने, शिवकोप व विश्वामित्रानुग्रह की आवश्यकता न थी, स्वयं ही उसके तेज के आगे और व्याकरण न ठहर सके। पाणिनि के व्याकरण में विशेषता क्या है? नई उपज का भाव दिखाने के

---

१. आपिशलि ६।१।९२, काश्यप १।२।२५, गार्ग्य ८।३।२०, गालव ७।१।७४, चाक्रवर्मण ६।१।१३०, भारद्वाज ७।२।६७, शाकटायन ३।४।१११, शाकल्य १।१।१६, सेनक, ५।४।११२, स्फोटायन ६।१।१२३, उत्तरी (उदीचाम्) ४।१।१५३, कोई (एकेषां) ८।३।१०४, पूर्वी (प्राचाम) या पुराने ४।१।१७

२. वर्णं बाहुः पूर्वसूत्रे (भाष्य, द्वितीय आह्निक), व्याकरणांतरे वर्णा अक्षराणीति वचनात् (कैयट), आङो नाऽस्त्रियाम् (१।३।१२०) आङिति टासंज्ञा प्राचाम् (कौमुदी)। प्रथमा आदि विभक्तियों के नाम, समासों के नाम, कृत तद्धित आदि नाम, पुराने हैं। अथवा पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयम्। पूर्वसूत्रेषु येऽनुबंधा न तैरिहेत्कार्याणि क्रियन्ते (पतंजलि, औङआपः ७।१।१८ पर) पूर्वाचार्यैर्द्वे अपि द्विवचने ङिती पठिते न चेह क्वचिदप्यौङ् प्रत्ययोस्ति। सामान्यग्रहणार्थं च पूर्वसूत्रनिर्देशस्तेन पूर्वसूत्रे य औङ तस्य ग्रहणं भवति (वही कैयट)। तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (पाणिनि १।२।५३) के भाष्य तथा कैयट से जाना जाता है कि टि, घु, वे आदि संज्ञाएं भी पुरानी हैं।

३. यहाँ पाणिनि ने उस प्राकृतिक मौखिक दीर्घ का उल्लेख किया है जो 'शव' के साथ दूसरा पद मिलाने से हो जाता है। उसने विश्वावसु, विश्वाराट्, विश्वानर और विश्वामित्र का उल्लेख किया है, गँवारी बोली में, काँसी विश्वनाथ, अब तक होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए 'उपज्ञ' और 'उपक्रम' पद आया करते हैं[1], जैसे दूरी और तोल के नाप पहले नंद (राजा) ने चलाए। यों ही पाणिनि के लिए कहा जाता है कि अकालक व्याकरण पाणिनि ने पहले-पहले चलाया[2] अर्थात् पहले क्रियापद (आख्यात) के रूपों के लिए कालवाचक नाम थे[3], पाणिनि ने उन्हें हटाकर लट्, लिट् आदि नाम चलाए। उसने कई संज्ञाएं नई चलाईं।[4] संक्षेप के लिए कई बीजगणित के से अनर्थक संकेत चलाए।[5] वर्णमाला को नए ढंग से जमाकर अच् कहने से स्वर मात्र, हल् कहने से व्यंजन मात्र आदि को समेट-कर बतलाने (प्रत्याहार) की चाल चलाई। बारंबार एक बात न कहने के लिए हुकूमत और सिलसिले (अधिकार और अनुवृत्ति) का क्रम रक्खा। प्रकृति, प्रत्ययों आदि में ऐसे बंध (अनुबंध) बैठाए कि क्या वैदिक साहित्य, क्या लौकिक कुछ भी न बचा। अपने समय के मुहाविरों की जानकारी इतनी कि विपाशा के उत्तर तीर के वाहीक ग्रामों के कूप[6]; पार्श्व, यौधेय आदि आयुधजीवी गण[7] (प्रजातंत्र जो किसी राजा की प्रजा न थे और जहाँ दाम मिलता उसी ओर हथियार चलाते); ऋषियों और राजाओं के पितृ-क्रमागत नाम;[8] नए और पुराने ब्राह्मण और कल्पसूत्र[9], उत्तरी और पूर्वी वाग्धारा के भेद[10], देखे हुए, बनाए हुए और कहे हुए वेद[11] तथा ग्रंथ, यवनों की लिपि[12], सौवीर, साल्व

१. उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्। (२।४।२१) नन्दोपक्रमाणि मानानि।

२. पाणिन्युपज्ञमकालकं (आकालापकं अशुद्ध पाठ है) व्याकरणम्। (काशिका)।

३. तेन तत् प्रथमतः प्रणीतं। स स्वस्मिन् व्याकरणे कालाधिकारं न कृतवान् (जिनेन्द्र-बुद्धि का न्यास) भवन्ती (पाणिनि का लट्) परोक्षा (लिट्) अनद्यतनी भूता या ह्यस्तनी (लङ्) अद्यतनी (लुङ्) भविष्यन्ती (लृट्) अनद्यतनी, भाविनी, श्वस्तनी (लुट्) अतिसर्गी (लोट्) विधायिका (लिङ्), आशीः (आशीर्लिङ्) अतिपातिका (लृङ्)। लोट् तथा लिङ् को पंचमी या सप्तमी भी कहते थे जिससे सुबन्त विभक्तियों से गोलमाल हो जाता होगा। पाणिनि ने इनके लिए वे नाम धरे जो कोष्ठक में हैं और वैदिक Subjunctive को लेट् कहा। यह क्रम 'ल' कार की 'ह्रस्व' बाराखड़ी और उसके आगे ट् या ङ् का संकेत लगाकर क्रम से रखना मात्र है। पाणिनि की बुआ के बेटे संग्रहकार व्याडि (दाक्षायण) ने इन्हीं दस लकीरों में 'ट्, ङ्' की जगह 'हुष्' लगाकर नए नाम बनाए इसलिए व्याड्युपज्ञं हुष्करणम्। (दुष्करणं नहीं।)

४. जैसे नदी, अंग आदि।

५. जैसे—टु, श्लु, फक् आदि।

६. ४।२।७४

७. ५।३।११४, ११७, ४।३।६१

८. ४।१।१०४

९. ४।३।१०५

१०. ३।४।१९ आदि, १।१।७५ आदि

११. २।३।४७, ४।३।११६, ४।३।१०१

१२. ४।१।४९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और पूर्व की नगरियाँ तथा संकल का बनाया नगर[1], पशुओं के कानों पर पहचान के लिए बनाए गए चिह्न[2], द्यूत के खेल[3]—कोई उसकी दृष्टि से न बचा। सीमाप्रांत के शलातुर[4] में जन्म लेकर भी उसने पाटलिपुत्र में ख्याति पाई।[5] वैदिक साहित्य के प्रयोगों को उसने अपवाद या विकल्प के विषय रखकर अपने समय की 'भाषा' का व्याकरण बनाया। स्वर के विवेचन को पाणिनि ने इतना स्थान दिया है तथा आवाज कुदाने (प्लुत) के नियमों की ऐसी जाँच की है कि मानना पड़ता है कि आपामर भारतवासी मात्र की नहीं, तो एक बहुत बड़े समुदाय की साधारण भाषा संस्कृत अवश्य थी। ज्यों-ज्यों तारतम्यात्मक भाषाविज्ञान का महत्त्व बढ़ा है पाणिनि का यश और भी चमकता गया है। सारे संस्कृत-साहित्य पर पाणिनि की छाप लग गई। जिन्होंने खान से निकला सोना नहीं देखा, टकसाल की मुहरवाले सिक्के ही देखे हैं, उनकी बोलचाल में अपाणिनीय का अर्थ अशुद्ध हो गया। पूर्व में सूर्य उगता है यह लोग भूल चले, सूर्य जिधर उगता है वही पूर्व है यह माना जाने लगा। व्याकरण और पाणिनि का अभेद संबंध हो गया, व्याकरण का या भाषा का अध्ययन न होकर पाणिनि का अध्ययन होने लगा। शब्द इसलिए साधु नहीं है कि वह प्रयुक्त है, इसलिए साधु है कि पाणिनि ने वैसा बनाना बताया है। लक्ष्यैकचक्षुष्क लोग घट गए, लक्षणैकचचक्षुष्क[6] बढ़ गए। पाणिनि के आगम और आदेश वास्तव में आगम और आदेश बन गए। अन्य शास्त्रों में भी पाणिन की परिभाषाओं का डंका बजा। 'लकार', 'लिङ् मां प्रेरयति', 'ङि' और 'णिच्' के अर्थों में पाणिनि के कागज के नोट देशांतरों में भी चलने लगे। पाणिनि के पहले भी वेद था, वेदांग थे, व्याकरण वेदांगों में मुख था, किंतु पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' वेदांग हो गई। उसके अविकल पारायण का पुण्य हुआ। पाणिनि का मान ऋषिवत् हुआ। वह था ही ऐसा, 'जो कुछ कहिय थोर सब तासू'।

---

१. ४।२।७५-७६
२. ६।२।११२, ६।३।११५
३. २।१।१०, ५।२।९
४. शालातुरीय पाणिनि ('गणरत्नमहोदधि' का मंगलाचरण) शलातुर यूसुफजई प्रान्त का लाहौर है।
५. यह राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में (संभवतः 'बृहत्कथा' के आधार पर) कहा है किन्तु पाटलिपुत्र की स्थापना मगध के बार्हद्रथ राजा अजातशत्रु ने अपने राज्य के चौथे वर्ष में की थी (ना० प्र० पत्रिका भाग २, पृ० १६१। पाणिनि उससे बहुत पुराना होना चाहिए)।
६. वे उदकस्योदः संज्ञायां ६।३।५७ से ६।३।६० तक के भरोसे 'उदक' को प्रकृति और 'उद' को आदेश मानते हैं, 'उद' प्रकृति से 'क' करने से भी 'उदक' बन सकता है यह नहीं मानते और 'वाल्मीकि रामायण' में उदाहारोऽहमागमम्' देखकर चौंकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं कि पीर स्वयं नहीं उड़ते, मुरीद उनके पर लगा देते हैं। पाणिनि ने कहीं स्वयं दावा नहीं किया है कि जिन चौदह सूत्रों में वर्णमाला का क्रम बदलकर मैंने इतना संक्षेप और क्रमसौकर्य पाया है उनका मुझे इलहाम हुआ है, किंतु बात चल गई कि महेश्वर के डमरू के चौदह बार बजने से पाणिनि ने उन्हें पाया[1] करामातों पर लोगों का विश्वास हो जाता है, पुरुषपरिश्रम पर नहीं। कन-कन जोड़ने से लखपति होते हैं यह कोई नहीं मानता, किन्तु बाबाजी मंत्र के बल से हँडिया में भरे गहनों को दूना कर देते हैं या एक नोट के दो कर देते हैं यह मानने को गाँव का गाँव तैयार हो जाता है। पुराने महलों या किलों को भूतों ने रात-ही-रात में बना दिया यह विश्वास होता है, यद्यपि बड़े-बड़े पुल ईंट-ईंट जोड़कर बनते हुए सामने दिखाई दे रहे हैं। बाजीगर के आम की तरह कोई परम इष्ट वस्तु वर्ष में, छै महीने में, दो महीने में, किसी निर्दिष्ट तिथि तक, मिल जायगी—इस आशा पर जो उछल-कूद होती है उसका शतांश भी न दिखाई दे, यदि यह कहा जाय कि दस-पंद्रह वर्ष चोटी का पसीना एड़ी तक बहाकर वह मिलेगी। पाणिनि के अलौकिक शब्दज्ञान और अपूर्व व्याकरण पर 'बड्ड कथा' में यह कथा है कि पाटलिपुत्र में आचार्य वर्ष यहां एक 'जड़बुद्धितर' पाणिनि नामक विद्यार्थी था, गुरुपत्नी उससे बहुत कसकर काम लेती, पानी के घड़े भरवाया करती, इसका परिणाम वही हुआ जो होता है—लड़का जान बचाकर भागा, तपस्या करने जा बैठा। शिवजी ने प्रसन्न होकर व्याकरण दिया। उसे लेकर शास्त्रार्थ करने आया। 'ऐंद्र व्याकरण' का प्रतिनिधि वररुचि इस नए वैयाकरण को हरानेवाला ही था कि शिवजी ने अपने चेले की हिमायत पर, उसका पक्ष गिरता देख, हुंकारवज्र चला दिया; बस 'ऐंद्र व्याकरण' नष्ट हो गया—'जिता: पाणिनिना सर्वे मूर्खीभूता वयं पुनः !!' इस कहानी में, 'बड्डकथा' के आधार से 'कथासरित्सागर' में भी है, सार इतना ही है कि 'जिताः पाणिनिना सर्वे !!!'

इस कथा में वररुचि को पाणिनि का समकालिक, नहीं उससे कुछ पुराना, कहा गया है। वस्तुत: वह पाणिनि से कई सौ वर्ष पीछे हुआ। उसके पहले पाणिनि पर कई व्याख्यान के वार्तिक बन चुके थे। वेद के समय से प्रसिद्धि चली आती है कि वाणी का पहला व्याकरण इन्द्र ने बनाया।[2] वररुचि (कात्यायन) भी 'ऐंद्र-सम्प्रदाय' का था।

---

१. वार्तिककार तथा भाष्यकार कहीं नहीं जतलाते कि ये १४ सूत्र पाणिनि के नहीं हैं। भाष्य के द्वितीय आह्निक की व्याख्या में तीन जगह कैयट उनके कर्ता को आचार्य या सूत्रकार कह देता है (जो पाणिनि के लिए ही आता है) किंतु तीनों जगह नागोजी-भट्ट मानो कैयट की आस्तीन खेंचता है कि हैं! सूत्रकार यहां महेश्वर या वेदपुरुष है, क्या कह रहे हो? कैयट तक को प्रत्याहारसूत्र आचार्य या सूत्रकार के ही माने जाते थे। नंदिकेश्वर कृत कारिका बहुत पीछे का ग्रंथ है तथा उसमें जो इन सूत्रों का आध्यात्मिक अर्थ किया है वह बड़ी खेंच-तान का, बौद्धतंत्रों में मातृका के महत्त्व के बढ़ने के पीछे का जान पड़ता है। उसमें अनुबंधों का कोई अर्थ ही नहीं किया जो पाणिनि के सुभीते की नींव हैं।

२. तैत्तिरीय संहिता ६।४।७, शतपथ ब्राह्मण ४।१।३।१२, १५, १६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु उसने पाणिनि को उस्ताद मान लिया। सच्चे वीर की तरह अपने से प्रबल वीर के झंडे के नीचे आ खड़ा हुआ। कुफ्र छोड़कर काबे में आ गया। उसने पाणिनि की रचना पर वार्तिक लिखे, किन्तु अधीनता के साथ, लोहा मानकर, यही कहा कि इतना और कह दो,[१] इतना और गिनना चाहिए।[२] पाणिनि की परिभाषाएं उसने मान लीं; पुरानी आदत से संध्यक्षर, संक्रम, समान परोक्षा, भवंती या अद्यतनी भी उसके मुँह से निकलता रहा।[३] पाणिनि के समय से उसके समय तक जो नए शब्द चल गए थे या अर्थों में परिवर्तन हो गए थे वे भी उसने गिन दिए। पीछे कई सौ वर्ष बीतने पर, जिनमें कई गद्य और पद्यवार्तिक बने, पतंजलि ने बड़ी व्याख्या या महाभाष्य बनाया। अनद्यतनी ह्यस्तनी या लङ् क्रिया के रूप का प्रयोग उस भूतकाल के अर्थ में होता है कि जो बीता हो किन्तु जिसे कहने वाले ने देखा हो, या जिसे वह कम-से-कम देख सकता था, परोक्ष या लिट् का प्रयोग बिलकुल आँख से ओझल बात के लिए आता है। इस पर पतंजलि ने दो उदाहरण दिये हैं जो उसके समय को स्पष्ट बतलाते हैं—यवन ने साकेत को घेरा, यवन ने मध्यमिका को घेरा।[४] पतंजलि के समय में संस्कृत उस अर्थ में भाषा न रही थी जिस अर्थ में पाणिनि ने उसे 'भाषा' कहा है। वह एक 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंशों का उल्लेख करता है,[५] देवदिण्ण को देवदत्त से पृथक् करता है,[६] आण्णवयति, वट्टति, वड्ढति, को धातुपाठ से अलग करता है,[७] दृशि के लिए दसि और कृषि के लिए कसि का प्रयोग होना बतलाता है।[८] साधु शब्दों के प्रयोग में आर्यावर्त-वासी 'शिष्टों' की दुहाई देता है जो कुम्भीधान्य, अलोलुप आदि हों।[९] सो पाणिनि की

---

१. इति वक्तव्यम्।

२. उपसंख्यानम्।

३. पीछे के वैयाकरण, अपने को पुरानी शैली पर चलनेवाला तथा पाणिनि को सुधारक बताने के लिए, ऐसे पदों को उसी चाव से कहते रहे हैं जिससे कुछ लोग हिंदी की जगह 'आर्यभाषा' और नमस्कार की जगह 'नमस्ते' कहते हैं।

४. अनद्यतने लङ् (पाणिनि ३।२।१११) लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये (कात्यायन) अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्। यह यवन मिनेंडर (मिलिंद) था। इसी तरह पिछले वैयाकरणों ने उदाहरणों से अपना-अपना समय बता दिया है। अजयद् गुप्तो हुणान् (चंद्रव्या०-वृत्ति) अदहदमोघवर्षोरातीन् (जैनशाकटायन) अदहदरातीन् कुमारपालः (हेमचंद्र के व्याकरण की टीका मलयगिरि कृत)। कई लोग बिना समझे इन्हीं उदाहरणों को दोहरा गए हैं। जैसे, काव्यानुशासनवृत्ति में हेमचंद्र 'अजयद् गुप्तो हूणान्'।

५. प्रथम आह्निक।

६. देवदिण्ण (जैसे रामदहिन, रामदीन),—द्वितीय आह्निक।

७. पाणिनि १।३।१ 'भूवादयो धातवः' पर।

८. वही।

९. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्। ६।३।१०९ का भाष्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा, अब 'शिष्टों की भाषा' रह गई थी जिसके जानने में 'धर्म' होता था।[1] पहले बहता पानी था, अब कुआँ खोदने वाले की तरह पहले अपशब्दों की धूल से ढके जाकर फिर शिष्ट प्रयोग के जल से शुद्धि मिलती थी।[2] पतंजलि ने कात्यायन के आक्षेपों का समाधान किया है। 'मांगलिक आचार्य (पाणिनि) ने शुद्ध स्थान में पूर्वाभिमुख बैठकर हाथ को कुशा से पवित्र करके सूत्र बनाए हैं उनमें एक अक्षर भी अनर्थक नहीं हो सकता'[3], 'सामर्थ्ययोग से देखता हूं कि इस शास्त्र में कुछ भी अनर्थक नहीं है'[4], 'आचार्य की इतनी सी बात सह लो'[5], 'कहते तो तुम ठीक हो, किन्तु अपाणिनीय होता है इसलिए जैसा रक्खा है वैसा (यथान्यास) रहने दो', इत्यादि उसके वाक्यों से पाणिनिपूजा कितनी बद्धमूल हो गई थी यह जान पड़ता है। पाणिनि के सारे सूत्रपाठ को एक जुड़ा हुआ (संहिता) पाठ मानकर, कहीं उनमें चिपका अक्षर (प्रश्लेष) देखकर और कहीं प्रचलित सूत्र के दो भाग करके काम निकालना भी कहा है। कात्यायन और पतंजलि ने इतने भारी वैयाकरण होकर भी नया राज नहीं जमाया, पाणिनि के साम्राज्य के भीतर ही कर दिया और स्वराज्य पाया। यह व्याकरण के 'त्रिमुनि' हुए, इनका एक ही सम्प्रदाय रहा, इस सम्प्रदाय में ऐतिहासिक विवेक की वह बात उदारता से चली जो और किसी हिन्दू शास्त्र में नहीं चली अर्थात् यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। पाणिनि से कात्यायन से पतंजलि अधिक प्रमाण। और सब जगह इससे उलटा है।

अस्तु। इन तीनों ने व्याकरण-खेती को लुन लिया। पीछे व्याकरण का अध्ययन नहीं रहा, पाणिनि का अध्ययन रह गया। इस सूर्यत्रयी के आगे क्या कोई उजियारा करता? टीका व्याख्यान, खंडन मंडन, इसी बात पर होते रहे कि पाणिनि ने यह क्यों कहा, यह पद क्यों रक्खा। आस्तिकों के लिए संहितापाठ में छेड़छाड़ करना असम्भव था। कुछ बौद्ध टीकाकारों ने सूत्रों में कुछ बढ़ाना चाहा तो आस्तिकों से उन्हें डांट मिली कि हमारे पारायण की चीज में क्षेपक मिलाते हो।[6]

इनके पीछे कुछ अहिन्दू (बौद्ध और जैन) सीला बीनने वाले हुए। कोई-कोई सीला जो उन तीनों लुनने वालों से रह गया था, या उनके पीछे प्रयोग में आया, इन्होंने चुना।[7] किन्तु और बातों में बिना समझे लीक पीटते गए, अपना नया संप्रदाय चलाना

१. प्रथम आह्निक।
२. 'कूपखानकवत्'—प्रथम आह्निक।
३. पाणिनि १।१।१ पर।
४. ६।१।३ का भाष्य।
५. प्रथम सूत्र।
६. चांद्र व्याकरण के लगभग ३५ सूत्र काशिकाकारों ने सूत्रपाठ में मिलाना चाहे। कैयट ने जगह-जगह पर लिखा है कि उनका 'अपाणिनीयः सूत्रेषु पाठः' पा० ४।१।१५ में ख्युन् जोड़ना अनार्ष हुआ।
७. जैसे विश्रम के अर्थ में 'विश्राम' (चांद्र, मेघदूत श्लोक २५ की मल्लिनाथ कृत टीका)। जैसे बार्हस्पत्य संवत्सर अर्थात् जिस नक्षत्र में बृहस्पति का उदय सूर्य से

(क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहते रहे। जैसे हिन्दुस्तान में कई राजाओं ने अपना नया संवत् चलाया जो कुछ ही वर्ष पीछे उनके वंश का राज्य नष्ट होने पर आगे न चला वैसे ही इन्होंने नई परिभाषाएं चलाईं। पाणिनि ने बहुत संक्षेप किया था। चाहे उस समय लेखन-सामग्री की कमी से संक्षिप्त लिखने की चाल रही हो, चाहे कंठस्थ करने के सुभीते के लिए, सूत्र ऐसे रचे गए हों, चाहे वैदिक साहित्य और स्वर-विचार की अधिकता से संक्षेप करना पड़ा हो। अब कागज की कमी न थी, रटने की चाल भी कम हो गई थी, न इनकी रचना में ऐसी पवित्रता थी कि वह पारायण में आती, और वैदिक भाग और स्वर को इन्होंने छोड़ ही दिया था। तो भी पाणिनि से बढ़कर संक्षेप करने की धुन इन पर सवार थी, पाणिनि-वालों ने आधी मात्रा के लाघव को पुत्रोत्सव समझा, तो इन्होंने पौत्रोत्सव समझा। पाणिनि से अपना बिलगाव दिखाने के लिये कुछ पुरानी संज्ञाएं काम में लीं, कुछ नई गढ़ीं, उसकी 'संज्ञा' को 'नाम' कहा,[1] 'सु' को सि'[2] कहा—'हल्' को 'हस्' किया। समेटतर कहने का ढंग (प्रत्याहार) तो उसी से लिया किन्तु कुछ अक्षर इधर-उधर किये। कहीं कात्यायन के वार्तिक की नई बात सूत्र में घुसेड़ी, कहीं एक सूत्र को तोड़कर दो और कहीं दो को चिपकाकर एक कर दिया। उदाहरण देना केवल विस्तार करना है। इनका प्रचार जब तक और तैसा ही हुआ जब तक और जैसा स्वामी दयानन्द की 'नमस्ते' की रूढ़ि के जमने के पहले 'सलामवालेकम्', 'वालेकमस्सलाम' की देखादेखी राजा

युति होकर फिर अस्त से निकलने पर वर्ष के आरम्भ में हो उस पर से वर्ष का नाम पौषसंवत्सर, माघसंवत्सर आदि रखने से गणना करना। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि समय में यह बार्हस्पत्य गणना नहीं थी, उन्होंने सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायां (४।२।२१) नक्षत्रेण युक्तः कालः (४।२।३) से पौष, माघ आदि महीनों के नाम ही बनाए। बार्हस्पत्य गणना पुराने कदंबों और गुप्तों के शिलालेखों में मिलती है। (पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी की प्राचीन लिपिमाला, पृ० १८७) चांद्र व्याकरण में इसके लिए सूत्र है—गुरूदयाद्भाद् युक्तेऽब्दे, शाकटायन—उदितगुरोर्भाद्युक्तेऽब्दे। काशिकाकार ने 'पौषः मासः' की तरह ही पौष संवत्सरः (मासार्धमाससंवत्सराणामेषा संज्ञा) बनाना चाहा, किन्तु यों प्रत्येक संवत्सर ही पौष, माघ आदि हो जाता है, विशेष संज्ञा नहीं होती, हर एक में पुष्य, मघा आदि आते हैं, बिना गुरूदय का उल्लेख किए काम नहीं चलता।

१. चांद्र व्याकरण, 'असंज्ञकम्'

२. 'सु' 'सि' में एक रहस्य है। सिद्ध पद के अन्त में स् (:) आता है, या संधि में 'ओ' या 'र'। 'सु' 'सि' में 'उ' 'इ' दोनों वैयाकरणों के संकेत हैं। शौरसेनी में 'पुरुसो' होता है, मागधी में 'पुलिसे'। संस्कृत में तो 'स्' ही काफी था। क्या यह मानें कि शौरसेनी 'प्राकृत' को 'संस्कृत' करने वालों ने 'पुरुसो' देखकर 'सु' माना, और मागधी के आधार पर संस्कृत करने वालों ने 'पुलिसे' पर निगाह जमाकर 'सि' माना ? यह उल्टी गंगा नहीं, संस्कृत के वास्तव रूप की मूलभित्ति की कल्पना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयकृष्णदास आदि के चलाए 'परमात्मा जयति', 'जयति परमात्मा' का रहा था। अपनी साख जमाने के लिये अपने सम्प्रदाय को पुराना बताने के लिये कई यत्न किये। पाणिनि के वैसा न कहने पर भी यह प्रसिद्धि चल गई थी कि उसके प्रत्याहारसूत्र और उसका व्याकरण महेश्वर से आया है। एक कहता है कि जब महावीर जिन कुमार थे, उस समय इन्द्र ने उससे प्रश्न करके जो व्याकरण सीखा वही प्रश्नोत्तर हमारा जैनेन्द्र व्याकरण है।[1] 'मत पानी से सींच', और 'लड्डुओं से सींच' का भेद न जानने वाले राजा के लिए जो व्याकरण बनाया गया वह महेश्वर का नहीं, तो महेश्वर के पुत्र कुमार का कहा गया।[2] एक व्याकरण साक्षात् सरस्वती का सिखाया कहलाया।[3] एक ने पाणिनि के उल्लिखित पूर्वज शाकटायन के नाम पर अपनी कृति बनाई[4] और उसकी विशेष बातों को अपने व्याकरण में मिलाकर शाकटायनी रंग देना चाहा, किन्तु पूरी तरह बात छिपाई न जा सकी।[5] पाणिनि ने तो मतभेद या आदरार्थ पुराने वैयाकरणों के नाम दिए, इन्होंने भी वैसे ही सूत्र ढंग पर कई नाम दिए जिनमें कई कल्पित हैं।[6] ये व्याकरण दो तरह के बने। एक तो हिन्दुओं के वेदांग पाणिनि व्याकरण से ही हमारा काम क्यों चले इसलिए बौद्ध, दिगंबर जैन, और श्वेताम्बर जैन व्याकरण बनाए गए। उनका पठन-पाठन भी हुआ, टीकाएं भी बनीं, किन्तु अपने गुट के बाहर प्रचार न हो सका। यह वैसा ही आन्दोलन था जैसा मुसलमान जज, अब्राह्मण प्रतिनिधि और नैषध की जगह धर्मशर्माभ्युदय पढ़ाने के लिए होता है। दूसरे वे जो पाणिनि की सांकेतिक कठिनता से बचाकर आलसियों, राजाओं, बनियों और साधारण जनों को[7] दस दिन में[8] व्याकरण

---

१. यदिन्द्राय जिन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितम्। ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम्।

२. शर्ववर्मन् का कौमार या कालाप व्याकरण—'मोदकैः सिञ्च मां राजन्'।

३. अनुभूतिस्वरूपाचार्य का सारस्वत।

४. जैन या अभिनवशाकटायन दक्षिण के राठौड़ राजा अमोघवर्ष के यहां था। ईसवी नदी शताब्दी का अन्त उसका काल है।

५. जैसे पाणिनि कहता है कि मेरे मत में, 'अयान्' होता है, शाकटायन के मत में 'अयुः'। (या धातु का अनद्यतनभूत प्रथम पुरुष बहुवचन ३।४।१११, ११२) जैन शाकटायन को केवल, 'आयुः' ही मानना चाहिए था किंतु वह भी 'वा' लिख गया।

६. एक जैन पोथी में ही जैनेन्द्र-व्याकरण के 'रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य' के प्रभाचंद्र को कल्पित बताया है तथा हेमचंद्र के द्व्याश्रय काव्य के टीकाकार ने सिद्धसेन को। (वेलवलकर, पृ० ६६)।

७. छान्दसाः स्वल्पमतयः शास्त्रान्तररताश्च ये।
ईश्वरा व्याधिनिरतास्तथालस्ययुताश्च ये॥
वणिक् सस्यादिसंसक्ता लोकयात्रादिषु स्थिताः।
तेषां क्षिप्रं प्रबोधार्थम् (कातन्त्र की टीका व्याख्यानप्रक्रिया)

८. नरहरि कृत बालावबोध—दशाभिर्दिवसैर्वैयाकरणो भवति। इन टिप्पणियों में कई जगह डाक्टर वेलवलकर के उत्तम निबंध 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' की सहायता ली गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिखाने के लिए बनाये गए । दोनों से अधिक काम न सरा क्योंकि सारे संस्कृत वाङ्मय में पाणिनि की परिभाषाओं के चलने से पहले पक्ष को अधिक पढ़ने पर अपनी सीखी नौगढ़ंत परिभाषाएं भूलनी पड़तीं और दूसरे पक्ष में मुग्धबोध[1] और खोटे (छोटे) तन्त्रों[2] से नाम के अनुसार ही ज्ञान होता । दूसरे ढंग के व्याकरणों का प्रचार बहुत कुछ रहा और है, क्योंकि पहले केवल 'पार्षदकृति' थे और जो कुछ उनमें तत्त्व था वह पाणिनि के टीकाकारों ने या तो उदारता से ले लिया या कुछ खेंच-खाँचकर अपने यहाँ ही बता दिया ।[3]

हेमचन्द्र

इस लेख का उद्देश्य संस्कृत-व्याकरण का इतिहास लिखना नहीं है। ऊपर का कुछ विस्तृत, किन्तु अपनी समझ से रोचक वर्णन, हेमचन्द्र के व्याकरण की पूर्व-पीठिका समझाने के लिए दिया गया है । हेमचन्द्र का व्याकरण 'सिद्धहैमचन्द्रशब्दानुशासन' या 'सिद्धहैम' कहलाता है, सिद्धराज जयसिंह के लिए बनाया इसलिए 'सिद्ध' और हेमचन्द्र का होने से 'हैम' । इसमें भी चार-चार पादों के आठ अध्याय हैं जिनमें लगभग ४५०० सूत्र हैं । ढंग कौमुदियों का-सा है, अर्थात् विषय-विभाग से सूत्रों का क्रम है । साथ में अपनी बनाई टीका 'वृहद्वृत्ति' भी है । हेमचन्द्र का उद्देश्य सरल रीति पर अपने सम्प्रदाय, अपने आश्रयदायक राजा तथा अपने गौरव के लिए ऐसा व्याकरण बनाने का था जिसमें कोई बात न बच जाए। वह जैन शाकटायन के पीछे लीक-लीक चला है। किन्तु और सीला बीनने वालों की तरह वह सीला बीनने वाला न था। उसने संस्कृत-व्याकरण सात अध्यायों में लिखकर आठवां केवल प्राकृत के पूर्ण विवेचन को दिया है । पाणिनि ने अपने पीछे देखकर वैदिक साहित्य को मिलाकर 'अपने समय तक की भाषा' का व्याकरण बनाया। पीछे वेद छूट गया, स्वर छूट गया। हेमचन्द्र ने पीछे न देखा तो आगे देखा उधर का छूटा तो इधर बढ़ा लिया 'अपने समय तक की भाषा' का विवेचन कर डाला । यही हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक-उपयोगी अंश को अपने ढचर में बदलकर ही वह संतुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो आगा देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया। उसके प्राकृत-व्याकरण अर्थात् आठवें अध्याय का क्रम क्या है, यह हम पहले बता चुके हैं।[4] संस्कृत और दूसरी प्राकृतों के व्याकरण में तो उसने अपनी वृत्ति में उदाहरणों की तरह प्रायः वाक्य या पद ही दिये हैं, किन्तु अपभ्रंश के अंश में उसने पूरी गाथाएं, पूरे छन्द और पूरे अवतरण दिए हैं। यह हेमचन्द्र का दूसरा महत्त्व है । यों उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित

१. वोपदेव का ।
२. का—तंत्र ।
३. देखो—ऊपर पृ० ३८०, टि० १, २
४. पत्रिका, भाग २, पृष्ठ १३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्खे जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते। इसका कारण क्या है? जैसे पहले कहा गया है[1] जिन श्वेतांबर जैन साधुओं के लिये, या सर्वसाधारण के लिये, उसने व्याकरण लिखा वे संस्कृत प्राकृत के नियमों को, उनके सूत्रों की संगति की पदों या वाक्यखण्डों में समझ लेते। उसके दिए उदाहरणों से न समझते तो संस्कृत और किताबी प्राकृत का वाङ्मय उनके सामने था, नए उदाहरण ढूंढ़ लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम यों समझ में न आते। मध्यम पुरुष के लिए 'पंइ', शपथ में 'थ' की जगह 'ध' होने से सवध, और मक्कड़धुग्घि का अनुकरण-प्रयोग बिना पूरा उदाहरण दिए समझ में नहीं आता (देखो —आगे ५६, ८८, १४४)। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता, तो पढ़नेवाले जिनकी संस्कृत और प्राकृत आकर-ग्रन्थों तक तो पहुंच थी किन्तु जो 'भाषा' साहित्य से स्वभावतः नाक चढ़ाते थे, उसके नियमों को न समझते।

इन सब उदाहरणों का संग्रह और व्याख्यान इस लेख के उदाहरणांश के 'द्वितीय भाग' में किया जाता है। ये उदाहरण अपभ्रंश कहे जाएं किन्तु उस समय की पुरानी हिन्दी ही हैं, वर्तमान हिन्दी साहित्य से उनका परम्परागत सम्बन्ध वाक्य और अर्थ से स्थान-स्थान पर स्पष्ट होगा, स्मरण रहे कि ये उदाहरण हेमचन्द्र के अपने बनाए हुए नहीं हैं, कुछ वाक्यों को छोड़कर सब उससे प्राचीन साहित्य के हैं। इनसे उस समय के पुराने हिन्दी साहित्य के विस्तार का पता लगता है। यदि संस्कृत-साहित्य बिलकुल न रहता तो पतंजलि के महाभाष्य में जो वेद और श्लोकों के खण्ड उद्धृत हैं उन्हीं से संस्कृत-साहित्य का अनुमान करना पड़ता। वही काम इन दोहों से होता है। हेमचन्द्र ने बड़ी उदारता की कि ये पूरे अवतरण दे दिए। इनमें शृंगार, वीरता, किसी रामायण का अंश [जेवडु अंतरु० (१०१), दहमुहु भुवण० (५)], कृष्णकथा [हरि नच्चाविउ पंगणहि (११२), एक्कमेक्कउँ जइवे जोएदि० (१२६)], किसी और महाभारत का अंश [इत्तिउँ ब्रोप्पिणु सउणि० (७८)], वामनावतार कथा [मइं भणिअउ बलिराय (६६)], हिन्दू धर्म [गंग गमेप्पिणु० (१६६, १६७), व्रास महारिसि० (६१)], जैनधर्म [जेप्पि चएप्पिणु० (१६५), पेक्खेविणु मुहू जिनवरहो० (१७०)] और हास्य [सोएवा पर वारिआ (१५६)]—सभी के नमूने मिलते हैं। मुंज (१६२) और ब्रह्म (१०३) कवियों के नाम पाए जाते हैं। कैसा सुन्दर साहित्य यह संगृहीत है! कविता की दृष्टि से, इतने विशाल संस्कृत और प्राकृत-साहित्य में भी, क्या 'भल्ला हुआ जु मारिआ' (३१); 'सइ ससणेही तो मुइअ' (५२); 'लोणु विलिज्जइ पाणिएण' (११५); अज्जवि नाहु महुज्जि घरि' (१४४); आदि के जोड़ की कविता मिल सकती है?

तीसरा महत्त्व हेमचन्द्र का यह है कि वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजिदीक्षित होने के साथ-साथ उसका भट्टि भी है। उसने अपने संस्कृत-प्राकृत द्वयाश्रय काव्य में अपने व्याकरण के उदाहरण भी दिए हैं तथा सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का इतिहास भी लिखा है। भट्टि और भट्ट भौमक की तरह वह अपने सूत्रों के क्रम से चला है। संस्कृत द्वयाश्रय काव्य के बीस सर्ग हैं। इसमें सिद्धराज जयसिंह

१. पत्रिका, भाग २, पृ० १७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक गुजरात के सोलंकी राजाओं के वंश-वैभव आदि का वर्णन और साथ ही साथ हेमचन्द्र के (संस्कृत) 'शब्दानुशासन' के सात अध्यायों के उदाहरण हैं। आठवें अध्याय (प्राकृत-व्याकरण) के उदाहरणों के लिये प्राकृत द्व्याश्रय काव्य (कुमारपालचरित) की रचना हुई है जिसमें आठ सर्ग हैं। संस्कृत द्व्याश्रय की टीका अभयतिलकगणि ने तथा प्राकृत द्व्याश्रय की टीका पूर्णकलश गणि ने लिखी है, जो संवत् १३०७ फाल्गुन कृष्ण ११ पुष्य, रविवार को पूर्ण हुई। 'कुमारपालचरित' या 'प्राकृत द्व्याश्रय काव्य' के आरम्भ में अणहिलपुरपाटन का वर्णन है। राजा कुमारपाल है। महाराष्ट्र देशीय बन्दी उसकी कीर्ति बखानता है। राजा की दिनचर्या, दरबार, मल्लश्रम, कुंजरयात्रा, जिनमन्दिर-यात्रा, जिनपूजा आदि के वर्णन में दो सर्ग पूरे हुए। तीसरे में उपवन का वर्णन है। वसंत की शोभा है। चौथे में ग्रीष्म और पांचवें में अन्य ऋतुओं के विहार आदि का सालंकार वर्णन है। राजा और प्रजा की समृद्धि तथा विलासों का चित्र कवियों की रीति पर दिया गया है। छठे में चन्द्रोदय का वर्णन है। राजा दरबार में बैठा है। सांधिविग्रहिक ने विज्ञप्ति की जिसमें कुंकुण के राजा मल्लिकार्जुन की सेना से कुमारपाल की सेना के युद्ध और विजय का तथा मल्लिकार्जुन के मारे जाने का वर्णन है। आगे कहा है कि यों कुमारपाल दक्षिण का स्वामी हो गया। पश्चिम का स्वामी सिंधुपति, जवनदेश, उव्व [? उच्च] काशी मगध, गौड़, कान्यकुब्ज, दशार्ण, चेदि, रेवातट, मथुरा, जंगल देश के राजाओं की अधीनता का भी वर्णन है। कुमारपाल सो जाता है। सातवें सर्ग के आरम्भ में राजा उठकर परमार्थ चिन्ता करता है। उसमें काम, स्त्री आदि की निंदा, जैन आचार्यों की स्तुति, नमस्कार आदि के पीछे श्रुतदेवी की स्तुति है। श्रुतदेवी कुमारपाल के सामने प्रकट हुई और राजा के साथ उसका धर्म विषयक संभाषण चला। आठवें सर्ग भर में श्रुतदेवी का उपदेश है।

हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण' (सिद्धहैम शब्दानुशासन के आठवें अध्याय) और 'कुमारपालचरित' का सम्बन्ध नीचे एक तालिका से बताया जाता है—

लक्ष्य	लक्षण	उदाहरण
	अष्टमाध्याय	
प्राकृत भाषा	पाद १ सू० १-२७१	कुमारपालचरित
	पाद २ सू० १-२१८	सर्ग १,२,३,४,५,६
	पाद ३ सू० १-१८२	७, गाथा—१,९३
	पाद ४ सू० १-२५९	
	अष्टमाध्याय	कुमारपालचरित
शौरसेनी	पाद ४ सू० २६०-२८६	सर्ग ७ गाथा ९४-१०२
मागधी	,, २८७-३०२	सर्ग ८ गाथा १-७
पैशाची	,, ३०३-३२४	,, ८-११
चूलिका पैशाची	,, ३२५-३२८	,, १२-१३
अपभ्रंश	,, ३२९-४४८	,, १४-८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे स्पष्ट होगा कि जिस भाषा का व्याकरण कहा है उसी में 'कुमारपाल-चरित' के उस अंश की रचना की गई है। पुरानी हिन्दी के व्याकरण के विशेष नियमों के १२० सूत्र हैं, उदाहरणों में जो प्राचीन कविता से दिए गए हैं १७५ अवतरण हैं, पदों, वाक्यों और दोहराए अवतरणों की गणना नहीं (कई दोहों के खण्ड बार-बार उदाहरणों की तरह कई सूत्रों पर दिये गए हैं) किन्तु, स्वरचित उदाहरणों में वह सब विषय ६९ छन्दों में आ गया है। इसका कारण है कि एक-एक छन्द में कई उदाहरण आ गए हैं।

देशी नाममाला

हेमचन्द्र को ऐसी रचना प्रिय थी। उसने 'देशी नाममाला' नामक एक कोश भी बनाया है जिसमें प्राकृत-रचना में आने वाले देशी शब्दों की गणना है। संस्कृत के और कोशों में विषय-विभाग से (स्वर्ग, देव, मनुष्य आदि) शब्दों का संग्रह होता है, या अन्त के वर्णों (जैसे कांत, खांत आदि) के वर्गों से। किन्तु यह 'देशी नाममाला' वर्तमान कोशों की तरह अकारादि क्रम से बनी है इसका भी कारण वही है जो व्याकरण में अपभ्रंश की कविता पूरी उद्धृत करने का है। संस्कृत-प्राकृत कोशों की तरह देशी कोश को कोई रटता नही। जहां प्राकृत कविता में देशी पद आ गया वहां देखने के लिये इस कोश का उपयोग है। वहां अकारादि क्रम से ही काम चल सकता है।' उस क्रम के भीतर भी एकाक्षर, द्व्यक्षर आदि का क्रम है। जिस अक्षर से आरम्भ होने वाले शब्द जहां गिने हैं वहीं वैसे नानार्थ शब्द भी गिन दिए हैं। वहीं पर जितने शब्दों का उदाहरण एक गाथा में आ सका उतनों का ठूंसा गया है। कण्णोड्ढिआ (=नारंगी, घूंघट, चादर, कान+ओढ़ी), कंठमल्ल (मुर्दे की बैकुंठी), कप्परिअ कडंतरिअ (=फाड़ा गया), कडंभुअ (=गड़ुआ) इन शब्दों को साथ गूंथ कर एक गाथा बनाने में. जिसमें कुछ अर्थ भी हो, काव्य में सुन्दरता आना कठिन है। हेमचन्द्र ने इस पर एक मानिनी खंडिता की उक्ति बनाई है कि हे दाँतों से फाड़े गए अधर वाले, नखों से कटे अंगवाले, मेरी चादर छोड़, उसी गडुए के-से स्तनों वाली के पास जा जो बैकुंठी के भी योग्य नहीं है (देशी नाममाला, २०)। इस उदाहरण बनाने की कठिनता से उसने नानार्थों की उदाहरणगाथाएं नहीं बनाईं। यों ही 'कुमारपालचरित' में कई उदाहरण एक-एक दोहे में लाए गए हैं किन्तु वहां श्रुतदेवी का राजा को धर्मविषयक उपदेश एक ही विषय है इसलिए कवि को बहुत कुछ स्वतन्त्रता मिल गई है। इन ६९ छन्दों में—

---

१. पादलिप्ताचार्य आदि विरचित देशी शास्त्रों के रहते भी इस (देशी नाममाला) के आरम्भ का प्रयोजन···'वर्ण क्रम सुखद' या 'वर्णक्रम सुभग'···वर्णक्रम से निर्दिष्ट शब्द अर्थ विशेष में संशय होने पर सुख से स्मरण और ध्यान किए जा सकते हैं। वर्णक्रम को उलाँघ कर कहने से सुख से अवधारण नहीं किए जा सकते, इसलिए वर्णक्रमनिर्देश अर्थवान् है। (हेमचंद्र, देशी नाममाला, दूसरी गाथा की टीका)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदनक १४-२७, ७७, ८०
दोहा २८-७४, ८१
मात्रा ७५, ७८
वस्तु, बदनक, कर्पूर (==उल्लाला ?) का योग ७६
सुमनोरमा ८२

ये छन्द आए हैं। इनमें से नमूने की तरह कुछ इस लेख के उदाहरण भाग के पूर्वार्द्ध में दिए गए हैं। पुराने अपभ्रंश के उदाहरणों से ये कुछ क्लिष्ट हैं जिसका कारण ऊपर तथा पहले बताया जा चुका है[1] और स्पष्ट है।

यह तो हेमचन्द्र की रचित पुरानी हिन्दी है। 'कुमारपालचरित' कुमारपाल के राज्य में बना। कुमारपाल की राजगद्दी सं० ११९९ और मृत्यु सं० १२३० में हुई। हेमचन्द्र की मृत्यु सं० १२२९ में हुई। शिलारा मल्लिकार्जुन से युद्ध सं० १२१७-१८ में हुआ मानना चाहिए।[2] अतएव 'कुमारपालचरित' (द्वयाश्रय काव्य) और उसके अन्तर्गत इस अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) कविता का रचनाकाल वि० सं १२१८ से वि० सं० १२२९ तक किसी समय है। हेमचन्द्र का व्याकरण सिद्धराज जयसिंह की आज्ञा से उसी के राजत्वकाल में अर्थात् सं० ११९९ से पूर्व बना। व्याकरण की बृहद्वृत्ति और उसका उदाहरण संग्रह सूत्रों के साथ ही बने होंगे। इसलिए द्वितीय भाग में उद्धृत कविता के प्रचलित होने का समय सं० ११९९ से पूर्व है। यह बार-बार कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उसकी उपलब्धि का निम्नतम समय है, ऊर्द्धतम समय मुंज के नामांकित दोहे से लेना चाहिए। अर्थात् यह कविता सं० १०२९ से ११९९ तक लगभग दो शताब्दियों की है।[3]

जब हेमचन्द्र के उदाहरणों की व्याख्या लगभग लिखी जा चुकी थी तब 'दोधकवृत्ति' नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ। इसे सन् १९१६ ई० में अहमदाबाद में श्रावक भगवानदास हर्षचन्द ने छपवाया था। इसमें रचयिता का नाम नहीं दिया किन्तु अन्त में यह लेख मिलता है—

"इति श्री हैमव्याकरण प्राकृतवृत्तिगत दोधकार्थः समाप्तः लिखितो महोपाध्याय···य सं० १६७२ वर्षे शके १५३८ प्र० [वर्तमाने] वैशाख वदि १४ शनौ।"

इसमें इन सब उदाहरणों की संस्कृत-व्याख्या है। अन्त में एक मागधी गद्य-खण्ड और एक महाराष्ट्री प्राकृतगाथा की भी लगे हाथों 'दोधक' मानकर व्याख्या कर दी है। जहां-जहां इस व्याख्या का उपयोग किया जा सका, किया है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के

---

१. पत्रिका : भाग-२, पृ० १३२
२. सिद्धराज जयसिंह पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का नाना था तथा सोमेश्वर की पालना कुमारपाल ने की थी। मल्लिकार्जुन की लड़ाई पृ० ४००, ४०१। अब मिलाओ भाग २, ५८-५९, पृ० ६१ की सारिणी।
३. ना० प्र० पत्रिका : भाग १, पृ० ४००, ४०१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पठन-पाठन का प्रचार जैन साधुओं में रहा इसलिए इन कविताओं का परम्परागत या साम्प्रदायिक अर्थ जानने में 'दोधकवृत्ति' ने कहीं-कहीं बहुत सहायता दी है। जहां मतभेद है वहां दिखा दिया है। 'दोधकवृत्ति' की रचना जैन-संस्कृत में हुई है, उसमें जो भाषानुग संस्कृत पद आए हैं, उनकी तालिका यहां दी जाती है—

चटितः—चढ़ा (हुआ), चटति—चढ़ता है, चटामः—हम चढ़ें, (चडिअउ, चडिओ।)

लगित्वा—लगाकर (लाइ), लगकर (लग्गि)।

बलि क्रिये—बल जाती हूं (बलि किज्जउँ)।

अर्गलं—आगे बढ़कर (एत्तिउ अग्गलउँ)।

स्फेटयति—(फेडइ) घेरै, नष्ट करे।

किं न सृतम्—क्या नहीं सरा? सब कुछ सिद्ध हुआ।

मुत्कलेन—दान, उदारता से (मोक्कलडेन)।

उद्वरित—(छपा है, उद्धरित) उबरा, बचा (उव्वरिअ)।

उद्वर्त्यते—उबरै त्यज्यते (उव्वारिज्जइ)।

चूटकः—चूड़ा (चूडुल्लउ)।

छन्नं—गुप्त [मारवाड़ी—छानै; देखो : पत्रिका : भाग २, पृ० ५४ में (२७)]

विध्यापयति—बुझाता है।

आवर्तते—शोषयति! (आवट्टइ=औटता है, औटाता है)।

जगटकानि—झगड़े।

धाटी—धाड़ा।

द्रहे—दह में (ह्लद का व्यत्यय)।

कलहापितः=कलहितः (ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० ५०७)।

तीमोद्वानं=आर्द्रशुष्कं—गीला सूखा (तितुव्वाण)।

बिछोट्य—विछोड़कर (देखो—पत्रिका : भाग २, पृ० २६)।

स्ताघ—थाह।

मोटयन्ति—मोड़ते हैं (मोडंति)।

उदाहरणांश में अक्षरनिवेश वही रक्खा गया है जो श्रीशंकर पांडुरंग पण्डित ने अपने 'कुमारपालचरित' के संस्करण में कई प्रतियों की सहायता से रक्खा है। पाठांतर बहुत कम दिए गए हैं—उनके कारण मुखानुसारी लेखन, असावधानता, उ ओ, ऊ औ, स्थ, स्छ आदि के लेख की समानता, परसवर्ण की अनित्यता अइ, ए, अउ, ओ का विकल्प अनुनासिक की असावधानता और अन्त के उ की उपेक्षा आदि हैं।[1] ए ओ के अर्द्ध उच्चारण को ध्यान में रखने तथा अ से 'इ उ' को मिला कर ए, ओ पढ़ने से छन्द ठीक पढ़े जा सकते हैं तथा हिन्दी-कविता से बेगाने नहीं जान पड़ते।

---

१. पत्रिका : भाग २, पृ० ३२-३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेमचन्द्र का जीवनचरित तथा काम

हेमचन्द्र के जीवनचरित का कुछ आभास पत्रिका भाग २, पृ० १२५ में दिया जा चुका है। उसका जन्म सं० ११४५ में, दीक्षा सं० ११५४ में सूरिपद सं० ११६६ में, और मृत्यु सं० १२२९ में हुए। उसका जन्मनाम चंगदेव था, दीक्षा पर सोमचन्द्र और सूरि होने पर हेमचन्द्र हुआ। सिद्धराज जयसिंह के यहां उसने बहुत प्रतिष्ठा पाई। सिद्धराज स्वयं शैव था किन्तु सब धर्मों का आदर करता था। सिद्धराज के लिए ही हेमचन्द्र ने अपना व्याकरण बनाया जिसकी चर्चा की जा रही है। हेमचन्द्र के प्रभाव से सिद्धराज का मन जैनधर्म की ओर झुका हो किन्तु उसके पीछे कुमारपाल के राजा होने पर तो हेमचन्द्र ही हेमचन्द्र हो गए। हेमचन्द्र कलिकालसर्वज्ञ हुए और कुमारपाल परमार्हत। कुमारपाल के राज्य के प्रथम पन्द्रह वर्ष युद्ध-विजय आदि में बीते। हेमचन्द्र ने पहले ही कुमारपाल के राजा होने की भविष्यवाणी कर दी थी और सिद्धराज के द्वेष की संकटावस्था में उसकी सहायता भी की थी। अब उसे जिनधर्मोपदेश करके उससे खूब धर्मप्रचार कराया। कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के मन्त्री यशःपाल ने 'मोहपराजय' नामक नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' के ढंग का लिखा है। उसमें वर्णन है कि धर्म और विरति की पुत्री कृपा से कुमारपाल का विवाह सं० १२१६ की मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीया को हेमचन्द्र ने कराया जिससे मोह को हराकर धर्म को अपना राज्य फिर दिलाया गया। रूपक को निकाल दें तो यह तिथि कुमारपाल के जैनधर्म स्वीकार करने की है। हेमचन्द्र के उपदेश से सदाचारप्रचार, दुराचारत्याग, मन्दिररचना, पूजाविस्तार, जीर्णोद्धार, अमारिघोषण, तीर्थयात्रा आदि बहुत धूमधाम से कुमारपाल ने किए और कराए। जैनसाहित्य में इन गुरु-शिष्यों का बहुत प्रशंसापूर्ण उल्लेख है। राजा ने २१ ज्ञानकोश (पुस्तक भण्डार) कराए। छत्तीस हजार श्लोकों का 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र' हेमचन्द्र से बनवाकर सोने-रूपे से लिखाकर सुना। एकादश अंग, द्वादश उपांग सोने में लिखवाकर सुने। योगशास्त्र आदि लिखवाए। गुरु के ग्रन्थों को लिखने वाले ७०० लेखक थे। एक दिन लेखकशाला में जाकर राजा ने लेखकों को 'कागदों' पर लिखते देखा। गुरु ने कहा—श्रीतालपत्रों का टोटा आ गया। राजा को लज्जा आई। उपवास किया। खर ताड़ों (भद्दे ताड़ जिनके पत्ते लिखने के काम के नहीं) की पूजा करके प्रार्थना की, तो वे सवेरे श्रीताड़ हो गए। फिर ग्रन्थ लिखे जाने लगे।[१] हेमचन्द्र ने कई लक्ष श्लोकों के ग्रन्थ बनाए जिनमें प्रधान ये हैं—'अभिधानचिंतामणि' आदि कई कोश, 'काव्यानुशासन', 'छंदोनुशासन', 'देशीनाममाला', 'द्व्याश्रय काव्य'(संस्कृत तथा प्राकृत), 'योगशास्त्र', 'धातुपारायण', 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित', 'परिशिष्टपर्व', 'शब्दानुशासन' (व्याकरण)। उसने अपने रचे ग्रन्थों की प्रायः वृत्तियाँ भी बनाई हैं। ८४ वर्ष की अवस्था में अनशन से हेमचन्द्र ने प्राणत्याग किया। कुमारपाल भी लगभग छः मास पीछे मर गया।

---

१. जिनमंडन का 'कुमारपालप्रबन्ध' : पृ० ९६-९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धहैमव्याकरण की रचना[1]

पहले कभी हेमचन्द्र 'परब्रह्ममयपरमपुरुषप्रणीतमातृकाअष्टादशलिपिविन्यास-प्रकटन प्रवीण' ब्राह्मी आदि मूर्तियों को देखने कश्मीर चले थे, तो भगवती ने उनका मार्गक्लेश बचाने के लिए मार्ग ही में आकर दर्शन तथा विद्यामंत्र दिए थे। सिद्धराज जयसिंह के यहां उनका पांडित्य देखकर कई असहिष्णु (ब्राह्मणों) ने कहा कि हमारे शास्त्र (पाणिनीय व्याकरण) के पढ़ने से इनकी यह विद्वत्ता है। सिद्धराज के पूछने पर हेमचन्द्र ने कहा कि महावीर जिन ने शिशुअवस्था में जो इन्द्र के सामने उपदेश दिया था वह 'जैनेंद्रव्याकरण' ही हम पढ़ते हैं।[2] राजा ने कहा कि पुराने को छोड़कर किसी समीप के कर्ता का नाम लो। कहा कि सिद्धराज सहायक हो तो नया 'पंचांग व्याकरण' बनावें। राजा के स्वीकार करने पर हेमचन्द्र ने कहा कि कश्मीर में प्रवरपुर[3] में 'भारतीकोश' में पुरातन आठ व्याकरणों की प्रति हैं, मंगा दीजिए। प्रधानों ने जाकर भारती की स्तुति की तो भारती ने कहा हेमचन्द्र मेरी ही मूर्ति है, प्रतियां दे दो। प्रतियाँ आईं। बहुत देशों से अट्ठारह व्याकरण लाए गए। गुरु (हेमचन्द्र) ने वर्ष भर में सवा लाख ग्रन्थ का व्याकरण बनाकर राजा के हाथी पर धर, चंवर डुलाते हुए राजसभा में ला पधराया और सुनाया। अमर्षी ब्राह्मणों ने कहा कि बिना शुद्धाशुद्ध परीक्षा के राजा के 'सरस्वती कोश' में रखने योग्य नहीं। कश्मीर में चन्द्रकांत मणि की बनी हुई ब्राह्मी की मूर्ति है, उसके समक्ष जलकुंड में पुस्तक फेंकी जाती है। यदि बिना भीगे निकल आवे, तो शुद्ध जानो, अन्यथा नहीं।[4] राजा ने संशयाकुल होकर वहां भेज दी। पंडितों के सामने दो घड़ी

---

१. जिनमंडन के 'कुमारपालप्रबन्ध' से, पृ० १२ (२), १६ (२) प्रभृति।

२. देखो—ऊपर, पृ० १२५, टि० २। ३. बिल्हण कवि की जन्मभूमि।

४. भास और व्यास के काव्यों की अग्नि-परीक्षा के बारे में देखो—ना० प्रा० पत्रिका, भा० १, पृ० १००। राजशेखर ने 'सूक्तिमुक्तावली' में भास के 'स्वप्नवासवदत्त' के न जलने का उल्लेख किया है (दाहकोऽभून्न पावकः) और 'गौडवहो' के कर्ता वाक्पतिराज ने शायद इसीलिए भास को जलणमित्त (ज्वलन-मित्र) कहा है। राजशेखरसूरि (जैन) के 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' में कश्मीर में सरस्वती के हाथ में श्रीहर्ष के 'नैषधचरित्र' के रक्खे जाने और सरस्वती के उस काव्य में अपने ऊपर किए व्यक्तिगत आक्रमण से चिढ़कर उसे फेंक देने का उल्लेख है। श्रीहर्ष चिढ़कर कहता है कि 'कुपितैः किं छुट्यते कलंकात् ?' मेरे पास 'गन्धोत्तमानिर्णय' नामक एक खंडित पोथी है जिसमें शाक्तपूजा में मद्य के उपयोग के विधान का निर्णय है। उसमें लिखा है कि भागवत की कई टीकाएं पानी में डाल दी थीं किंतु श्रीधरस्वामी की टीका बिना गले निकली। यों ही माघकाव्य भी। गन्धोत्तमा-निर्णयकार तो इसलिए इन कथाओं को लाया है कि श्रीधर स्वामी की टीका में 'लोके-व्यवायामिषमद्य०—' श्लोक की व्याख्या तथा माघकाव्य में बलदेव के वर्णन में 'घूर्णयन् मदिरास्वाद०—' श्लोक उसके पक्ष में काम देता है। किंतु पानी में डाल-कर शास्त्रपरीक्षा के सम्प्रदाय की कथा होने से यहां लिख दी गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक व्याकरण कश्मीर के 'सरस्वती कुंड' में पड़ा रहा। अक्लिन्न निकला। राजा को जब प्रधानों ने यह सुनाया तो ३०० लेखकों से तीन वर्ष तक प्रतियां[1] लिखवाकर अट्ठारह देशों में[2] पठन-पाठन के लिए भेजीं।

हेमचन्द्र और देशी

युव (न्) (=जवान) के तारतम्य वाचक रूप यवीयस् यविष्ठ और अल्प के अल्पीयस् और अल्पिष्ठ होते हैं। इन्हीं अर्थों में कनीयस् और कनिष्ठ भी होते हैं। पाणिनि का इस बात के कहने का ढंग यह है कि युव और अल्प की जगह विकल्प से कन् हो जाता है।[3] इसका ऐतिहासिक अर्थ यह है कि पाणिनि के समय में अकेला कन् छोटे के अर्थ में नहीं आता था, केवल इसके तारतम्यवाचक रूप आते थे। वैयाकरणों की कहने की चाल है कि पाणिनि के सूत्र से अल्पीयस् और यवीयस् की जगह 'कनीयस्', और अल्पिष्ठ और यविष्ठ की जगह 'कनिष्ठ' हो जाता है। यह कुछ नहीं होता। व्याकरण के सूत्र कोई नई चीज नहीं बना सकते। वे जो हैं उसी को नियम से रख देते हैं। 'अमुक सूत्र से ऐसा हुआ' इसकी जगह वैज्ञानिक रीति से यही कहना चाहिए कि 'ऐसा भाषा में होता है, उसका उल्लेख अमुक सूत्र में कर दिया है, कन् का जिसका अर्थ छोटा है, अकेले विशेषण की तरह उस समय संस्कृत में व्यवहृत होना छूट गया हो। 'कन्या' में वह मौजूद है। कन्या का पुत्र 'कानीन' बनाने के लिए पाणिनि ने कन्या की जगह 'कनीन' मानकर प्रत्यय लगाया है[4] वह काम कन् से प्रत्यय लगाकर भी हो सकता था, यदि 'कन्' की सत्ता पाणिनि मानता। नेपाली कान्-छा (छोटा), हिंदी कन्+अँगुरिया, नारंगी की 'कन्नी' फाँक आदि में वह 'कन्' चलता आया है। यों ही जहां पाणिनि ने 'ब्रू' के कुछ रूपों की जगह 'आह' का होना, हन् का 'वध्' हो जाना और 'अस्' का 'भू' हो जाना कहा है उसका यही ऐतिहासिक अर्थ है कि 'आह', 'अस्' और 'वध्' धातुओं के पहले पूरे रूप होते होंगे, उस समय ये धातु अधूरे रह गए थे, पाणिनि ने उन्हें उसी अर्थ के और धातुओं के रूपों में मिला दिया। पाणिनि के वैदिक रूपों के विवेचन से यह पता लग जाता है कि किस समय तक कैसे प्रयोग होते थे, कब से क्या बदल हुई। प्राकृत व्याकरणों ने बद्धमूल संस्कृत को प्रकृति मानकर बद्धमूल प्राकृत का व्याकरण लिखा है। संस्कृत से क्या-क्या

---

१. कई संस्कृताभिमानी मातृका, कोष या प्रतिकृति की जगह प्रतिः लिखने के लिए म० म० सुधाकर द्विवेदी की हँसी किया करते हैं किंतु जैन या देशभाषानुगामी संस्कृत में यह शब्द सं० १४९२ से मिलता है। जिनमंडन ने प्रतयः, प्रतीः; कई बार लिखा है।

२. अट्ठारह देश—कर्नाट, गुर्जर, लाट, सौराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु, उच्च, भंभेरी, मरु, मालव, कौंकण, राष्ट्र, कीर, जालंधर, सपादलक्ष, मेवाड़, दीप, आभीर [जिनमंडन का 'कुमारपालप्रबन्ध', पत्र ८१ (१)]

३. ५।३।६४

४. ४।१।११६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन होते हैं। उन्हीं को गिना है, प्राकृत को भाषा मानकर नहीं चले। चल भी नहीं सकते थे, उनकी लक्ष्य प्राकृत भी किताबी अर्थात् जड़ प्राकृत थी। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के लगभग दो पाद इसी में चले गए हैं कि किस संस्कृत शब्द में किस अक्षर की जगह क्या हो जाता है। यदि पाणिनि की तरह स्थान, प्रयत्न अन्तरतम आदि का विचार प्राकृतवाले करते तो संक्षेप भी होता और वैज्ञानिक नियम भी बन जाते। बिना उसके प्राकृतव्याकरण अनियम परिवर्तनों की परिसंख्या मात्र हो गया है। हेमचन्द्र कहता है कि ङसि (पंचमी एक वचन, अपादान) की जगह प्राकृत में त्तो, दो, दु, हि, हिन्तो आते हैं, या कोरी संज्ञा बिना प्रत्यय के आती है। बहुवचन में इनके सिवाय सुन्तो भी आता है।[1] आगे चलकर उसने मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष के कई रूप गिनाए हैं।[2] यह जानना बहुत रोचक और ज्ञानदायक होता कि क्या ये सभी रूप प्राकृत में एक ही समय चल गए या समय-समय पर आए? इससे प्राकृत की तहें मालूम हो जातीं। सम्बन्ध के अर्थ में केरअ (सं० केरक, हिं० केरा) प्रत्यय आता है, हेमचन्द्र ने उसे अपभ्रंश में आदेश गिना[3] है प्राकृत में नहीं, किन्तु वह 'मृच्छकटिक' और 'शाकुन्तल' की प्राकृत में कई जगह मिलता है।

प्राकृतों में जो संस्कृतसम या तत्सम शब्द हैं वे संस्कृत से जाने जाते हैं। जो संस्कृतभव या तद्भव हैं उन्हें लोग, आगम, वर्णविकार आदि से इन वैयाकरणों ने समझाया है। रहे देशी। ये अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं जिन्हें नई-पुरानी प्राकृतों वाले व्यवहार करते आए हैं। इनका प्रकृति-प्रत्यय विचार कठिन है। सम्भव है कि अधिक खोज होने पर इनमें से कई दूसरी तीसरी पीढ़ी के तद्भव सिद्ध हो जायं। हेमचन्द्र ने देशों का वैज्ञानिक विवेचन नहीं किया; अपनी 'देशीनाममाला' में उसने क्या लिया है, क्या नहीं लिया, इसका उल्लेख वह यों करता है—(१) जो लक्षण ग्रन्थ (सिद्धहैमशब्दानुशासन) प्रकृति-प्रत्यय आदि विभाग से सिद्ध नहीं किए गए वे यहां लिए गए हैं, (२) जो धातु, वैयाकरण तथा कोशकारों ने देशी में गिने हैं किन्तु जिन्हें हमने धातुओं के आदेश माना है वे नहीं लिए गए, (३) जो प्रकृति-प्रत्यय विभाग से संस्कृत ही सिद्ध होते हैं किन्तु संस्कृत कोशों में प्रसिद्ध नहीं हैं वे यहां लिए गए हैं, जैसे—अमृत-निर्गम = चंद्र, छिन्न-उद्भवा = दूब, महानट = शिव इत्यादि, (४) जो संस्कृत के कोशों में नहीं हैं, किन्तु गौण लक्षणा या शक्ति से जिनका अर्थ बैठ जाता है, जैसे बइल्ल (= बैल) = मूर्ख, वे नहीं लिए गए। फिर वह कहता है कि महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि देशों में जो शब्द प्रसिद्ध हैं (जैसे मगा = पीछे, हिंग = जार) उन्हें गिना जाय तो देशों के अनंत होने से पुरुषायुष से भी उनका संग्रह नहीं हो सकता इसलिए "अनादि प्रसिद्धप्राकृतभाषाविशेष" ही देशी कहा गया है। अपनी पुष्टि में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है कि 'दिव्ययुग-सहस्र' में वाचस्पति की बुद्धि भी इससे समर्थ नहीं हो सकती कि देशों में प्रसिद्ध शब्दों

१. ८।३।८,९
२. ८।३।९०-११७
३. ८।४।४२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को पूरी तरह चुन सके।'[1] इससे स्पष्ट है कि मनमानी की गई है,[2] संस्कृत-प्रयोग को प्रमाण न मानकर कोशों को माना है। क्या हुआ जो अमृतनिर्गम और महानट चन्द्रमा और शिव के अर्थ में संस्कृत-कोशों में नहीं दिए ? प्रकृति प्रत्यय विभाग और शक्ति, रूढ़ि आदि से संस्कृत ही हैं। यों (३) और (४) में परस्पर विरोध आता है।

संस्कृत में 'अप्रयुक्त' का विचार करते हुए पतंजलि ने कहा है कि 'उपलब्धि में यत्न करो।' शब्द का प्रयोग-विषय बड़ा है। सात द्वीप की पृथ्वी, तीन लोक, चार वेद, अंग और रहस्य सहित, उनके बहुत से भेद, १०० शाखा अध्वर्युवेद की, सामवेद के १००० मार्ग, २१ तरह का बाह्वृच्य (ऋग्वेद), नौ तरह का अथर्वण वेद, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, वैद्यक, इतना शब्द का प्रयोग-विषय है। इतने शब्द के प्रयोग-विषय को बिना सुने-विचारे शब्द अप्रयुक्त हैं, यह कहना साहस मात्र है (पहला आह्निक)। ऐसे ही (१) (२) में विरोध आता है। धातुओं में हेमचन्द्र ने बड़ा अद्भुत काम किया है। एक धातु प्रधान मान लिया है। उसी अर्थ के और धातुओं को उसका आदेश मानकर झगड़ा तै किया है। जैसे, कहइ (कथयति) धातु माना। अब बज्जरइ, पज्जरइ, उप्पालइ, पिसुणाइ, संघइ, बोल्लइ, चवइ, जंपइ, सीसइ, साहइ को विकल्प से, 'कहइ' का आदेश कह दिया है।"[1] उब्बुक्कइ को इनमें नहीं गिना क्योंकि उसे उत्+बुक से निकला माना है। यों देखा जाय तो बज्जरइ उज्जरति से, पज्जरइ प्रोच्चरति से, पिसुणइ पिशुनयति से, संघइ संख्याति से, जंपइ जल्पति से निकल सकता है। फिर हेमचन्द्र लिखते हैं—"औरों ने इन्हें देशी शब्दों में पढ़ा है किन्तु हमने धात्वादेश कर दिया कि विविध प्रत्ययों में प्रतिष्ठित हो जायँ, ऐसा करने से बज्जरिओ = कथित, बज्जरिऊण = कथयित्वा आदि हजारों रूप सिद्ध हो जाते हैं।" यह तो मनमानी हुई।

---

१. देशी नाममाला, गाथा २-३, मिलाओ : पतंजलि—'बृहस्पति ने इन्द्र को दिव्यवर्ष सहस्र शब्दपारायण कराया किंतु अंत न पाया। बृहस्पति-सा कहने वाला, इन्द्र पढ़नेवाला, दिव्य वर्षसहस्र अध्ययन-काल, तो भी अन्त न पाया। आजकल जो बहुत जीवे वह सौ वर्ष जीवे इत्यादि (प्रथम आह्निक)।

२. वैयाकरणों की मनमानी से पुरानी लिखने की रीति भी नष्ट हो गई। प्राकृत-पोथियों के लिखने वाले 'शोध शोध' कर लिखने लगे इसी से दक्षिण की प्राकृत की पुस्तकों में पुराने पाठ मिलते हैं उत्तर की पुस्तकों में वे 'सुधार' दिए गए हैं (बार्नेट, ज० रा० ए० सो० अक्टोबर, १९२१)। इसी शोधने के प्रताप से 'भृगनेवासु रात्रियु' का 'सुगतैतासु रात्रिषु' हो गया था (प्रतिभा, वर्ष ३) भागवत के दक्षिणी वैष्णव टीकाकारों ने भागवत में जो वैदिक प्रयोग (आर्ष) हैं उन्हें बदलकर वर्तमान संस्कृत कर दिया है, श्रीधरस्वामी ने नहीं, वह कुम्भकोणं संस्करण की टिप्पणियों से स्पष्ट है। उन्होंने भागवत को 'शुद्ध' किया किंतु क्या उसकी प्राचीनता का लोप अपने हाथों नहीं किया ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या तो इन्हें स्वतन्त्र धातु मानते, या इनमें तद्भव और देशी की छाँट करते। वैयाकरणों के स्वभाव से हेमचन्द्र कहते हैं कि हमने इन्हें आदेश इसलिए गिना है कि इनसे प्रत्यय हो सकें, ये विविध प्रत्ययों में प्रतिष्ठित हो जायं। पतंजलि वैयाकरणों को सावधान कर गए हैं कि 'जैसे घड़े से काम होने पर लोग कुम्हार के यहां जाते हैं कि हमें घड़ा दे वैसे शब्द का काम पड़ने पर कोई वैयाकरण के यहां नहीं जाता कि भाई हमें काम है, शब्द गढ़ दे।'[1] किन्तु वैयाकरण समझते हैं कि बिना उनके प्रतिष्ठित किए लोग इन धातुओं से प्रत्यय ही न कर सकेंगे। मुर्गा सवेरा होने पर बोलता है किन्तु फ्रेंच भाषा के एक नाटक में एक मुर्गे को यह अभिमान होना बताया गया है कि मैं न बोलूंगा तो सवेरा ही न होगा। अस्तु। यों चौथे पाद में कई धातुओं के आदेश गिनाए हैं जिनमें कई तो तद्भव धातु हैं और कुछ देशी। जैसे—भ्रम (= घूमना) के अट्ठारह आदेशों में[2] चक्कम्मइ—चङ्क्रम से, भम्मडइ, भमडइ, भमाडइ—भ्रम से ही स्वार्थ में 'ड' लगाकर, तलअण्टइ—तल + अट से, भुमइ, फुमइ—भ्रम से, परीइ, परइ—परि + इ से, तद्भव माने जा सकते हैं। टिरिटिल्लइ, ढुण्ढुल्लइ, ढण्ढलइ, झण्टइ, झम्पइ, गुमइ, फुसइ, ढुमइ, ढुसइ रहे, इन्हें देशी धातु मानो या अनुकरण आदि से बना समझो। देशी के भंडार में से संस्कृतवाले 'संस्कृत' करके और प्राकृतवाले यों ही लेते रहे। पहलों ने यह नहीं कहा कि हमने लिया, वे यही कहते गए कि हमारा ही है। दूसरों ने देशी और तद्भवों की छांट न की, क्योंकि तद्भवों को अपने थोड़े से नियमों से ही बंधा माना, व्यत्यय का विचार न किया।

आगे हम 'पुरानी हिन्दी' कविता को और भी पीछे ढूंढ़ने का यत्न करेंगे।

उदाहरणांश

(प्रथम भाग)

हेमचन्द्र की रचना के नमूने

(१)

गिरिहेंवि आणिउ पाणिउ पिज्जइ,
तरुहेंवि निवडिउ फलु भक्खिज्जइ।
गिरिहुँव तरुहुँव पडिअउ अच्छइ,
विसयहिं तहवि विराउ न गच्छइ ॥१६॥

१. पहला आह्निक।
२. ८।४।१६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[हिन्दी—सम = गिरिहुँ भि आन्यो पानी पीजै,
तरुहुँ भि निपत्यो फल भक्खीजै।
गिरिहुँ भि तरुहुँ भि पडियो आछै,
विषयहँ तदपि विराग न गच्छै ।।]

गिरिहे—अपादान, तरुहे—सम्बन्ध, गिरिहुं, तरुहुं—अपादान पडिअउ—निष्ठा, अच्छइ—आछै, छै, सं० आस्ते।

(२)

जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ,
सत्तु वि मित्तु वि किहेंविहु आवहु।
जन्हिविहु तहिंविहु मग्गे लीणा,
एक्कएँ दिट्ठिहि दोन्निवि जोअहु ।।२६।।

[हिन्दी—सम = जो जहँ होतो सो तहँ होतो,
शत्रु भि मीत भि कोइहि आवो।
जहँ भी तहँ भी मारग-लीना,
एकहिं दीठहिं दोनहिं जोहो ।।]

जहाँ होतउ—जहाँ होता हुआ (वर्तमान धातुज) = जहाँ से, लीण—लगे हुए, लीन।

(३)

अम्हे निन्दहु कोवि जणु, अम्हइँ वण्णउ कोवि।
अम्हे निन्दहुँ कंबि नवि, नम्हइं वण्णहु कंबि ।।३७।।

[हिन्दी—सम = हमें निन्दो कोई जन, हमें वरनो कोइ।
हम निन्दें कोई (को) भी नहीं, न हम वरनै कोइ ।।]

अम्हे-अम्हइ—पहला कर्म, दूसरा कर्ता। क्रिया से कारक का पता चलता है, विभक्ति से नहीं।

(४)

रे मण करसि कि आलडी, बिसया अच्छहु दूरि।
करणइँ अच्छह रुन्धिअइँ, कड्ढउँ सिवफलु भूरि ।।४१।।

रे मन, (तू) करता है, क्यों (किमि), आलडी, हे विषयो! रहो, दूर, हे करणो (इन्द्रियाँ)! रहो रुंधे हुए, (मैं) काढूँ, शिवफल (मोक्ष), बहुत।

आलडी—आल, अनर्थ, ऊलजलूल, मिलाओ—म झंखहि आलु (आगे नं० ६३), अच्छहु अच्छह—दे० ऊपर (१), कड्ढउँ—निकालकर अपने बस करूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५)

संजम-लीणहों मोक्खसुहु निक्छइं होसइ तासु।
पिय बलि कीसु भणन्तिअउ णाइं पहुच्चहिं जासु ॥४३॥

संयम—लीन का (को), मोक्षसुख निश्चय, होगा, उसका (उसको) 'हे पिया, बलि, की जाती हूँ' (ऐसा), कहती हुई, (स्त्रियाँ), नहीं प्रभुत्व (पाती) हैं, जिसका (जिसपर)।

होसइ—होसँ (प्रबन्ध नं० ३), बलि कीसु—मैं बल जाती हूं, बलि की जाऊँ, भणन्तिअउ—भणन्तियाँ, पहुच्चहिं—प्रभवन्ति (स०)।

(६)

कउ वढ भमिअइ भवगहणि मुक्ख कहन्तिहु होइ।
एँहु जाणेवउं जइ मणसि तो जिण आगम जोइ ॥६१॥

क्यों, बढ ! (मूर्ख), भ्रमा जाता है, भवगहन में, मोक्ष, कहाँ ते, होय, यह, जानने को, यदि, मन में (रखता) है, तो जिनागम, देख।

जाणेवउं—जाणेवो, जानवो, मणसि—मन्यसे (सं०)।

(७)

निअम-विहूणा रत्तिहिवि खाहिं जि कसरक्केहिं।
हुहुरु पडन्ति ति पावँद्रहि भमर्डाहं भवलक्खेहिं ॥६८॥

नियम विहीन, रात में भी, खांय जो कसरक्कों से, हुहुरु करके, पड़ते हैं, वे पापदह में, भ्रमते हैं, भव (जन्म)—लक्षों में।

कसरक्केहिं—अनुकरण, कसर-कसर करते हुए गड़प-गड़प करते, हुहुरु—पड़ने या पड़ने के समय चिल्लाने का अनुसरण, ति—ते, द्रह—दह, ह्रद।

(८)

सग्गहों केंहिं करि जीवदय दमु करि मोक्खहों रेंसि।
कहि कसु रेंसि तुहुँ अव कम्मारम्भ करेसि ॥७०॥

स्वर्ग के, लिए, कर, जीवदया, दम, कर, मोक्ष के, लिए, कह, किसके, लिए, तू, और कर्मारम्भ, करता है ?

केंहिं, रेसि, रेंसि, तेंहिं, तणेण, प्रत्यय तादर्थ्य में होते हैं (हेमचन्द्र : ८।४।-४२५)। इसका अर्थ वही है जो 'सेती' का, किसके सेती ?

(९)

कायकुडुल्ली निरु अथिर जीवियडउ चलु एहु।
ए जाणिवि भवदोसडा असुहउ भावु चएहु ॥७२॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कायकुटी, निश्चय, अस्थिर (है), जीवित, चंचल, (है) यह, ये, जानकर, भव (संसार) दोष, अशुभ, भाव, त्यजो।

कुडुल्ली, जीवियडउ, दोसडा में उल्ल, अड, ड स्वार्थिक हैं।

(१०)

ते धन्ना कन्नुल्लडा हिअउल्ला ति कयत्थ।
जो खणिखणिवि नवुल्लडअ घुण्टहिं धरहिँ सुअत्थ॥७३॥

वे, धन्य (हैं), कान, हृदय, वे कृतार्थ (हैं) जो, क्षण-क्षण में, नए, सुअर्थों (या श्रुतार्थों) को घूँटते (घूँटों से पीते) हैं, और धरते हैं।

कन्नुल्लड, हिअउल्ल, नउल्लडअ—स्वार्थ में, कान और हिय के लिए घुटंहि और धरहिं यथासंख्य लगाना।

(११)

पइठी कन्नि जिणगमहोँ वत्तडिआबि हु जासु।
अम्हारउँ तुम्हारउँ वि एहु ममत्तु न तासु॥७४॥

[हिन्दी—सम—पैंठी कान जिनागम (की) बातडी भी जासु।
हमारो तुम्हारो यह ममत्व न तासु।]

वत्तडिया—बात, देखो रत्तडी (आगे नं० २)

इन उदाहरणों में व्याख्यान या व्याकरण का विस्तार नहीं किया गया है। आगे दूसरे भाग में जहाँ इनसे मिलते हुए दोहे या पद आए हैं वहाँ देखना चाहिए। अपने व्याकरण के सूत्रों को पहले प्राचीन उदाहरणों से समझाकर हेमचन्द्र ने ये नये उदाहरणों के संग्रहश्लोक बनाए हैं जिनमें वे ही या उनसे मिलते हुए उदाहरण विषय के अनुसार यथास्थान जमाकर रक्खे हैं।

द्वितीय भाग

(१)

ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी।
णाइ सुवण्ण रेह कस-वट्टइ दिण्णी॥

ढोला तो साँवला है, नायिका चंपक के वर्ण की है, मानो सुवर्ण की रेखा कसौटी पर दी हुई हो।

ढोल्ला—सं० दुर्लभ, नायक, मारवाड़ी गीतों में ढोला बड़ा बड़ा प्रेम का शब्द है, 'गोरी छाई छै रूप ढोला धीराँ-धीराँ आव'। **धण**—गृह की स्वामिनी, बीकानेर की ओर अब भी स्त्री को 'धन' कहते हैं। थाँने आय पुजास्यां गणगोर सुन्दर धण ! जाबा द्यो जी' (मारवाड़ी गीत)। **णाइ**-नाइँ, सं० ज्ञा धातु से, जाना जाता है। **रेह**—रेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कस—वट्ट, सं० कषपट्ट, कसवटी, कसौटी। दिण्णी—दीनी।

इसी भाव का एक दोहा 'कुमारपाल प्रतिबोध' में से दिया जा चुका है (पत्रिका : भाग २, पृ० १४५)। 'दोधकवृत्ति' के कर्त्ता ने वृथा ही व्यंग्य को खोलकर इस चित्र का आनंद बिगाड़ दिया है कि "विपरीततरतौ एव एतत् उपमानं संभाव्यते !"

(२)

ढोल्ला मइं तुहुं वारिया (यो) मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु॥

ढोला ! मैंने, तूँ, बारा (=निवारण किया) है, मत, कर, दीर्घ, मान, नींद से, जाएगी, रात, झटपट, होता है, विहान (=सवेरा) नायिका नायक को मनाती है।

यह दोहा वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' की प्रति में पहुंच गया है जिससे प्राकृत व्याकरणकार वररुचि तथा वार्तिककार कात्यायन को एक समझने से एक विद्वान भ्रम से इस कविता को बहुत पुरानी मान बैठे हैं। पुरानी पोथियों से जिन्हें काम पड़ा है वे जानते हैं कि पढ़ते समय उदाहरण, टिप्पणी आदि पत्रे की आयु पर लिख लिए जाते हैं और उस पोथी से प्रति उतारनेवाला उन्हें मूल में घुसेड़ देता है। विद्वान् ने यह नहीं देखा कि यह दोहा और इसका सूत्र एक ही प्रति में हैं, उसने छपी पुस्तक को आदि से अन्त तक वररुचि को ज्यों-की-त्यों कृति मान लिया। व्याकरण के ग्रंथ विचार, समय, उदाहरण और टिप्पणियों से यों ही बढ़ जाते हैं। इस विषय को अधिक बढ़ाना व्यर्थ है। संस्कृत-व्याकरण के वार्तिककार वररुचि-कात्यायन, पाली-व्याकरण का कच्चाअन, और प्राकृत-प्रकाश का वररुचि तीनों एक कभी नहीं है।

(३)

बिट्टीए मइ भणिय तुहुँ मा कुरु वंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पविट्ठि॥

बिटिया ! मैंने, भणी (=कही गई) तू, मत, कर, बाँकी, दीठ, पुत्रि ! सकर्णी (=कानवाली, नुकीली) भल्ली (छोटा भाला) जिम, मारै, हिये में, पैठी (वह)। वृद्धा कुट्टिनी नायिका को समझाती है। बिट्टीए—संबोधन का ए, पविट्ठि—प्रविष्टा, सं० प्रविष्टी*, हिं०-पैठी।

(४)

एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग।
एत्थु मुणीसम जाणीअइ जो नवि वालइ वग्ग॥

ये ही, वे, घोड़े (हैं), यही, स्थली (है), ये ही, वे, निशित (=पैने), खड्ग (हैं), यहां मनुष्यत्व जाना जाता है, जो, नहीं भी, फिरावे (घोड़ों की) बाग। ये घोड़े हों, यही रणस्थल हो और ये ही धारदार तलवार हों, वहाँ जो घोड़े की बाग मोड़कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग न जाय, सामने डटै, तो यहाँ मनुष्यत्व (मरदानगी) जाना जाय। **मुणीसम**—संस्कृत में कुछ ही स्थलों में 'इम' लगकर पुल्लिग भाववाचक बनता है, प्राकृत में सब जगह **नवि**-न+अपि। **बालइ**—वल् (घूमना) का प्रेरणार्थक। राजपूताने में यह दोहा प्रचलित है, ठाकुर भूरसिंह जी शेखावत के विविध संग्रह में उद्धृत है। देखो, ना० प्र० पत्रिका भाग २, पृष्ठ १९, टि० ५।

(५)

दहमुहु भुवण-भयंकरु तोसिअ-संकरु णिग्गउ रह-वरि चडिअउ।
चउमुहु छंमुहु झाइवि एक्कहिं लाइवि णावइ दइवें घडिअउ॥

यह किसी पुरानी 'रामायण' से है। दशमुख (=रावण), भुवन-भयंकर, तोषितशंकर, निर्गत (=निकला), रथवर पर, चढ़ा हुआ, चौमुख (=ब्रह्मा) को, छैमुख (=कार्तिकेय) को, ध्यान करके, एक में, लाकर, मानो, दैव ने, घड़ा (था वह)। ब्रह्मा के चार और स्वामिकार्तिक के छै, यों दस मुँह मानो दैव ने, एक में मिलाकर उसे बनाया था। **णिग्गउ, चडियउ घडियउ**-निगयो, चढियो, घडियो। **झाइवि, लाइवि**-ध्या (न) कर, लाकर। **णावइ**, मानो, (सं० ज्ञायते) मिलाओ नाइं, नाऊं, मारवाड़ी न्यूं, उपमा में; नावइ, नावें उत्प्रेक्षा में और वैदिक न उपमावाचक।

(६)

अगलिअ नेह-निवट्टाहं जोअण लक्खुवि जाउ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहँ सो ठाउ॥

न गले हुए नेह से निबटे हुओं का (=को), योजन लाख भी जाकर, सौ वर्ष से, भी, जो, मिलता है, हे सही (सखी), सौख्य का, वह, ठाँव (है)। सच्चा प्रेम-देश और काल के बंधन नहीं मानता। जो अगलित स्नेह में पगे हैं उन्हें लाख योजन चलकर सौ वर्ष में भी जो (नायक या नायिका) मिले तो सौख्य का वही स्थान है। **जाउ**—पूर्वकालिक।

(७)

अंगहिं अंग न मिलिअउ हलि अहरें अहरु न पत्तु।
पिअ जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु॥

अंग से, अंग, न मिला, हाल, अधर ने, अधर, न प्राप्त (किया), पिया का, जोहती (हुई) का, मुख कमल, यों ही, सुरत, समाप्त (हुआ)। यहाँ पर "**पिय जोअन्तिहे मुहकमलु**" का अर्थ 'पिय का मुखकमल जोहती हुई का' किया गया है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि पिय को देखती हुई का मुख-कमल यों ही सुरा (मद) से समत्त (मस्त) हो गया। पहले में '**पिअ**' का दूर के '**मुहकमलु**' से संबंध कारक मानकर '**मुहकमलु**' को '**जोअन्तिहे**' का कर्म माना है, दूसरे में 'पिअ' को '**जोहन्तिहे**' का कर्म और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मुहकमलु' को कर्त्ता । 'दोधकवृत्ति' के कर्त्ता ने पहला अर्थ माना है किंतु इस विशुद्ध Platonic प्रेम के चित्र को कहकर वीभत्स कर दिया है कि 'अतिरसातिरेकात् संभोगात् पूर्वमेव द्राव इति भावः !' इसके बिना कौन सा अर्थ नहीं खिलता था ? **एम्वइ**—पंजाबी एंवें, योंही ।

(८)

जे महु दिण्णा दिअहडा दइएं पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेण ॥

जो, मुझे, दीन्हें, दिवस, दयित ने, प्रवसते (प्रवास पर जाते हुए) ने, तिन्हें, गिनती (हुई) की, अंगुलियाँ जर्जरित (हो गईं), नख से । पति ने प्रवास पर जाते समय बता दिया था कि इतने दिनों में लौटूंगा । वह समय बीत जाने पर, यह देखने के लिए कि मेरे गिनने में कोई भूल तो नहीं हो गई, गिनते-गिनते उंगलियाँ घिस चलीं । 'गिणतां गिणतां घस गईं आँगलियाँ री रेख' (मारवाड़ी दोहा) । **महु**-मोहि, **दिअहडा**-धियाड़ा, देखो-पहले पत्रिका : भाग २, पृ० ३५ । **दइएं**-दयितें (पंजाबी) कर्ता का एं,—राजें गद्दण व्याही, हिंदी मइं, मैं ।

(९)

सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं ।
सामि सुभिच्चुवि परिहरइ सम्प्राणेइ खलाइं ॥

सागर, ऊपर, तृण, धरै (है), तल में, घालता (=रखता या भेजता) है, रतनों को, (यों ही) स्वामी, सु-भृत्य को भी, परिहरै (=छोड़ता है) सम्मानित करता है, खलों को ।

(१०)

गुणहिं न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअवि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति ॥

गुणों से, न, संपत्ति, कीर्ति, भले ही (हो जाय), फल, लिखे हुए, भोगते हैं (लोग), केसरी, न, पाता है, कौड़ी भी, गज, लाखों से, लिये जाते हैं । सब अपना-अपना लिखा हुआ कर्मफल भोगते हैं । गुणों से सम्पत्ति नहीं मिलती, कीर्ति भले ही मिल जाय । सिंह को कोई कौड़ी को भी नहीं पूछता, हाथी लाखों रुपये देकर खरीदे जाते हैं । **घेप्पन्ति**-ग्रहण किए जाते हैं, मराठी घ्या (सं० ग्रह), **संपइ**—क्रियापद हो तो **संपै**—संपन्न होवे, कीर्ति उसका कर्म ।

(११)

वच्छहे गृण्हइ फलइं जणु कडुंपल्लव वज्जेइ ।
तोवि महद्दुमु सुअणु जिवँ ते उच्छंगि धरेइं ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृक्ष से, ग्रहण करता है, फलों को, जन, कटु पल्लवों को, वरजता (छोड़ता) है, तो भी, महाद्रुम, सुजन, जिम, तिन्हें, उत्संग (गोद) में, धरता है। लोग कड़े पत्तों को छोड़ दें तो छोड़ दें, वृक्ष थोड़े ही उन्हें छोड़ देगा ?

(१२)

दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ।
जिह गिरि-सिंगहुँ पडिअ सिल अन्नुवि चूरु करेइ ।।

दूर (की) उड़ान से (ऊँचे पद से), पड़ा हुआ, खल, अपने, जन (को), मारता है, ज्यों, गिरि शृंग से, पड़ी हुई, शिला, अन्य को, भी, चूर, करती है। **मारेइ**—मारे, करेइ करे। दुष्ट का बढ़ना अपने कुल के ही अहित के लिए होता है।

(१३)

जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्स।
तसु दउं कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउं सुअणस्सु ।।

जो, गुण, गुपाता (छिपाता) है, अपने प्रकट, करता है। परके; तिसकी, मैं, कलियुग में, दुर्लभ की, बलि, किया जाऊँ सुजन की। **गोवइ**—गोपै, छिपाता है, गुप्त करता है, मिलाओ गुइयाँ = अंतरंग (गुप्त) सखी। हउं = हों, मैं। **बलि किज्जउं**—बलिहारी जाऊँ, बल जाऊं, बलैया लूं, देखो, पृष्ठ १७२ में (५)। दोधक-वृत्तिवाला कहता है कि बलि पूजां क्रियेइति भावः !

(१४)

तणहं तइज्जी भंगि नवि तें अवडयडि वसन्ति।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति ।।

तृणों की, तीजी, चाल, नहीं (है), तिससे, अवटतट में, बसते हैं, या, जन, (उनसे) लगकर (उनका सहारा पाकर), उतरता है, या, साथ, स्वयं डूबते हैं। अवट या विषम कूप या खड्डे के तट पर उगनेवाले तृणों के दो ही काम हैं,—या तो उनकी कृपा से डूबता आदमी बच जाय, या वे उसके साथ डूब जायँ; उनकी कोई तीसरी भंगि नहीं। अन्योक्ति में, या तो दूसरे को तार दे वा स्वयं मारा जाय।

तइज्जी—तीजी, तीसरी। **नवि**—न भी, नहीं। अह···अह, सं० (अथ) या ···या। **सइं**—स्वयं, **सें** = सब।

(१५)

दइवु घडावई वणि तरुहुँ, सउणिहं पक्क फलाइं।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहिं खलवयणाइं ।।

दैव घटित करता (पहुँचाता, जुटाता) है, वन में, वृक्षों के; पक्षियों के (को),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्व फलों को, सो, बरन, सुख (है), प्रविष्ट, नहीं (सुखदायक हैं), कानों में खल-वचन। वन में पक्षियों को दैव के जुटाए पक्के वृक्षों के फल भले किन्तु कानों में घुसे खलवचन भले नहीं। भर्तृहरि के एक प्रसिद्ध श्लोक का भाव है। घडावइ—सं० घटयति। सउणि—सं० शकुनि। वरि—वरु, वरन। सुक्खु—सौख्य। पइट्ठ=पैठा। णवि—न+अपि।

(१६)

धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि।
हउं कि न जुत्तउं दुहूँ दिसिहिं खण्डइं दोण्णि करेवि॥

धवल, विसूरता है, स्वामि का, गुरु, भार, देखकर, मैं, क्यों, न, जोता (गया), दोनों, दिशाओं में, खंड, दो, करके। धवल का अर्थ श्वेत है किन्तु रूढ़ि इसकी 'धोरी' या धुर खेंचनेवाले प्रबल गाड़ी के बैल में है। हेमचन्द्र के 'देशीनाममाला' में धवल का अर्थ किया है कि जो जिस जाति में उत्तम है वही धवल है। धवल की दृढ़ता और स्वामिभक्ति पर कई मुक्तककाव्य संस्कृत तथा प्राकृत सुभाषितों में मिलते हैं। यहां पर बोझ बहुत है, एक ओर धवल जुता है, दूसरी ओर मरियल, अड़ियल बैल है। धवल स्वामी की भारी खेप देखकर विलाप कर रहा है कि दोनों ओर दो टुकड़े करके मुझे ही क्यों न जोत दिया? पिक्खेवि, करेवि—पूर्वकालिक। जुत्त—युक्त (सं०), जोता। दोण्णि—दो, मराठी—दोन।

(१७)

गिरिहे सिलायलु तरुहे फल घेप्पइ नीसावँन्नु।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तोवि न रुच्चइ रन्नु॥

गिरि मे, शिलातल, तरु से, फल, ग्रहण किया जाता है, निःसामान्य (बिना भेद-भाव), घर, छोड़कर, (मनुष्य से); मनुष्यों को, तो भी, न रुचता है, अरण्य। मेल्लेप्पिुण—छोड़कर, रन्न—अरण्य।

(१८)

तरुहुँ वि वक्कलु फल मुणि वि परिहणु असणु लहन्ति।
सामिहुँ एत्तिउ अग्गलउँ आयरु भिच्चु गृहन्ति॥

तरुओं से, भी, वक्कल, फल मुनि भी; परिधान (वस्त्र), अशन (भोजन), पाते हैं, स्वामिओं से, इतना अगला (=अधिक) (है कि) आदर भृत्य लेते हैं (=पाते हैं)। खाना पहनना तो जंगल में पेड़ों से भी मिल जाता है, स्वामी से आदर ही अधिक मिलता है। लहन्ति—सं० लभ्। एत्तिउ—एतो। अग्गलउँ—अग्गलो, आगलो सं० अग्रल, राजस्थानी में पाँच ऊपर सत्तर को 'पांच आगला सित्तर' कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१९)

अह विरल-पहाउ जि कलिहि धम्मु।

अब, विरल प्रभाव (है), ही, कलि (युग) में धर्म। **अह**—अथ, **जि**—जी पादपूरक।

(२०)

अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु बाएँ सी अलु तेवँ।
जो पुणु अग्गि सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ॥

आगी से, उन्हा (गरम), होता है, जग, वायु से, शीतल, त्यों ही, जो पुनि आगी से शीतल (होता है), तिसके, उष्णता, किससे (हो)? **उण्हउ**—सं० उष्ण। **वाएं**—वायु से, पंजाबी बाओ, **पुणु**—पुनि। **उण्हत्तणु**—तणु भाववाचक का है।

(२१)

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तोवि तं आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो त अग्गि कज्जु॥

विप्रियकारक, यद्यपि, प्रिय (है), तो भी, उसे, ला, आज, आग से, दहा गया, यद्यपि, घर तो, उस (से), अग्नि से, काज (ही होता है)। विप्रियकारक—बुरा करनेवाला। **पिउ**—पीव, पिय। **दड्ढा**—जलाया, दाढा (रामायण) सं० दग्ध।

(२२)

जिवँ जिवँ बंकिम लोअणहँ णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय सरु खर-पत्थरि तिक्खेइ॥

ज्यों, ज्यों, बाँके, लोयनों से, निरु (? कटाक्ष), साँवली, सीखती है, त्यों, त्यों, मन्मथ (कामदेव), निज (क), शरों को, खरे पत्थर पर, तीखा करता है। मैंने बंकिम को 'लोअण' का विशेषण माना है जिससे 'निरु' का अर्थ स्पष्ट नहीं जान पड़ता, 'दोधकवृत्ति' ने निरु का अर्थ 'निश्चय' करके 'लोचनों से निश्चय बाँकापन सीखती है' अर्थ किया है। **वम्मह**=मन्मथ। **निअय**—निजक। **खर**—तीखा। **तिक्खेइ**—तीखा से नामधातु।

(२३)

संगरसएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु।
अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गयकुम्भइं दारन्तु॥

सौ-सौ लड़ाइयों में, जो वरना (वर्णन किया) जाता है, देख, हमारा (वह) कंत, अतिमत्त, अंकुश छोड़नेवाले, गजों के कुंभों को (वि+) दारता हुआ। **संगरसय**—संगरशत। **चत्तंकुस**—त्यक्तांकुश।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२४)

तरुणहो तहणिहो मुणिउ मइं करहु म अप्पहो घाउ।

तरुणो !, तरुणियो !, जानकर, मुझे (=मेरी बात समझकर या मुझे यहाँ उपस्थित जानकर)करो, मत, अपना, घात। **मुणिउ मइं**--मैंने समझा, या मैंने समझाया, भी हो सकता है।

(२५)

भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेंहि तिहिंवि पवट्टइ।

भागीरथी, जिमि, भारती, मार्गों से, तीन से ही, प्रवर्तती (चलती) है। जैसे— गंगा त्रिपथगा स्वर्ग, मर्त्य, पाताल तीनों में चलती है वैसी भारती (सरस्वती) के मार्ग भी तीन हैं—वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली—तीन रीतियाँ।

(२६)

सुंदर सव्वंग्गांउ विलासिणीओ, पेच्छन्ताण।

सुंदर सर्वांग (वाली) विलासिनिओं को देखते हुए (पुरुषों) का—

(२७)

निअ मुह-करहिंवि मुद्ध कर अन्धारइ पेडिपेक्खइ।
ससि मण्डल-चन्दिमए पुणु काइँ न दूरे देक्खइ॥

निज मुख करों (किरणों) से, भी, मुग्धा, कर, अँधियारे में, देखती है, शशि-मंडल की चाँदनी से, फिर, क्यों, न, दूर पर, देखती है ? मुख को चन्द्रमा की उपमा दी जाती है उसी के उजास से उसे हाथ अँधियारे में दिखाई देता है तो चाँदनी में क्यों न दीखे ? **मुद्ध**—मुद्धि, मुग्धा, **पडिपेक्खइ**—प्रतिपेक्षते (सं०, **चन्दिमा**—चाँदनी। **पुणु**—पुनि।

(२८)

जहिं मरगय कंतिल संवलिअं।

जैसे, मरकत-कांति से संवलित (मिला हुआ)—

(२९)

तुच्छ-मुझ्झहे तुच्छजम्पिरहे।
तुच्छच्छ रोमावलिहे, तुच्छराय तुच्छयर-हासहे,
पियवयणु अलहन्तिहे,
तुच्च-काय-वम्मह-निवासहे,
अन्नु जु तुच्छउँ तहे धणहे तं अक्खणह न जाइ।
कटरि थणंतरु मुद्धडहे जें मणु विच्चि ण माइ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूती नायक से कह रही है—हे तुच्छ-राग ! शिथिल-प्रेमवाले ! जिसका मध्य भाग तुच्छ है, जो तुच्छ (मित) जल्पन (भाषण) करती है, जिसकी रोमावलि तुच्छ और अच्छी है, जिसका हास तुच्छतर है, जिसके तुच्छ काय में मन्मथ का निवास है, जो प्रिय के वचन नहीं लभती (पाती) है, ऐसी उस धन (नायिका) का जो (कुछ) अन्य तुच्छ है वह आखा (कहा) नहीं जाता (अर्थात् इतना तुच्छ है कि मानो है ही नहीं), वह यह कि उस मुग्धा का स्तनांतर इतना तुच्छ है कि बीच में मन भी नहीं मानता। आश्चर्य है।

दोधकवृत्तिकार ने इसे युग्म लिखा है पर यह एक ही 'रड्डा' छंद है, ऐसे छंद सोमप्रभसूरि की रचना में मिलते हैं (देखो-ना०प्र० पत्रिका, भाग २, पृ० १५१ और २२५-६)। इसमें नायिका के विशेषण प्रायः बहुव्रीहि समास हैं और हे (=उच्चारण में हँ) संबंध कारक के चिह्न हैं, तहे धणहे=तहँ धणहँ=उस (का) धन का। जम्पिर —बोलनेवाला, राय—राग, प्रेम। तुच्छयर=तुच्छतर। अलहन्ती—अलभन्ती (सं०)। वम्मह—देखो ऊपर (२२), मन्मथ, कामदेव। अन्नु—आन। जु—जो। **अक्खण**—आखना, कहना। **कटरि**—आश्चर्यवाचक। **मुद्धडा**—मुग्धा, 'ड' अल्पवाचक। **जें**—जिससे। **विच्चि**—बीच, पंजाबी—विच्च। **माइ**—समाइ।

(३०)

फोडेन्ति जे हियडउं अप्पणउं ताहँ पराई कवण घण।
रक्खेजहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसम थण॥

फोड़ते हैं, जो हियड़ा (को), अपना (को), उन्हें, पराई, कौन घृणा (दया) (हो सकता है) ? रक्षा करो, हे लोगो ! अपने को, (क्योंकि) बाला के, जाए (उपजे) हैं, विषम (ऊँचे) स्तन। यहां 'बालहे' का अर्थ 'बाला के' किया है किंतु हेमचन्द्र इसे पंचमी या अपादान (ङसि) कहते हैं याने बाला से उपजे हैं। **घण**—घृणा, दया। **थण**—अब भी पशुओं के लिए व्यवहृत है।

(३१)

भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु॥

भला, हुआ, जो, मारा, (गया), बहन ! मेरा, कंत, लजाती (मैं), तो, (एक) —बयस-वालियों (सखियों) से, यदि, भागा, घर, आता (वह)। प्रसिद्ध दोहा है। **भग्गा**—भग्न, हारा हुआ, भागा। **वयंसिअहु**—वयस्याओं से या का (सं०) **वयस्**=वैस=उम्र। **लज्जेजं**—लजीजती, लजाती।

(३२)

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वायस (कौआ), उड़ाती (हुई) ने, पिय, दीठा (देखा), सहसा इति, आधे, वलय (कड़े, चूड़ियाँ) मही पर, गए, आधे फूटे, तड् इति (इस आवाज से)। प्रसिद्ध दोहा है। इसकी व्याख्या और रूपांतर पृ० १५ में दिए गए हैं। **उड्डावन्ती**—उड़ा (व) ती। **दिट्ठउ**—दीठो। **अद्ध**—आधा, सं० अर्ध।

(३३)

कमलइं मेल्लवि अलि-उलइं करि-गण्डाइं महन्ति।
असुलहमेच्छण जाहं भलि ते णवि दूर गणन्ति॥

कमलों को, छोड़कर, अलिकुल, करियों के गंड (स्थलों) को, चाहते हैं, असुलभ (की) चाह, जिनके, भली (होती है) वे, न भी, दूर, गिनते हैं। **मेल्लवि**—छोड़कर, **महन्ति**—चाहते हैं, **मेच्छण**—चाहने को, **भलि**—बड़ी, पादपूरक भी हो सकता है।

(३४)

भग्गउँ देक्खिवि निअय-बलु बलु पसरिअउँ परस्सु।
उम्मिल्लइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्सु॥

भागा, देखकर, निज, बल (=सेना), को, बल, पसरा (=फैला) हुआ, पर (=पराए) का, उमिलती (—खिलती) है, शशिरेखा, जिमि, हाथ में, तलवार, पिया के। **भग्ग**—भागा और भाँगा, **निअय**—निजक, **पसरियउं**—पसरियो, **उम्मिल्लइ**—उन्मीलति (सं०)।

(३५)

जइ तहो तुट्टउ नेहडा मइं सहुं नवि तिल-तार।
तं किहे वङ्केंहिं लोअणेंहिं जोइज्जउं सय-वार॥

यदि तेरा, टूटा (है), नेह, मुझसे, साथ (=मेरे से), न ही, तिल (सी आँख की) तारा-वाले !, तो क्यों (मैं) बाँके, लोचनों से, जोही जाती हूं, सौ बार ? 'न वि' केवल पादपूरक है। स्नेह टूटा है तो ताक-झांक क्यों करते हो ? **तहो**—तुह, तुअ। **तुट्टउ**—मारवाड़ी 'तूटना' में सं० त्रुट् की श्रुति है। **तिलतार**—तिल जैसी काली या स्निग्ध तारा (आँख की पुतली) है जिसके। **जोइज्जउं**—जोही जाती हूँ।

(३६)

जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिं तेहइ भड-घड-निवहि कन्तु पयासइ मग्गु॥

जहाँ, कटता है, शर, से, शर छिदता है, खड्ग से, खड्ग, तहाँ, तैसे, भट-घटा-निवह (वीर-सेना-समूह) में, कंत, प्रकाशता है, मार्ग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहिं-तहिं, ठीक अर्थ जिसमें, तिसमें। **कप्पिज्जइ**—कपीजता है, कटता है, मारवाड़ी में कापना = काटना, **कापी**—कटा टुकड़ा (शाक आदि का) **छिज्जइ**—छीजता है (सं०) छिद्यते। **भड**—देखो : 'प्रबन्ध चिंतामणि' के अवतरणों में नं० १४ (पृ० ४७) **पयासति**—प्रकाशित करता है, उजासता है निकालता है।

(३७)

एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दवउ।
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थले सरउ॥
अङ्गिहिं गिम्ह सुहच्छी-तिल-वणि-मग्गसिरु।
तहे मुद्धहे मुह-पङ्कइ आवासिउ सिसिरु॥

एक में, आँख में, सावन, आन (=दूसरी) में, भादों, माधव (=वसंत), मही-तल की साथरी में, गंडस्थल (कपोल) में, शरद, अंगों में ग्रीष्म, सुख-बैठक (रूप) तिलवन में, मँगसिर, उस (के), मुग्धा के, मुख-पंकज में, आवासित (है), शिशिर। वियोगिनी की अवस्था है, सावन-भादों आँखों में आँसू झरने से, साथरी में नए-नए पत्ते बिछाने से वसंत, कपोल में पांडुता (पीलापन) होने से शरद, अंग सूखने से ग्रीष्म, मँगसिर में तिलों के खेत कट जाते हैं इसलिए वे उजड़े से दीखते हैं, वैसे ही सुख की बैठक नहीं रही; शिशिर में कमल मुरझा जाते हैं। **सत्थर**—साथरा (तुलसीदास), **सुहच्छी**—सुखासिका (सं०) सुखस्थिति। यह भी 'युग्म' नहीं है, एक छंद है।

(३८)

हियड़ा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं।
देक्खउं हय-विहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्खु सयाइं॥

हे हिय!, (तू) फूट, तडत्-इति, करके, कालक्षेप से, क्या, देखूं, हत-विधि, कहां, स्थापन करे, मुझ बिन, दुःख-शतों को? मेरा हिया ही सैंकड़ों दुःखों का आधार है, वह फट जाय तो देखें मुआ विधि मुझे छोड़कर उन्हें कहां धरता है? **तडत्ति**—देखो ऊपर (३२), **कालक्खेव**—समय बिताना, **ठवइ**—(सं०) स्थापयति, **पइं**—मैं।

(३९)

कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइं रूसइ जासु।
अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं वि ठाउवि फेडइ तासु॥

कंत, मेरा, हला! सखी! निश्चय से, रूसता है, जिसके (=जिस पर), अर्थों से, शस्त्रों से, हाथों से भी, ठांव भी, फेटता है, उसका।

महारउ—महारो, म्हारो, **हलि**—संबोधन, **रूसइ**—रोष करता है, **अत्थ**—धन, दोषक वृत्ति का कर्ता जैन पंडित कहता है, अर्थ = शब्दार्थों से भी। **फेडइ**—फेटता है, फेंट में लेता है, घेरता है, ढहा देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४०)

जीविउ कासु न वल्लहउं धणु पुणु कासु न इट्ठु।
दोण्णिवि अवसर-निवडिआइं तिण सम गणइ विसिट्ठु॥

जीवित, किसका (=किसको) न, वल्लभ (=प्यारा) है, धन, पुनि, किसका (=किसे), न, इष्ट (है), दोनों ही, अवसर निबटने पर, तृणसम, गिनै, विशिष्ट (जन)।

निवडिआइं—निबटने पर, आ पड़ने पर, इसे भावलक्षण सप्तमी मानकर यह अर्थ किया है, अवसर-निवडिआइं को एक पद और 'दोण्णि' का विशेषण मानो तो अवसर पर निबटे (काम में आए हुए, खर्च हुए) इन दोनों ही को विशिष्ट मनुष्य तृणसम गिनता है—यह अर्थ होगा।

(४१)

प्रंगणि चिट्ठदि नाहु ध्रु, त्रं रणि करदि न भ्रन्त्रि।

आँगन में, बैठता है, नाथ, जो, सो, रन में, करता है, न भ्रांति, या वह रन (में वीरता) करता है इसमें भ्रांति नहीं।

यह मत समझो कि यह आँगन में बैठा लड़ता नहीं है। एक मारवाड़ी दोहे के अनुसार—

भोलो भोलो दीसतो सदा गरीबी सूत।
काकी! कुंजर काटताँ जाणवियो जेठूत॥

(भोला-भोला दिखाई देता था सदा गरीबी से सीधा-सादा, किंतु चची! लड़ाई में हाथियों को काटते समय मेरा जेठ का बेटा जान पड़ा कि उसमें ये जौहर हैं)।

जो सो के लिए ध्रु त्रं आते हैं (हेमचन्द्र ८।४।३६०) त्रं में तो त (त्) है ही, र लगा है जैसे भ्रंत्रि में (दूसरा रूप भंति मिलेगा, दे० ४५)। र लगने के लिए आगे देखो व्यास का व्रास (९१)।

(४२)

तं बोल्लिअइ जु निब्बहइ।

सो बोलिए जो निबहै। (सो बोला जाए, जो निबाहा जाय)।

(४३)

एह कुमारी एहो नरु एहु मणोरह-ठाणु।
एहउं वढ चिन्तन्ताहं प्रच्छह होइ विहाणु॥

यह, कुमारी, यह नर, यह, मनोरथ-स्थान (है), यों, मूर्खों (का), जीतते हुओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(का), पीछे, होता है, विहान। विचार ही विचार में रात बीत जाती है। वढ़—मूर्ख संबंध या संबोधन, चिंतंत—सोचते हुए।

(४४)

जइ पुच्छह घर बड्डाइं तो बड्डा घर ओइ।
बिहलिय-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ॥

यदि, पूछते हो, घर, बड़े, तो बड़े, घर वे (हैं)—विकल जनों (के) अभ्युद्धरण (करने वाले), कंत को, कुटीर में, देख। बड़े घर महल नहीं होते, विह्वलित जनों के उद्धारक मेरे कंत को कुटी में बैठा देखो—वही बड़ा घर है जहां परोपकार होता है। पुच्छह—कर्ता तुम, विहलिय—सं० विहलित, जोइ—जोह।

(४५)

आयइं लोअहो लोअणइं जाईसरइं न भन्ति।
अप्पिए दिट्ठइ मउलइं पिए दिट्ठइ विहसन्ति॥

ये, लोक के, लोचन, जातिस्मर (हैं), (इसमें) न, भ्रांति (है), अप्रिय (मनुष्य) के, देखे, (पर) मुकुलित होते हैं, प्रिय के, देखे (पर) हँसते हैं। जाईसर—जातिस्मर, जिसे पूर्वजन्म के प्रियाप्रिय की याद हों, यदि जाई सरइं दो पद हों तो, जाति को—पूर्वजन्म को—स्मरण करते हैं। अप्पिए दिट्ठइ-पिये दिट्ठइ—भावलक्षण सप्तमी, अप्रिय या प्रिय (में) दीठे (देखे हुए) में।

(४६)

सोसउ म सोसउ च्चिअ उअही वडवानलस्स किं तेण।
जं जलाइ जले जलणो आएण वि किं न पज्जंत्तं॥

सूखो, न, सूखो, भी, उदधि, बड़वानल का, क्या, उससे, जो, जलता है, जल में ज्वलन (आग), इससे, ही, क्या, नहीं, पर्याप्त (हुआ)? कठिन या असंभव कार्य सिद्ध न हो तो उद्योग में ही सफलता है सोसइ—सूसो; च्चिअ—निश्चय, आएण—इससे।

(४७)

आयहो दड्ढ कलेवरहो जं वाहिउ तं सारु।
जइ उट्टब्भइ तो कुहइ अह डज्जइ तो छारु॥

इस (का), दग्ध कलेवर का, जो, वाहित (हुआ=बीत गया, चल गया), वह सार (=अच्छा) है, जो तोपा (जाता है) (=ढका जाता; गाड़ा जाता है), तो कुथता (सड़ता) है, और दग्ध होता (जलाया जाता) है, तो छार (होता है) दड्ढ—दाढ़ा, दग्ध, सारु—गुजराती सारुं, अच्छा, उट्टब्भइ—सं० उत्तभ्यते, कुहहि—सं० कुथ्यते, क्वथति, डज्झई—दाझै, सं० दह्यति, छारु—क्षार, राख, भस्म।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४८)

साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डत्तणहो तणेण ।
बड्डप्पणु परि पाविअइ हत्थि मोक्कलडेण ।।

सब, भी, लोक, तड़फड़ाता है, बड़प्पन के, लिए, बड़प्पन, पर, पाया जाता है; हाथ से, देने से । साहु—सउ, सै, तडप्फडइ—उत्सुक होता है, वड्डत्तण—बड़ापन, तणेण—वास्ते से, मोक्कलड, मोक्कलण—देना (गुजराती) ।

(४६)

जइ सु न आवइ दुइ घरु काइं अहोमुहु तुज्झु ।
वयणु जु खण्डइ तउ सहिए सो पिउ होइ न मज्झु ।।

यदि, सो, न, आता, है, दूति ! घर, क्यों, अधो-मुख, तेरा (हुआ) ? वचन (और वदन), जो खंडित करता है, तेरा, सखि !, सो, पिय, होता है, न मेरा । 'कुमारपालचरित' के 'परिशिष्ट' में 'सहि एसो' छपा है । दूती को उपालंभ है। 'अधोमुख' खंडित वदन को छिपाने के लिए है, वचन का खंडन कहना न मानने से है, वयणु—वचन और वदन का श्लेष ।

(५०)

काइं न दूरे देक्खइ ।

क्यों, न, दूर, देखता है ?

(५१)

सुपुरिस कङ्गुहे अणुहरहिं भण कज्जें कवणेण ।
जिवँ जिवँ बड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहिं सिरेण ।।

सुपुरुष, कंगु की, अनुहार करते हैं, कह, काज, कौन से ? ज्यों-ज्यों बड़प्पन, पाते हैं, त्यों-त्यों, नँवते हैं, सिर से । कङ्गु—एक धान, अनुहरहिं—नकल करते हैं, सदृश होते हैं, भणना—कहना, कज्जें कवणेन—किस कार्य से ? किस बात से ? कवण—कौन । जिवँ-जिवँ, तिवँ-तिवँ—जिमि-जिमि (भाजत शक्रसुत)···तिमि-तिमि (धावत रामसर)···(रामचरितमानस) ।

(५२)

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह ।
बिहिंवि पयारेंहि गइअ धण किँ गज्जहि खल मेह ।।

यदि, सस्नेही, (है) तो, मुई, और (जो) जीती है, (तो) निर्नेह (है), दोनों ही, प्रकारों से, गई, नायिका, क्यों गाजता है ? खल मेघ ! यदि स्नेहवती हुई तो वियोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मेघ-गर्जन सुनकर मर गई, यदि जीती है तो उसे नेह नहीं, प्रिया तो दोनों ही तरह से गई। **बिंहि**—दोनों, बे = द्वे (सं०), **मुइअ गइअ**—मुई, गई।

(५३)

भमरु म रुणुझुणि रज्णणडइ सा दिसि जोइ म रोइ।
सा मालइ देसन्तरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ॥

भ्रमर !, मत, रुनझुन (शब्द) कर अरण्य में, वह, दिशा, जोहकर, मत, रो, वह, मालती, देशांतरित (है), जिसके, तू, मरता है, वियोग में। **रुणझुण**—अनुकरण शब्द का नामधातु। **रराणडइ**—देखो ऊपर (१७) **'रन्नु'**।

(५४)

पइं मुक्काहंवि वर-तरु फिट्टइ पत्तत्तणं न पत्ताणं।
तुझ पुणु छाया जइ होज्ज कहविता तेहिं पत्तेहिं॥

तुम से, मुक्तों (छोड़े हुओं) का, भी, हे वरतरु ! फिटता है, (बिगड़ता है) पत्तापन, न, पत्तों का, तेरी, पुनि, छाया, यदि, होवे, किसी तरह भी, (तो) वह, उन्हीं पत्तों से (होगी) अन्योक्ति। **मुक्क**—मूका (गुजराती), **फिट्टइ**—हटता है, बिगड़ जाता है, मिलाओ दूध फिटना, फिटकार, मर फिटमुँहे ! **होज्ज**—होवे तो, होती तो। 'दोधकवृत्ति' में 'विवरतरु' एक पद मानकर 'वि (पक्षी) + वर (अच्छे) का तरु' भी अर्थ किया है।

(५५)

महु हियउं तइं ताए तुहुं सवि अन्नें विनडिज्जइ।
पिअ काइं करउं हउं काइं तुहुं मच्छें मच्छु गिलिज्जइ॥

नायिका अन्यासक्त नायक को कहती है मेरा, हृदय, तैंने (लिया); उस (प्रतिनायिका) ने, तू (लिया), वह भी, अन्य से, नटाई (नचाई) जाती है, पिया ! क्या, करूँ, मैं, क्या, (करे) तू, मच्छ से, मच्छ निगला जाता है। भर्तृहरि के 'धिक्तां' वाले श्लोक का भाव है। मच्छ-मच्छ को निगलता है यह 'मात्स्य न्याय' या 'मच्छ गलागल' प्रसिद्ध कहावत है। **तइं**—तें, **विनडिज्जइ**—विनडीजै, **गिलिज्जइ**—गिलीजै।

(५६)

पइं मइं बेहिवि रणगर्याहं को जयसिरि तक्केई।
केसहिं लेप्पिणु जम-घरिणि भण सुहु को थक्केइ॥

तुझमें, मुझमें, दोनों ही में, रणगतों में, कौन, जयश्री को, तकता है ? केशों से लेकर, जम की घरवाली को, कह, सुख कौन, रहै ? (जब हम तुम लड़ने चलते हैं तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौन जयश्री को चाह सकता है ? कौन यमपत्नी के बाल खेंचकर सुख से रह सकता है ? कोई भी नहीं ।) पइं मइं—अधिकरण, बे—दो, तक्केइ—तकता है, लेप्पिणु—पूर्वकालिक, थक्केइ—थाके ।

(५७)

पइं मेल्लन्तिहे महु मरणु मइं मेल्लन्तहो तुज्झु ।
सारस जसु जो वेग्गला सोचि कृदन्तहो सज्झु ।।

तुझे, छोड़ती का, मेरा, मरण (है), मुझे, छोड़ते हुए का, तेरा (मरण है), सारस ! जिसका (=जिससे), जो दूर है, वह ही कृतांत का साध्य (=मारने योग्य) है । नायक को 'सारस' कहकर अन्योक्ति है । पइं, मइं—कर्म कारक, मेल्लंती, मेल्लन्त वर्तमान, धातुज, हो—संबंध का 'हो' छंद के अनुरोध से लघु पढ़ा जायगा, बेग्गला—दूरस्थ ।

(५८)

तुम्हेहिं अम्मेहिं जे किअउं दिट्ठउं बहुअजणेण ।
तं तेवड्डउं समर भर निज्जिउ एक्क-खणेण ।।

तुमसे, हमसे, जो, किया (गया), (वह) दीठा, बहुत, जन (मनुष्यों) से, वह तितना, समर (का) भर, निर्जित (किया गया), एक क्षण से (=में) । तेवडा= तितना, जेवडा=जितना, तेवडो, जेवडो । (देखो, आगे १०१) ।

(५९)

तव गुण-संपइ तुज्झ मदि तुध्र अगुत्तर खन्ति ।
जइ उप्पत्ति अन्न जण महि-मंडलि सिक्खंति ।।

तेरी गुण-संपत्ति, तेरी मति, तेरी, अनुत्तर (=जिसके कोई बड़ी न हो) क्षांति, यदि, पास आकर, अन्य, जन, महीमंडल में, सीखें (तो ठीक है) । तउ, तुज्झ, तुध्र—तेरा । उप्पत्ति=उप्पंतिअ,=उपेत्य (सं) ।

(६०)

अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइजण जोण्ह करन्ति ।।

'हम, थोड़े, रिपु, बहुत कायर, यों, कहते हैं, मुग्धे ! देख गगनतल (में); कै, जने, जुन्हाई, करते हैं (एक चन्द्रमा ही) । पाठांतर के लिए देखो, सोमप्रभ, नं० २८ (पत्रिका) भाग २, पृ० १४८) । थोवा—थोड़ा सं० स्तोक, एम्व—एवं (सं०) पंजाबी ऐवें, जोण्ह—सं० ज्योत्स्ना, हिं० जुन्हाई, जोन्ह=चाँद ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६१)

अम्बणु लाइवि जे गया पहिअ पराया केवि।
अवस न सुअंहि सुहच्छिअंहि जिवँ अम्हइ तिवँ तेवि ॥

अपनपा, लगाकर, जो, गए हैं, पथिक, पराए, कोई भी, अवश्य, नहीं, सोते हैं, सुखासिका से, जैसे, हम, वैसे, वे भी। अम्बण—अपनापन, ममता, स्नेह; सुहच्छिअंहि—सुखासिका (सं०) सुख की बैठक, सुख की नींद, (ऊपर, ३७) अम्हइ—हम, म्हे (राजस्थानी)।

(६२)

मइं जाणिउ पियविरहिअहं कवि धर होइ विआलि।
णवर मिअङ्कुवि तिह तवइ जिह दिणयरु खयगालि ॥

मैं (ने), जाना, प्रियविरहितों को, कोई भी, सहारा, होता है, रात्रि को, नहीं पर, मयंक भी, जैसे, तपता है, जैसे दिनकर (=सूर्य) क्षय (प्रलय) काल में। देखो, सोमप्रभ सं० १८ (पत्रिका भाग २, पृ० १४४)।

(६३)

महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तओ करवालु ॥

मेरे, कंत के, दो, दोष (हैं) हे आलि, मत, झंख, अलपल (=बक मत) देते के, मैं, पर, उबरी हूं, जूझते को, तलवार (उबरी है=) अल्लपल तो बके मत, सखी! मेरे पति के दो दोष हैं, देते देते तो मैं बची और लड़ते-लड़ते तलवार। हो, ओ-लघु पढ़ो, दोसडा, दोष (कुत्सा में ड), हेल्लि—हे आलि, झंख हिं० झंखना, झीखना, आलु—अंडबंड, देन्त, जुज्झन्त—वर्तमान धातुज, हउं—हौं, उव्वरिय—सं० उर्वरित, हिं० उबरी।

(६४)

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहंतणा तो तें मारिअडेण ॥

यदि, भागे, पराए, तो, सखि, मेरे पिया से, और (जो) भागे, हमारे, तो उससे, मारे हुए से। यदि पराए पक्ष की सेना भागी हो तो मेरे पिया ने उसे भगाया होगा, यदि अपने भाग रहे हैं तो उसके मारे जाने पर ही ऐसा परिणाम हो सकता है। भग्गा—भग्नाः (सं०) भांगे अर्थात् टूटे, हारे इसी से भागे, पारक्कडा, अम्हहं तणा—पराए और हमारे, मारिअड—मारितक (सं०) प्रसिद्ध दोहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६५)

मुइ कवरिबन्ध तहे सोह धरहिं
न मल्ल जुज्झ ससिराहु करहिं।
तहे सहहिं कुरल भमर-उल-तुलिअ
नं तिमिर डिम्भ खेलन्ति मिलिअ ।।

मुख और चोटी का बँधना, उसके, शोभा, धरते हैं, मानो, मल्लयुद्ध, शशी और राहु, करते हैं, उसके, सोहते हैं, केश, भ्रमर-कुल (से) तुलित (तुल्य), मानो तिमिर (अंधेरे) के बच्चे, खेलते हैं, मिले हुए (=मिलजुल कर)। नं=जैसे, नाईं।

(६६)

बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिंहुवि न पूरिअ आस ।।

पपीहा, पिउ, पिउ कहकर, कितनी बार, रोता है, हे हताश, तेरी, जल में (=जल से) मेरी पुनि, वल्लभ में (=से) दोनों में ही, न, पूरी, आस।

(६७)

बप्पीहा कइं बोल्लिएण निग्घिण वारइवार ।
सायरि भरिअइ विमल जलि लहहि न एक्कइ धार ।।

पपीहा क्या, बोलने से, हे निर्घृण ! बार-बार सागर में, भरे में, विमल जल से, पाता है, न, एक भी, धार।

(६८)

आयहिं जम्महिं अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु ।
गय मत्तहं चत्तंकुसहं जो अब्भिडहि हसन्तु ।।

इसमें, जन्म में, अन्य में, भी, हे गौरि, सो, दीजै, कन्त (मुझे) गजों, मत्तों, त्यक्ताऽङ्कुशों को (से), जो आ+भिडै, हँसता हुआ। आय—यह, चत्त—त्यक्त, अब्भिडहि—सामने आवे, आ भिड़े।

(६९)

बलि अब्भत्थणि महुमहणु लहुईहूआ सोइ ।
जइ इच्छहु बड्डणत्तउं देहु म मग्गहु कोइ ।

बलि (के या से,) अभ्यर्थन (माँगने) में, मधुमथन (मधु दैत्य को मारनेवाले विष्णु), लघु हुए, वह भी, यदि चाहते हो, बड़ापन (तो) दो, मत मांगो, कोई। लहुईहूआ—लघुकीभूत, बड्डत्तण—बड़ापन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७०)

विहि विनडउ पीडन्तु गह मं धणि करहि विसाउ ।
संपइ कड्ढउं वेस जिवँ छुडु अग्घइ ववसाउ ॥

विधि, नट जाओ, पीडा दें, ग्रह, मत, हे धन (= प्रिये), करो, विषाद, संपत्ति को, काढता हूँ, वेश (की), तरह यदि, चलता है, व्यवसाय। विनडउ—नटै, नाचे, या नाहीं करे, धन= प्रिया, देखो ऊपर (१), मिलाओ मिरजापुरी कजलियों की 'धनिया', वेस—'दोधकवृत्ति' के अनुसार वेश्या, छुडु—यदि, अग्घइ—अर्घति मोल पाता है।

(७१)

खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहि जाहुं ।
रणदुब्भिक्खे भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुं ॥

खड्ग से, भी, साधित, जहाँ, पावें, प्रिय ! उस, देश को, जावें, रणदुर्भिक्ष में, भांगे (हम), बिना, युद्ध (के) नहीं, प्रसन्न होते। जहाँ खड्ग चलाकर जीविका-निर्वाह कर सकें वहाँ तो रण-दुर्भिक्ष से (दिल) टूट गए, बिना युद्ध के आनंद नहीं आता। भग्गाइं—भग्न, वलाहुं—न रतिं प्राप्नुमः (दोधकवृत्ति) यह अर्थ उसी के अनुसार है किन्तु कुछ खटकता है। रण-दुर्भिक्ष में भागे हैं, बिना युद्ध के न लौटेंगे। (जैसे दुर्भिक्ष के कारण देश से भागे बिना सुभिक्ष नहीं लौटते)—यह अर्थ अच्छा है।

(७२)

कुञ्जर सुमरि म सल्लइउ सर सास म मेल्लि ।
कवल जि पाविय विहिवसिण ते चरि माणु म मेल्लि ॥

हे कुंजर, स्मरण कर, मत, सल्लकियों (एक प्रकार की बेलों) को, सरल (लम्बे) साँस, मत, छोड़, कौर, जो, पाए विधिवश से, उन्हें चर, मान, मत, रख। "दोधकवृत्ति' के अनुसार मेल्लि—का दोनों जगह 'छोड़ना' अर्थ करने से निरर्थक वाक्य हो जाता है कि सल्लकी को याद मत कर, उसांस मत ले, जो मिलता है उसे चर और मान मत छोड़। सास म मेल्लि अर्थात् साँस मत ले, दूसरा मेल्लि—रख।

(७३)

भमरा एत्थु वि लिम्बडइ केबि दियहडा विलम्बु ।
भणं-पत्तलु छाया बहुलु फुल्लहिं जाम कयम्बु ॥

हे भौंरा ! यहाँ, भी, नींबडी में, कुछ, दिन, विलंब कर, घने पत्तोंवाला, बहुत छाया वाला, फूलै, जब तक, कदंब। एत्थं—पंजाबी इत्थु, इत्थें, सं० अत्र, दियहड़ा—दिवस, पत्तलु—पत्तेवाला, जाम—यावत्—देखो ८१, ९८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७४)

प्रिय एम्वहिं करे सेल्लु करि छड्डहि तुहुं करवालु ।
जं कावालिय बपुडा लेहिं अभग्गु कवालु ॥

हे प्रिय ! अब, कर में, सेल, करो, छोड़ो, तुम, तरवार, ज्यों, कापालिक, बापुरे, लेवें, अभग्न (=अखंडित), कपाल । तुम्हारे खड्ग से शत्रुओं के सिर फट जाते हैं, कापालिकों को सावत खप्पर नहीं मिलते इसलिए तुम सेल से मारो जिससे खोपड़ी सावत तो मिलें ।

(७५)

दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मणोरह पच्छि ।
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥

दिवस, जाते हैं, झटपट से, पड़ते हैं, मनोरथ, पीछे, (=निष्फल जाते हैं), जो है, वह भोगा जाय, 'होगा' (यों) करता (हुआ), मत, (बैठा), रह। दिन जाते हैं, जो है उसे भोगो, भविष्य के भरोसे मत रहो । अच्छइ—बँगला आछे, राजस्थानी छै। **माणिअइ**—देखो : 'प्रबंध' १४, पत्रिका भाग २ पृ० ४६, **होसइ**—देखो : 'प्रबंध' (३, पत्रिका, भाग २, पृ० ३५), कुमार (२३, पत्रिका भाग २, पृ० १४६) ।

(७६)

सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु ।
तसु दइवेण वि मुण्डियउं जसु खल्लिहडउं सीसु ॥

होते हुए, भोगों को, जो, छोड़ता है, उस (की), कांत की, बलि की जाय (उसकी बलिहारी जाइए) उसका, दैव ने, ही, मूंड दिया है, (सिर), जिसका, गंजा (है), सीस । गंजा कहे कि मैंने सिर मुंडाया तो क्या ? 'बिना मिलती के ब्रह्मचारी' सभी बन बैठते हैं। जो होते हुआते भोग-विलासों को छोड़े उसकी बलैयां लीजै । **सन्ता**—वर्तमान धातुज, **कीसु**—मैं करूं (हेम०), तू कर, **खल्लिहडउं**—खलति, खल्वाट (संस्कृत) ।

(७७)

अइतुंगत्तणु जं थणहं सो च्छेयहु न हु लाहु ।
सहि जइ केवँइ तुडिवसेण अहुरि पहुच्चइ नाहु ॥

अति तुंगत्व (ऊँचापन), जो स्तनों का (है), सो, छेवा (=टोटा, घाटा) (है), न, तो, लाभ, सखि !यदि, किसी त्रुटि वश से, अधर पर, पहुँचता है, नाथ। ऊँचे स्तन चुंबन में आड़े आते हैं । **छेय**—छेकना, **छेवा**=कमी, **केवइ**—किसी से, कुछ से, **त्रुटि**—विलंब, **पहुच्चइ** सं० प्रभवति (?) समर्थ होता है (दोधकवृत्ति), हिंदी 'पहुँचना' इस व्याख्या में अधिक उपयुक्त है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७८)

इत्तउं ब्रोप्पिणु सउणि ट्ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि।
तो हउं जाणउं एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥

इतना, बोलकर, शकुनि, ठहरा, पुनि, दुःशासन, बोला—तो, हौं, जानूं, यह हरि(है), यदि, मेरे, आगे, बोले। किसी पुराने 'महाभारत' से। इत्तउं—एतो, ब्रोप्पिणु—पूर्वकालिक, ब्रोप्पि—पूर्वकालिक, दोनों जगह (!) 'ट्ठिउ' जोड़ो अर्थात् 'बोलकर ठहरा' (दोधकवृत्ति) ट्ठिउ—स्थित, ठयो।

(७९)

जिव तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम कावि लहन्तु ॥

जिम तिमि (ज्यों-त्यों) तीखे (शस्त्र), लेकर, किरणों को, यदि, शशी, छीला जाता, तो, यदि, गौरी के, मुखकमल से, सदृशता कोई भी (कुछ कुछ), पाता (तो पाता)। तिक्खा—केवल विशेषण, विशेष्य गुप्त; कर, ससि, विभक्ति की बेकदरी से धोखा होता है कि छोलिज्जन्तु का कर्म ससि है या कर; छोल्लिज्जन्तु—कर्मवाच्य की क्रियातिपत्ति, छोला जाय, कर्मवाच्य का 'ज', मिलाओ 'छीलना' का गँवारी रूप 'छोलना' इसी से छोला=हरा चना, जइ=जगति (!! जगत् में—'दोधकवृत्ति'), सरिसिम—सदृशता, सं० का इमनिच्, मिलाओ कुमार (२१, पत्रिका भाग २, पृ० १४५), लहन्तु क्रियातिपत्ति।

(८०)

चूडुल्लउ चुण्णीहोइसइ मुद्धि कबोलि निहित्तउ।
सासानल जाल झलक्किअउ वाह-सलिल-संसित्तउ ॥

अर्थ के लिए देखो : कुमार (२३, पत्रिका भाग २, पृ० १४६)। आग पर तपाने और ऊपर से पानी की छींट पड़ने से दाँत की चूड़ी दरक जायगी।

(८१)

अब्भड बंचिउ बे पयइं पेम्मु निअत्तइ जावँ।
सव्वासण रिउ संभवहो कर परिअत्ता तावँ ॥

(१) अभ्रवाली (रात्रि) में, चलकर, दो, पैंड, प्रेम, निबहाती (पूरा करती) है, ज्यों, (अभिसारिका), सर्वाशन (सर्वभक्ष=अग्नि) के रिपु (सागर) के संभव (पुत्र) अर्थात् चन्द्रमा के, किरण, पसर गए, त्योंही। काली बादलों से घिरी रात में प्रेयसी चली थी कि चन्द्र ने सहायता की (समाधि) या (२) उलटे चलकर, दो पैंड, प्रेमिका को, लौटाता है (प्रवासी) ज्यों चन्द्रमा के कर, फैल गए, त्यों ही। प्रिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुंचाने आई थी, प्रवासी ने उसे लौटाना चाहा। इतने में चंदा उग आया। फिर कहां का जाना-आना? अब्भड—अभ्रट, मेघवाला, या अभ्यट्य लौटकर, वंच=व्रज्र, चलना, बे—दो, पयइँ—पद, निअत्तइ—निर्वर्तयति या निवर्तयति, जावँ तावँ—यावत् तावत, परिअत्ता—फैले। दोधकवृत्तिकार ने इसके अर्थ में बहुत गोते खाए हैं—अब्भड—पीछे चलकर, बंचिउ—ठगकर या ठगा गया, 'प्रिया लौटाती है प्रिय को' इत्यादि।

(८२)

हिअइ खुड्डुक्कइ गोरडी गयणि घुड्डुक्कइ मेहु।
वासा रत्ति पवासुअहं विसमा संकडु एहु॥

हिए में खटकती है, गोरी, गगन में धड़कता है, मेह, वर्षा (की) रात (में) प्रवासिओं को, विषम, संकट (हैं) यह। विसमा से जान पड़ता है कि संकड एकवचन नहीं है। पवासु—'इन्' के अर्थ में 'उ' (उण्)।

(८३)

अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जे सम्मुह थन्ति।
महु कन्तहो समरंगणइ गयघड भज्जिउ जन्ति॥

अम्मा! (मेरे) पयोधर, वज्र के-से, (हैं) नित्य, जो, संमुख, ठहरते हैं, मेरे, कंत के, (जिससे समरांगण में, गज घटा, भाग कर, जाती हैं। वज्जम—वज्रमय, भज्जिउ—भागने का ग्रामीण 'भाजना' देखो ऊपर (६४)।

(८४)

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

देखो पत्रिका भाग २, पृ० १६। पुत्ते जाएँ—भावलक्षण, पुत्र जाए, जन्मे से, मुएण—मुए से, जा—जिसकी, बप्पी की—बपोती की, भुंहडी—भूमि, देखो प्रबंध (१) टिप्पणी, चम्पिज्जइ—चंपीजै, कुचली जाय, दबाई जाय, मिलाओ पगचंपी=पैर दबाना।

(८५)

तं तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवड्डु वित्थारु।
तिसहे निवारणु पलुवि नवि पर धुट्ठुअइ असारु॥

वह, जितना, जल, सागर का, सो, तितना, विस्तार, तृषा का, निवारण, पल भी, नहीं पर, दहाड़ता है, असार। तेतिउ—तेतो, तेवड—तेवडो (गुजराती), तिस—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्थानी तिस, तृषा धुट्ठअइ—अनुकरण, गर्जता है। मिलाओ, राजशेखरसूरि के 'चतुर्विंशतिप्रबंध' से—

वरि वियरो जहिं जलु पियइ घुट्टुग्घुट्टु चुलुएण।
साथरि अत्थि बहुय जल छि खारउं किं तेण॥

वरि—वर, अच्छा, वियरो—राजस्थानी बेरा, कुआ, चुलुएण—चिल्लू से, अत्थि—है।

(८६)

जं दिट्ठउँ सोमग्गहणु असइहिं हसिउ निसंकु।
पिअ-माणुस-विच्छोह-गरु गिलि-गिलि राहु मयंकु॥

जो, दीठो, सोम (चंद्र) ग्रहण, (तो) असतियों से, हँसियो (हँसा गया), निःशंक, पिय-मानुसों (के) बिछोह कर (ने वाले) को निगल, निगल, राहु! मयंक को। विछोहगरु—बिछोहकर, नेपाली में 'करना' धातु का 'गरना' हो गया है 'क' रहा ही नहीं, 'ग' है; 'प्रगट' को शुद्ध करके 'प्रकट' लिखने वाले ध्यान दें।

(८७)

अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिं चिन्तिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु?॥

अम्मा! स्वस्थ अवस्था (वालों) से, सुख से, चींता जाता है, मान। पिया दीठे पर, हलबली से, कौन चेतता है, अपान को? स्वस्थ बैठे हों तब मान गुमान की सूझती है, पिया को देखते ही ऐसी हलबली मचती है कि अपनी सुध भी जाती रहती है, बेचारे मान की क्या चलाई? सुधिं—सुखि, सुख से, पिए दिट्ठे—भावलक्षण।

(८८)

सवधु करेप्पिणु कधिदु मइं तसु पर सभलउँ जम्मु।
जासु न चाउ न चारहडि नय पम्हट्ठउ धम्मु॥

शपथ, करके, कथित (कहा गया), मैं (ने), उसका, पर, सफल, जन्म (है), जिसका, न, त्याग, न, और, आरभटी, न, और प्रभ्रष्ट (हुआ है), धर्म। सवधु, कधिदु —थ की जगह ध, सभलऊँ—फ के स्थान में भ, पम्हट्ठ—भ्र के लिए म्ह। आरहडि —आरभटी शूरवृत्ति। चाउ—त्याग, पम्हट्ठउ तीनों के साथ है, चाउ, आरहडि, और धम्म। 'दोधकवृत्ति' का दूसरा अर्थ "जिसके अपव्यय नहीं, और धर्म भ्रष्ट नहीं हुआ" ठीक नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८९)

जइ केवँइ पावीसुँ पिउ अकिया कुड्ड करीसु।
पाणीउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगें पइसीसु॥

यदि किसी प्रकार, पाऊँगी, प्रिय (को), (तो) न किया, कौतुक, करूँगी, पानी, नए (में), सकोरे (में), ज्यों, सर्वांग में प्रविशूंगी (घुसूंगी)। नए मिट्टी के बरतन में पानी की तरह रोम-रोम में रम पाऊँगी। पावीसुँ, करीसु, पइसीसु—संभावना, भविष्यत् गुजराती श, राजस्थानी स्युं। अकिया—अकृत, किसी ने जो न किया हो कुड्ड—कौतुक, राज० कोड, सरावि—सं० शरावे।

(९०)

उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कञ्चणकन्तिपकासु।
गोरीवयणविणिज्जिअउ नं सेवइ वणवासु॥

ओ (=देख), कनियार, प्रफूला (है), कांचन-कांतिप्रकाश, गोरी-वदन-विनिर्जित नाईं (मानो), सेता है, वनवास। वन में विकसित होने के कारण की उत्प्रेक्षा है। उअ—देख (प्राकृत), कणिआरु—(सं०) कर्णिकार (पंजाबी पहाड़ी) कनयार, अमलताश, पीले फूलों से लद जाता है। गोरी—देखो 'प्रबंध' १४ (पत्रिका—भाग २, पृ० ४७) नं—वेद का उपमावाचक 'न' बांध में नहीं बंध सका, प्रवाह में चला आया।

(९१)

ब्रासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइसत्थु पमाणु।
मायहं चलण नवन्ताहं दिवि दिवि गंगाण्हाणु॥

व्यास, महाऋषि, यों (यह), भणता (कहता) है, यदि श्रुतिशास्त्र, प्रमाण (हैं तो) माओं के, चरण, नँवतो के, दिन दिन, गंगा स्नान (है)। ब्रासु—व्यास, इस 'र' के लिए मिलाओ शाप—स्राप, मायहं—माताओं के; मातृ-मायि, माय, माइ, माई, नवंताहं—नँवतों, नमतों, प्रणाम करतों के, दिविदिवि—वेद का 'दिवे-दिवे' देखो ऊपर (९०) में नं।

(९२)

केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ।
नव वहु दंसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ॥

क्यों (कर), समाप्त हो दुष्ट, दिन, कैसे, रजनी, झट, होय, नव वधू (के) दर्शन (की) लालसा (वाला), बहता है, (ऐसे) मनोरथ, सो (वह नायक)। वहइ—धारण करता है, उठाए फिरता है। केम—गुजराती केम। छुडु—'छ' का 'झ' होने के लिए देखो ऊपर (८७), (८८), झट।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(९३)

ओ गोरीमूहनिज्जिअउ बद्दलि लुक्कु मियंकु।
अन्नु बि जो परिहवियतणु सो किवँ भवँइ निसंकु ।।

यह गोरी (के) मुँह (से) निर्जित, बादल में, लुका (है), मयंक, अन्य, भी, जो, परिभूत (हारे हुए) तनु (का), (है), सो, किमि, भ्रमै, निसंक। हारे हुए मुँह लुकाए फिरते हैं। **परिहविय**—परि + भू = हारना (सं०) 'भू' का 'हो'।

(९४)

बिम्बाहरि तणु रयणवण किह ठिउ सिरि आणन्द।
निरुवम रसु पिएं पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द ।।

बिंबा (फल के-से) अधर पर का, रदन (दंत) व्रण, कैसा स्थित (हुआ), श्री आनंद ? निरुपम, रस, पिय ने, पीकर, जनु, शेष (रस) के (= पर), दीनी, मुद्रा। अधर पर दंतक्षत क्या है, मानो अनुपम रस पीकर पिया ने बाकी पर अपनी मुहर लगा दी है। **बिम्बाहरितणु**—'बिंबाधर पर, तन्वी के' यह अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं, 'तणु, तण, या तणो' संबंध-सूचक प्रत्यय हैं, 'बिंबाधर-पर-का-रदन-व्रण' यही अर्थ है। **ठिउ**—थियो, थो, था। **सिरि आणन्द**—संबोधन है तो किसी का नाम, संभवतः कवि का; या रदनव्रण का विशेषण। **सेसहो**—हो को लघु पढ़ो।

(९५)

भण सहि निहुअउं तेवँ मइं जइ पिउ दिट्ठु सदोसु।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ।।

सखी नायक की शिकायत कर रही है। मुग्धा कहती है—कह, सखि ! निभृत (गुप्त), त्यों मुझे, यदि, प्रिय, दीठा (है), सदोष, ज्यों न, जानै, मुझका (—मेरा), मन, पक्षापतित (= पक्षपाती), तिसका। मेरा मन उस (प्रिया) का पक्षपाती है, वह न जाने, उससे छिपाकर कह। अमरु के 'नीचैः शंस, हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति' का भाव है। 'उस दूसरे के पास में स्थित मेरा मन जैसे न जाने' भर्ता-इति गम्यते' (!!) (दोधकवृत्ति)।

(९६)

मइं भणिअउ बलिराय तुहुं केहउ मग्गण एहु।
जेहु तेहु नवि होइ बढ सइं नारायणु एहु ।।

किसी वामनावतार की कथा से। शुक्राचार्य कहता है—मैं (ने) भणा बलिराज, तूं (= तुझे), कैसा, मंगन (याचक), यह, (है) जैसा-तैसा (= ऐसा-वैसा), नहीं, होय, हे मूर्ख, स्वयं, नारायण, यह (है)। **बढ़**—मूर्ख मिलाओ वंठ (हर्षचरित)। 'दोधकवृत्ति' कहती है कि उत्तरार्द्ध राजा बलि का उत्तर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(९७)

जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थुवि लेप्पिणु सिक्खु ।
जेत्थुवि तेत्थुवि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ।।

यदि, सो, घड़े, प्रजापति, कहीं (से), भी, लेकर, शिक्षा, जहाँ, भी, तहाँ, भी, इसमें, जग में, कह, तो, उस (नायिका) का, सरीखा ? केत्थु, जेत्थु, तेत्थु, एत्थु, कुत्र यत्र तत्र अत्र (सं०) कित्थुँ, जित्थुँ, तित्थुँ, इत्थुँ (पुरानी पंजाबी) कित्थें जित्थें, तित्थें, एत्थें (पंजाबी)। चौथे चरण का पाठ सम्भव है यह हो—'भण को तहे सारिक्खु' —कह कौन उस (का) सरीखा है ?

(९८)

जाम न निबडइ कुंभयडि सहीचवेडचडक्क ।
ताम समत्तहं मयगलह पइ पइ वज्जइ ढक्क ।।

जौं (लों), न, (नि), पड़ती है, कुंभतट पर, सिंह (की) चपेट (की) **चटाक** तों (लों), समस्तों, मदकलों, (गजों) के, पद पद, बाजे, ढक्का। सिंह की चपेटा लगने तक सिर पर नगारे बजते हैं। **चडक्क**—अनुकरण, **ढक्का**—एक बाजा।

(९९)

तिलहं लिलत्तणु ताउँ पर जाउँ न नेह गलन्ति।
नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होन्ति ।।

तिलों का, तिलपन, तों (लों), पर, जौं (लों), न, नेह, गलता है, या गलाते हैं, नेह, प्रनष्ट (होने) पर, वेही, तिल, तिल (से), फिट कर, खल, होते हैं। नेह के दो अर्थ—चिकनाई और प्रेम, खल के दो अर्थ, खल और दुर्जन। नेह निकला कि खल हो गए 'दोधकवृत्ति' ने नेह को बहुवचन 'गलन्ति' का कर्ता माना है, अधिक सम्भव है कि 'तिल' कर्ता हो और 'नेह' कर्म। **तेज्जि**—तेईज (गुज०' मारवाड़ी) देखो : प्रबंध १७ (पत्रिका भाग २, पृ० ४९) **फिट्टवि**—फिट् = बिगड़ना, भ्रष्ट होना, मिलाओ फिट मुए, (ऊपर, ५४) फटना से पट् या पाट् है, फिट् भ्रंश् (भ्रष्ट होने से)।

(१००)

जामहिं बिसमी कज्जगइ जीवहिं मज्झे एइ ।
तामहिं अच्छउ इयरु जणु सुअणुवि अन्तरु देइ ।।

जब विषम कार्यगति, जीवों के, मध्य में, आती है, तब रहो, इतर जन, स्वजन, भी, अन्तर, देता है। इतर जन तो अलग रहा, स्वजन भी किनारा कसता है। **जामहिं तामहिं**, जाऊँ ताऊँ, (९८) जाम ताम (९९) यावत् तावत्। **मज्झे**—माझे, माँझ में, मध्ये। **अच्छऊ**—आछो, हो, उसकी तो बात ही क्या।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१०१)

जेवड़ु अन्तरु रावण रामहं तेवड़ु अन्तरु पट्टण गामहं।

जितना, अन्तर, रावण-राम (का) तितना, अन्तर पट्टन, (नगर) (और) गाँव का। **जेवड़ु तेवड़ु**—जेवडो तेवडो (गुज०, राज०) जितना तितना। किसी रावण-पक्षपाती की उक्ति। 'दोधकवृत्ति' के अनुसार ग्राम पट्टण का क्रम बदलने की आवश्यकता नहीं।

(१०२)

ते मुग्गडा हराविआ जे परिविट्ठा ताहँ।
अवरोप्परु जो अन्ताहं सामिउ गञ्जिउ जाहँ॥

वे, मूंग, हराए गए (अकारथ गए), जो, परोसे गए, उनके (उन्हें), नीचे ऊपर, जोहते हुओं के, (जिनके) स्वामी, गंजा, गया, जिनका। इधर 'मूंग परोसना' बड़े आदर और उत्सव की बात है। जँवाई आता है या त्यौहार होता है तो मूंग-चावल बनते हैं। जिन कायरों के इधर-उधर देखते-देखते स्वामी पिट गया उन्हें मूंग परोसना वृथा है, मूंग बरबाद करना है। राजशेखर सूरि (सं० १४०५ के 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' में यह गाथा 'रत्नश्रावकप्रबन्ध' में कही गई है जहां एक राजकुमार दूसरों की रक्षा के लिए प्राण देने को तैयार होता है। **मुग्गडा**—मूंग, डा के लिए देखो : प्रबन्ध (१) **हराविआ,** हारना—वृथा खोना, **परिविट्ठ**—परिविष्ट, परोसा:, **अवरोप्परु**—अवर+उप्पर, नीचे-ऊपर, इधर-उधर देखते हुए या ऊँच-नीच विचारते हुए, 'दोधकवृत्ति' के अनुसार 'परस्पर'। **जोअन्ताहं**—देखो ऊपर (७) जोअंतिए। **गंजिउ**—गँजना, पिटना, मारा जाना।

(१०३)

बम्भ ते बिरला केवि नर जे सव्वंग छइल्ल।
जो वंका ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते बइल्ल॥

हे बंभा, या बंभ कहता है कि, वे, बिरल, कोई भी, नर, (होते हैं), जो सर्वांग (=सब तरह), छैले, होते हैं, बांके (होते हैं), वे, वंचक (होते हैं), जो, ऋजु (=सीधे), वे बैल। सब तरह चतुर विरल होते हैं, बांके तो ठग और सीधे बैल। **बंभ**—ब्रह्म, कवि का नाम, प्राकृत पिंगलसूत्र के कुछ उदाहरणों पर किसी-किसी टीका-कार ने लिखा है कि वंभ (ब्रह्म) बंदी या भाट के लिए आता है जैसे हरिवंभ अर्थात् हरि नामक बंदी,—ब्रह्मभाट? **छइल्ल**—देखो (पत्रिका भाग २, पृ० १४८) **बंक**—वक्र (सं०) युक्ताक्षर की 'न' श्रुति, वञ्चयर 'वञ्चकतर' मानने की जरूरत नहीं, अर या अयर कर्तृ वाची प्रत्यय है, **उज्जुअ** ऋ की उ-श्रुति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१०४-५)

अन्ने ते दीहर लोअण अन्नु तं भुअजुअलु।
अन्नु सु धण थणहारु तं अन्नु जि मुहकमलु॥
अन्नु जि केसकलावु सु अन्नु जि प्राउ विहि।
जेण निअम्बिणि घडिअ स गुणलायण्णनिहि॥

अन्य, वे, दीर्घ लोचन, अन्य, वह, भुजयुगल, अन्य, वह, स्तन-भार, वह, अन्य जी, मुख कमल, अन्य, जी, केशकलाप, वह, (कहाँ तक कहें) अन्य, जी, प्रायः, विधि, जिसने, नितम्बिनी (नारी), घड़ी, वह, गुणलावण्यनिधि। प्राउ (१०५), प्राइव (१०६), प्राइम्ब (१०७), पग्गिम्व (१०८)—प्रायः।

(१०६)

प्राइव मुणिहंवि भन्तडी ते मणिअडा गणन्ति।
अखइ निरामइ परमपइ अज्जवि लउ न लहन्ति॥

प्रायः, मुनियों की (भी), भ्रांति (होती है) वे, मनके, गिनते हैं, अक्षय, निरामय, परमपद में, आज भी, लय, नहीं, लहते। 'मनका फेरत जुग गया' (कबीर), मणिअडा—मणिक, मनके 'ड' कुत्सा में।

(१०७)

अंसुजलें प्राइम्व गोरिअहे सहि उव्वत्ता नयणसर।
तें सम्मुह संपेसिआ देन्ति तिरिच्छी घत्त पर॥

अश्रुजल में, प्रायः गोरी के हे सखि !, औटे (हैं), नयनशर, वे संमुख, संप्रेषित (भले ही हों), देते हैं, तिरछी, घात, पर। अश्रुजल में बुझाए हुए हैं न,—चाल सीधी है पर मार तिरछी। उव्वत्ता—उद्वृत्त, उवटे, औटे। दोधकवृत्ति 'नयन सरोवरों' (!) को अश्रुजल में 'उल्लसित' बताती है।

(१०८)

ऐसी पिउ रूसेसु हउँ रुट्ठी मइं अणुणेइ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ॥

आवेगा, पिय, रूसूँगी, हौं, रूठी (को), मैं (को), अनुनय करेगा (मनावेगा वह) प्रायः इनको, मनोरथों (को), दुष्करों (को), दयिता, करै। मन के लड्डू खाती है। ऐसी—सं० एष्यति, राज० आसी, रूसेसु—प्राकृत मन्तेसु, पुरानी हिन्दी हनिसों, राज० करस्युं, गुज० करीश, दुक्करु—इसलिए कि पूरा होना वियोग के कारण कठिन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१०९)

बिरहानलजालकरालिअउ पहिउ कोवि वुड्डिवि ठिअओ।
अनु सिसिरकालि सीअलजलउ धूम कहन्तिहु उट्ठिअओ॥

विरहानल (की) ज्वाला (से) करालित, पथिक, कोई, डूबकर स्थित (है) नहीं तो शिशिरकाल में शीतल जल से धुआं कहां तें, उठा ? । जाड़े में पानी पर भाफ उठती देखकर उत्प्रेक्षा । करालिअउ—करालियो, दग्ध, देखो ऊपर (पत्रिका : भाग २, पृ० १५०), पहिउ—मारवाड़ पही, 'पावणो पही'—पाहुना और पथिक, ठिअउ—ठियो, ठ्यो, उट्ठिअउ—उठियो, उठ्यो।

(११०)

महु कन्तहो गुट्ठट्ठिअहो कउ झुम्पडा बलन्ति।
अह रिउरुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भन्ति॥

मेरे, कंत के, गोष्ठस्थित के, क्यों, झोंपड़े, जलते हैं, या रिपु-रुधिर से, बुझाता है, या, अपने से, न भ्रांति (है इसमें) कंत 'गोहर' सम्हालते गया है, पीछे शत्रुओं ने झोंपड़े जला दिये, उसकी जात से तो यही उम्मेद है कि मारेगा या मरेगा। अह अह अथ, अथ,—या··या, गुट्ठ—गोष्ठ, गुसांई जी का 'गाइ गोठ', उल्हवइ—उल्हावे, बुझावे।

(१११)

पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्ब।
मइं विन्निवि विन्नासिआ निद्द न एम्ब न तेम्ब॥

पिय (के) संगम में, कहाँ, नींद, पिय के, परोक्ष में, क्यों (कर नींद) ? मैं, दोनों ही (तरह) से, विनाशिता (हुई), नींद, न, यों, न, त्यों। केम्ब, एम्ब, तेम्ब—क्यों, यों, त्यों, किमि, इमि, तिमि, केवें, एवें, तेवें (पंजाबी में एवें है।) मइं विन्निवि विन्नासिआ—'दोधकवृत्ति'—'मया द्वे अपि विनाशिते' ! !

(११२)

कन्तु जु सीहहो उवमिअइ तं महु खंडिउ माणु।
सीहु निरक्खय गय हणइ पियु पयरक्खसमाणु॥

कंत, जो, सिंह (क=) से, 'उपमा दिया जाता है, तो मेरा, खंडित (होता है), मान, सिंह, बिना रक्षक (के), गज को, हनै पिव, पद-रक्ष समेत (गजों) का (हनता है)। जंगल में हाथी जिन्हें सिंह मारता है नीरक्षक (बिना रखनेवाले के) होते हैं रणभूमि में उनके पैदल सिपाही रक्षक होते हैं, उन समेत हाथियों को मारने वाले पिय को सिंह की उपमा देना मेरा मान घटाना है। उवमिअइ—उपमीयते (सं०), पयरक्ख—पद, पियादा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(११३)

चंचलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं।
होसइं दिअहा रूसणा दिव्वइं वरिससयाइं॥

चंचल, जीवित, ध्रुव, मरण, (है) पिय, रूसा जाता है, क्यों ? होंगे, दिवस, रूसने, दिव्य, वर्षशत (की तरह लंबे और असह्य)। रूसिज्जइ—रूसीजै, होसइं—होशे, होसी, रूसणा—दिअहा का विशेषण, रूसने (के) दिवस।

(११४)

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज।
मां दुज्जणकरपल्लवेंहिं दंसिज्जन्तु भमिज्ज॥

देखो सोमप्रभ (१, पत्रिका : भाग २, पृ० १३६) माणि पणट्ठइ—मान प्रनष्ट होने पर (भावलक्षण) चइज्ज—छोड़ा जाता है (दोधकवृत्ति), किन्तु भमिज्ज के के साथ चइज्ज भमिज्ज = तजीजै, भमीजै होना चाहिए, दंसिज्जन्तु—दिखाया जाता हुआ, 'दोधकवृत्ति' के अनुसार 'दश्यमान' डसा जाता हुआ, नहीं।

(११५)

लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खलमेह म गज्जु।
वालिउ गलइ सुझुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु॥

लोन, विलाता है, पानी से, अरे, खल मेघ ! मत, गरज, हे जलाए गए ! गलता है, झोंपड़ा, गोरी, भीजती है, आज। सं० लावण्य, हिं० लौन (जैसे 'सलौना' 'नौना' में) नोन, फारसी नमक, सौंदर्य अर्थ में आता है। 'अमरुशतक' में एक प्रक्षिप्त श्लोक है कि जब से प्रेमपिया से मैंने उसका अधर पान किया तब से तृषा बढ़ती ही जाती है, क्यों न हो, उसमें लावण्य है न ? नमक से प्यास बढ़ती है। उस पर टीकाकार इस कल्पना की ग्राम्यता पर चुटकी लेता है कि वाह कवि क्या है, कोई सांभर की खान का खोदनेवाला है ! यहाँ नमक 'पानी पड़ने से गलता है' यही लेकर उक्ति है कि दुष्ट मेघ, मत गरज झोंपड़ा गले जाता है, गोरी भीगती है; लवण (लावण्य) बिलाता है, बस कर। लोणु—लवण और लावण्य, विलिज्जइ—विलीयते (सं०), वालिउ—वाल्या (राज०) गाली, दग्ध, तिम्मइ—(सं०), तिम्, गीला होना 'दोधकवृत्ति' दो अर्थ करके भी स्पष्ट नहीं हो सकी।

(११६)

विहवि पणट्ठइ बंकुडउ रिद्धिहिं जणसामन्नु।
किंपि मणाउं महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु॥

विभव प्रनष्ट होने पर, बाँकुरा, रिद्धि में, जन-सामान्य, कुछ-कुछ, मेरे पिय का,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शशि, अनुहरता (सदृश होता) है, न अन्य। चन्द्रमा क्षीण होता है तो कलाएं बाँकी होती हैं, पूर्ण होता है तो सामान्य गोल और ताराओं का-सा, मेरे, पिया के सदृश वही है। पिया संपत्ति नष्ट होने पर अकड़ते हैं और संपत्ति में नम्रता से साधारण रहते हैं। विहवि पणट्ठइ—भावलक्षण, बंकुडउ—बांकुडो, बांकुरो, जण-सामन्नु—जन सामान्य (समास) मणाउं—मनाक्, कुछ। 'दोधकवृत्ति'—'सामान्यो लोकः ऋद्ध्या वक्री स्यात्' "चन्द्रस्य तारका वक्रा भवन्ति मम प्रियस्य निर्धनस्य अन्ये जना वक्रा भवन्ति' आदि न मालूम क्या-क्या लिख गई है।

(११७)

किर खाइ न पिअइ न विद्दवइ धम्मि न वेच्चइ रूअडउ।
इह किवणु न जाणइ जह जमहो खणेण पहुच्चइ दूअडउ॥

निश्चय, खाय, न, पिए न, भी, देवे, धर्म में, न वेचे, रुपया, यहां, कृपण, न जाने, जैसे, यम का, क्षण से (=में), पहुँचै, दूत। किर—किल, वेच्चइ—व्ययति (सं०) खर्च करे, इसी से बेचना, पहुच्चइ—प्रभवित (सं०) पहुँचे। रूअडउ, दूअडउ—रूपडो, दूतडो, दे० 'प्रबंध' (१)।

(११८)

जाइज्जइ तहिं देसडइ लब्भइ पियहो पमाणु।
जइ आवइ तो आणिअइ अह वा तं जि निवाणु॥

जाईजै, उस (में), देसडे (में), (जहाँ), लभै (मिलै), पिय का, प्रमाण (पता), यदि, आवे, तो, आनिए, अथ वा, वह, जी, निर्वाण (माना जाय)। मिल जाय तो ले आऊँ नहीं तो वहीं शांति मिले। जि—पादपूरण।

(११९)

जउ पवसन्ते सहुं न गयअ न मुअ विओएं तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसडा देन्तेहिं सुहयजणस्सु॥

जो, प्रवास करते के, साथ, न, गया (गई) न, मुआ (मुई), वियोग में, उसके (मैं अब) लजाती हूँ, संदेश, देती हुई, सुभग जन के (को)। पवसन्ते, देन्तेहि—वर्तमान धातुज। लज्जिज्जइ—लजीजै, लजाया जाता है, दिन्तेहि—देती हुई (हम) से।

(१२०)

एत्तहे मेह पिअन्ति जलु एत्तहे वडवानल आवट्टइ।
पेक्खु गहीरिम सायरहो एक्कवि कणिअ नाहिं ओहट्टइ॥

इत, मेह, पीते हैं, जल, इत, वडवानल, औटता है, पेखो, गंभीरता, सागर की,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक भी, कनी, नहीं घटता। एत्तहे···एत्तहे—इतै, आवट्टइ—आवटै, औटे, गहीरिम—(सं०) गंभीरिमा इमनिच् के लिए देखो (ऊपर पृ० ४०५ पत्रिका : भाग २, पृ० १४५), कणिअ—कणिका, कनी, ओहट्टइ—अवघटे। दोधकवृत्ति ने' अर्थ के पहले 'हे नाथ' लगाया है, मूल में तो यह पद नहीं जान पड़ता है, संभव है उसके कर्ता के सामने मूल ग्रंथ रहा हो जिसमें से यह उद्धृत है और वहाँ 'नाथ' की संगति (Context) हो।

(१२१)

जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउं कइ पय देइ।
हिअइ तिरिच्छी हउं जि पर पिउ डंबरइं करेइ॥

जाओ, मत, जाते हुए का, पल्ला (पकड़ूँ), देखूं, कै, पद, देता है (आगे), हिए में, तिरछी, हौं, जी, पर, पिय, (आ)डंबर, करै। मैं हृदय में तिरछी, आड़ी, रास्ता रोककर खड़ी हूँ, पिया जाने के आडंबर करते हैं, जाना-वाना कुछ न होगा, पल्ला-वल्ला मैं नहीं पकड़ती, जाओ, देखें कितने पेंड जा सकता है। पल्लवह—पल्ले को ?

(१२२)

हरि नच्चाविउ पङ्गणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहिं राह पओहरहं जं भावइ तं होउ॥

हरि, नचाया, (प्र+) आंगन में, विस्मय में, पाडा (डाला) लोक, यों (अब) राधापयोधरों का (=को), जो, भावे, सो, हो। जो ये चाहें सो करें, हरि को तो आँगन में नचा दिया और क्या करेंगे, नच्चाविउ—नचाव्यो, पाडिउ—पाड्यो, पातित (सं०), भावइ—भावै। दोधकवृत्तकार न मालूम, बलिदैत्य ने हरि 'नचाया' कहां से ले आए।

(१२३)

साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस-गण्ठि।
भडु पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि॥

सर्वसलोनी, गोरडी, अनोखी, कोई, विस गाँठ, है, भट, प्रत्युत, सो, मरे, जिसके, न लगे कंठ में। और बिसगाँठ तो गले लगने से मारती है यह न लगे तो मारे इससे अनोखी। सलोणी—सलावण्या (सं०) सलौनी, देखो : (११४), गोरडी—बिहारी का गोरटी, चोरटी, नवखी—सं० नवका (नवकी !, पंजाबी-नौक्खी, अनौखी) भडु—भट देखो : प्रबंध (पत्रिका भाग २, पृ० ४७), पच्चुलिउ—प्रत्युत (हेमचन्द्र ८।५।४२०) 'अनबूडे बूडे तरे' का भाव है।

(१२४)

मइं वुत्तउं तुहुं धुरु धरहि कसरेंहि विगुत्ताइं।
पइं विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइं॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं (ने), उक्त (कहा)-तू, धुर (को), धर (उठा), कसरों से, विगुप्तों (धुरों ?) को तैं (तुझ), बिना, हे धवल !, न, चढ़ै, भर, यों, (तू) खिन्न, क्यों ? धवल—धुर उठानेवाला धोरी बैल अन्योक्ति है कि भार तू उठा, बछड़ों से क्या सरेगा ? धुर—आगे का भार, कसर—पट्ठे, छोटे बैल, विगुत्त ?—न उठती हुई ? धवल—जो जिस जाति में उत्कृष्ट है वह धवल (देखो : पत्रिका : भाग २, पृ० २६) तथा ऊपर ४०९-१० वुन्नऊ—बुन्नो, विषादयुक्त ।

(१२५)

एक्कु कइअ ह् वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि ।
मइं मित्तडा प्रमाणिअउ पइं जेहउ खलु नाहिं ।।

एक, कभी, भी, न, आवे, अन्य, जल्दी, जाय, मैं (ने), हे मित्र प्रमाणित किया, तैं (ने), जैसा, खलु, नहीं । एक कभी आता नहीं, दूसरा जल्दी चला जाता है, मित्र जैसा मैंने पहचाना है वैसा तूने नहीं । अस्पष्ट । यह अच्छा अर्थ होता—एक मित्र तो कभी आता ही नहीं, दूसरा झटपट चला जाता है, हे मित्र, मैंने प्रमाणित किया है कि तुझ जैसा निश्चय कोई भी नहीं । वहिल्लउ—शीघ्र ।

(१२६)

जिवँ सुपुरिस तिवँ घंघलइं जिवँ नइ तिवँ बलणाइं ।
जिवँ डोंगर तिवँ कोट्टरइं हिआ विसूरहि काइं ।।

ज्यों, सुपुरुष, त्यों झगड़ते हैं, ज्यों, नदी, त्यों, बलन मोड़, ज्यों डूंगर (पहाड़) त्यों, कोतरे (खोह), हे हिया ! विसूरता है, क्यों ? मित्रता में झगड़े होते ही हैं । घंघलइं—घँघँलना = झगड़ना, धाँधल होना, विसूरना—हिंदी (पृ० १५७) ।

(१२७)

जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउं तडि घल्लन्ति ।
तइं संखहँ विट्टालु परु फुक्किज्जन्त भमन्ति ।।

जो, छोड़कर, रत्ननिधि (समुद्र) को, अपने को, तट पर, घालते (फेंकते) हैं, उनको, शंखों को, विटाल, पराए, फूंकते हुए भ्रमते (घूमते) हैं । अपना स्थान छोड़ने से विडंबना होती है । छड्डेविणु—छाँड़कर पूर्वकालिक, विट्टालु—अधम जन (दोधक-वृत्ति) अस्पृश्यसंसर्ग (हेमचन्द्र), विटाल—बिगड़ैल, विटलना = बिगड़ना, विटालना—बहकाना, फोड़ना, खराब करना ।

(१२८)

दिवेहि विढत्तउं खाहि वढ संचि म एक्कुवि द्रम्मु ।
कोवि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दैव से, दिया हुआ, खा, मूर्ख ! संचय कर, मत, एक भी द्रम्म कोई, डर, सो, पड़ै, जिससे समाप्त होवे, जन्म । विढत्त—अर्जित ? (दोध०), सौंपा, संचि—संचना (संचय करना) धातु पुरानी हिंदी और पंजाबी में है, द्रम्मु—एक सिक्का, दाम, द्रवक्कउ —द्रव को, डर दड़बड़ी ।

(१२६)

एक्मेक्कउं जइवि जोएदि
हरि सुट्ठी सव्वायरेण
तोवि द्रेहि जहिं कहिंवि राही
को सक्कइ संवरेवि पड्ढनयणा नेहिँ पलुट्टा ।।

एक एक (गोपी) को, यद्यपि, जोहता, है, हरि, सुठि, सर्वादर से, तो भी, दीठ, जहां, कहीं भी राधा (है वहीं है) कौन, सकै, संवरण करने को, दग्ध नयनों (को), नेह से पलोटों (को) । 'दोधकवृत्ति' का अर्थ गड़बड़ है । द्रेहि—दृष्टि, डीठ, संवरेवि (सं०) संवरीतुं, दड्ढ—दग्ध, डाढे, नेहि, पाठांतर, नेहें—नेह से, पलुट्टा—लिपटे, भरे ।

(१३०)

विहवे कस्सु थिरत्तणउं जोव्वणि कस्सु मरट्टु ।
सो लेखडउ पट्ठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु ।।

विभव में, किसका, स्थिरत्व, यौवन में, किसका, मराठापन (अहंकार) है (तो भी) वह, लेख, पठाया जाता है, लगे, जो निचट । नायक का भरोसा नहीं, वैभव में किससे आशा की जाय कि वह स्थिर रहेगा । अपने यौवन का भी घमंड नहीं कि वह खिच ही आवेगा, तो भी खंडिता या प्रोषिता सोचती है कि ऐसा संदेसा भेजूं जो तीर की तरह चुभ जाय, चैंठ जाय । थिरत्तणउं—स्थिरत्व, लेखडउ—लेखडो, निच्चट्ट—अत्यंत गाढ़ा ।

(१३१)

कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु ।
दूरठिआहंवि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु ।।

कहाँ, शशधर (चंद्र), कहाँ, मकरघर (समुद्र), कहाँ, मोर, कहाँ मेघ, दूरस्थितों के भी, सज्जनों के, होय, असाधारण, नेह, बरिहिणु—सं० र्वाह, बरहि (तुलसी) असड्ढलु—सं० असंस्थुल (?)

(१३२)

कुंजरु अन्नहं तरुरहं कुड्डेण घल्लइ हत्थु ।
मणु पुणु एक्कहिं सल्लइहिँ जइ पुच्छइ परमत्थु ।।

कुंजर, अन्यों (पर), तरुवरों पर, कोड से, घालै, हाथ, मन, पुनि एक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(पर), सल्लकी पर, यदि, पूछो, परमार्थ। कुड्ड—कौतुक विनोद, देखो : ऊपर (८६)।

(१३३)

खेड्डयं कयमम्हेहिं निच्छयं किं पयंपह।
अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिअ॥

खेल, किया (गया), हमसे, निश्चय, क्या, प्रजल्पते (कहते) हो (कहैं)? अनुरक्तों (को) भक्तों को, हमें, मत, तज, स्वामी। अनुष्टभ्छंद। खेड्ड—खेल, साडे खेडण दे दिन चार (पंजाबी गीत) पाठांतर में 'अणुरत्ताओ भत्ताओ' है।

(१३४)

सरिहिं (न) सरेहिं न सरवरेहिं न वि ऊज्जाणवणेहिं।
देस रवण्णा होन्ति वढ निवसन्तेहिं सुअणेहिं॥

सरि (ता) ओं, सरों से, न सरवरों से, न, भी उद्यान-वनों से, देस, रमणीय, होते हैं, मूर्ख, (किंतु होते हैं) (नि) बसते हुए, स्वजनों से। रवण्ण—रमणीय, रम्य, वढ—देखो (४३, १२८, आदि)।

(१३५)

हिअडा पइं एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सयवार।
फुट्टिसु पिए पवसन्ति हउ भंडय ढक्करि सार॥

हिअडा! तें (ने) यह, बोला, मुझ आगे, सौ बार, फटूंगा, पिय (के), प्रवास करते (ही), हौं, हे भंड, हे अद्भुत दृढ़तावाले!, (अब तो तू नहीं फटा!) हिअडा—हे हिय, पइं—मध्यमपुरुष, फुट्टिसु—फूटिस्यों, पिएपवसन्ति—भावलक्षणा भंडय—पाखंडी, ढक्कारिसार—ढकर गया, निकल गया, है सार, बल जिसका। अर्थात् छूछा (दोधकवृत्ति) किंतु अद्भुत सार (हेमचंद्र)।

(१३६)

एक कुडुल्ली पंचहिं रुद्धी
तहं पंचहं वि जुअंजुअ बुद्धी।
बहिणुए तं घरु कहि किव नन्दउ
जेत्थु कुडुम्बउं अप्पण-छन्दउं॥

एक, कुटी, (शरीर) पांच (इंद्रियों) से, रूंधी गई (रुकी), तिन्ह, पाँचों की, भी, जुदी जुदी! बुद्धि (है), बहन! वह, घर, कह, किमि, नन्दै (प्रसन्न हो), जहां, कुटुम्ब, आप—छंदा (हो)? कुडुली—कुटी का कुत्सा या अल्पार्थ, जुअंजुअ—जुगजुग, न्यारी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यारी, अप्पणछन्द—आपमुहारा, अपने-अपने मत के, "खसम पूजते देहरा भूतपूजिनी जोय। एकै घर में दो मता कुसल कहाँ ते होय॥"

(१३७)

जो पुणि मणि जि खसफसिहूअउ चिन्तइ देह न दम्मु न रूअउ।
रइवसभमिरु करग्गुल्लालिउ घरहिं जि कोन्तु गुणइ सो नालिउ॥

जो, पुनि, मन ही में, घुसफुसाता हुआ, गिनता है, देय, न, दंम, न, रुपया, रतिवस (से) भ्रमण करने वाला, (वह), कराग्र उल्लालित, घर में ही, जी, कुंत, गुणता है, वह मूर्ख। जो सदा व्याकुल रहे, पैसा न खरचै, वह घर बैठे ही भाला घुमाया करता है, मन के लड्डू फोड़ता है। **खसफसिहूअउ**—व्याकुल, **द्रंमु**—द्रंम सिक्का, दाम, **रूअउ**—रूपक, चाँदी का सिक्का, **रइ**—रति, मन की लहर, **भमिरु**—भरमता हुआ, **उल्लालिउ**—उल्लालित, **कोन्तु**—कुंत, भाला, **गुणइ**—गुणै, **नालिउ**—दुर्लालित, दुर्ललित, मूढ़।

(१३८)

चलेंहि चलन्तेहि लोअणेंहि जे तइं दिठ्ठा बालि।
तहिं मयरद्धय दडवडउ पडइ अपूरइ कालि॥

(चं) चलों से, चलते हुओं से, लोचनों से, जो, तैं (ने), दीठे, हे बाले! उन पर, मकरध्वज (कामदेव), दड़बड़ा कर, पड़ै, अपूरे (ही) काल में, या ('दोधकवृत्ति' के अनुसार) उन पर मकरध्वज का दड़बड़ा (धाड़ा) पड़ता है अपूरे काल में ही। उन पर दिन-दहाड़े डाका पड़ता है, वे बेमौत मारे जाते हैं, जिन्हें तैंने चंचल नयनों से देखा। **दडवडउ**—अच (! व) स्कंदं कटकं धाटी ('दोधकवृत्ति) धाड़ा, **अपूरइ कालि**—अपूर्णे काले।

(१३९)

गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं।
जसु केरएं हुंकारडएं मुहहुं पहन्ति तृणाइं॥

गया, वह, केसरी, पिओ, जण, निश्चित, हरिण, जिसके, केरे, हुंकार से, मुँह से (तुम्हारे) पड़ते हैं, तृण। जिसके हुंकार के सुनते ही मुँह से तृण पड़ जाया करते हैं वह सिंह गया, अब निःशंक जल पिओ। **जसु केरएं**—ध्यान दीजिए कि **जसु** (यस्य) में षष्ठी की विभक्ति **सु** या **उ** अलग है, 'केरएं' विशेषण की तरह 'हुंकारए' से लगन रखता है। 'केर' विभक्ति नहीं है जिसे 'जसु' से सटाया जाए। **जसु केरएं हुंकारडएं**—यस्य केरकेण हुंकारेण, केर=केरा। यह 'का की के' का बाप कहा जाता है किंतु यह स्वयं ही विभक्ति नहीं है और न सट सकता है। फिर इसके बेटे-पोते कैसे सटाए जा सकते हैं? इससे मिलता एक मारवाड़ी प्रसिद्ध दोहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिण मारग केहरि वुवो रज लागी तिरणांह ।
ते खड़ ऊभी सूखसी नहीं खासी हरिणांह ।।

जिस मार्ग से सिंह गया, रज लगी, तृणों को, वे खड़े-ही-खड़े सूखेंगे, हरिण, नहीं खावेंगे ।

(१४०)

सत्थावत्थहं आलवणु साहुबि लोउ करेइ ।
आदन्नहं मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ।।

स्वस्थावस्थों का (से), आलपन, सब ही लोग, करे, आर्तों को 'मत डर' ऐसी अभयवाणी, जो, सज्जन (हो) वही, दे । आलवणु—आलपन, बातचीत (देखो ४८) साहु—सहु, सब, सौ, आदन्नह—? आपन्नहं, आपन्नों, आर्तों को मब्भीसडी—मत डर, 'मा भैषीः' इस वाक्य से बनाई हुई, संज्ञा स्वार्थ में 'डी' ।

(१४१)

जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्धसहाव ।
लोहें फुट्टणएण जिवं घणा सहेसइ तवि ।।

यदि, रचता है, तू, जो दीठा उसी में, हे हिय ! मुग्धस्वभाव ! लोहे से, फूटनेवाले से, ज्यों, घने, सहे जायँगे, ताप (तुझ से) । (या सहेगा ताप तू), जो दीखा उसी में रमने लगेगा तो टूटनेवाले लोहे की तरह घड़ी-घड़ी खूब तपाया जायगा तब कहीं एक जगह जमकर प्रेम करने में दृढ़ता सीखेगा । रच्चसि—रचता है, प्रेम करता है, जाइट्ठिअए—जो जो + दीठा उसी-उसी में फुट्टणएण—फूटनेवाले से, सहेसहि—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य का धोखा होता है ।

(१४२)

महं जाणिउं बुड्डीसु हउं प्रेमद्रहि हुहुरुत्ति ।
नवरि अचिन्तिय संपडिय विप्पिय नाव झडत्ति ।।

मैं (ने), जान्यो (जाना), बूडूंगी, हौं, प्रेमदह में, हुहुर यों, न पर, अचिंतित आपतित हुई (आ पड़ी), विप्रिय (रूपी), नाव झट । प्रेम इतना था कि मैं दह के समान उसमें डूब जाती किंतु उसमें से मुझे बचाने को विप्रियरूपी नाव झटपट मिल गई । बुड्डीसु—बूडूंगी, (देखो पृ० ३२) हुहुरुत्ति—अनुकरण, डूबते समय साँस के बुलबुले उठने का, या घबराने का, नवरि—संस्कृतछायावालों का, 'केवल' ही नहीं, वरन, संपडिय—संयोग से आ गई, विप्पियनाव—'विप्रिय रूसना या वियोग वेड़ा' । ('दोधकवृत्ति') ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४३)

खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुट्टेहिं।
एवइ होइ सुहच्छडी पिएं दिट्ठे नयणेहिं ॥

खाया जाता है, न तो, कसरकों से, पीया जाता है, न तो, घूंटों से, यों ही, होय, सुखस्थिति, पिय, दीठे (पर), नयनों से। खाने-पीने की-सी तो तृप्ति नहीं होती किंतु कोई अनिर्वचनीय सुख मिलता है। खिज्जइ—खाइजै, पिज्जइ—पीईजै कर्मवाच्य, कसरक्क—बड़े-बड़े ग्रास, डचके, (देखो : पृ० ४०२) एम्वइ—यों ही या ऐसा होने पर भी (दो० वृ०) सुहच्छडी—(सुख + अस्ति) पना, 'डी' से नाम बनाया गया (दे० : ३७, ६१, १४०) या सुखाशा (दो० वृ०) नपिएंदिट्ठें—भावलक्षण।

(१४४)

अज्जवि नाहु महुज्जि घर सिद्धत्था वन्देइ।
ताउंजि विरहू गवक्खेहि मक्कडुघुग्घिउ देइ ॥

आज भी (अभी), नाथ, मेरे ही, घर, सिद्धार्थों को, वंदना करता है, तो भी, विरह, गवाक्षों (जालियों) में से बंदर घुड़की, देता, है। अभी नाथ परदेस गए, नहीं हैं, घर ही में हैं, यात्राकाल के मंगलद्रव्यों को सिर से लगा रहे हैं। तो भी विरह समझ गया है कि मेरा मौका आ गया। अभी वह सदर दरवाजे से तो घुस नहीं सकता, जाली के मोखों में से मानो बंदरघुड़की दिखा रहा है। अज्जवि, महुज्जि, ताउंजि—में वि और जि कितना जोर दे रहे हैं। सिद्धत्वसिद्धार्थ पीली सरसों मंगल शकुन, गवक्ख—गवाक्ष (सं०) पुरानी चाल की जालियों के छेद बिलकुल गौ की आँख के-से ही होते हैं इसी से हिंदी गोखा—दरवाजे पर का झरोखा, मक्कडघूग्घि—बंदरघुड़की, घुग्घिउ = चापल्यं (!) (दोधकवृत्ति)।

(१४५)

सिरि जरखण्डी लोअडी गलि मनअडा न बीस।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठबईस ॥

सिर पर, जीर्ण, लोई गले में, मनके, न, बीस, तो भी, गोठ के निवासी (युवक) कराए, मुग्धा ने ऊठबैठ। सिंगार की पूंजी तो यही है कि पुरानी कमली और गले में पूरे बीस मनकों की माला भी नहीं, तो भी लावण्य ऐसा है कि गाँवभर के छैलों को ऊठक-बैठक करा रही है। जरखण्डी—जीर्ण और खंडित, लोअडी—लोई, कंबल, मणिअडा—कुत्सा का 'ड' गोट्ठडा—गोठ के लिए देखो (११०) गाँव के बाहर गोस्थान जहाँ युवक ही इकट्ठे होते हैं, गोट्ठडा—वहाँ के निवासी, उट्ठबईस—गुजराती, बैसना = बैठना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४६)

अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि।
घइं विवरीरी बुद्धडी होइ बिणासहो कालि ॥

अम्मा ! पछतावा (है), पिया, कलहित किया, रात्रि में, अवश्य, विपरीत, बुद्धि, होय, विनास के, काल में। मान करके पछताती है। अम्मडि-बुद्धडी—स्वार्थ में 'डी', या अनुकंपा में, **पच्छायावडा**—यहां भी पश्चात्ताप के आगे 'डा' है, **कलहिअउ**—कलहिओ, कलहापितः (देखो ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० ५०७) **विआलि**—देखो कुमार० (१८, ना० प्र० पत्रिका, भाग २, पृ० १४४), ऊपर (६२), **घइं** हेमचंद्र ने अनर्थक कहा है, पादपूरण या अवधारण अर्थ है।

(१४७)

ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहिं देसि।
हउं झिज्जउं तउ केहिं पिअ तुहुं पुणु अन्नहि रेसि ॥

ढोला ! यह परिहास ऐ ! कह, किस में, देश में (है) ? हौं, छीजूं तेरे लिये, पिय ! तू, पुनि, अन्य के लिये। मिलाओ (५५) यह कौन से देश की चाल है ? **ढोल्ला**—देखो (१) **परिहासडी**—मजाक, हँसी, या परिभाषा (दोधकवृत्ति) **अइभन**—'दोधकवृत्ति' ने एक शब्द मानकर अर्थ किया है अत्यद्भुत। हेमचंद्र में भी 'अइभ न' प्रधान पाठ माना है। **झिज्जउं**—झीजना, झीना होना, सूखना, **तउकेहि**—तेरे लिए, **रेसि**—वास्ते (हेमचंद्र ८।४।४२५)

(१४८)

सुमिरिज्जइ तं वल्लहउं जं वीसरइ मणाउं।
जहिं पुणु सुमरणु जाउं गउ महो नेहहो कइं नाउं ॥

सुमरा जाय, वह बल्लभ, जो, बिसरै, मन से, जिसका, पुनि सुमरन, यदि, गया उस (का), नेह का, क्या, नाम ? जिसे भूलें उसे तो याद करें और जिसका स्मरण चला जाय (भूल जाय) उसके नेह का नाम ही क्या ? कुछ नहीं। जिसका नेह है वह कभी भूला नहीं जा सकता और उसके स्मरण की जरूरत नहीं। **सुमरिज्जइ**—सुमरीजै, **मणाउ**—मनाक (दोधकवृत्ति), मन से, **जाउं**—यदि, **कइं नाउं**—काई नांव ? (जयपुरी)।

(१४९)

जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइं अन्नइं।
मूलि विणट्ठइ तुंविणिहे अव सें सुक्कइं पण्णइं ॥

जीभ-इंद्रीय को, हे नायक ! वश करो, जिसके, अधीन, अन्य (इंद्रिय) (हैं)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल (में) विनष्ट (में) होने पर, तूँबी के, अवश्य, सूखें, पान। **मूलि विणट्ठइ**—भाव-लक्षण, **तुंविणि**—तुंबिनी, तूँबी, **सुकइं**—सुकें।

(१५०)

एक्कसि सीलकलंकिअहं देज्जहिं पच्छित्ताइं।
जो पुणु खंडइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं॥

एक बार शीलकलंकित (करनेवालों) को, दिए जाते हैं प्रायश्चित्त, जो, पुनि, खंडित करै (शील को), अनुदिवस, उसके, प्रायश्चित्त से, क्या? **एक्कसी**—एक बार के अर्थ में, एकशः, मारवाड़ी एकरश्यां, एकश्यां देज्जहिं—दीजैं, **खण्डइ—खण्डै**, **अणुदिअहु**—दिन-दिन।

(१५१)

विरहानलजाकरालिअउ पहिउ पन्थि जं दिट्ठउ।
तं मेलवि सव्वहिं पन्थिअहिं सो जि किअउ अग्गिट्ठउ॥

विरहानल ज्वालाओं से करालित, पथिक, पंथ में, जो, दीठा, उसे मिलकर सब (ने), पंथियों ने, सो जी किया, अँगीठा। विरह-ताप की अधिकता की अतिशयोक्ति, मिलाओ (१०९)। 'दोधकवृत्ति' शायद यह अर्थ करती है कि पथिकों ने उसका अग्नि-संस्कार कर दिया 'अग्निष्ठः कृतः' **मेलवि**—मिलकर, या रखकर। **अग्गिट्ठउ**—अँगीठो, स्त्री० अँगीठी, अनुस्वार के लिए देखो : पत्रिका भाग २, पृ० ४०।

(१५२)

सामिपसाउ सलज्जु पिउ सीमासंधिहिं वासु।
पेक्खिवि बाहुबलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु॥

स्वामि (का) प्रसाद, सलज्ज, पिय, सीमासंधि में, वास, पेखकर बाहुबलोल्ललित (पिय को), नायिका, छोड़ती है, निःश्वास। राजा की कृपा जिससे वह कभी छुट्टी न दे और कठिन कामों पर ही भेजे, पिया संकोची कि काम के लिए नाहीं न करे न छुट्टी माँगे, रहना सीमा पर जहाँ नित नये झगड़े हों, और बाहुबल से गर्वीला पिय कि आगे होकर झगड़ा मोल ले—बेचारी इतने कारणों से विरह के अंत का संभव न जानकर उसांसें भरती है। **बाहुबलुल्लडा**—बाहु + बल + उल्लल, उल्लट, या 'बाहु' का विशेषण 'बलुल्लड' = बलदर्प से भरे बाहु (पिय के, देखकर) **धण**—देखो (१, ७०) **मेल्लइ**—रक्खै, छोड़ै, मेलै।

(१५३)

पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त।
अंसूसासेंहिं कंचुआ तितुव्वाण करन्त॥

पथिक! दीठी, गोरी? (हाँ) दीठी, मग (को), देखती (हुई)। आँसू (और)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसांसों से, कंचुक को, गीला, सूखा करती (हुई)। आँसुओं से गीला और उसांसों से सूखा, (८०) या तितुव्वाण—तन्तूद्वान, ताना-बाना, आँसुओं का ताना, उसांसों का बाना। गोरडी—देखो (८२, १२३) 'डी' (१४०) निअन्त—देखती, तितुव्वाण—तीमा, तिमित=गीला, देखो तिम्मइ (११५)

(१५४)

पिउ आइउ सुअ बत्तडी—झुणि कन्नडइ पइट्ठ।
तहो विरहहो नासन्तअहो धूलडिआवि न दिट्ठ॥

पिय, आयो, (इस) शुभ, वार्ता (की) ध्वनि, कान में, पैठी उस (की), विरह की, भागते (की), धूल भी, न दीठी। ऐसा भागा कि खोज तक न मिले, लंगोटी भी हाथ न आई। बत्तडी, कन्नडइ धूलडिआ—अब 'डी' या 'ड' पर लिखना व्यर्थ है। नासन्त—नश्यत् (सं०) नष्ट होना, अदर्शन होना, भागना, पंजाबी न्हस्—भागना।

(१५५)

संदेसें काइं तुहारेण जं संगहो न मिलिज्जइ।
सुइणन्तरि पिएं पाढिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ॥

संदेसे से, क्या, तुम्हारे से, जो, संग से, न, मिलीजै, स्वप्नान्तर में, पिए (हुए) से, पानी से, पिय! प्यास, क्या छीजै? केवल संदेश से क्या?

(१५६)

एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसण्ठुल धाइ।
पिअपब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिंवि न ठाइ॥

इधर तिधर, द्वार (और) घर में, लक्ष्मी, विसंस्थुल, धाय (=दौड़ी फिरती है), प्रिय-प्रभ्रष्ट, इव, गोरी, निश्चल कहीं भी, न, ठवें (स्थित होती, टिकती है)। लक्ष्मी की चंचलता की वियोगिनी की बौखलाहट से उपमा। वारि घरि—घर द्वार, घर बार, पब्भट्ठ-प्रभ्रष्ट (सं०) भटकी, चूकी।

(१५७)

एउ गृण्हेप्पिणु ध्रुं मइं जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ।
महु करिएव्वउं किंपि णबि मरिएव्वउं पर देज्जइ॥

यह, ग्रहण करके, जो, मैं, (=मुझसे) यदि, पिय, उबारा जाय, (तो) मेरा, कर्तव्य, कुछ, भी, नहीं, (रहे) मरना, पर, दिया जाय। यदि यह लेकर मेरे पिय का उद्धार हो जाय तो मेरा कर्तव्य कोई बाकी नहीं रहता, मैं चाहे अपना मरण दे दूं (मरण भी सह लूं)। 'दोधकवृत्ति' के अनुसार—"किसी सिद्ध पुरुष ने विद्यासिद्धि के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए धन आदि देकर नायिका से बदले में पति माँगा तो वह कहती है कि यदि यह लेकर पति उद्वर्त्यते-त्यज्यते-बदले में दिया जाय तो मेरा कर्तव्य कुछ नहीं है, केवल मरना दे सकती हूँ" चाहे मेरे प्राण ले लो पति को न दूँगी) गृह्विप्पिणु-पूर्वकालिक, ध्रं— देखो (४१), उव्वारिज्जइ (१) उबारा जाय, (२) बटाया जाय ? देखो ऊपर टीका, करिएव्वउं, मरिएव्वउं—करबो, मरबो (राज०), करवुं, मरवुं (गुजराती), कर्तव्य, मर्तव्य (सं०)।

(१५८)

देच्चुचाडणु सिहिकढणु घणकुट्टणु जं लोइ।
मंजिट्ठए अइरत्तिए सव्व सहेव्वउं होइ॥

देश (से) उचाटा जाना, शिखि (आग) पर कढ़ना (काढ़ा जाना), घना कुटना, जो लोक में (अति दुःखदायक भयंकर दण्ड हैं वे) मंजीठ से, अतिरिक्त से, सहना, होय। रक्त = (१) लाल (२) अनुराग में पगा हुआ। मंजीठ देस-निकाला, आग पर कढ़ना, घनी कुटाई सहती है, यह 'रक्त' होने का फल है। सहेव्वउं—सहवो, सहितव्य।

(१५९)

सोएवा पर वारिआ पुप्फवईहिं समाणु।
जग्गेवा पुणु को धरइ जइ सो वेउ पमाणु॥

सोना, पर, वारित किया गया (है), पुष्पवतियों के साथ, जागने को, पुनि कौन, धरता है (पकड़ता है), यदि सो, वेद, प्रमाण (है)। किसी शोहदे की उक्ति। जिस वेद में 'साथ सोने' की मनाई है यदि वही प्रमाण हो तो 'साथ जागने' को कौन रोकता है ? सोएवा जागेवा—सोबो, जागबो, वारिआ—वारित, पुप्फवई—पुष्पवती, रजस्वला, पुष्प का उपचार हिंदी तक आया है क्योंकि प्रथम रजोदर्शन को 'फुलेरा' कहते हैं। मिलाओ गाथा—

लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होइ होउ सन्ताम।
एह णिमज्जसु पासे पुप्फइ ण एइ मे णिद्दा॥
(सरस्वती कंठाभरण ३, २९)

[लोग खिझें, खिझें, बंचनीय (निन्दा) हो तो होने दो, आ, पास लेट जा, पुष्पवती ! मुझे नींद नहीं आती।]

(१६०)

हिअडा जइ वेरिअ घणा तो किं अब्भि चडाहुं।
अम्हाहिं वे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुं॥

हे हिय ! यदि, बैरी, घने (हैं) तो, क्या, आकाश में चढ़ें ? हमारे (भी) तो, दो, हाथ (हैं), यदि, पुनः मारकर, मरें। अब्भि—अभ्र में, शत्रुओं से बचने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धरती छोड़ आकाश को चले जायँ क्या ? दो हाथ तो हैं, मार कर मरेंगे।

(१६१)

रक्खइ सो विसहारिणी बे कर चुम्बिवि जीउ।
पडिबिंबिअमुंजालु जलु जेहिं अडोहिउ पीउ॥

रक्खै वह विष (=पानी) हारिणी, दो, कर, चूमकर, जीव (अपना), प्रति-बिंबित-मूंज-वाला-जल, जिनसे, पिलाया, पिया को। कहीं ताल के तीर पर मिलन हुआ था। किनारे पर मूंज उग रही थी। उसकी परछाईं पड़ रही थी। पिया ने उसके हाथों से जल पिया था, फिर मिलना नहीं हुआ। नायिका उन हाथों को चूम-चूमकर ही जीवित रह रही है। **विस**—जल, संस्कृत में भी अप्रयुक्त है, यदि बिस (कमल की नाल) लाने वाली अर्थ करें तो अच्छा हो क्योंकि कमलनाल का मूल वहां रहता है जहां जल में मुंज का प्रतिबिंब पड़ा था इसलिए कमलनाल तोड़ते समय सब स्मरण आता रहता है। **बे**—'दोधकवृत्ति' कदाचित '**जेहिं**' के नित्य-संबंध से इसे वर्तमान हिंदी का 'वे' मानती जान पड़ती है, **चुम्बिबि**—पूर्वकालिक **मुंजालु**—'आला' प्रत्यय 'वाला' अर्थ में **अडोहउ**—पिया, पिलाया।

(१६२)

बाह विछोडबि जाहि तुहुँ हउँ तेवँइ को दोसु।
हिअमट्ठिउ जइ नीसरहि जाणाउँ मुंज सरोसु॥

देखो : 'प्रबन्धचिंतामणि' वाला लेख (पत्रिका भाग २, पृ० ४४)। 'दोधक-वृत्ति'—'**मुंजो भूपतिः सरोषः**' कहकर यही अर्थ करती है कि नायिका नायक मुंज से कह रही है।

(१६३)

जेप्पि असेसु कसायबलु देप्पिणु अभय जयस्सु।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं झाएविणु तत्तस्सु॥

जीतकर, अशेष कषायबल, देकर, अभय, जगत का (को) लेकर, महाव्रत, शिव, पाते हैं, ध्यान कर, तत्व का (को)। **जेप्पि, देप्पिणु, लेब्बि, झाएविणु**—पूर्वकालिक, **कसाय**—कषाय, मल, क्रोधादि, **सिव**—मोक्षपद।

(१६४)

देवं दुक्करु निअय धणु करण न तउ पडिहाइ।
एम्वइ सुहु भुंजणहं मणु पर भुंजणहि न जाइ॥

देना, दुष्कर, निजक—धन, करना, नहीं, तप, (प्रति) भाता, यों, सुख, भोगने का, मन (है), पर, भोगने को (=भोगा) न, जाता। देवं—(पाठा० देवें) देवो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवुं (गु०) भुञ्जण—भोजन, भुंजणहि न जाइ—'भोगा नहीं जाता' भोक्तुं न याति (दोधकवृत्ति) नहीं।

(१६५)

जेप्पि चएप्पिणु सयल धर लेविणु तवु पालेवि।
विणु सन्तें तित्थेसरेण को सक्कइ भुवणेवि॥

जीतना, त्यागना, सकल, धरा को, लेना, तप, पालना, बिना, शांति (नाथ) तीर्थंकर से (=को), कौन सकै, भुवन में भी? **जेप्पि, चएप्पिणु, लेविणु, पालेवि,** क्रियार्था क्रिया सं० तुम। ये रूप पूर्वकालिक क्रिया के रूपों से मिलते हैं।

(१६६)

गंप्पिणु वाणारसिहिं नर अह उज्जेणिहिं गंप्पि।
मुआ परावहिं परमपउ दिव्वन्तरहि म जम्पि॥

जाकर, बनारस में, नर, अथ (वा), उज्जयिनी में, जाकर, मुए (लोग), प्राप्त होते हैं, परम पद, दूसरे स्वर्गों को (=की बात), मत, कह। **गंप्पिण, गंप्पि**—पूर्वकालिक **वाणार सीया वाराणसी**—देखो : ना० प्र० प्रत्रिका भाग २, पृ० २२७-८, **परावहिं**—प्रापें, दिव्वंतर—अन्य दिव, दूसरे लोक, परमपद ही मिल जाता है तो और स्वर्ग आदि की बात ही क्या, तीर्थान्तर (!) (दो० वृ०) **जंप**—जल्प (सं०), इसमें 'इ' केवल छंद के लिए लगा है।

(१६७)

गंग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिवतित्थ गमेप्पि।
कीलदि तिदसावास गउ सो जमलोउ जिणेप्पि॥

गंगा, जाकर, जो, मुए (मरे), जो, शिवतीर्थ (काशी), जाकर, खेलता है, त्रिदशावास, गया, वह जमलोक, जीतकर। **गमेपप्पिणु, गमेप्पि, जिणेप्पि**—जाकर जीतकर, **कीलदि**—क्रीडति (सं०) **तिदसावास**—त्रिदश (देव) आवास, **गउ**—गयो।

(१६८)

रवि अत्थमाणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु।
चक्वें खण्ड मुणालियहे नउ जीवग्गलु दिण्णु॥

रवि (के) अस्तमन में, समाकुल ने, कंठ में दिया, न, छीना (—काटा, दाँतों से) चक्र (वाक) ने, खंड, मृणालिका का, नाईं जीवार्गला दीना। चक्रवाक ने मृणाल का कौर मुंह में लिया कि सूर्यास्त हो गया। वियोग का समय आया। बेचारे ने कौर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काटा भी नहीं, मुँह में डाल लिया, मानो वियोग में जीव न निकल जाय इसलिए अर्गला (आगल, अरगड़ा) दे दी। **अत्थमणि**—देखो : पत्रिका भाग २, पृ० ५६। **विइण्णु**—वितीर्ण, **चक्के**—कर्मवाच्य का कर्ता जैसे मैं, तैं (मइं, तइं), 'ने' वृथा है, पंजाबी राजें-राजा ने। **नउ**—उपमावाचक, देखो (५), जीवग्गलू=जीव+अर्गला। संस्कृत के इस श्लोक का भाव है—

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवते बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु जातविरहाशंकां विलोक्य प्रियाम्।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः॥

—सुभाषितावलि सं० ३४८३, पीटर्सन

(१६९)

वलयावलि-निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ।
वल्लहविरह महादहहो थाह गवेसइ नाइ॥

बलयावलि (के) निपतन (के) भय से, नायिका, ऊर्ध्वभुज, जाय (जाती है), वल्लभ (के) विरह (रूपी) महादह की, थाह, ढूंढ़ती है, मानो वियोग में दुबली हो गई है। चूड़ियां गिर न जायं इसलिए बांहें ऊँची करके जाती है। मानो प्रिय के विरह के महादह की थाह ढूंढ़ रही है, नहीं पाती। जो गहरे पानी की थाह लेना चाहता है वह सिर पर हाथ ऊँचे कर लेता है कि पानी सिर से ऊँचा है। **उद्धब्भुअ**—ऊर्द्ध+भुज, **धण**—देखो (१), दह (सं०) ह्रद का व्यत्यय मिलाओ कालीदह, **गवेसइ**—सं० गवेषयति, **नाइ**—नाईं, देखो (५)।

(१७०)

पेक्खेविणु मुहु जिणवकहो दीहरनयण सलोणु।
नावइ गुरुमच्छरभरिउ जलणि पवीशइ लोणु॥

देखकर, मुँह, जिनवर का, दीर्घ नयन (वाला) सलोना, मानो, गुरुमत्सरभरित, ज्वलन (आग) में, प्रविशै, लावण्य, मत्सर से भरा, आग में कूद पड़ता है। सुन्दरता पर दीठ न लग जाय इसलिए 'राई नौन' आग में डालते हैं। **लोणु**—देखो (११५), **नावइ**—मानो, नाईं। देखो (५)।

(१७१)

चम्पयकुसुमहो मज्झि सहि भशलु पइट्ठउ।
सोहइ इन्दनीलु जणि कणइ वइट्ठउ॥

[हिन्दी—सम=चंपक कुसुमहिं माँज सहि भँवर पैठो।
सोहै इन्द्रनील जनु कन (क) हिं बैठो॥]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१७२)

अब्भा लग्गा डुंगरहिं पहिउ रडन्तउ जाइ ।
जो एहा गिरिगिलणमणु सो किं धणहे धणाइ ॥

अभ्र (—मेघ), लागे, डूंगरों पर, पथिक, रटता हुआ, जाय (=जाता है कि), जो, ऐसा, गिरियों (को) (नि) गलने (के) मन (वाला) (मेघ है), वह, क्या, नायिका को, बचावेगा ? पहाड़ों पर मेघ देखकर वियोगी समझता है कि ये पहाड़ों को निगलेंगे, वह पुकार उठता है कि जिनका ऐसा हौसला है वे क्या बेचारी वियोगिनी को छोड़ेंगे ?

अब्भा—अभ्र, रडन्तउ—रडन्तो, पंजाबी—रड्याना=पुकारना, धण—देखो (१), धणाइ—'दोधकवृत्ति' में 'धनानि इच्छति'=धन चाहता है !! धणी=धनी=स्वामी, उससे नामधातु धणाइ=धनाता है, 'धणी' पन करता है (आचार क्विप्) अर्थात् स्वामित्व दिखाता, रक्षा करता, बचाता है । राजस्थानी धपणियाप—धणीपन, स्वामित्व ।

(१७३)

पाइ विलग्गी अंत्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु ।
तोवि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउँ कंतस्सु ॥

पाँव में, (वि) लगी, आँत, सिर, ल्हसा (झुक गया) कंधे पर, तो भी, कटार पर, हाथ, बलि, की जाऊँ, कन्त की । वीरता की पराकाष्ठा । ल्हसिउ—ल्हसियो, हत्थडउ=हत्थडो, बलि किज्जउँ—बलि जाऊँ, किज्जउँ—कीजौं, खन्धस्सु—कंधे का=पर ।

(१७४)

सिरि चडिआ खन्ति प्फलइं पुणु डालइं मोडन्ति ।
तो वि मद्दद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करन्ति ॥

सिर पर, चढ़े, खाते हैं, फलों को, पुनि, डालों को, मोडते (तोडते) हैं, तो, भी, महाद्रुम शकुनों (पक्षियों) को, अपराधी न, करते हैं । महापुरुषों की क्षमा । मोडन्ति—सं० मोटयन्ति, तोड़ना फोड़ना । शकुनियों का अपराध (बिगाड़) नहीं करते ('दोधकवृत्ति') ।

(१७५)

सीसु सेहरु खणु विणिम्मविदु खणु कंठि पालंबु किदु, रदिए विहिदु खणु मुंड-मालिए जं पणएण तं नमहु कुसुमदामकोदण्डु कामहो ।

इस गद्य में इस बात का उदाहरण दिया है कि अपभ्रंश में शौरसेनी की तरह कुछ काम होता है । और कुछ खंड और गाथा इसलिए दिए गए हैं कि अपभ्रंश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यत्यय और कई प्रयोग संस्कृत के-से होते हैं। उन अवतरणों को यहां देने का कोई प्रयोजन नहीं। इस गद्य का अर्थ यह है—सीस पर शेखर क्षण (भर के लिए) विनिर्मित क्षण (में) कंठ में प्रालम्ब (लम्बी माला) कृत, रति ने विहित क्षण में मुंडमालिका में जो प्रणय से, उसे नमो कुसुमदाम—कोदण्ड को, काम के(को)। काम का फूल—धनुष कभी रति अपना सीसफूल बनाती है कभी गले में लटकाती है कभी मूंड़ पर माला की तरह पहनती है, उसे प्रणाम करो। **सेहरु**—शेखर, सेहरा, **विड्म्म-विदु**—सं० विनिर्मापित, **पणएण**—प्रणय से, इसे 'दोधकवृत्ति' 'नमहु' का विशेषण मानती है।

हेमचन्द्र के व्याकरण के इस अंश में जो शब्द उदाहरणवत् दिए हैं उनका यहां उल्लेख निष्प्रयोजन है। जो वाक्यखंड आए हैं उनमें से कुछ के विचार के लिए पृथक् लेख का उपयोग किया जाएगा।

□

परिशिष्ट

ऊपर पत्रिका भाग २, पृ० ४६ तथा १५० में यह भ्रम से लिखा गया है कि 'काण वि बिरह करालिअँहे' आदि दोहा हेमचन्द्र में है। यह हेमचन्द्र में नहीं है। उस दोहे का अर्थ स्पष्ट नहीं था। उसका ठीक अर्थ करने का यत्न किया जाता है।

मूल

कारण वि　　　　यहे
—— विरह करालि — (यइ) उड्डाविअउ वराउ।
कीई वि　　　　इं
सहि
—अच्चब्भुउ दिट्ठ मइ कंठि विलुल्लइ काऊ।
इउ

विरहाकुलिता कौए को उड़ाया करती है कि हमारा पति आज आता हो तो उड़ जा। जहां कई विरहाकुलिता हो वहां कौए की शामत आ जाए। इधर गया तो एक उड़ावे, उधर गया तो दूसरी, कहीं बैठने को ठौर ही नहीं पावे। बेचारा कष्ट में अधर झूल रहा है कि किधर छाऊँ। कुछ का (=से) विरहकरालिताओं का (=से), पै, उड़ाया गया, वराक, हे सखि या यह, अत्यद्भूत, देखा, मैं (ने), कष्ट में, विलुलता है, काक। काण—सम्बन्ध ब्रहुवचन, कंठि—कट्ठि (देखो : पत्रिका भाग २, पृ० ४०) कष्ट में, विलुल्लइ—मारा-मारा फिरता है, मंडराता है, काउ—कौआ। पहला अर्थ शास्त्री तथा टानी के भरोसे पर किया था।

इस नए अर्थ के मार्गदर्शन का उपकार बाबू जगन्नाथ दास (रत्नाकर) का है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग २, ३) : १९२१-२२ ई०]

□□

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय खण्ड

शेष साहित्य

- भाषा
- इतिहास
- राजनीति/धर्म
- विविध
- जीवनचरित
- पुरातत्त्व
- विज्ञान
- सम्पादकीय टिप्पणियां
- पत्र
- परिशिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा

डिंगल

डिंगल शब्द के अर्थ में कई मतभेद हैं। राजपूताने की प्राचीन कविता जिसमें देशी अपभ्रंश अधिक आते हैं और कर्कश शब्दों का अधिक प्रयोग होता है, 'डिंगल' कहलाती है। डिंगल कविता का समय हो नहीं चुका, अब भी चारण वैसी कविता करते हैं। राजपूताने के कवि और कविता जानने वाले ब्रजभाषा की सुकुमार कविता को तो 'पिंगल' कहते हैं और कर्कश शब्द प्रचुर देशी कविता को 'डिंगल'। 'पिंगल' तो छंद के आचार्य हैं, यह नहीं कि 'डिंगल' कविता के छंद कोई दूसरे हैं, किंतु 'डिंगल' के छंद 'पिंगल' सूत्रों में लिखे छंदों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, किंतु व्यवहार में श्रृंगार का दोहा जिसकी भाषा सुकुमार हो 'पिंगल' कहलाएगा। (लक्षण-शास्त्र का लक्ष्य पर उपचार) और दानस्तुति, निंदा (भूंडा) या वीरता का देशी दोहा डिंगल।

एक महाशय ने तो 'डिंगल' को प्राचीन राजस्थानी भाषा का नाम मान लिया है और राजपूताने की चटशालाओं की अखरावट को 'डिंगल' की वर्णमाला कह दिया है। इसका अत्यासक्ति को छोड़कर कोई प्रमाण नहीं। कुछ लोग 'डिंगल' का अर्थ 'डगर की बोली' करते हैं पर 'डगर' क्या है और कहां है, इसका कुछ पता नहीं। 'पहाड़ी या रेतली भूमि' अर्थ करने से भी डिंगल कविता के क्षेत्र का यह नाम होना सिद्ध नहीं होता। एक चारण महाशय इसकी व्युत्पत्ति में कहते हैं कि 'म्हैं डगल बेड़ा करां हाँ' अर्थात् ब्रजभाषा के कवि तो कटे-छंटे-तराशे पत्थरों से मकान बनाते हैं, हम मिट्टी के टेढ़े-मेढ़े डगल या ढेले दो-दो जोड़कर झोंपड़ा चुनते हैं, इस 'डगल' से डिंगल बन गया। इस निर्वचन में भी 'डगल' डिंगल के श्रुतिसाम्य के अतिरिक्त कुछ तत्त्व नहीं।

मेरे मत में 'डिंगल' केवल अनुकरण शब्द है, 'काफ़िया न मिलेगा तो बोझों तो मरेगा' की कहावत के अनुसार पिंगल के भेद दिखाने के लिए बना लिया गया है। जैसे 'वासवदत्ता' के विषय में (अधिकृत्य) बनाई गई कहानी 'वासवदत्ता' कहलाती है वैसे ही लक्षण-शास्त्र और लक्ष्य रचना के अभेदोपकार से हिंदी-कविता 'पिंगल' कहलाई। उससे भेद करने के लिए, श्रुतिकटु टवर्ग बहुल भाषा की कविता के लिए 'डिंगल' एक यदृच्छा शब्द है, डित्थ आदि की पहचान की तरह इसका कोई अर्थ नहीं है।

निश्चित अर्थ के वाचक किसी शब्द से, उससे भेद दिखाने के लिए उसी की छाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर दूसरा अनर्थक शब्द बनने और उसके दूसरे अर्थ के वाचक हो जाने के कई उदाहरण मिलते हैं।

१. कर्म का अर्थ सब जानते हैं। कुछ धातु द्विकर्मक होते हैं, जिनके साथ एक कर्म गौण या अनुक्त होता है और दूसरा प्रधान या उक्त। इस अनुक्त या 'अकीर्तित' कर्म के लिए वैयाकरणों के यहां 'कल्म' संज्ञा है। यह संज्ञा भाष्यकार पतंजलि ने बनाई या परोक्षा, भवन्ती आदि की तरह पुराने आचार्यों की बनाई है इसका कोई पता नहीं, किंतु इसका अर्थ कुछ नहीं है, केवल 'कर्म' से भेद करने के लिए उससे मिलता-जुलता नाम बना लिया है। स्वामी दयानंद ने केवल परिष्कार जाननेवाले नवीन वैयाकरणों को चकराने के लिए इसका उपयोग किया किंतु 'कल्म', 'कर्म' ऐसे ही हैं जैसे 'डिंगल-पिंगल'।

२. 'कुमार' का अर्थ बालक है। उसके तद्भव 'कुँवर' का अर्थ उस मनुष्य में रूढ़ हो गया है जिसका पिता जीता हो। किसी राजपूत को पिता के जीते 'कँवर' न कहकर 'ठाकुर' कहना बाप की गाली समझा जाता है। 'कँवर रामसिंह' का अर्थ हुआ—रामसिंह जिसका पिता जीता है, पिता के मरने पर वह ठाकुर हो जाएगा। अब यदि रामसिंह के पुत्र हो जाए तो वह क्या कहलावेगा? उसका पिता स्वयं कँवर है। इसलिए दादा के सामने पोते के लिए सांकेतिक नाम बनाया गया—भँवर। भँवर का कोई अर्थ नहीं है, न भ्रमर से संबंध है, यह केवल 'कँवर' से भेद करने के लिए मिलता-जुलता शब्द है। वैसे ही पड़दादा के जीते दुर्लभ पड़पोते को 'तँवर' या 'टँवर' कहते हैं।

३. जातियों के विभाग में 'दस्सा' और 'बीसा' पद आते हैं। 'दस्सा' का अर्थ 'दासी का पुत्र' या मातृपक्ष से हीन है। दासी से 'दस्सा' बना है। इस शब्द के प्रचलित होने पर असल या शुद्ध जाति वालों ने 'दस्सा' की संख्या समझकर और बीस विस्वे की पूर्णता के उपचार से अपना नाम 'बीसा' रख लिया। 'दस्सा' का दस से कुछ संबंध नहीं है, न 'बीसा' का बीस से; किंतु दास से बनने वाले 'दस्सा' को हीन पक्ष पर रूढ़ देखकर उसका दस की संख्या से श्रुतिसाम्य मानकर उससे भेद करने के लिए और अपने को बीसों विस्वा 'असल' बनाने के लिए 'बीसा' नाम गढ़ लिया गया।

४. 'रुक्का' का अर्थ पत्र है। सांकेतिक व्यवहार में एक रियासत में पत्रों के क्रमानुसार दर्जे हैं, जैसे कैफियत, परवाना, रुबकार। 'रुक्का' नीचे के अधिकारी के नाम ऊँचे अधिकारी की लिखावट के अर्थ में रूढ़ हो गया है। 'रुक्के' से नीचे दर्जे की लिखावट के लिए 'सुक्का' नाम बताया गया है। 'सुक्का' का अपना कोई अर्थ नहीं, न इसका सूखे से कोई संबंध है, केवल रुक्के से भेद बताने के लिए यह सुक्के का तुक्का चलाया गया है।

५. पंजाबी 'अढ़ाई घर' सारस्वतों की 'पंचजाति', कुमड़िये, जैतली, झिंगण, तिक्खे और मोहलों से भेद दिखाने के लिए ही 'चार घर' की जातियों के नाम कुछ विकृत करके लुमड़िये, पेतली, पिंगण, पिक्खे और बोहले रक्खे गए। (सारस्वतसर्वस्व, पृ० २३२-३) इन पदों का कोई अर्थ नहीं है। पहले नामों से भेदमात्र दिखाने को परिवर्तन किया है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या संस्कृत हमारी भाषा थी ?

समय के फेर से यह प्रश्न भी अब विवाद का विषय हो गया है और बौद्धसाहित्य के प्रेमी और पक्षपाती सिद्ध करते हैं कि संस्कृत भारतवर्ष की भाषा (सर्वसाधारण की बोलचाल) कभी भी न हुई। गत दो महीनों से लण्डन की एशियाटिक सोसाइटी में इस विषय का अच्छा विवाद चल रहा है। अवश्य ही पुरैतिहासिक (Prehistoric) वैदिककाल की बात छोड़ देनी चाहिए, किन्तु यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ में संस्कृत सबकी भाषा थी। आजकल यदि इंग्लैण्ड में समाचार-पत्र और रेल, तार न हों तो वहाँ भी कई प्रकार की 'प्राकृत' भाषाएं चल जायं और इनके होते भी 'टाइम्स' और 'रस्किन' की जो अंग्रेजी है, वह वेल्स और बार्डरलैंड की अंग्रेजी कभी नहीं है। रही यह बात कि चक्रवर्ती अशोक ने अपने लेख पाली में लिखवाए, नाटकों में सबको समझाने को विदूषक प्राकृत में मज़ाक करता है, और संस्कृत केवल ब्राह्मणों की भाषा थी, इस पर वक्तव्य यह है कि साधु भाषा और व्यवहार की भाषा सदा ब्राह्मणों की ही होती है, भेद इतना ही है कि इंग्लैण्ड में ब्राह्मण (साहित्य-सेवी) घृणा से नहीं देखे जाते, और सदा बदलते रहते हैं, और यहाँ ब्राह्मणत्व जन्म के अधीन है। आम्निबस हांकनेवालों की भाषा समाचारपत्रों की भाषा से भिन्न है, और 'भारतमित्र' की भाषा दिल्ली के कहारों की भाषा नहीं है। टेनिसन के 'ओल्ड रोआँ' (old rover) की भाषा देखकर क्या कह सकते हैं कि साधु अँगरेज़ी केवल अंग्रेज ब्राह्मणों की भाषा है ? अशोक के काल में शिथिल होकर संस्कृत फिर प्रबल हो गई, क्योंकि पाली और मागधी-ग्रंथों की टीकाएं संस्कृत में लिखी गईं और जब बौद्धों का निर्वासन संस्कृत से ही हुआ तो अवश्य ही वह सर्वगम्य होगी। वर्तमानकाल में अवश्य ही संस्कृत का बुरा हाल है, और उसका भारतवर्ष की भाषा होना स्वप्न ही है। अब का भारतवर्ष संस्कृत के भारतवर्ष से बड़ा है और अब वह केवल ब्राह्मण पुरुषों ही की भाषा रह गई है, अब्राह्मण और स्त्रियें इससे पृथक् हैं। पहिले पिक, तामरस, नेम आदि शब्द, और कई ज्योतिष शब्द, संस्कृत ने यावनो भाषाओं से लिए थे, और भवभूतिकाल में पाली से भी शब्द लिये गए। अब भी यदि संस्कृत का व्यवहार हो तो उसका व्याकरण शिथिल करना पड़ेगा। किंतु पुरातत्त्व की खोज और धर्म के सम्बन्ध से उसकी चर्चा सदा विद्यमान रहैगी, इसमें सन्देह नहीं।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मई, १९०४ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योरोपियन संस्कृत
(EUROPEAN SANSKRIT)

विद्वान् अँगरेज भारतवासियों की अँगरेजी को, बाबू इंगलिश की प्रेममय उपाधि से स्मरण करते हैं। उनकी बोलचाल में बाबू हरिबन्शो जबरजी, बी० ए० परिहास के पात्र हैं और भारतवासियों का चरित्र जब कभी अंकित किया जाता है तब, मिस्टर डिक के सिर में प्रथम चार्ल्स के सिर के समान, बाबू इंगलिश भी आ ही जाती है। परन्तु भारतवासियों में अँगरेजी के बड़े-बड़े विद्वान् हो गये और हैं। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनरजी के भाषणों से इंगलैण्डवालों को पिट का स्मरण हो आता था, और मान्यवर वायसराय ने अभी अपने प्रसिद्ध कन्वोकेशन के भाषण में भारतवासियों की "विदेशी भाषा में बोल सकने की आसानी की ईर्ष्या" प्रकाश की थी। विदेशियों की भाषा अँगरेजी को हमने इतना अपना लिया है कि हमारी देशभाषा भी उसी के साँचे में ढली जाती है, हमारे उच्च विचार उसी में प्रकाशित हो सकते हैं, हमारे प्रधान संवादपत्र और राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन बिना उसके चल नहीं सकते। हमने अपने कंठ तालु आदि को यहाँ तक बिगाड़ा है कि यूरोपियनों की तरह बोल सकना एक गौरव की बात हो गई है और देश-भाषाएँ भी वैसे ही मरोड़कर बोली जाती हैं। विदेशी भाषा के हम लोग इतने स्वार्थहीन भक्त हो गये हैं कि हमारी भाषाएँ अब उसकी दासियाँ बनकर ही स्कूल और कालेजों में रहने पाती हैं।

जब भारतवासियों को अपनी भाषाओं की ओर उपेक्षा का आक्षेप सुनाया जाता है तब अँगरेज और जर्मन विद्वानों के संस्कृत-प्रेम और पाण्डित्य का उदाहरण दिया जाता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने क्या अच्छा तीर मारा था—

आल्हाऊदल को भयो, अँगरेजी अनुवाद।
यहि लखि लाज न आवही, तुमहिं ? न होइ विषाद ॥

भारतवासी विद्वान् पुस्तक-जड़ कहे जाते हैं और संस्कृत भाषा की लीलास्थली भारतवर्ष को छोड़कर जर्मनी हो गई है। ऐसा बारम्बार सुनाई देता है। जर्मनी में संस्कृत कैसे पढ़ी जाती है उस पर ध्यान दिया जाता है और जर्मनी के पठन प्रकारों की संस्कृत की जन्मभूमि में कलम लगाने का प्रस्ताव परम गम्भीरता से किया जाता है।

मेरा यह उद्देश्य कभी नहीं है कि पाश्चात्य विद्वानों ने पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान आदि की गवेषणा में संस्कृत को जो गौरव दिया है और उनके प्रयोग से अपने ऊपर जो गौरव डाला है, उसको तुच्छ ठहराऊँ या उसका उपहास करूँ। उनने अक्षुण्ण मार्गों को खोलकर वह काम किया है जो भारतवासियों को करना चाहिए था। यदि उनने कभी कोई भ्रम भी किया हो तो उस भाषा के अध्ययन की कठिनाइयों के सामने वह भ्रम क्षन्तव्य है। अतएव उनकी ओर पूरा सन्मान दिखाकर उनके संस्कृताभ्यास के तुच्छ नमूने यहाँ देकर भारतवासियों के अँगरेजी पढ़ने के परिश्रम से तुलना करना कभी भी तुच्छता या कलुषता न समझी जाय—यह मेरी प्रार्थना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण रीति से कहा जा सकता है कि डाक्टर कीलहार्न का-सा वैयाकरण योरोप में नहीं है, परन्तु उनने संस्कृत में बहुत ही कम लिखने का साहस किया है। यह स्पष्ट रीति से कहा जा सकता है कि किसी योरोपीय पंडित ने संस्कृत में ग्रंथ या निबंध लिखने का सहसा प्रयत्न नहीं किया। हाँ, डाक्टर बूलर अपने मित्रों को संस्कृत में पत्र लिखा करते थे। उनका एक ऐसा पत्र महामहोपाध्याय स्वर्गीय पंडित दुर्गाप्रसाद जी के सम्पादित 'कामरत्न' के द्वितीय संस्करण में छपा है। डाक्टर पीटरसन को उनके मित्र 'पीतरसन' (सरस्वती को पी जाने वाला) कहते थे। उनने और महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसादजी ने मिलकर जो 'सुभाषितावलि' का संस्करण छपवाया है उसमें दो श्लोकों में डाक्टर साहब ने अपने गुरु बोखास को वह ग्रन्थ समर्पण किया है। रावलपिण्डी के वर्तमान 'इन्सपैक्टर आफ स्कूल्स' और 'लाहौर ओरियन्टल कालेज' के भूतपूर्व प्रिंसिपल डाक्टर स्टेन अपने नाम को संस्कृत बनाने के लिए 'स्तेनः' लिखते थे। इस पर पंडितों को हँसते देखकर (संस्कृत स्तेनः चोर) उनने 'स्तेन' लिखना आरम्भ किया।

डाक्टर मैक्समूलर ने संस्कृत पढ़ने में बड़ा परिश्रम किया था। उनने मोम का कागज अक्षरों के ऊपर रखकर कलम फेरते-फेरते सम्पूर्ण 'सायण भाष्य' की नकल की थी। उनने जर्मनी को 'शार्मण्य' और आक्सफोर्ड को 'उक्षातरण' बनाया। उनके भक्त भारतवासियों ने उन्हें भट्ट की उपाधि दी और उनका नाम शुद्ध होकर 'मोक्षमूलर' बन गया। उनके सम्पादित 'ऋग्वेद' के अन्त में एक श्लोक है, उसके चौथे चरण की बहार देखिये—

शार्मण्यदेशजातेन उक्षयत्रनिवासिना।
मोक्षमूलर भट्टेन पुस्तकमिदं शोधितम्॥

जर्मनी के प्रोफेसर वेबर भी संस्कृत के बड़े पंडित और गवेषक कहे गये हैं। उन्हें डाक्टर भाण्डारकर ने 'याज्ञवल्क्य' की उपाधि दी है। वर्तमान युग के याज्ञवल्क्य ने 'यजुर्वेद संहिता' का संस्करण छपवाया है। उसमें कुछ संस्कृत भी है। पढ़िए—

ओम्! शुभं भवतु। कल्याणमस्तु।
संवत्सरे खृष्टीये १८५१ विक्रमार्कगते १९०७ शके १७७३
समाप्तिमगात्
बोग्देन मुद्रिता सेयं वेबरेण च शोधिता।
बाजसनेयसंहिता वेददीपेनसंयुक्ता॥

(जरा इसके छंद पर ध्यान दीजिए)

ओम् श्री वेदपुरुषाय नमः।

ग्रन्थ के आदि में लिखा है—

"श्री शुक्ल यजुर्वेदे वाजसनेयिसंहिता—
माध्यन्दिनीयानां च काण्वीयानां च शाखेऽनुसृत्य
श्रीमन्महीधर कृत वेददीपाख्यभाष्यसहिता
अल्वेर्त्तेन वेबरेण शोधिता
प्रुष्पनाम्नि जनपदे वेर्लीनाख्यां राजधान्यां मुद्रिता संवत्सरे १८५२"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर—गौटिंगन (गोत्रांगण) की प्राच्य पंडितों की कांग्रेस में गए थे। वह कांग्रेस उनको विदेह राजा जनक के अश्वमेध की-सी मालूम दी। उसमें उन्हें याज्ञवल्क्य, अश्वल, गार्गी सभी दिखाई दिए। परंतु भारतवर्ष में आकर उन्होंने जो निबंध एशियाटिक सोसाइटी की बंबई शाखा में पढ़ा, उसमें उन्होंने कहा था कि वहाँ किसी पंडित ने मुझे दो श्लोक लिखकर बताए थे, वे दोनों ही अशुद्ध थे।

कील यूनिवर्सिटी के वेदांताध्यापक डाक्टर डेउसन (देवसेन) वेदांत और संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। उनने बादरायण सूत्रों का जर्मन भाषा में अनुवाद किया है। वे भारतवर्ष में भी आए थे। उनने राथ और बोथलिंग नामक पंडितों की प्रशंसा के दो श्लोक अपनी 'एलीमैंट्स आफ मैटाफिजिक्स' में लिखे हैं। राथ और बोथलिंग ने जर्मन भाषा में एक संस्कृत का बड़ा भारी प्रकांड कोश बनाया है उसका नाम 'वार्टीबुख' है। मुक्त कंठ होकर कहना ही होगा कि संस्कृत का इतना बड़ा कोश और इतना अच्छा कोश जगत् में और नहीं है। देवसेन के श्लोक ये हैं—

येन संस्कृतभाषाया ज्ञानं सूपायनं कृतम्
अद्वितीयनद्वयारतब्धं वन्दे ग्रंथमुत्तमम्।
सकलं जीवितं याभ्यां ब्रह्मविद्याप्रकाशके
माषर्षभे समवृतं ताभ्यामस्तु नमो नमः॥

ये श्लोक सन् १८७७ ई० में बनाए गए थे।

गत वर्ष 'काशी संस्कृत कालेज' में दो योरोपीय विद्यार्थी थे। एक रूसी था और एक अमेरिकन। दोनों 'काव्यप्रकाश' पढ़ते थे। अब भी वे वहीं हैं। जब केवल एडिनबरा में ही प्रायः अस्सी भारतवासी विद्यार्थी हैं, तब भारतवासियों को 'कूपमंडूक' कहना और उनकी भाषा को 'बाबू इंगलिश' कहना ठीक नहीं मालूम देता।

[प्रथम प्रकाशन : **'श्री राघवेंद्र'** सं० ९-१०, वैशाख-ज्येष्ठ १९६२, १९०५ ई०]

यूनानी प्राकृत

वेसनगर (विदिशा) के गरुड़ध्वज का सिंदूर उतर जाने से उसपर एक बड़े महत्त्व का लेख सर जान मार्शल के हाथ लगा। उसपर बहुत कुछ वादविवाद होकर उसका शुद्ध पाठ और वर्णन डाक्टर फोजल ने सन् १९०८-९ के 'एनुएल आफ़ दी डाइरेक्टर जनरल आफ़ आर्कियालाजी इन इण्डिया' में छपवाया है। लेख का अर्थ यह है कि तक्षशिला के निवासी, दिय के पुत्र, भागवत हिलियोदोर, योनदूत ने, जो राज्य के चौदहवें वर्ष में विराजमान राजा काशीपुत्र भागभद्र त्रातार के यहाँ महाराज अंतलिकित के पास से आया हुआ था, देव देव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज बनवाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस लेख का वर्णन हिंदी में रायबहादुर पंडित गौरीशंकर जी ओझा लिख चुके हैं[1] इसलिए हिंदी के पाठक इससे अपरिचित नहीं हैं[2]। इस लेख से इतनी काम की बातें जानी गई हैं—

(१) हिंदुस्तान पर राज्य करनेवाले ग्रीक राजाओं के सिक्के बहुत मिले हैं, शिलालेख यही मिला है। तक्षशिला के ग्रीक महाराजा एंटिआल्किडस[3] का दूत, डियन का पुत्र, हीलियोडोरस अपने स्वामी की ओर से (विदिशा के) राजा काशीपुत्र भागभद्र के यहाँ रहता था। भागभद्र ने ग्रीक राजाओं की उपाधि सोटर (त्रातार) स्वीकार कर ली थी।[4]

(२) यह हीलियोडोरस भागवत (अनन्य वैष्णव) था और उसने वासुदेव के मंदिर में गरुड़ध्वज बनवाकर भेंट किया।

(३) ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी में भागवत धर्म (भक्ति-मार्ग) था और विदेशी भी हिंदू-धर्म में लिए जाते थे।

अब डाक्टर सुखटणकर ने इस लेख पर एक निबंध लिखा है[5], उसमें मुख्य बातें ये हैं—

(१) फोजल तक विद्वानों ने 'कारिते' पढ़ा था जो 'गरुड़ध्वजो' से मेल नहीं खाता। या तो 'कारिते गरुड़ध्वजे' होना चाहिए जो उस प्रांत की प्राकृत नहीं है, या 'कारितो गरुड़ध्वजो'। डाक्टर सुखटणकर कहते हैं कि लेख में पाठ 'कारितो' ही है, 'ध्वजे' की जगह 'ध्वजो' बना लेना चाहिए।

(२) दूसरी पंक्ति में 'कारितो' के आगे विद्वानों ने छूटे हुए स्थान में 'इ' पढ़कर उसके आगे 'अ' की कल्पना करके 'इअ = संस्कृत इह = यहाँ' समझा है। खरोष्ठी के लेखों में इय, इ, या हिय, इह (यहाँ) के अर्थ में आता है। किंतु यहाँ 'इ' के होने में संदेह है और किसी शब्द की कल्पना की आवश्यकता नहीं।

यहाँ पर हम डाक्टर सुखटणकर का इस लेख के प्रधान अंश का पाठ दे देते हैं—

(पंक्ति) १ देवदेवस वा [सुदे] वस गरुड़ध्वजे अयं
२ कारितो हेलिओदोरेण भाग
३ वत्तेन दियस पुत्रेण ताक्षसिलाकेन
४ योनदूतेन आगतेन महाराजस
५ अ [˙] तलि [f] कतस उपंता सकासं रञो

१. 'मर्यादा', वर्ष १।
२. नवलकिशोर प्रेस के 'संग्रहशिरोमणि' में ओझाजी का यह लेख उद्धृत है।
३. इसके सिक्के अफगानिस्तान के बेधराम से दिल्ली के उत्तर में सोनपत (सुवर्णप्रस्थ) तक मिले हैं।
४. संभव है कि यह राजा शुंगवंश का नवाँ राजा 'भागवत' हो, जिसका समय ईसवी सन् पूर्व १०८ के लगभग है।
५. एनल्स् ऑफ दी भांडारकर इंस्टिट्यूट, भाग १, जिल्द १, पृष्ठ ५९-६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६ कासी पुतस भागभद्रस त्रातारस
७ वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस

(३) इस लेख की प्राकृत भाषा के पदों के अन्वय की ओर ध्यान दीजिए। संस्कृत और प्राकृत में विशेषण कभी विशेष्य के पीछे नहीं आते। संस्कृत और प्राकृत की शैली से ठीक अन्वय यों होना चाहिए 'वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस रञो त्रातारस कासीपुतम भागभद्रस सकासं महाराजस अंतलिकितस उपंता आगतेन योनदूतेन ताखसिलाकेन दियस पुतेन भागवतेन हेलिओदोरेण'। डाक्टर सुखटणकर ने सप्रमाण बताया है कि 'योनदूतेन आगतेन महाराजस अंतलिकितस उपंता' और 'भागभद्रस राजेन वधमानस' ये ज्यों के त्यों ग्रीक भाषा के मुहाविरे हैं। यों ही 'गरुड़ध्वजे अयं कारितो हेलियोदोरेन' में क्रियापद का कर्त्ता और कर्म के बीच में आना ग्रीक भाषा की चाल पर है। इस पर उन्होंने फबती हुई कल्पना की है कि जो यूनानी भक्तिमार्ग के विष्णु-भागवत संप्रदाय का अनुयायी हो गया हो और जिसने विष्णुमंदिर में गरुड़ध्वज बनाया हो, उसने प्राकृत और संस्कृत पढ़कर इतनी योग्यता भी प्राप्त की हो कि अपने शिलालेख का मसौदा स्वयं बनाया हो और कलम की आदत से लाचार होकर ग्रीक चाल-ढाल ज्यों की त्यों उतार दी हो। 'राजेन वधमानस' भी 'दिष्टया वर्धसे' की तरह आशीर्वादमय वाक्य है, और 'वसेन चतुदसेन' में सप्तमी की जगह तृतीया[1] का प्रयोग भी कुछ चित्य है।

हम इस बात से सहमत हैं कि इस लेख की प्राकृत भाषा हेलिओडोरस की ही रचना है। 'पंडिताऊ हिंदी' और 'बाबू इंगलिश' की तरह यह यूनानी प्राकृत है। जिसे जिस भाषा के मुहाविरे का अभ्यास होता है वह दूसरी भाषा लिखते समय जाने-अनजाने उसी का अनुसरण करता है। बंगला में 'रौद्र' धूप को कहते हैं, एक बंगाली कवि का उद्भट संस्कृत श्लोक है जिसमें धूप के अर्थ में 'रौद्र' ही काम में लाया गया है जो संस्कृत में दुर्लभ है।

अँगरेज़ी में जो बात पहले कही गई है उसे 'ऊपर लिखी या कही गई' कहते हैं और जो आगे कही जायगी उसे 'नीचे लिखी या कही' कहा जाता है। काग़ज़ में लिखते-लिखते ऊपर से नीचे को आते हैं इससे यह उपचार चला है। इसकी देखादेखी संस्कृत और संस्कृत-जात भाषाओं में भी 'उपरिलिखित', 'उपर्युक्त' (हिंदी का उपरोक्त !) 'निम्नलिखित', 'अधोनिर्दिष्ट' आदि प्रयोग चल पड़े हैं। जो संस्कृत के पुराने मुहाविरे से सर्वथा अशुद्ध हैं। संस्कृत में 'उपरिष्टाद् वक्ष्यामः' (=ऊपर कहेंगे) का अर्थ होता है, आगे कहेंगे (=हिंदी या अँगरेज़ी का 'नीचे कहा जायगा')। 'इति प्रतिपादितमधस्तात्' का अर्थ है यह नीचे कहा जा चुका है अर्थात् पहले कहा जा चुका है (=हिंदी या अँगरेज़ी का 'ऊपर लिख आए हैं')। संस्कृत में लेख या प्रतिपादन के लिए वृक्ष का उपचार है जो नीचे से बढ़ते-बढ़ते ऊपर को चलता है। अँगरेज़ीवाले संस्कृत और सांस्कृतिक भाषाओं में यों नीचे को ऊपर कर रहे हैं, ऊपर को नीचे। काग़ज़ पर लिखने

१. पाणिनि के अपवर्गे तृतीया (२-३-६) से यहाँ काम नहीं चलता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वृक्ष के उगने के दोनों उपचार खिचड़ी बन रहे हैं। यह संस्कृत में 'निम्नलिखित' और 'उपर्युक्त' के प्रयोग की उलटी गंगा भिन्न भाषाओं के मुहाविरों की संसृष्टि का अच्छा उदाहरण है।

पारसी मोबेद नरयोसंघ ने पहलवी और पज़ंद से पारसियों के धर्मग्रन्थों के बहुत से अंशों का संस्कृत अनुवाद किया। उसने अपने खुर्द अवस्तार्थ ग्रंथ का आरंभ इस तरह से किया है[1]—

नाम्ना सर्वांगशक्तया च साहाय्येन च स्वामिनो अहुर्मज्दस्य महाज्ञानिनः सिद्धिः शुभा भूयात् प्रवृत्तिः प्रसिद्धिश्च उत्तमदीने मज्दिईअस्न्या वपुषि च पाटवं दीर्घजीवितं च सर्वेषां उत्तमानां उत्तममनसाम् ॥

इदं परोमईअस्ति नाम पुस्तकं मया नइरियोसंघेन धवलसुतेन पहलवीजंदात् संस्कृतभाषायामवतारितम्। विषमपारसीकाक्षरेभ्यश्च अविस्ताक्षरैर्लिखितम्। सुखप्रबोधाय उत्तमानां शिष्यश्रोतृणां सत्यचेतसाम्। प्रमाणः उत्तमेभ्यः शुद्धमतेभ्यः सत्यजीह्वेभ्यः सत्यसमाचारेभ्यः ॥

यह मानो पहलवी पज़ंद का अक्षर-अक्षर अनुवाद है[2]। एक और नमूना देखिए—

अपृच्छत् जरथुस्त्रः अहुर्मिज्दम्। अहुरमज्द अदृश्यमूर्ते गुरुतरदातः शरीरिणां अस्थिमतां पुण्यमय। का अस्ति अविस्तावाणी गुर्वी बलिष्ठतरा...[3]

इस 'पारसी संस्कृत' से 'यूनानी प्राकृत' के सिद्धांत की पुष्टि होती है।

[प्रथम प्रकाशन : **नागरी प्रचारिणी पत्रिका**, भाग १, वैशाख, सं० १९७७ वि०, १९२० ई०]

सिंहलद्वीप में महाकवि कालिदास का समाधिस्थल

कालिदास की देशभाषा

संस्कृत-साहित्य में महाकवि कुमारदास और महाकाव्य 'जानकीहरण' का नाम बहुत विख्यात है। उस काव्य की उत्तमत्ता पर राजशेखर ने तो यहाँ तक कह डाला है[4] कि—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासो वा रावणो वा यदि क्षमः ॥

---

१. खोर्द अवस्ता अर्थः, पार्सी पंचायत के ट्रस्टीज़ का संस्करण, पृष्ठ १
२. इसके सम्पादक ने पज़ंद और पहलवी में यही इबारत लिखकर मिलान किया है। वही, टिप्पणी १
३. वही, पृष्ठ १९
४. आरोहक भगदत्त जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' में राजशेखर के नाम से यह श्लोक दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् रघुवंश (कालिदास का काव्य और रघु का वंश) के रहते हुए यदि किसी की हिम्मत 'जानकीहरण'[१] (काव्य और सीता का हरण) करने की हुई तो या तो कवि कुमारदास की[२] या रावण की। 'जानकीहरण' के अंत में कवि ने अपना नाम कुमार-परिचारक (कुमारदास का पर्याय) दिया है और दो मामाओं की अपने ऊपर परम कृपा बतलाई है।[३]

सिंहलद्वीप की 'पूजावली' और 'पेरुकुम्बसिवित्त' में यह लिखा है कि मोग्गलायन कुमारदास या कुमारधातुसेन सिंहल का राजा नौ वर्ष राज्य करके कालिदास की चिता पर आत्मघात करके मर गया। महावंसो[४] और काव्यशेखर में उसे मोग्गल (मौद्गल) वंश का न मानकर मौर्यवंशी माना है। महावंसो के अनुसार उसकी मृत्यु सन् ५२४ ई० में हुई। धर्माराम उसकी विद्यमानता सन् ५१३ ई० में मानते हैं[५]। 'जानकीहरण' की टीका मात्र ही मिली है, वह भी सिंहल में; कवि कुमारदास और राजा कुमारदास एक ही हैं।

कहते हैं कि यह कालिदास का समसामयिक था। कालिदास के कानों तक 'जानकीहरण' का यश पहुँचा और उसने इस काव्य को बहुत सराहा। जब कुमारदास ने यह सुना तो सम्मानपूर्वक कवि को अपने यहाँ बुलाकर रक्खा। एक नायिका के यहाँ

---

१. सिंहली भाषा में एक 'जानकीहरण' काव्य की टीका मात्र मिली थी। उस पर से बड़े परिश्रम और पांडित्य से जयपुर के शिक्षाविभागाध्यक्ष पंडित हरिदास शास्त्री ने, पंडित मधुसूदन ओझा की सहायता से, काव्य का मूल संपादित किया। पुस्तक छप ही रही थी कि शास्त्री जी का स्वर्गवास हो गया। उधर सिलोन के विद्यालंकार कालेज के धर्माराम महास्थविर ने 'जानकीहरण' छाप दिया। पीछे शास्त्री का संस्करण निकला।

२. संस्कृत की सुभाषितावलियों में कई श्लोक कुमारदास (कुमार, कुमारदत्त, कुमार-भट्ट, भट्टकुमार) के नाम से दिए हैं, उनमें से बहुत-से 'जानकीहरण' में मिल गए हैं। कई नहीं भी मिले। 'अमरकोष' की टीका रायमुकुटी और उज्ज्वलदत्त की उणादि सूत्रवृत्ति में भी कुछ उद्धरण कुमारदास के 'जानकीहरण' के मिले हैं।

३. कृतज्ञ इति मातुलद्वितययत्नसानाथ्यतो
महार्थमसुरद्विषो व्यरचयन्महार्थं कविः।
कुमारपरिचारकः सकलहार्दसिद्धिः सुधीः
श्रुतो जगति जानकीहरणकाव्यमेतन्महत्॥

४. सिंहल का बौद्ध ऐतिहासिक पुराण।

५. कुमारदास के समय की नीचे की अवधि ईसवी सातवीं सदी है। कालिदास और कुमारदास की समसामयिकता सिंहल के पुराणों पर ही अवलंबित है। राजशेखर का श्लोक तो यही बतलाता है कि 'रघुवंश' के बने पीछे 'जानकीहरण' बना, जो समयांतर में भी संभव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास आया-जाया करते थे। उसने कवि के लिए अपने द्वार पर यह समस्या लिख दी कि —

कमलात् कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते।

(कमल से कमल का होना सुना जाता है पर देखा नहीं)

कालिदास चुपचाप उसके नीचे लिख आए—

बाले तव मुखाम्भोजात् कथमिन्दीवरद्वयम् ?

(हे बाले, तेरे मुखकमल से भला ये दो (नेत्र-) कमल कैसे उग आए हैं ?)

कुछ समय पीछे, मारवाड़ की ख्यातों की बोलचाल में, कालिदास पर 'चूक' हुई; उसी रमणी के कारण वे छल से मारे गए। मित्रवियोग से विह्वल होकर कुमारदास ने भी उसी चिता पर पछाड़ खाकर देहावसान कर दिया।

सन् १९०९ ई० में कलकत्ते के महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण आचार्य सिंहल गए थे। वहाँ उन्होंने सुना कि दक्षिण प्रांत के माटर सूबे में एक स्थान, जहाँ किरिंदी नदी भारत-महासागर में मिलती है, कालिदास का समाधि-स्थान कहा जाता है। पड़ोस में तिष्याराम के मठ में रहनेवाले भिक्खुओं ने भी ऐसा ही कहा और दूसरे मठों के भिक्खुओं ने भी इस प्रवाद की पुष्टि की। लगभग ५०० वर्ष पुराने सिंहली ग्रंथ 'पराक्रमबाहुचरित' में भी इसका उल्लेख है।

यह कहा जाता है कि कुमारदास ने कालिदास की बोली में एक पद्य कहा था। यह कालिदास के प्रति प्रेम दिखाने के लिये किया और उसमें एक कूट पहेली भी धरी कि कवि उसे बूझे। वह यह है—

मूल

सिय ताँवरा सिय ताँवरा सिय सेवेनी।
सियस पूरा निदि नो लवा उन सेवेनी॥

संस्कृत शब्दांतर

शतदल तामरसं स्वादु तामरसं (तस्य) स्वादं सेवमाना।
स्वीयमक्षि पूरयित्वा निद्रां न लभमाना उद्वेगं सेवते॥

हिंदी अर्थ

सौ दल का कमल, स्वादयुक्त कमल, [उसके] स्वाद का सेवन करती हुई (स्वाद लेती हुई) अपनी आँखें भरकर नींद न पाती हुई घबराहट को पाती है॥

मूल और संस्कृत शब्दांतर हमने डाक्टर सतीशचंद्र का दिया है। भाषानुवाद शब्दानुसारी हमारा अपना है। भाव यह है कि सायंकाल को भौंरा शतदल स्वादु कमल में घुसा। उसके रस को पीकर मस्त हो गया और कमल बंद होने पर उसमें कैद हो गया। रस और रज से आँखें भर गईं। आँख भरकर नींद न आई, अपनी दशा की चिंता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में व्यग्र रहा। इसका उत्तर कालिदास ने अपनी ही भाषा में यह दिया—

मूल

बन बँवरा मल नोतला रोणट बनी।
मय देदरा पण गलवा जिय सुबेनी।।

संस्कृत शब्दांतर

वनभ्रमरः मालां (पुष्पं) न उत्तोल्य रेणोरर्थे (यद्वा रुणु इति शब्दं कुर्वन्) प्राविशत्।
मालायां (पुष्पे) विदीर्णायां प्राणान् गालयित्वा गतवती सुखेन।।

हिंदी अर्थ

वन का भौंरा, माला को (फूल को) न उतोल कर रज के लिये (या रुण-रुण करता हुआ) घुसा, माला (पुष्प) के फट जाने पर प्राण गलाकर (बचा कर) गई सुख से।

कालिदास ने पहेली बूझ ली। कुमारदास के छंद में यह नहीं कहा था कि कौन घुसा। कालिदास कहते हैं कि वनभौंरा पराग के लिये, या रुन-रुन करता हुआ, माला (पुष्प) को बिना हिलाए-डुलाए घुस गया था। सबेरे माला के खुल जाने पर प्राण बचाकर सुख से निकल गया।

आजकल नई प्रादेशिकता की धुन बढ़ रही है। बंगाली कालिदास को नदिया में खेंच कर ले जाना चाहते हैं जैसे कि पटने में जन्म होने के कारण गुरु गोविंदसिंह को 'बंगाली' कहा करते थे। मैथिल तो सदा से पंडितमात्र को 'मैथिल' कहते आए हैं। इन पदों की भाषा पर भी बंगाली कहते हैं कि यह 'पुरानी बंगला' है, मैथिल कहते हैं 'पुरानी तिरहुतिया' है, अनुनासिक बहुलता से गुजराती इसे 'गुजराती' कहते हैं। डाक्टर सतीश विद्वानों से पूछते हैं[1] 'कहो इसे क्या कहा जाय?' सिंहली इसे 'पुरानी सिंहाली' भाषा कहते हैं।

पहले तो इन प्रश्नोत्तर की गाथाओं की वास्तविकता में दंतकथा को छोड़कर कोई प्रमाण नहीं। दूसरे इनका शुद्ध पाठ यही है इसमें बड़ा संदेह है। सतीश बाबू ने इन्हें कर्णपरंपरा से सुने हुए पाठ से कलमबंद किया या किसी पुरानी पोथी से उतारा, यह पता नहीं चलता। जैसे पहली गाथा में वे 'सिय' लिखते हैं, प्राकृत में शत का 'सय' होना चाहिए। भ्रमर का भँवरा (हिंदी) न करके वे 'बँवरा' बनाते हैं। यह 'भ' का 'ब' सिंहल में हुआ या सतीश बाबू की कलम में, यह जानना चाहिए। तीसरे यदि कालिदास की मृत्यु और कुमारदास के आत्मघात की मिति वही ठीक हो तो उस समय अपभ्रंश भाषा ही न जम चली थी, पुरानी बंगला और पुरानी मैथिली का जन्म ही

१. पूना की पहली ओरिएंटल कांग्रेस में उन्होंने यह प्रश्न भेजा था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहाँ ? उस समय तो अर्धमागधी से प्राकृत के अपभ्रंश बन रहे होंगे। उस समय प्रादेशिकता की छाँट भाषा में कहाँ पहुँची होगी ? चौथे इन गाथाओं की भाषा चिंत्य है, कम-से-कम संस्कृत-छाया जो बनाई गई है वह बहुत विचारणीय है। 'रोणट = रोणंतो = रुणंत = रुण-रुण करता' ही ठीक है 'रेणोरर्थे' नहीं। 'बँवरा (भ्रमर) पुंल्लिग के साथ 'गिय' (गतः) पुंल्लिग चाहिए, उसका संस्कृत 'गतवती' क्यों किया है जो कि स्त्रीलिंग है ? ऐसे ही एक 'सेवेनी' तो तिङन्त (सेवते) लिया गया है, दूसरा 'सेवेनी' (सेवमाना) धातुज वर्तमान विशेषण माना गया है। 'भँवरा' पुंल्लिग है, 'गिय' पुंल्लिग है, तो 'सेवेनी' का रूप संभवतः सेवंतो, सेअंतो, सेवेनो या सेएनो होना चाहिए। तब भ्रमर में स्त्रीत्व का जो आरोप कविता में नया ही होता है वह करने की आवश्यकता न होती। 'मल' जो मूल में है उसे माला मानकर क्लिष्ट कल्पना से पुष्प बनाने की अपेक्षा 'कमल' क्यों न मानें ? 'लबा' को लभमान (प्राकृत लभंतो) न मानकर 'लबा = लभ्य = लभिय = लब्ध्वा = पाकर' समझना[1] या 'लब्धवान् = लब्धः' मानना अधिक अच्छा होता।

जो हो, भाषा तथा प्रवाद की वास्तविकता सिद्ध होने पर भी कालिदास को बंगाली, मैथिल या गुजराती बनानेवालों का काम इन गाथाओं से नहीं सरेगा।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, सं० १९७७ वि०, १९२० ई०]

वैदिक भाषा में प्राकृतपन

यास्क के 'निरुक्त' में जो वैदिक शब्दों में निर्वचन किए हैं उनमें कुछ प्राकृतपन का प्रमाण है। पहला तो डा० लक्ष्मण स्वरूप ने अपने 'निघंटु निरुक्त' के संस्करण की भूमिका में बताया है और बाकी पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने उसकी समालोचना करते समय 'माडर्न-रिव्यू' (जून, १९२१) में लिखे हैं।

कुटस्य—कृतस्य
कीकटाः—किंकृताः
कंटकः—कर्तकः (कृन्ततेः)
कूहः—गूहः (गूहतेः)

---

१. इन्हीं दो गाथाओं में तीन प्रमाण इसके लिए मिल जाते हैं—
(क) पूरा = पूर्य = पूरिय = पूरयित्वा
(ख) नोतला = न उत्तोल्य
(ग) गलवा = गलब्य = गालय्य = गालयित्वा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तर्कु' का अर्थ डाक्टर लक्ष्मण ने चाकू किया है, किंतु समालोचक ने ठीक बताया है कि कृत धातु (काटना) से व्यत्यय से बनने पर भी इसका अर्थ ताकू (तकुला) है। पर कृत (कृन्त) धातु का अर्थ काटना ही नहीं है, जैसे 'वृध्' के अर्थ बढ़ाना और बड्ढना (काटना) दोनों हैं वैसे 'कृत' के अर्थ कातना और काटना दोनों हैं (या अकृन्तन्नवयन् इत्यादि मंत्र)

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३,
सं० १९७९ वि०, १९२२ ई०]

पाणिनि की कविता

मैं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का उपकार मानता हूं कि उनकी कृपा से मुझे मालूम पड़ा कि पाणिनि की कविता (पत्रिका भाग १, पृष्ठ ३७४) में सं० २० पर जो श्लोक 'क्षपाः क्षामी कृत्य—' आदि उद्धृत किया है, उसी भाव का एक श्लोक बिल्हण कवि के 'बिक्रमांकदेवचरित' काव्य में (सर्ग १३, श्लोक ३६) भी है—

तृणानि भूभृत्कटकेषु निक्षिपन्न कैः स्फुरद्वीरमृदंगनिस्वनः।
तडित्प्रदीपैश्चलदंकलीलयानिदाघमन्विष्यति वारिदागमः॥

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग २, अंक १,
वैशाख, सं० १९७८ वि०, १९२१ ई०]

संस्कृत-प्रेम

सन् १८७० में फ्रान्स और जर्मनी में बड़ी भारी लड़ाई हुई थी। उसमें सारे साम्राज्य कांप उठे थे। उन्हीं दिनों योरोप में संस्कृत के पढ़ने की चर्चा खूब चल रही थी। जर्मन सेना के एक सवार ने, १ सितम्बर के युद्ध का वृत्तान्त, ता० २ सितम्बर को, अपने एक स्वदेशी मित्र को, संस्कृत में लिख भेजा। उसमें 'ऋग्वेद' का एक अंश दृष्टान्त रूप से कुछ बदलकर लिखा है। जिस देश में संस्कृत के अभ्यास का यह प्रेम है, वह देश धन्य है; जो मनुष्य युद्ध-क्षेत्र में भी इस हमारी भाषा को नहीं छोड़ता था, वह मनुष्य धन्य है !! संस्कृत देववाणी ही है, और उसके चाहने वाले 'देव' और उपेक्षा करने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पशु' बन ही जाते हैं !!! पत्र यह है—

"ह्यो महायुद्धं अभवत् । शत्रवः सर्वे निर्जिताः । सर्वा तेषां सेना, महाराजश्च स्वयं, बद्धः । त्वष्टा नो वज्रं स्वयं ततक्ष, अहन्माहिं स्वविले शिश्रियाणम् ('ऋग्वेद' १, ३२) । अहं सुकुशलोऽस्मि, युद्धे न महद्भयं गतोऽहम्, यद् एतस्मिन् क्षेत्रे सुपार्वते पदातय एव योद्धुं शक्नुवन्ति, तुरंगिणस्तु नार्हन्ति ।

महत्यां सेवायां भवतः शिष्यः
जुरिस वोन थीलमान"

अर्थ—कल बड़ी लड़ाई हुई । शत्रु सब जीत लिये । सब उनकी सेना, महाराज भी, बांध लिए गए । इन्द्र ने हमारा दैवी वज्र बनाया, हमने अपने बिल में बैठे अहि (वृत्र, सर्प, मेघ) को मारा । मैं प्रसन्न हूं, युद्ध में मैं बहुत डरकों नहीं गया, क्योंकि इस पहाड़ी खेत में पैदल ही लड़ सकते हैं, घुड़सवार नहीं ।

बड़ी सेवा में तुमारा शिष्य
जुरिस वोन थीलमान

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : दिसम्बर, १९०३ ई०]

उलूलु-ध्वनि=हुर्रा

बङ्गाली समाचारपत्रों में प्रायः पढ़ते हैं कि अमुक नेता या अमुक महापुरुष का स्वागत स्त्रियों ने शंख बजाकर, खीलें बरसाकर, फूल बरसाकर, और 'उलु'-ध्वनि से किया । यह उलु-उलु अथवा उलूलु-ध्वनि उस देश में स्त्रियों का हर्ष प्रकट करने के लिए प्रचलित है । इस अव्यक्त ध्वनि का उल्लेख श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधचरित' में किया है—

कापि प्रमोदास्फुटनिर्जिहान-
वर्णेव या मङ्गलगीतिरासाम् ।
सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणा-
मुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार ।। सर्ग १४, श्लोक ५१

जब वैदर्भी ने नल को वरमाला पहना दी तब आनन्द से गद्गदकण्ठ स्त्रियाँ मङ्गलगीत गाने लगीं । वही मानो उलूलु-ध्वनि हुई । इस पर 'प्रकाश' नामक टीका का कर्ता नारायण (दाक्षिणात्य) लिखता है—

विवाहाद्युत्सवे स्त्रीणां धवलादिमङ्गलगीतिविशेषाः गौडदेशे उलूलुः इत्युच्यते (?) ! सोप्यव्यक्तवर्ण उच्चार्यंते । स्वदेशरीतिः कविनोक्ता ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—विवाह आदि उत्सवों पर स्त्रियों के मङ्गलगीत गौड़ (बङ्गाल) देश में 'उलूलु' कहलाते हैं और वे अस्पष्टवर्ण (अनर्थक ध्वनिमात्र) होते हैं। कवि ने यह अपने देश की रीति कही है।

नारायण इस रीति को केवल बङ्गदेश की रीति समझता था, और आजकल भी यह रीति केवल बङ्गाल में ही है। परन्तु अनुमान होता है कि स्त्रियों का मङ्गलशब्द और जगह भी 'उलूलु' ही था और प्राचीन समय में बड़े कोलाहल—बड़े हल्ले-गुल्ले—के अर्थ में यह शब्द आता था।

गुजरात में जगड़ू शाह नामक एक प्रसिद्ध धनी हो गया है। वह अणहिलपट्टन के सोलंकी राजा लवणप्रसाद (१२५६—१२८९ ईसवी) का समसामयिक था। धन-प्रभसूरि के शिष्य सर्वानन्दसूरि नामक एक जैन कवि ने उसकी प्रशंसा में 'जगड़ू-चरित' नामक काव्य बनाया है। उसमें जगड़ू की तीर्थयात्रा का वर्णन इस प्रकार है—

हेषाभिस्तु तुरङ्गाणां वारणानां किलारवैः।
रथानामपि चीत्कारैर्भुजास्फोटैर्भुजाभृताम्॥
नग्नानां षट्पदध्वानैरुलूलैर्वामचक्षुषाम्।
संघे चलति तस्याभूच्छब्दाद्वैतमयं जगत्॥

(मगनलाल दलपतराम खक्खर का संस्करण, बम्बई, सन् १८९६, पृष्ठ १९४, सर्ग ६, श्लोक ३६-३७)

अर्थात्—जब तीर्थयात्रा के लिए उसका संघ चला तब आकाश शब्दमय हो गया। घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंग्घार, रथों की घरघराहट, वीरों की खम ठोकने की ध्वनि, चारणों के छप्पय और स्त्रियों की उलूलु-ध्वनि से यह शब्दसमूह उत्पन्न हुआ था।

सम्भव है, श्रीहर्ष की कविता में 'उलूलु' शब्द और उसका अर्थ देखकर ही सर्वानन्दसूरि ने उसे इस अर्थ में प्रयुक्त किया हो; पर यह भी हो सकता है कि बङ्ग को छोड़कर और देशों की स्त्रियाँ भी यही ध्वनि, हर्ष प्रकट करने के लिए, करती हों।

'अथर्ववेद' (३।१९।६) में एक मन्त्र है—

उद् हर्षन्तां मघवन् वाजिनानि
उद् वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया॥

यहां पर 'उलुलयः' के पाठान्तर 'उलूलयः', 'उल्लुलयः', 'उललयः' मिलते हैं। सायण ने बिचला पाठ मानकर इसे अनुकरण-शब्द माना है। तात्पर्य यह है—'हे दान-शील देव! हमारी सेना के पराक्रम बढ़ें, जयशील वीरों का शब्द गूंजता हुआ सुनाई दे, उच्च स्वर के विजय-शब्द न्यारे-न्यारे स्पष्ट उठें, इन्द्र की प्रधानता में मरुत् देव सेना के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ चलें।" यहां भी उलुलयः (विशेषण) का अर्थ "ऊँचे स्वर से शब्द करने वाला" ही है।

'छान्दोग्य-उपनिषद्' के एक परिचित प्रकरण में यह लिखा है—

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः। (३।१९।३)

यहां पर भी सूर्योदय के समय होने वाले 'उलूलवः घोषाः' का अर्थ 'ऊँचे स्वर वाले शब्द' ही है।

यह उलूलु-शब्द यदि अनुकरण-शब्द न माना जाय तो उरु+उरु (बहुत-बहुत) या उरु+रु (शब्द=रव) से बनाना पड़ेगा। 'र' का 'ल' में परिवर्तन चाहे असुरों के देवताओं से हार जाने का कारण भले ही हो,[1] परन्तु भाषा की निष्पत्ति का यह एक निश्चित नियम है। अतएव 'उलु' या 'उलूलु'-ध्वनि और अर्थ दोनों में अँगरेज़ी 'हुर्रा' का भ्रातृत्व ज्ञात होता है।

[प्रथम प्रकाशन : **सरस्वती** : जून, १९१४ ई०]

झख मारना

मुहाविरा पुराना है। काम भी अच्छा है। बड़े-बड़े करते हैं। पर अर्थ क्या है? बीरबल की कथा में तो झख=झष=मछली अर्थ किया गया है पर यह 'ष' को 'ख' बनाने की मैथिली चाल है। और काम भी निष्फल नहीं। राजपूताने के एक पुराने शिकारी ने यह अर्थ बताया कि पहले जमाने में एक 'पन्ना मोर' होता था। 'पन्ना मोर' इसलिए कहलाता था कि नर के गले में पन्ना निकलता था। मादीन 'झख' कहलाती थी, नर के सदृश ही होती थी पर उसके गले में पन्ना निकलता न था। जो जल्दबाज़ शिकारी इन गज-मुक्ताओं के भाई पन्नों को पाने की उतावली में मादीन को मार बैठता और फिर पछताता उसने निष्फल प्रयत्न से अक्षरतः और उचार से 'झख मारी'। यों यह वाक्य चल पड़ा।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : दिसम्बर, १९२० ई०]

---

१. तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्तः पराबभूवुः।
('शतपथ-ब्राह्मण' : ३।२।१।२३)
तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः।
तस्माद्ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवैनापभाषितवै।
म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। (पतञ्जलि, महाभाष्य, १।१।१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनारसी ठग

काशी (बनारस) ठगों के लिए कब से प्रसिद्ध है ? (१) 'कुमारपालप्रतिबोध' (सं० १२४१) में नल-दमयन्ती की कथा में प्रतिहारी ने स्वयंवर के समय दमयन्ती से 'कासिनयरीनरेस' का परिचय दिया है तो दमयन्ती कहती है—'पर वंचवसणिणो कासिवासिणोसुव्वंति'। (२) हेमचन्द्र के प्राकृत द्वयाश्रय काव्य 'कुमारपालचरित' में फूलों को 'कामदेव रूपी ठग के वाराणसी प्रदेश' कहा है (सर-ठग-बाणारसिपएसा··· कुरवया, ३।५९-६०, पूर्णकलशगणि की टीका—यथा वाराणसी ठकानां स्थानं तथा एते दंपत्योरुत्कंठादिजननात स्मरस्येतिः भावः)। यहां प्राकृत या देशी ठग का संस्कृत रूप 'ठक' दिया है। मंख ने 'श्रीकंठचरित' में भी 'ठक' का इसी अर्थ में व्यवहार किया है (उद्भूष्णुना कस्य न नाम यात्रा वसंतनाम्ना रुरुधे ठकेन ६।३३, जोन राज की टीका—ठकेन हठमोषकेन)। ठग से 'ठक' बना या ठक से 'ठग' यह विचारणीय है। जब संस्कृत भाषा जीवित थी तब वह और भाषाओं से शब्द बड़ी स्वतन्त्रता और उदारता से ले लिया करती थी।

झूठी शब्दानुसरिणी व्युत्पत्ति ने बहुत गड़बड़ किया है। सीसोदा गाँव से 'सीसोदिये' कहलाए किन्तु सीसो + दिया शब्द देखकर लोगों ने व्युत्पत्तियाँ गढ़ लीं कि (१) मद्यपान के प्रायश्चित्त में जलता हुआ सीसा पीने से और (२) देश-सेवा में सीस देने से यह नाम चला। महरठा शब्द 'महाराष्ट्र' (=बड़ा देश) से बना है किन्तु 'मरहटा' देखकर लोगों ने व्युत्पत्ति कर ली कि लड़ाई से मरकर ही हटते थे, इसलिए 'मरहटे' कहलाए। वाराणसी का अर्थ वर + अनस् 'अच्छे रथों वाली' होता है किन्तु उसके वरणा + असी नदियों के बीच होने से यह नाम बनने की कल्पना की गई और 'बनारस' नाम पर 'रस बना' होने की हिन्दी कवियों की वाचोयुक्ति कहीं-कहीं निर्वचन मान ली गई है। हेमचन्द्र ने 'प्राकृत-व्याकरण' में वाराणसी, वाणारसी; अलचपुर, अचलपुर, मरहट्ठ, महरट्ठ; को केवल व्यत्यय माना है (८।२।११६-९)। यह व्यत्यय बोलने में हो जाता है जैसे पंजाबी चाकू का 'काचू', गंवारी चिलम का 'चिमल'। इस पर नए निर्वचन करना पांडित्य का अजीर्ण मात्र है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सन् १९२१ ई०]

छट्ट

पंजाबी में भारवाहक पशुओं पर माल लादने की गोन को 'छट्ट' कहते हैं। हिन्दी में गोन, गोंन, गूंण ही प्रचलित है, 'छट्ट' केवल पंजाबी में आता है। 'गणरत्नमहोदधि' में 'गोणी' शब्द के अर्थ में वर्धमान ने इस शब्द का प्रयोग किया है (एगलिग् का संस्करण, पृ० ९१)। वहां सम्पादक ने मूल पाठ यह रक्खा है—'धान्याधारे गोणी। यस्याश्छाटीति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसिद्धिः'। और ,उसे 'मराठी-छाटी (संस्कृत-शाटी) = कपड़े का टुकड़ा' से मिलाया है किन्तु 'छाटी' पाठ संपादक ने एक ही प्रति के पाठ पर कल्पित किया है। टिप्पणियों में जो पाठान्तर दिए हैं उससे यह शब्द 'छट्ट' ही जान पड़ता है (धान्याधारे गौणे यस्याश्छट्टेति A, यस्याः छट्टोति B, यस्यास्त्वट्टेति C, यस्याः छाटीति D)। 'गणरत्न-महोदधि' की रचना वि० सं० ११९७ में हुई। उस समय गुजरात में यह शब्द प्रचलित था। यह उस समय की 'हिन्दी' का शब्द है क्योंकि उन दिनों तक प्रादेशिक भाषाएं इतनी पृथक् और रूढ़ नहीं हुई थीं।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सन् १९२२ ई०]

यंत्रक

संस्कृत यंत्र वा यंत्रक के अपभ्रंश 'जंदरा' का पंजाबी में अर्थ 'ताला' है और तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' में—

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित, प्राण जाहिं केहि बाट॥

इस दोहे में भी 'जंत्रित' का अर्थ 'ताले से बन्द' ही है। 'जंदर' की खाती के उस यन्त्र के लिए भी रूढ़ि हो गई है जो छत की कड़ी को ऊँचा करने में काम आता है। संस्कृत में 'यंत्रक' चरखे के अर्थ में आता है। एक पुराना श्लोक है—

रे रे यंत्रक मा रोदीः कं कं न भ्रमयन्त्यमूः।
कटाक्षाक्षपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा॥

रे चरखे ! चूं चूं क्यों करता है? क्यों रोता है? स्त्रियाँ केवल कटाक्ष ही डालकर किस-किस को नहीं घुमा देतीं? (तेरी तरह) जिसे हाथ पकड़कर खेंचें उसका तो कहना ही क्या? 'प्रबंधचिंतामणि' में यह श्लोक मुंज से उस समय कहा हुआ कहा गया है जिस समय वह तैलप की राजधानी में गली-गली घुमाया गया था और जिस अवसर पर उसने 'घर-घर तिम्म नचावइ' और 'हिंडइ डोरी बंधियउ' वाला दोहा कहा था। टानी ने यहाँ पर 'यंत्रक' का अर्थ लेकर जेलर किया है कि हे जेलर, मत रो इत्यादि। यंत्र की रूढ़ि कहीं-कहीं अरहट के अर्थ में भी हो गई है। 'महाभारत' आदि में 'यंत्र' एक तरह की गोफन या तोप के अर्थ में आता है जिससे शत्रुओं पर बड़े-बड़े पत्थर फेंके जाते थे। और वहीं 'यन्त्र' का अर्थ वह घिर्रियों वाली डोरियों का समावेश भी है जिससे इन्द्रध्वज पूजा के लिए ऊँचा उठाया जाकर फिर धीरे से गिराया जाता था (यंत्रोत्सृष्ट इव ध्वजः)। हिन्दी में 'जंतर' भूतप्रेतादि से बचाने वाले लिखित वर्ण या रेखा निवेश पर नियमित हो गया है और बंगला में 'जांता' आटा पीसने की चक्की ही रह गई है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सन् १९२२ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुमरनी के मनके

सुगतेता=मृगनेत्रा

'हितोपदेश' या 'पंचतंत्र' में यह श्लोक पढ़ते समय पढ़ने और पढ़ाने वाले चौंका करते हैं—

हा हा पुत्रक नाधीतं सुगतेतासु रात्रिषु।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पंके गौरि व सीदसि ।।

हाय बेटा ! 'सुगतेता' रातों में तू पढ़ा नहीं इसीलिए पण्डितों में बैठते ही तू फिसड्डी हो जाता है जैसे कींच में गाय धँस जाती है। 'सुगतेता' क्या ? सुधारकर बनाया 'सुगतैतासु'—अर्थ हुआ, हे पुत्र 'सुगत ! एतासु (=इन) रातों में'। 'सुगत' किसी पुत्र का नाम हुआ। किसी ने सुगता (=अच्छी बीती हुई) को रात्रि का विशेषण माना पर बिना विभक्ति के उस पद का रहना और 'एतासु' से जुड़ जाना खटकने से सुधारकर पाठ बनाया—'गबास्वेतासु' (=इन बीती हुई) रातों में। तो भी यह कीचड़ की उपमा वाला श्लोक कीचड़ ही बना रहा। ध्यान देने से इस कीचड़ से निकलने का उपाय यह है कि 'सुगतेतासु' लिखने वाले भूत की करामात है। छापे के भूत की तरह उस समय लिखने का भूत भी तमाशे कर दिया करता था। (एक और जबरदस्त भूत भी था जिसे पंडिताई का या संशोधन की सिड़ का भूत कहना चाहिए। उसकी करामातें बड़ी अद्भुत हैं। वह अभी तक जीता है और कौतुक दिखा दिया करता है)। 'मृगनेत्राषु रात्रिषु' ठीक पाठ है। 'मृ' का 'सु'—'ग' 'ज्यों' का 'त्यों'—'ने' का 'ते'—'त्रा' का 'ता'=सुगतेतासु ! मृगनेत्रा का अर्थ है—जिन रातों का अगुआ मृग (=मृग-शिर) नक्षत्र होता है, याने जाड़े की रात जिनमें सायंकाल से सबेरे तक मृग आकाश में अपनी कान्ति से राज्य जमाये रहता है। जितने चमकदार तारापुंज इस मौसिम में एक साथ आते हैं उतने कभी नहीं। रातें बहुत लम्बी होती हैं और पढ़ने के लायक होती हैं। वेद में इससे मिलता हुआ मुहाविरा 'मरुन्नेत्रा देवाः, वृहस्पतिनेत्रा देवाः' कई जगह आया है, काशिका में 'मृगनेत्रा रात्रयः', 'पुष्यनेत्रा रात्रयः' ये दो उदाहरण (पाणिनि ५।४।११६ के वार्तिक पर) दिए हैं।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जनवरी, १९२० ई०]

पूत्कार=पुकारना

हिंदी के नये युग के लेखक और पाठक भूल न गये हों तो कालाकांकर के दैनिक 'हिन्दोस्तान' के अत्रभावन सदा समरविजयी राजा रामपालसिंह (या राजा खामप्यालस्यंह ?) 'स्वीकार करना' आदि प्रयोगों में कर् (पंडितों की डुकृञ् करणे)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धातु की दुधारी मार से तंग आकर 'हम स्वी करते हैं', 'उन्होंने स्वी किया' आदि लिखा करते थे। इसी चाल पर 'हमने उसे उप किया' (=उपकार), 'इस रोग को प्रति करो' (=प्रतिकार), 'वह हमें अनु करता है (=अनुकरण), 'तुम क्यों नहीं अंगी करते' (=अंगीकार) हिन्दी में चल सकता है या नहीं यह विषय भाषा की स्वतंत्रता के दुहाई देने वाले मिश्रबंधुओं के विचार के योग्य है। संस्कृत में इस धातु के साथ 'चीत्' और 'पूत्' अनुकरण शब्द लगाकर चिल्लाना और पुकारना बताया गया है। चीत्करोति= चीत्कार करता है, या कालाकांकरी चीत् करता है=चितियाता है, चीं चीं करता है= चिक्करहिं दिग्गज (तुलसीदास)। इससे मिलता हुआ चिंघाड़ता है। पूत्करोति=पू पू करता है=दैया तोबा मचाता है=पुकारता है। कोई-कोई संस्कृत कवि पूत्+चकार, पूत+अकरोत् कहकर इस 'पूत्' की पों पों को जीवित रख गये हैं। 'पंचतंत्र' में जहाँ एक शृगाल अपने बिल में शेर को घुसा हुआ जानकर 'अहो बिल ! अहो बिल !' कहकर (भीतर का भेद जानने के लिए) पुकारना शुरू करता है। वहां के 'पूतकंतुं आरब्ध' को शोधक के भुतने ने न समझकर 'फुकर्त्तुं आरब्धः' (फुफकारने लगा, फूंक देने लगा) बना दिया है।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जनवरी १९२० ई०]

तुतातित=कुमारिल

पीटर्सन् की किसी रिपोर्ट में एक श्लोक उद्धृत है जिसमें 'तौतातितं मतं' का उल्लेख है। मंख कवि (ई० स० बारहवीं सदी का पूर्वार्द्ध) के 'श्रीकंठचरित' में तुतातित पद 'कुमारिल' के लिए आया है।[1] टीकाकार जोनराज ने उसका अर्थ 'कुमारिल' किया है और कहा है कि बड़ों का नाम ज्यों का त्यों नहीं लेना चाहिए।[2] इसलिए प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य के लिए 'कुमारिल' की जगह 'तुतातित' कहा गया। कोई पूछे कि यदि बड़ों का नाम लेना ही न चाहिए तो तुमने क्यों लिया? तो टीकाकार कहता है कि व्याख्यान में तो लेना ही उचित है नहीं तो व्याख्यान ही न हो सकेगा।[3]

---

१. दृढ़ोऽपि तर्ककार्कश्ये प्रगल्भः कविकर्मणि।
यः श्रीतुतातितस्येव पुनर्जन्मान्तरग्रहः॥
तं श्रीत्रैलोक्यमालोक्य······ (श्रीकंठचरित, २५।६५-६६)

२. यह नाम न लेने की वही रीति है जिससे हिंदुस्तान में, आजकल भी, देवकीनंदन नामक पुरुष की स्त्री देवकीनंदन के मंदिर को 'चंपो के चाचा' का मंदिर कह देती है और रामचंद्र की स्त्री चन्द्रमा को 'नंदा' या 'रातवाला' कहती है।

३. तुतातितः कुमारिलः। स हि तार्किकः कविश्चासीत्। महतां सम्यङ्नामग्रहणमयुक्तमिति तुतातितशब्दः प्रयुक्तः। विवरणावसरे युक्तः। अन्यथा विवरणत्वाभावप्रसंगात् (?)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक ग्रंथों में कई जगह "इति तौताः" लिखा हुआ मिलता है जिसका अभिप्राय, संदर्भ से जान पड़ता है कि, कुमारिल के मतानुयायियों से ही है। आफ्रेक्ट के आक्सफर्ड के संस्कृत-पुस्तकों के सूचीपत्र, 'कैटलागम् कोडिकम् संस्क्रुतिकोरम्' के पृष्ठ २४६ पर 'सर्वदर्शनसंग्रह' के वर्णन में 'तौताततिताः (अर्थात् कौमारिलाः)' लिखा है। उसकी पादटीका में संक्षेप 'शंकरदिग्विजय' में से दशम अध्याय के ये दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

वाणी काणभुजी न चैव गणिता लीना क्वचित् कापिली
शैवं चाशिवभावमेति भजते गर्हापदं चार्हतम् ॥
दौर्गं दुर्गतिमश्नुते भुवि जनः पुष्णाति को वैष्णवं
निष्णातेषु यतीशसूक्तिषु कथाकेलीकृतासूक्तिषु ॥ ११८ ॥
तथागतकथा गता तदनुयायि नैयायिकं
वचोऽजनि न चोदितो वदति जातु तौताततिः ॥
विदग्धति न दग्धधीर्विदितचापलं कापिलं
विनिर्दयविनिर्दलद्विमतिसंकरे शंकरे ॥ ११९ ॥

आफ्रेक्ट ने लिखा है कि—'किं वृत्तांतैः परगृहगतैः' इत्यादि श्लोक, जो 'शारंगधरपद्धति' और 'सुभाषितावलि' में मातंगदिवाकर के नाम से दिया है, 'सदुक्तिकर्णामृत' में 'तुतातित' का कहा गया है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३, १९२२ ई०]

श्रद्धा

मारवाड़ी में पति के पत्र पत्नी को और पत्नी के पति को बड़े ही रोचक होते हैं। इतना 'हमीर की बारता' में जोधपुर के राजा तथा कवि ('राजकवि' या 'कविराज' नहीं) ने ऐसे दो पत्रों के नमूने दिये हैं जिनमें आपस का संभाषण (नमस्कार या आशीर्वाद के वजन पर) 'सरदे रो मुजरो' या 'सरदो' कहा गया है। इस 'सरदा' का बड़ा पुराना इतिहास है। आजकल तो श्रद्धा, भक्ति या विश्वास के अर्थ में एक अटूट शब्द बन गया है। संस्कृतवाले भी इसे नहीं पहचानते कि यह चीत् पूत् के ढंग के श्रत् के आगे धा (=रखना) से बना है। वेद में श्रत् अस्मिन् दधाति श्रत्, अस्मिन् दधुः आदि मौकों पर बीचवाला पद द्वाभ्यां तृतीयः बनकर असली अर्थ को जतला देता है। श्रत् रखना= भरोसा रखना=बल समझना=अभिलाषा रखना ये अर्थ चले गये। पुराने सिक्के और पुराने मुहाविरे और शब्दों की एक ही चाल है। वे बड़े शहरों और मंडियों से नये चमकते सिक्कों से धकेले जाकर गाँवों की शरण जा पड़ते हैं। मारवाड़-दम्पति आपस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में 'सरधा' का सम्भाषण करते हैं। राजपूताने का बीमार चारपाई से उठकर कहता है मेरे काम करने की सरधा नहीं है। पंजाब के पहाड़ी हिस्सों में गर्भवती स्त्री की इच्छाएँ (= संस्कृत के कवियों का प्यारा दोहद = दौर्हृद = बिगड़ा हुआ दिल = जी मिचलाना, जिसको लेकर उन्होंने कई राजाओं की रानियों और कई गर्भस्थ चक्रवर्त्तियों को मट्टी खिलाई है) 'सरधा' कही जाती हैं जैसे आज तो लाड़ी जी के सरधा (बहुवचन) बोल रही हैं ! इसी 'सरधा' से बना हुआ शब्द 'साध' है । मेरी साध पूरी हो गई । राजपूताने में गर्भ के अष्टम मास में बड़ी धूमधाम से बाजे-गाजे के साथ मिठाई, गहने, कपड़े आदि भेजकर गर्भवती का पिता अपनी कन्या की साध पूरी करता है या साध देता है ।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जनवरी, १९२० ई०].

हिन्दी साहित्य

साहित्य में दो तरह के ग्रंथ होते हैं—एक लक्षण दूसरे लक्ष्य। लक्ष्यों को देखकर लक्षण बनते हैं । पाणिनि के सामने उस समय का सारा संस्कृतवाङ्मय था जिसे लक्ष्य मानकर उसने लक्षणग्रन्थ व्याकरण बनाया । संस्कृत-साहित्य में कई सौ नाटक होंगे जिन्हें सामने रखकर उनकी पहचान के लिए 'दशरूपक' आदि ग्रन्थ बने । कई करोड़ों श्लोकों में अलंकार तथा रस बिखरे पड़े हैं जिन्हें लक्ष्य रखकर लक्षण ग्रन्थ बने। हिंदी में चाल इससे उलटी पड़ी। महाकाव्य गिनती के दो-तीन और नायिकाभेद के ग्रन्थ अनगिनत ! जो चला नायिकाभेद का ग्रंथ लिखने या अलंकार समझाने, चाहे अपने लक्षणों के लिए उदाहरण पहिचानने की योग्यता न होने से स्वयं ही गढ़कर उदाहरण बनाना पड़े, किन्तु लक्षण ग्रन्थ बनाते गये। संस्कृत में प्रामाणिक लक्षण ग्रन्थकार अपने गढ़े हुए उदाहरण नहीं देते। वे पुराने प्रसिद्ध कवियों के 'मूर्धाभिषिक्त' उदाहरणों पर अपने दोष या गुण के लक्षण घटाते हैं और समझाते हैं। उनके पीछे क्षेमेन्द्र के-से लक्षणकार हैं जो स्वयं कई लक्ष्य ग्रन्थ भी बना चुके हैं। वे कालिदास आदि का उदाहरण कहीं सुलभ न पाकर अपनी रचना में से ही दबी जबान से एक-आध नमूने दे देते हैं; 'यथा वा मम', किन्तु उनकी निष्पक्षपातता तो देखिए कि दोषों के उदाहरण में भी अपनी रचना में से दिखा देते हैं—हिंदी लक्षणकार चंद में से या सूरदास या तुलसीदास में से उदाहरण देकर अपने लक्षणों की संगति नहीं दिखाता, न बिहारी के तीर के-से गम्भीर घाव करने वाले दोहों के अलंकार और नायिकाओं को समझाता है। वह अपने किये लक्षणों के लक्ष्य स्वयं गढ़ता है। सर जार्ज ग्रिअर्सन ने एक बहुत अच्छा सखुन कहा है—हिंदी कविता तुलसीदास के साथ मर गई, गुसाइँ जी के पीछे तीन सौ वर्ष तक जो कवि हुए वे स्वयं कवि न थे, कविता नहीं कर सकते थे, किन्तु उन्होंने अपना सारा समय इसी यत्न में बिताया कि स्वयं कवि न होकर दूसरों को कविता करना सिखा दें; वाह ! क्या अच्छा कहा है !

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : नवम्बर, १९२० ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेसिर की हिन्दी

हिन्दी में आजकल बिना सिर के अक्षर लिखने की चाल चल निकली है, मैं भी इस लत से बचा नहीं हूँ। एक माननीय साहित्य सेवी मित्र को पत्र लिखा था उसमें वही निमत्थी लिखावट थी। उनका जो उत्तर आया वह ऐसी भाषा में था जिसका चलन अब अँगरेजी की छाया पर लिखनेवालों की लेखनी से दूर जा पड़ा है। उसमें बेसिरी लिखावट पर फटकार के सिवा और भी बहुत 'चमत्कार' है, इसलिए घरू बातों को छोड़कर उस पत्र के बहुत बड़े अंश को 'सुमरनी' में पो लिया जाता है। पाठकों को विनोद भी होगा और ज्ञानलाभ भी। मेरे मित्र लिखते हैं—

"बिना सिर की अक्षरावलि से भूषित पंक्तियों की सूचिनी से सूचित हुआ। क्या ही रुंडमाला धारे चंद्रधर जी की सरस्वती विष्णु की वाग्वादिनी के आसन सम्मुख उपस्थित हुई। कहिये महाराज, ये सिर कब से कटे? क्या जर्मनवार में या सद्य अफगानवार में? कुछ बचत तो समय की हुई। सिर गये तो गये धड़ तो रह गये। धड़ाधड़ भाषा की उन्नति बिना सिर गये कैसे होती थी। यह सिरदारों की सिरदारी ही सरासर है कि सरेदस्त सरेमू फ़र्क़ न पड़ने वाली सरवाज़ी के सर्राटे के साथ सार की कलम से तलवार का वार किया। मार-मार आँकों की आँखों को बचाकर नाकों नकेल डाल गाल फोड़ तीर के तार पार कर आरपार धार धर मारी। वारी जाऊँ प्यारी लिखियारी लेखिनी की करारी कुठारी पर कि किसी को भी कलम करने से, क़त के बराबर भी फ़क़त न हुई यही तो खत की खातिमुलखातिमाई है कि बेख़ता को भी ख़तकिताबत में भी खत करने से न चूके कि बिना ही चाकू के क्या खूब चकमा धर मारा कि किसी चकचूक की चक्की-वक्की भी चुक न चुकी थी कि चकाचौंध से चौंक-चौंक चौकी पहरेवाले भाषा के पुथक्कड़ भी भड़क-भड़क नागरी की सड़क के भरोसे फड़क उठे। कहीं आप बेधड़क मुझ पर कड़ककर न टूट पड़ें कि मेरी मड़क की भड़क भी भडुओं की गड़क में गड़प न हो जाय कि इज्ज़त के दड़बे में दड़दूमड़ होने वाले अड़ंगेवाज़ गड़गड़ाहट और मलमलाहट के बिना ही गेंडे-सी भारी, हाथी-सी शरीरधारी हमारी-सी बीबी साहिबी को चट ही हड़प करने को टकटकी लगाये पिछले पंजों पर जमे ताक में तके रहा करते हैं। अजी साहब सर की क्या चलाई इतनी बेसिर पैर की को सिराय बिसराय बेसिर पैर की सुनाने को सुरमे सांधे-सांधे बैठे हैं। सिर झुकाकर कहता हूँ कि मेरे सिर पर इतने बाल कहाँ कि आपके बे सिर की लिखावट पर सिर खपाऊँ और मेरे सिर में इसका सिर्र (भेद) ही नहीं सरायत कट सका कि किसी सिरे से उसकी सिरी को सुकड़ी कह सकूँ क्योंकि सरताननें से भी सरतान का सारा सर ताना नहीं जाता और स्वर तानने से भी सारी सरगम का सुर सुरों से भी नहीं तनता क्योंकि कोरी तानारीरी तराने में तार का भी काम नहीं देती जबकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तानसेन की तान का तनाव भी बैजूबावरे की तुनतुनी के सामने तानारीरी का तुलारा न ठहर सका। माफ़ करना, इस बे काफ़ोलाम के कलाम को कि न मुल्ला हूँ न कलामुल्लाह में कादिर।

"मेरा अकबर अभी क़बर में ही है दो चार साल होने पर बर आ सकै तो बर है नहीं मैं ही क़बर में न सही नरक में जा डटूंगा। हम तो 'रज्जब' की अज्जब ज़ुबान की लहर ले रहे हैं कि साल भर खप जाने से भी होता नज़र नहीं आता। फिर सुंदरदास जी की आस जो कितने ही वर्षों से घुसी पड़ी है पूरी होगी फिर जलालुद्दीन का जलाल झलकै तो झलकै। 'मअसिरुल उमरा' क्या कई शेखचिल्लियाँ बिल्लियों की तरह दिल में लड़ रही हैं परन्तु ये चूहे की तरह पहाड़ फोड़ने पर निकलकर आती प्रतीत होती हैं। कभी 'आइने अकबरी' और 'अकबरनामे' की कभी 'तुजुके बाबरी' और 'तुजुके जहाँगीरी' की कभी तो 'मुन्तख़बुत्तवारीख़' और 'तारीखे फ़रिश्ता' की सनक समा जाती है और दारिद्री के मन की नाईं धन के स्वप्न देख लेते हैं। करना होना क्या गुड़ियों का खेल है। चाहिए समय सामर्थ्य और स्वास्थ्य सहायक सत्संग और सुमन तथा तन मन और धन। यहाँ एक भी नहीं। इधर चार सुपारी चौगुनी हो जाती है तो उधर 'मियाँ जोड़े तार-तार ख़ुदा रेजे ही रकसावें' वाली हो रही है। सच यह है कि इतिहासमाला को एक दो मनका इस जन का अवश्यमेव मिलना उचित होगा। उधर एक मित्र की माला इधर एक और मित्र की आज्ञा के पालन का टाला कैसे हो और कैसे न हो इसी कशमकश में सोचता-सोचता मैं किशमिश क्या छुहारा हो गया। उचित है वही होगा। आज्ञा को शिरोधार्य परंतु विज्ञप्ति अभी न होनी चाहिए कि लज्जा के मारे सिकुड़कर सावन की डोकरी होना पड़ेगा। भला श्रावण के आने से पहले ही आप से श्रवण ने यह श्रवण तो कराया कि इतिहास की वृष्टि में हमारा भी पौदा लगैगा। धन्यवाद 'प्रसन्न रहिए और मेरे योग्य कुछ कहिए।"

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जनवरी, १९२० ई०]

आर्ष हिन्दी

वैदिक भाषा का अनुवाद कर रहे हैं। 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' सामवेद है न जिसके लिए सारे पाणिनि के नियम 'बहुलं छन्दसि' हो जाते हैं, उसके लिए क्यों नहीं आर्ष हिन्दी काम में लाई जाय? तभी तो कुछ नमूनों की बहार देखिए—

अग्नि कहावता, तुम सभी उसके निकट जाना तथा मनवावना, यज्ञस्थली के बिच गमन करनेवार हो, तहं विराजन आवना, हम सबहिं अघ के काम सेति बचाइये,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औ चालने (मतलब चलने से है, चलनी के बड़े भाई से नहीं) के समय में अत्यन्त न फुरती राखते, खींचकर ले जावते, पुनि श्रोतृजनने जिसकि स्तुति गा विविध सुख पालिये, यह जो अनुष्ठान हमार से बन आ गया (अज्ञानाद् ज्ञानतो वाणि, बन आ गया ! ठीक है, गले पड़ी बजावे सिद्ध !!) लख लेवता, धन देवता (कुबेर से नहीं, धन को देता है से मुराद है ।)

यह है आर्ष हिन्दी ! पतंजलि कह गये हैं कि 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' !!

"औ नये ढंग से स्तोत्र रूपी वचन हम ने गादिये ।
उन सबों को सुरवृन्द के आगे तुम्हीं कह दीजिये ।।"

गादिये सो तो गादिये, अब झेंप कर अग्नि से क्यों कहते हो कि तुम्हीं कह दीजिए; वह तुम्हारा दुभाषिया क्यों बने ? आप ही न कह दो, अग्नि तो मशाअरे की भाषा में उत्तर देगा कि नहीं यह तो आप ही का हिस्सा है ऐसी बयांदारी भला मैं कैसे ठीक-ठीक अदा कर सकूंगा ? ऋषि मुझसे कहते थे कि 'अग्नि देवेषु प्रवोचः' उनका मतलब यह था कि यह मेरा ही काम है, मुझे करना पड़ेगा, आप तो इस ढंग से कह रहे हैं कि पहुँचा तो हम भी सकते हैं पर खैर तुम्हीं कह दीजिए ।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : मई, १९२० ई०]

क्रियाहीन हिन्दी

हिंदी में धातुओं की बड़ी कमी है । क्रियापदों का दारिद्र्य आता जाता है । धातु से बने हुए नाम के साथ 'करना' या 'होना' जोड़कर क्रिया का नाम निकालते हैं । होते-होते 'करना' या 'होना' यही दो धातु हिन्दी में रह जायँगे । एक तो प्राकृत और अपभ्रंश की गठन से ही हिन्दी (और उसकी बहनेली उर्दू) बहुत से धातु खो चुकी और फिर धातुज नामों के आगे 'कर' या 'हो' जोड़कर काम चलाकर तुलसीदास और सूरदास का प्रचुर शब्दकोश भी खाली हो चला । अब हम परमेश्वर को 'भजते' नहीं, 'भजन करते हैं', 'भरमते' नहीं, 'भ्रमण करते हैं', 'जाँचते' नहीं, 'याचना करते हैं', 'प्रार्थते' नहीं, 'प्रार्थना करते हैं', 'तजते' नहीं, 'त्याग करते हैं', 'वरनते' नहीं, 'वर्णन करते हैं' इत्यादि इत्यादि । यों सांख्यों के पुरुष की तरह या हिन्दुस्तान के अमीरज़ादों की तरह हिंदी भी क्रियाहीन होती जा रही है ।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जनवरी, १९२० ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पानी पीकर रह जाती है

पहले 'दोहद' और 'सरधा' की चर्चा हो चुकी है । एक प्राकृत-गाथा में दोनों शब्द साथ आये हैं । इसलिए 'सरधा' का अर्थ तो खुलता ही है, साथ-ही-साथ भाव भी ऐसा है कि दिल की कली खिल जाती है ।

दुग्गयघरम्मि घरिणी रक्खन्ती आजलत्तणं पइणो ।
पुच्छियदोहल सद्धा उपयं चिय दोहलं कहइ ॥

[दुर्गत घर में गृहिणी, पति व्याकुलता बचाने को ।
दोहद-सरधा पूछैं, जल ही साध बतलाती ॥]

दिन बुरे आ गये हैं । घर में दरिद्रता पसर गई है । गृहलक्ष्मी के गर्भ है । पति पूछता है कि तेरी क्या सरधा है ? काहे पर मन चलता है ? बेचारी पति की आर्थिक दशा जानती है । उसके दुःख को घटाना चाहती है । क्या करे ? मन मारकर कहती है कि मेरी सरधा पानी ही पर है ! कवि ने कितना कह डाला !! और जो न कहकर भी कह दिया वह कितना है !!!

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जनवरी, १९२० ई०]

जालहंस की सुभाषितमुक्तावली और चंद की षट्भाषा

सितम्बर सन् १९१९ की 'सरस्वती' में श्रीयुत शिवदास गुप्त का एक लेख छपा है । जान पड़ता है कि लेखक संस्कृत समझते हैं और उसके रसिक भी हैं, तभी तो उन्हें कालिदास के 'मेघदूत' के जोड़ के 'पवनदूत' का आनन्द आया और वह आनन्द अपने ही तक न रखकर, उन्होंने पाठकों को भी चखाया । जान पड़ता है कि वे हिन्दी के प्रेमी और सेवक भी हैं, तभी तो उन्होंने 'पवनदूत' के चुने हुए पद्यों का रस हिन्दी में निचोड़ कर दिखाया । जान पड़ता है कि वे कुछ अंग्रेजी भी जानते हैं, तभी तो उन्होंने महा-महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री की खोज के परिश्रम की कद्र की और उसे सराहा । ऐसे प्रामाणिक लेखक के लेख से एक नया समाचार जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई । 'पवनदूत' के श्लोकों और अनुवाद का स्वाद तो जो मिला सो मिला, एक और नया लोकोत्तर चमत्कार जान पड़ा । अब तक की संस्कृत-साहित्य की खोज में यह रत्न हाथ नहीं आया था । यश पुण्यों से मिलता है—देशी-विदेशी खोजियों को वह यश न मिला जो श्रीयुत शिवदास गुप्त को मिला । वह महत्त्व की खोज—बड़ी भारी नई बात—यह है कि लेखक ने एक नये ग्रंथ की सूचना दी है । दो जगह उस छोटे से लेख में आप 'जालहंस की सुभाषितमुक्तावली' का उल्लेख करते हैं । यह 'जालहंस'—वबजन 'राजहंस' या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कालहंस'—संस्कृत-साहित्य में नया नाम है। सुभाषित संग्रहकार कई सुने गए। पर इस कविकीर्ति-संग्रहकार का नाम कभी सुना न गया। शिवदासजी से प्रार्थना है कि इस 'जालहंस' का और उसकी 'सुभाषितमुक्तावली' का कुछ और पता दें। इस परिचय के लिए हम तरस रहे हैं।

हम तो शिवदास जी गुप्त की इस नई खोज की प्रशंसा में मग्न हैं। क्या बात है! क्या बढ़की बात निकाली है! इधर हमारे एक हँसोड़ मित्र कह रहे हैं कि 'जालहंस', 'बालहंस' कोई नहीं है—रोमनलिपि का चमत्कार है और संस्कृत-साहित्य न जानने वालों की, अंगरेज़ी या बंगला सूंघकर 'गवेषणापूर्ण लेख लिखने की लालसा पूर्ण करके पांचवें सवार बनने की धुन का परिहास मात्र दुष्परिणाम है। जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' प्रसिद्ध है। कवियों के समय निर्णय करने में बड़े काम की वस्तु है। अंगरेज़ी में रोमन लिपि में जल्हण को JALHANS (षठ्यन्त प्रयोग) लिखा हुआ था और पादरी नोल्स साहब की दुलारी रोमन लिपि के तुफ़ैल से और संस्कृत की जानकारी न होने से 'जालहंस' का जाल बिन जाने रचा गया। जैसे कि 'सोनगरा' राजपूतों का नाम कर्नल टाड के 'राजस्थान' में पढ़कर बंगाली अनुवादक ने सौ नगरों के स्वामी क्षत्रियों का जाति-नाम न समझकर अंगरेज़ी अक्षर और बंगालियों के गोल-मोल उच्चारण के भरोसे 'शनि-ग्रह' राजपूत कहकर अटकल लड़ाई कि सूर्य, चन्द्र, वंश की तरह 'शनि-ग्रहवंशी' राजपूत भी होंगे और मुरादाबादी अनुवादक ने भी हिन्दी में बंगला की वही साढ़ेसाती शनिश्चर की दशा राजपूतों पर ढा दी, वैसे ही लेखक के मानस में 'जालहंस' की किलोलें आरम्भ हो गईं!!

इस तर्क का उत्तर मेरे पास कुछ नहीं है। 'जालहंस' के नीर-क्षीर-विवेक की प्रमाणस्वरूप 'सुभाषितमुक्तावली' को कण्ठस्थ करने की मेरी इच्छा पर मित्र की समालोचना का सुदर्शनचक्र चल गया। मैंने केवल एक ही बात कही। मैंने कहा—"गीता के दर्शनशास्त्र को निचोड़ डालने वाले लेखक भी पारसीधर्म का हाल लिखते समय जरथुश्त को 'जरथुश्ता' और अहूर-मज्द को 'अहुरामज्दा' लिख देते हैं। जल्हंस को 'जालहंस' पढ़नेवाले ने 'पवनदूत' के सुन्दर श्लोकों का स्वाद तो चखाया, आप 'जल्हण' को जानते हैं, 'विल्हण' को जानते हैं, 'कल्हण' को जानते हैं—आपने हिन्दी में एक बिन्दी भी न लिखी। जो स्वयं कुछ लिखकर लोकज्ञान की मात्रा न बढ़ावे, उसके मुंह में जीभ कहां है कि अपनी समझ भर भला-बुरा लिखनेवालों पर नुक्ताचीनी करे? "साझी का पूत न कमावे न कमाने दे!"

मेरे मित्र कहने लगे—

"चंदवरदाई, या उसके नाम से पृथ्वीराजरासे के बहुत से अंशों को गढ़ने वाला कोई सोलहवीं सदी का मेवाड़ी चारण, एक जगह लिख गया है—

षटभाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।

इस पर हिन्दी भाषा के इतिहास के अंधकारमय गगन के त्रिशंकु नवरत्नों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारखी, 'विनोदकार' श्रीयुत मिश्रबन्धु लिखते हैं (बहुवचन का प्रयोग यहीं सार्थक होता है)—"परन्तु अरबी और संस्कृत के अतिरिक्त चन्द ने किन छ: भाषाओं के शब्द रक्खे हैं यह विचारना शेष है।" इस पर आप दर्जन से अधिक भाषाओं की परेड करके निर्णय करते हैं कि "प्राकृत और शौरसेनी के अतिरिक्त चन्द मागधी, अवधी, राजपूतानी और पंजाबी के शब्दों का भी प्रयोग किया करता है और यही छै भाषाएं हैं जिनका वह संस्कृत और अरबी के अतिरिक्त प्रयोग करता है।" वह भांग कुएं में ऐसी घुली की चंद की छै भाषाएं पहेली बन गईं। लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझे कोई। जो हिन्दी-साहित्य के मन्यमान आदि कवि चन्द की बात करता है वही इस षट्भाषा पर सिर धुनने लगता है। अरे बाबा, षट्रस, सप्तद्वीप, पंचमकार की तरह षट्भाषा कवियों का टकसाली संकेत है। 'त्रयी' कहने से तीन वेदों का ही ग्रहण होता है, तीनों 'मिश्रबन्धुओं' का नहीं। षट्भाषा नियत है, रूढ़ है, परिचित है। मंख कवि लोष्टदेव की प्रशंसा करता है—"वदनाम्बुरुहे यस्य भाषा: षडधशरते", जयानक कवि पृथ्वीराज का यश सराहता है—"जयन्ति सोमेश्वर-नन्दनस्य षण्णांगिरां शक्तिमतो यशांसि।" संस्कृत-साहित्य में जगह-जगह छै भाषाओं का मुहाविरा है, कोई जाने और देखे तो ! चन्द ने भी गतानुगतिक रीति से वही मुहारनी पढ़ दी है। 'षड्भाषाचन्द्रिका' नामक प्राकृतव्याकरण का नाम तो सुना होगा ? प्रसिद्ध षड्दर्शन जैसे अटकल की गुंजाइश नहीं कि ये छै कौन-कौन से हैं वैसे चन्द के कथन में भी नहीं। अब भी 'खड्दर्सन की जमात', 'खड्दर्सन का अखाड़ा', 'खड्दर्सन का भोजन' कहा जाता है। अवश्य ही साधुओं की जमात में पुराने षड्दर्शन के अनुयायी चाहे हों चाहे न हों, टकसाली नाम खड्दर्सन चल गया है, वैसे ही चन्द की भाषा में छ: भाषाओं के प्रयोग छाँटने बैठना बाल की खाल निकालना है, चंद मुहाविरे से पुराने ढंग पर 'षट्भाषा' कह गया। जैसे खड़ीबोली वालों के बोलों से तंग आकर ब्रजभाषा की मिठास की दुहाई देते समय आगरे के सत्यनारायण कविरत्न (परमेश्वर उन्हें स्वर्ग दे, सच्चे मार्मिक कवि थे !) कह गये कि ब्रजभाषा को गंवारी कौन कह सकता है जिसमें हरि ने माखन-रोटी मांगी। उस समय 'कविरत्न' यह सोचने को न ठहरे कि जब कृष्णरूप हरि माखन-रोटी माँगते होंगे उस समय यहां की भाषा सूरदास की भाषा न थी। या जैसे अपने 'वीरमणि' में मिश्रबन्धु अपने पात्रों के मुँह से गुसाईं तुलसीदासजी की चौपाइयां कहलवाते हैं। (यह द्विवचन है। हाय ! हिन्दी में द्विवचन है ही नहीं !) तो वे यह सोचने को नहीं ठहरते कि उनके उपन्यास की ऐतिहासिक पीठिका के लगभग दो सौ बरस पीछे गुसाईं जी रामायण लिखेंगे। यों ही चन्द पुराने कवियों की चाल पर छै भाषाओं की दुहाई दे गया है जैसे कि बूंदी के 'वंश-भास्कर' के कर्ता मीषण सूरजमल उन्नीसवीं सदी में भी छै भाषाओं की चर्चा करते हैं। चंद की षट्भाषा में अवधी, राजपूतानी और पंजाबी नहीं है और न मीषण सूरजमल की में राठ और डांग और मेवाड़ी। छै भाषाओं का पुराना श्लोक यह है—

"संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने फिर मित्र की बैखरी के प्रवाह को रोका । कहा—'यह तो अप्रसंग कथा है, आप पुराने फफोले फोड़ते हैं । आप यदि छः भाषा रूपी वारविलासिनियों के भुजंग हैं तो आप ही ने हिन्दी का इतिहास क्यों न लिखा ? 'जालहंस' के होते हुए भी शिवदास गुप्त ने 'पवनदूत' का स्वाद दिखाया (चखाया) और षट्भाषा न समझकर भी मिश्रत्रय ने हिन्दी का इतिहास तो बना दिया । आप काटने के लिए आरा ही हैं, गड़ने के लिए कुम्हार टोला नहीं ।"

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : नवम्बर, १९१९ ई०]

बिरामण की, सरवण की

राजपूताने में माताएं बच्चों को बुरी दीठ या नज़र से बचाने के लिए दिए पर तकुला (तर्कु) गरम करके एक मंत्र-सा कहा करती हैं—'दादा की, दादी की,···नाई की, पड़ौसी की,···बिरामण की, सरवण की,···जिसकी नजर बच्चे को लगी हो उसकी आँखों में जलता-जलता ताका (तकुला) ! !' बौद्धश्रमण (भिक्षु) इस देश में अब नहीं रह गए किन्तु ब्राह्मणश्रमण का जोड़ा जो अशोक के लेखों और पतंजलि के 'महाभाष्य' में अत्यंत संयोग या शाश्वत विरोध के अर्थ में आता है अब तक जादू-टोने में चला जाता है । (श्रमण = सरवण) ।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

भाषा की भाषा

सरकार तो हिन्दी उर्दू में अक्षर मात्र का भेद रखना चाहती है ही, किन्तु युक्तप्रान्त के कई सुयोग्य मनुष्य भी उधर झुकते दिखाई देते हैं । पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने, चन्द्रकान्ताकार की तरह, शिवप्रसादी हिन्दी के झण्डे के नीचे खड़ा होना स्वीकार किया है । बाबू अयोध्याप्रसाद, पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र, और लाला सीताराम बी० ए० भी हिन्दी के मुन्शी स्टाइल की ओर झुके हुए हैं । 'नागरी प्रचारिणी सभा' के विशेष अधिवेशन में सभापति के आसन से वाग्मिवर पण्डित मालवीय ने भी सरल, और ठेठ हिन्दी की बहुत ही स्तुति की । लोग इससे पण्डित जी को भी उर्दूमय हिन्दी का पक्षपाती न समझें, उनका यह कथन अर्थवाद ही था, क्योंकि उनके भाषण की भाषा असल और पवित्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी थी। 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने अपने एड्रेस में भी अपने को "उच्च हिन्दी के पक्षपाती नहीं हैं" कहकर पालिसी चली है, किन्तु सरलहृदय लोगों के मन में इससे धोखा हो सकता है। लोग पालिसी में चाहे कुछ कह जायं, किन्तु अपनी लेखिनी की गति को नहीं बदल सकते। पवित्र हिन्दी के कुएँ का सोता सदा संस्कृत ही रहैगा। एक बात और बड़ी मज़ेदार है। बङ्गभाषा के वैयाकरण संस्कृत की भरमार का सदा विरोध करते आए हैं। हिन्दीवाले भी ठेठ और तद्भव शब्दों के पक्षपाती रहे हैं। मराठी-लेखक भी 'देशज' पदों की स्तुति किया करते हैं। फिर क्या कारण है कि तीनों भाषाएं संस्कृत से पेट भर शब्द लिए जाती हैं? इसका कारण ढूंढ़ने को दूर नहीं जाना होगा। इन भाषाओं की नैसर्गिक प्रवृत्ति संस्कृत की ओर है, और बच्चे को माता का दूध छुड़ाकर 'मैलन्स फूड' पर पालना कदापि ठीक नहीं होगा।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मार्च-अप्रैल, १६०४ ई०]

राष्ट्रभाषा का प्रस्ताव

पं० बामनराव पेठे को हिन्दी को भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनाने के प्रस्ताव का उठाने वाला कहा जाता है। 'भारतमित्र' ने यह महत्त्व बंकिम बाबू को दिया है। संवत् १६२६ में (शाके १७६५ में) बम्बई निर्णयसागर प्रेस में बाबा किसनदास उदासी निरंजनी ने 'कबीरपद संग्रह' नामक ग्रंथ "छपाय के प्रसिद्ध किया"। उनकी 'सूचना' में बाबा जी लिखते हैं—"ए पुस्तक छापने को शुरू करने के अव्वल मेरे कितनेक मित्रों ने कहा के गुजराती अक्षरों में कबीरपद छपाओ तो अच्छा लेकिन मैंने सोचा के गुजराती लिपी जो है सो फ़कत मुठी भर गुजरातीयों के वास्ते है, लेकिन बालबोध लिपी जो है सो सारे हिन्दुस्तान वग़ैर: देशों के वास्ते है इस वास्ते मैंने बालबोध लिपी में छपाने का निश्चय कीया। भाइयो जब तक्कें हिन्दुस्तान में एक लिपी, एक भाषा, एक धर्म न होगा तब तक्कें हिन्दुस्तान में पूर्ण सुधारना न होगी। लिपी तो बालबोध ही याने देवनागरी चाहिए। भाषा हिन्दुस्तानी या हिन्दी दोनों में से कोई भी होय तो हरकत नहीं है सबब साधारन हिन्दी और साधारन हिन्दुस्तानी हर कोई समझ सकते हैं। धर्म ऐसा चाहिए जिसमें एक ईश्वर की भक्ति, मनुष्य मात्र की एकता, स्वदेशाभिमान और नीति हो। ऐ मेरे स्वदेश हितचिन्तको जो हिन्दुस्तान में तुमारी पूर्ण सुधारना करने की इच्छा होय तो पहिले एक लिपी एक भाषा करने के वास्ते कमर बांधो और मैंहेनत करना करो तब पूर्ण सुधारनी होगी, ऐ मेरे स्वदेशाभिमानी मित्रो ए मेरी विनती पर विचार करो और करोगे ऐसी मैं उम्मेद रखता हूं। हाल इतना ही बस।"

राष्ट्रभाषा के प्रेमी लोग इस पर ध्यान दें।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, १६०४ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुवादों की बाढ़

हाँ, तो 'मनोरमा' की ओर फिर लौटिए, उसके सम्पादक तो 'हर्षचरित' को निबटाकर 'कादम्बरी' के पीछे पड़े हैं, 'कुमारसंभव' पर भी कुछ कृपा की गई थी। इधर 'हिन्दी-कालिदास' अब हिन्दी-माघ बन रहे हैं और 'शिशुपालवध' की चौपाइयाँ किये डालते हैं, और हाय ! एक महाशय 'सामवेद' की हिन्दी करने चले हैं, क्या ही अच्छा एक सहृदय उन्हें सुनाकर कहता है—

काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति,
ये त्वामुदीर्णपवनं न निवारयन्ति ।
गव्यं घृतं पिव निवातगृहं प्रविश्य,
वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति ॥

[हैं ? काव्य तू कर रहा ? नहिं मित्र हैं क्या,
जो रोकते न तुझको इस············से।
गौ का पियो घृत, किवाड़ लगा लगा के।
होता जिन्हें अधिक वात बनें कवी वे।]

एक हिंदी शब्द—संस्कृत के एक धातु के तद्भव—के न रखने से अनुवाद खंडित हो गया, किंतु अच्छा हुआ, 'हिंदी-सामवेद' की तरह पादपूर्ति का उद्योग नहीं किया गया। पुराना मजाक है कि छंद न पूरा होता हो तो च, वै, तु, ह से पूरा कर दो। 'हिंदी-सामवेद' का तकियाकलाम 'श्री' है जहाँ अक्षर घटा वहाँ श्री ठूंस दी।

श्रीअहिंसाव्रतयुक्त, श्रीदेवदर्शन, श्रीदीप्ति करके सहित, श्रीपूज्य धन के ईश, श्रीयजमान से होमे गए, श्रीविधि सहित, श्रीयुतपुनीत सुगान, श्रीहव्य, कहाँ तक गिनावे श्रीपूंछजी मौजूद हैं ! एक पूरी लड़ी सुन लीजिए—

श्री देवगण में श्रेष्ठ श्री दिवलोक से ऊँचा रहे।
श्री धरातल का ईश ऐसा अग्नि यह कहलाता है॥
श्री जलों के वीर्यस्वरूपी चराचर जो जीव हैं।
उन सभी के समुदाय को यह प्रेरणा करता रहै॥

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : मई, १९२० ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक प्रसिद्ध मंत्र

एक प्रसिद्ध मंत्र का अनुवाद सुन लीजिए। मंत्र है—

'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृश विश्वाय सूर्यम्।'

(कोरा भाषान्तर—ऊँचा, ही, उस, हुई को जानने वाले, देव को, ले जाते हैं, किरण दिखाने को, विश्व के लिए सूर्य को)

'मनोरमा' की आर्ष हिन्दी—

श्री सूर्यनारायण जिन्होंके अश्व जो कहलाय हैं।
अथवा दिवाकर के किरण ही अश्व पदवी पाय हैं॥
वे सकल भुवन कहात तिन्हको देखने ही के लिए।
विख्यात श्री सर्वज्ञ रवि को उठा उपरि लिवावते॥

'उदु' का तो हुआ 'उपरि', त्यं = विख्यात, 'जातवेदसं = श्री सर्वज्ञ, 'देवं' भी इसी में खप गया समझो, 'वहन्ति' का अर्थ है 'उठा लिवावते', 'केतवः' का सायणभाष्य 'अश्व जो कहलाय है' अथवा 'दिवाकर के किरण ही अश्व पदवी पाय है' मानना चाहिए, 'दृशे' = देखने ही के लिये, 'विश्वाय' = वे सकल भुवन कहात तिन को, 'सूर्यम्' = श्री सूर्यनारायण, रवि को, जिन्हों के ने क्या चमत्कार किया और क्या गठन बाँधी है यह समझने का यत्न कीजिए, हम तो नहीं समझ सके, दो श्री का पुट यहाँ भी है, और कहलाय हैं, पाय हैं, और 'लिवावते' के आर्ष प्रयोग तो निराले ही खिल रहे हैं। 'तुम्हीं' की तरह यहाँ भी देखने के लिए में 'ही' घुस गया है।

कहिए 'मनोरमा' की ध्वनि कैसी है?

[प्रथम प्रकाशत : प्रतिभा : मई, १९२० ई०]

गोसाईं तुलसीदासजी के रामचरितमानस और संस्कृत-कवियों के काव्यों में बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव

(१)

रुधिर गाढ़ भरि भरि जमेउ, ऊपर धूरि उड़ाइ।
जिमि अँगार राशीन्ह पर, मृतकधूम रह छाइ॥

(लंकाकांड)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः ।
अंगार शेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ।।

(कालिदास, रघुवंशः ७/४३)

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-३, १९२२ ई०]

(२)

'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा । कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा'

यदि खद्योत भासापि समुन्मीलति पद्मिनी ।

स्याम सरोज दाम सम सुंदर ।
प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर ।।
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा ।

रघुपति भुजदण्डादुत्पलश्यामकान्ते-
र्दशमुख भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात् ।।

चंद्रहास हर सम परितापं ।
रघुपति विरह अनल संजातं ।।

चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्र विरहानल जातम् ।।

'रामचरितमानस' के तीनों अवतरण 'सुंदरकांड' में से हैं और संस्कृत के तीनों कवि जयदेव के 'प्रसन्नराघव नाटक' में से (पूना का छपा, सन् १८९४, देखो : ज० रा० ए० सो०; अप्रैल, १९१४)

है कपि एक महाबल सीला ।
आवा प्रथम नगर जेहि जारा ।...

...सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ ।
फिरी न गयउ सुग्रीव पहँ तेहि भय रहा लुकाइ ।।

(लंकाकांड)

कस्त्वं बानर रामराजभवने लेखार्थ संवाहको
यातः कुत्र पुरागतः स हनुमान् निर्दग्धलंकापुरः ।
बद्धो राक्षससूनुनेति कपिभिः संताडिस्तर्जितः
स व्रीडाप्त पराभवो वनमृगः कुत्रेति न ज्ञायते ।।

(? हनुमन्नाटक में से, कुवलयानंद में उद्धृत)

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घ्स, य्स=ज़ (Z)

पश्चिमी क्षत्रप राजाओं के घ्समोटिक, दमघ्सद आदि नामों में 'घ्स' युक्ताक्षर पढ़ा जाता था। सन् १९१३ में जर्मन विद्वान् डा० लूडर्स ने स्थिर किया कि यह 'घ्स' नहीं 'य्स' है और दमघ्सद का नाम दमज़द भी लिखा मिलता है। इसलिये यह य्स (घ्स नहीं) ग्रीक केज़ेड् (ज़) के लिये भारतवासियों का संकेतित चिह्न था। 'माडर्न रिव्यू' (जून १९२१) का कथन है कि सन् १९१३ के एक जर्मन पत्र में डाक्टर लूडर्स ने यह छपवाया और ता० २१ फरवरी सन् १९१३ को इस खोज की सूचना का पत्र शार्लाटिन-बर्ग से मि० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर को लिखा। किंतु सन् १९१५ की पश्चिमी मंडल की पुरातत्त्व विभाग की खोज की रिपोर्ट में मि० भंडारकर ने इसे अपनी मौलिक खोज की तरह छापा और लूडर्स का उल्लेख भी न किया। 'माडर्न रिव्यू' में लूडर्स और भंडारकर के उन लेखों के फोटो भी छपे हैं। पीछे इस विषय पर बहुत वितंडा हुई; यह सिद्ध करने का यत्न किया गया कि यह लूडर्स की मौलिक खोज नहीं है, कई वर्ष पहले डाक्टर भाऊ दाजी ही ऐसा लिख गए थे। किंतु भंडारकर के उसे अपनाने का अपलाप न हो सका।

[प्रथम प्रकाशन : **नागरी प्रचारिणी पत्रिका**, भाग-३, १९२२ ई०]

रड्डा छंद

इसी संख्या[1] के प्रथम लेख में 'कुमारपाल-प्रतिबोध' में से एक छंद (सं० ३७) व्याख्या (पृ० १५१) में अनवधान से एक मोटी भूल रह गई है। लिखा गया है कि उस छंद के अन्तिम दो चरण छप्पय के हैं। छप्पय के अन्तिम दो चरण उल्लाला होते हैं, यहाँ तो अंत में स्पष्ट दोहा है। प्राकृत पिंगल सूत्र में इस छंद का नाम 'वस्तु' या 'रड्डा दोहा' है। प्राकृत पिंगल सूत्र में वहाँ पर दो छंद दिए हैं, एक तो रड्डा ही है दूसरा छप्पय, किंतु दोनों ही राजसेन के नाम के हैं। टीकाकार लक्ष्मीनाथ (वि० स० १६५७) इस राजसेन को 'राजा' कहता है। 'अस्तु' यह राजसेन राजा भी पुरानी हिंदी का एक कवि मिला जो प्राकृत पिंगल सूत्र के वर्तमान रूप के पहले का होना चाहिए। प्रतिचरण मात्राओं का क्रम यह है—१५+१२+१५+११+१५+दोहा। पहले पाँच चरणों में अड़सठ मात्राएँ हुईं। चरणों में मात्राओं की संख्या में कुछ भेद मानकर रड्डा के सात भेद होते हैं, जैसे—१३+११+१३+११+१३=करभी; १४+११+१४+११+१४=

१. पत्रिका भाग-१, पृष्ठ ३७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नंदा; १९+११+१९+११+१९=मोहिनी; १५+११+१५+११+१५=चारुसेनी; १५+१२+१५+१२+१५=भद्रा; १५+१२+१५+११+१५=राजसेनी, १६+१२+१६+११+१६=लालंकिनी। 'वाणीभूषण' में इसे दोहा के चार चरण मानकर, 'नवपद' छंद कहा है। राजसेन के रचित छंदों की ऐतिहासिकता के कारण ये यहाँ उद्धृत किए जाते हैं।

(१) पढम[1] विरइ[2] मत्त[3] दह पंच,
पअ बीअ[4] बारह ठवड,[5]
तीअ ठाँव दह पंच जाणहु,
चारिम एग्गारहिं,
पंचमे हि दह पंच माणहु,

अट्ठासट्ठा पूरवहु अग्गे दोहा देहु।
राअसेण सुपसिद्ध इअ रड्ड भणिज्जई एहु॥

(२) विसम[6] तिकल[7] संठवहु तिण्णि पाइक्क[8] करहु लइ।
अंत गरिंद[9] कि विप्प[10] पढम बे मत्त अवर पइ[11]॥
समपअ[12] तिअ पाइक्क[13] सव्व लहु अंत विसज्जहु।
चउ्ठा चरण विचारि एक्क लहु कट्ठिअ लिज्जसु॥
एम पंच पाअ उटवण्णो कइ वत्थुणाम पिंगल कुणइ।
ठत्रि[14] दोसहीण दोहचरण राअसेण रड्डहु भणइ॥

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग-२ अंक १, वैशाख, सं० १९७८ वि० (१९२१ ई०)]

कुछ पुराने रिवाज और विनोद

हेमचन्द्र की 'देशी नाममाला' में कई शब्द उस समय के रीति-रिवाज और विनोद आदि के सूचक हैं। उनका संग्रह पाठकों के मनोविनोद और जानकारी के लिये यहाँ दिया जाता है। अर्थ हेमचंद्र ही का लिखा अनुवाद किया जाता है और कुछ टिप्पणी भी आवश्यकतानुसार दी जाती है—

---

१. प्रथम, २. विरचि, ३. मात्रा, ४. दूसरा, ५. रक्खो, ६. विषम पदों में, ७. विकल, ८. पैदल (चतुष्कल), ९. भगण, १०. विप्र, चार लघु, ११. पद, १२. ? उत्पन्न, ? १३. उठावण छंद की मात्राओं के लेखन को 'उरवण्णिका' कहते हैं १४. रखकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंवेट्टी (१।७) मुट्ठी का जुआ (बुझौवल)

अपणाण (१।७) विवाह काल में जो वधू को दिया जाय (दहेज) या जो विवाह के लिए वधू ही वर को देती है (उलटी मुँह-दिखाई ?)

आणंदवड (१।७२) पति से प्रथम यौवन हरण होने पर स्त्री का रुधिर से छिंटा वस्त्र। वह बांधवों को आनंदित करता है इसलिये 'आनंदपट' कहा जाता है (कई जातियों में अब भी रस्म है कि ऐसे वस्त्र में मिठाई रख कर बिरादरी में बाँटी जाती है)।

इंदमह (१।८१) कौमार, कुमारावस्था।

उड्डुहिअ (१।१३७) ब्याही स्त्री का गुस्सा, या ब्याही की जूठन।

एमिणिआ (१।१४५) वह स्त्री जिसका शरीर सूत से नापकर सूत चारों दिशाओं में फेंका जाता है। किसी देश की विशेष रस्म है। [पंजाबी मिणना = नापना सं० मा (मीनाति मिनोति)]

ओलुंकी (१।१५३) छिपने का खेल जिसमें लड़के छिप कर खेलते हैं, या चक्षुः स्थगन कीड़ा (आँखमिचौनी)।

ओरुंज (१।१५६) वह खेल जिसमें 'नहीं है, नहीं है' यों कहा जाय (कह-मुकरनी ?)

काज्जप्प (२।४६) स्त्रीरहस्य।

खिक्खिरी (२।७३) सूचना के लिये छड़ी जिसे डोम आदि इस कारण साथ लिए रहते हैं कि और लोग उन्हें स्पर्श न कर लें। (देखिए, फ़ाहियान का वर्णन, पत्रिका भाग-३, पृ० ४२. रजवाड़ों में अछूत जातियाँ काक या कुक्कुट का पर इसी प्रकार सिर पर लगाती हैं)।

गगिज्जा (२।८८) नई ब्याही बहू।

गंजोल्लिअ (२।१००) हँसी के स्थान में अंग स्पर्श, जो लोक में 'गिलगिलाविअ' ऐसा रूढ़ है (गिलगिली चलाना)।

छप्पंती (३।२५) एक रस्म जिसमें कमल लिखा जाता है।

छिछट रमण (३।३०) मिचणक्कीला, आँखमिचौनी।

झोंडलिया (३।६०) रासक के सदृश खेल जिसमें कन्याएँ (और बालक) नाचते खेलते हैं (रास)।

णवलया (४।२१) एक रस्म जिसमें स्त्री से पति का नाम पूछते हैं और न कहने पर वह पलाशलता से पीटी जाती है (राजपूताने में कहीं-कहीं हिंडोले पर झूलते समय स्त्रियाँ यह खेल अब भी करती हैं, हेमचंद्र ने एक श्लोक इसका अर्थ समझाने के लिये उद्धृत किया है जिससे जान पड़ता है कि स्त्री-पुरुष मिलकर यह खेल खेलते थे और कुछ चक्कर खाना भी होता था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नियमविशेषश्चरणवलया ज्ञेया। आदाय पलाशलतां भ्राम्यति लोकोऽखिलो यस्याम्। पृष्टा पतिनाम स्त्री निह्न्यते चाप्य-कथयन्ती।' उसने जो स्वरचित उदाहरण दिया है उसमें भी 'दोलाविलाससमए' है किंतु 'पुच्छन्ती' सही (=सही) ही हैं। [नांव + लेने की क्रिया = लया]

णीरंगी (४।३१) सिर ढँकने का वस्त्र, घूंघट ('आभाणक शतक' में नीरंगिका (संस्कृत) एक कहावत में आया है कि अंधे श्वसुर के लिए नीरंगिका कैसी ?]

णेड्डरिआ (४।४५) भाद्रपद शुक्ल दशमी का उत्सव विशेष।

तुणअ (५।१६) झुंखा नाम का बाजा [पतंजलि का 'मृदंगशंखतूणवाः' का तूणव ?]

थेवरिअ (५।२९) जन्म के अवसर पर बाजा-गाजा।

दुक्कर (५।४२) माघ की रात्रि में चार पहर (प्रति पहर) स्नान का नियम [दुष्कर !]।

दुद्धोलणी (५।४६) जो गाय एक बार दुही जाकर फिर भी दुही जा सके।

दिअसिअ (५।४०) सदा भोजन (दिवसिक)।

दिअहु त्त (५।४०) सवेरे का भोजन (दिवाभुक्त)।

दोवेली (५।५०) सायंकाल का भोजन (वियालू)।

धम्मअ (५।६३) चोर दुर्गा के सामने पुरुष को मारकर उसके अंग के रुधिर से जंगल में जो धर्मार्थ बलि करते हैं। [उस समय के ठग ?]

पंथुच्छुहणी (६।३५) सुसराल से पहलेपहल (पीहर) लाई हुई नववधू।

पाडिअज्झ (६।४३) जो पीहर से बहू को सुसराल पहुँचावे।

पोअलअ (६।८१) आश्विन मास में उत्सव जिसमें पति स्त्री के हाथ से लेकर अपूप (पुआ) खाता है।

मुक्कय (६।१३५) जिस स्त्री का विवाह होने वाला हो उसे छोड़कर और निमंत्रित स्त्रियों का विवाह हो जाना।

मट्टुहिअ (६।१४६) ब्याही हुई का कोप।

लय (७।१६) नए विवाहित स्त्री-पुरुषों के जोड़े का आपस में नाम लेने का उत्सव। इस शब्द के उदाहरण में हेमचन्द्र ने जो गाथा बना-कर लिखी है उसका आशय यह है कि महाराज कुमारपाल ! आप की सेना को आती हुई देखकर भागते हुए रिपु-दंपति आपस में नाम ले-लेकर पुकारते हैं और अपने 'लय' की याद करते हैं (कि विवाह होने पर भी यों किया था) देखो [ऊपर 'णवलया']

लयापुरिस (७।२०) एक उत्सव जिसमें वधू का चित्र हाथ में कमल देकर बनाया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुमास (७।४६) जब नई विवाहिता स्त्री के घर से पति बाहर न जाय वहीं रमण करता रहे वह विशेष रीति या उत्सव [हनीमून !]

बहुहाडिणी (७।५०) एक स्त्री के "ऊपर" जो दूसरी स्त्री लाई जाय।

वोरल्ली (७।८१) श्रावण शुक्ल चतुर्दशी का विशेष उत्सव [राखी ?]

सुग्गिम्मह (८।३६) फाल्गुनोत्सव यह संस्कृत 'सुग्रीष्मक' का तद्भव है इसलिये देशी में नहीं गिना है। हेमचन्द्र ने भामह में से 'सुग्रीष्मक' के प्रयोग का उदाहरण दिया है [फाग ?]

संवाडअ (८।४३) अँगूठे और बिचली अँगुलि से चप्पुटिका बजाना [चुटकी]

हिंचिअ, हिंविअ (८।६८) एक टाँग उठा कर एक ही से चलने का बच्चों का खेल।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : सं० १६७६ वि०, १६२२ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास

न्यायघंटा

'राजतरंगिणी' में राजा हर्ष (ई० सं० १०८९-११०१) के वर्णन में लिखा है कि उसने अपने महल के सिंहद्वार पर चारों ओर बड़े-बड़े चार घंटे बँधवा दिए जिससे उनके बजने से वह विज्ञप्ति (प्रार्थना) करना चाहनेवालों का आना जान जाय। जानकर तथा उनकी दुखिया बानी सुनकर वह उनकी तृष्णा ऐसे हटाता जैसे बरसाती मेघ चातकों की।[1]

'प्रबंधचिंतामणि' में एक कथा है कि चौड (=? चौड, चोल, या गौड) देश में गोवर्धन नामक राजा के यहाँ सभामंडप के सामने लोहे के स्तंभ पर न्यायघंटा था जिसे न्याय चाहनेवाला बजा दिया करता। एक समय उसके एकमात्र पुत्र ने रथ पर चढ़कर जाते समय जान-बूझकर एक बछड़े को कुचल दिया। बछड़े की माता (गौ) ने सींग अड़ाकर घंटी बजा दी। राजा ने सब हाल पूछकर अपने न्याय को परम कोटि पर पहुँचाना चाहा। दूसरे दिन सवेरे स्वयं रथ पर बैठ राह में अपने प्यारे इकलौते पुत्र को लिटाकर उस पर रथ चलाया और गौ को दिखा दिया। राजा के सत्त्व और कुमार के भाग्य से कुमार मरा नहीं।[2]

जिनमंडनगणि ने 'कुमारपाल प्रबंध' में लिखा है कि कुमारपाल ने राजसिंह द्वार पर न्यायघंटे बँधवाए थे।[3]

अमीर खुसरो अपने 'नुह सिपिहर' अर्थात् 'नवचक्र' नामक फारसी-ग्रन्थ में जो कुतुबुद्दीन मुबारक शाह (तख्तनशीनी सन् हिजरी ७१६; १३१६ ई०) के समय में बना था, लिखता है कि मैंने यह कथा सुनी है कि दिल्ली में पाँच या छै सौ वर्ष पहले अनंगपाल नामी एक बड़ा राय था। उसके महल के द्वार पर पत्थर के दो सिंह थे। इन सिंहों के पास उसने एक घंटी लगवाई कि जो न्याय चाहें उसे बजा दें, जिस पर राय उन्हें बुलाता, पुकार सुनता और न्याय करता। एक दिन एक कौआ आकर घंटी पर बैठा और घंटी बजाने लगा। राय ने पूछा कि इसकी क्या पुकार है। यह बात अनजानी

१. 'राजतरंगिणी' : ७।८७९-८०

२. 'प्रबंधचिंतामणि' : पृ० २८५

३. आत्मानंद : सभा का संस्करण, पृ० ६० (२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है कि कौए सिंह के दाँतों में से मांस निकाल लिया करते हैं। पत्थर के सिंह शिकार नहीं करते तो कौए को अपनी नित्य जीविका कहाँ से मिले ? राय को निश्चय हुआ कि कौए की भूख की पुकार सच्ची है, क्योंकि वह उसके पत्थर के सिंहों के पास आन बैठा था। राय ने आज्ञा दी कि कई भेड़े-बकरे मारे जायँ जिससे कौए को कई दिन का भोजन मिल जाय।[1]

इब्नबतूता सुलतान अल्तमश के वर्णन में लिखता है कि उसने आज्ञा दी कि जिस किसी पर अन्याय हुआ हो वह रंगीन कपड़े पहना करे। इस देश में लोग सफेद कपड़े पहनते हैं। इससे जब सुलतान का दरबार होता या वह बाहर जाता और किसी को रंगीन कपड़े पहने देखता तो उसकी पूछताछ करता और सताने वाले से उसे न्याय दिलवाता। किंतु सुलतान इस उपाय से प्रसन्न नहीं हुआ। सोचा कि कुछ लोगों पर रात को अन्याय होता है, मैं उनका भी निस्तार करना चाहता हूँ। इसलिए उसने दरवाजे पर दो संगमरमर के सिंह ऊँची चौकियों पर स्थापित किए। इनके गले में एक जंजीर थी जिसमें एक बड़ा घंटा लटक रहा था। अन्याय के सताए रात को आकर घंटा बजाते, सुलतान सुनकर झट पूछताछ करता और पुकारू को संतुष्ट करता।[2]

सुलैमान सौदागर, जो भारत और चीन में पहला मुसलमान यात्री था, और जिसकी यात्रा का विवरण हिजरी सन् २३८ (ई० स० ८५१) के समीप का है, चीन के वर्णन में लिखता है—'हर एक शहर में एक छोटी घंटी होती है जो राजा के या शासक के (बैठने के स्थान में) सिर पर दीवाल से बँधी होती है। इसके बजाने के लिए लगभग तीन मील लंबी डोर बाजार पर से जाती है कि लोग उसे पहुँच सकें। जब डोरी खिंचती है तब शासक के सिर पर घंटी बजती है और वह झटपट आज्ञा देता है कि जो मनुष्य यों न्याय के लिए पुकार रहा है वह मेरे पास लाया जावे। पुकारू स्वयं अपनी दशा और अन्याय का विवरण कहता है। यही चाल सब सूबों में है।[3]

बीकानेर[4] के राजा रायसिंह के भाई पृथ्वीराज का हाल सुनने से अकबर के समय में भी ऐसी जंजीर का होना पाया जाता है। पृथ्वीराज ने, जो बड़े कवि थे, यह छप्पय लिखकर गाय के गले में बाँध दिया था—

---

१. इलियट, जिल्द ३, पृ० ५६५। 'महाभारत' में कुलिंग-शकुनि, कलिंगशकुनि या भूलिंगशकुनि (भू पक्षी) का दृष्टान्त कई जगह दिया है कि वह कहा तो करता है, 'मा साहसं, मा साहसं—साहस मत करो, किंतु स्वयं इतना साहस करता है कि शेर की दाढ़ में से मांस के टुकड़े निकाल कर खाता है। 'पर उपदेश कुशल' लोगों पर इस पक्षी का दृष्टान्त दिया है 'न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति। प्रकृतिं यान्ति भूतानि कलिंगकुशनिर्यथा।' हेमचंद्र ने 'परिशिष्ट' पर्व में इसे 'मासाहसपक्षी' कहा है।

२. इलियट, जिल्द २, पृ० ५९१

३. रेनादो का अनुवाद; सन् १७३३ का छपा, पृ० २५

४. यहाँ से लेख के अंत तक का विषय मुंशी देवीप्रसाद जी की कृपा से प्राप्त हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधर धरत त्रिण मुख्य ताहि कोऊ नहिं मारत।
सो हम निस दिन चरत बैन दुरबल उच्चारत।।
सदा खीर घृत झरत मोर सुत पृथ्वी बसावत।
कहा तुरकन को कटु कहा हिंदुन मधु पावत।।
हम नगार पनही हमहि गलो कटावत हम दिए।
पुक्कार अकब्बर साह सौं कहा खून हमने किए।।

वह फिरती-फिरती बादशाह के महल के नीचे आकर स्वभाव से अदालत की जंजीर से सिर मारने लगी और घंटे बजने लगे। बादशाह फरियादी का आना जान निकल आए और कागज पढ़कर उन्हें ऐसी करुणा आई कि गौवध की मनाई कर दी गई।

पूरब के कवि इसी छप्पय के शब्दों में कुछ फेर-बदल कर इसे 'नरहरि' कवि की रचना कहते हैं जो उसने गाय के सींगों से बाँध दी थी।

सम्राट् जहाँगीर की जंजीर-अदालत का प्रमाण 'तुजुक जहाँगीरी' से मिलता है। वहाँ जहाँगीर लिखता है[1] कि तख्त पर बैठते ही पहला हुक्म जो मैंने दिया वह इनसाफ की जंजीर बाँधने का था; जो अदालत के मुत्सद्दी जुल्म से सताए हुए लोगों की फरियाद को पहुँचाने और जाँच करने में सुस्ती और ढील करें तो वे लोग इस जंजीर को हिला दें जिससे खबर हो जावे और वह इस तौर पर बनाई गई कि मैंने हुक्म दिया कि ४ (ईरान के ३२) मन खरे सोने की ३० गज लंबी जंजीर बनावें जिसमें ६० घंटे लगे हों, उसका एक सिरा तो किले की शाह बुर्ज से लगाया और दूसरा दरिया (यमुना) के किनारे तक ले जाकर एर एक पत्थर के लाट पर गाड़ा गया।

हिंदी तारीख चगत्ता में, जो जयपुरी बोली में जयपुर के महाराज माधोसिंह जी (पहले) की आज्ञा से बनाई गई थी और जिसकी प्रति टोंक के पंडित रामकर्ण जी के पास थी, मुंशी देवीप्रसाद जी ने जहाँगीर के इन्साफ की यह कथा पढ़ी थी। एक गाय ने जंजीर हिलाई और बादशाह ने उसे देखकर साथ में एक सिपाही कर दिया। गाय सिपाही को एक पठान के घर ले गई जिसने कि उसका बछड़ा मार डाला था। सिपाही पठान को बादशाह के पास ले आया। बादशाह ने उसके हाथ-पाँव बँधवाकर उसे गाय में सामने डलवा दिया और गाय ने उसे सींगों से मार डाला।

शायद उसी किताब में यह कथा भी है कि एक बार एक ऊँट ने जंजीर हिलाकर घंटी बजा दी। बादशाह ने उसकी पीठ छिली हुई और लोहू-लुहान देखकर ऊँटवाले से कहा कि अगर अब छः मन से ज्यादा बोझ लादा तो सजा मिलेगी और उस दिन से ऊँट पर छः मन से ज्यादा बोझ न लादने का कानून बन गया।

[प्रथम प्रकाशन : **नागरी प्रचारिणी पत्रिका** : १९२२ ई०]

---

१. जिल्द १, पृ० ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजाओं की नीयत से बरकत
(उनका कमाई के लिये मूर्तियाँ पधराना)

'प्रवंधचिंतामणि' में एक कथा है कि एक समय राजा भोज केवल एक मित्र को साथ लिए हुए रात को नगर में घूम रहा था, प्यास से व्याकुल होकर किसी वेश्या के घर जा उसने मित्र द्वारा जल मँगाया। वह शंभली अति प्रेम से किंतु कुछ देर से तथा खेद जतलाकर साँठे के रस से भरा करुआ लाई। मित्र ने उसके खेद का कारण पूछा तो वह बोली, "पहले एक गन्ने के रस में एक घड़ा और एक बाहटिका (वाटी, वाटकी = कटोरा) भर जाता था, किंतु अब राजा का मन प्रजा की ओर विरुद्ध है इसलिये इतनी देर में (एक साँठे में) एक बाहटिका ही भरी, यही मेरे खेद का कारण है।" राजा ने यह सुनकर सोचा कि शिवमंदिर में कोई बनिया बड़ा भारी नाटक करा रहा था, मेरे चित्त में उसे लूटने की आई, इसलिए यह जो कहती है सत्य है। राजा लौटकर घर आया और सो गया। दूसरे दिन राजा प्रजा पर कृपा दिखाकर फिर उस पणरमणी के घर गया और साँठे में अधिक रस हो जाने के संकेत से यह जानकर कि आज राजा प्रजा की ओर वत्सलता दिखाता है उस वेश्या ने यही कहकर राजा को संतुष्ट किया।[1] इस कहानी पर मुंशी देवीप्रसाद जी ने कृपा करके यह विशेष लेख भेजा है जिसके लिये मैं उनका उपकृत हूँ।

"ऊपर लिखी कहानी से मिलती हुई कथा कई फारसी किताबों में देखी गई। एक किताब (शायद 'इखलाक महोसनी') में उस बादशाह का नाम भी बहरामगोर पढ़ा था। यह कहानी बहुत मशहूर है, हिंदू-मुसलमान बादशाहों की नीयत के बारे में मिसाल के तौर पर इसे कहा करते हैं। जहाँगीर बादशाह ने भी उसको अपनी 'तुजुक' की दूसरी जिल्द में एक प्रसंग से लिखा है जब कि वे उज्जैन में थे और प्रसंग शिकार का था। वे लिखते हैं कि 'जुमे के दिन (१३वें नौरोज़ के) आजर[2] महीने की पहिली तारीख को दिल में बाज़ और जुर्रे के शिकार की रग़बत (रुचि) बढ़ी तो सवारी जुवार के खेत में होकर निकली। हर एक तने (संटी) में एक ही बाली निकला करती है पर एक तना ऐसा देखने में आया जिसमें १२ बालियाँ थीं, (देखकर) हैरत हुई और उस वक्त बादशाह और बाग़बान की हिकायत (बात) याद आई।'

"एक बादशाह गर्म हवा में एक बाग़ के दरवाज़े पर पहुंचा। बूढ़ा बाग़बान दरवाज़े पर खड़ा था। पूछा कि इस बाग़ में अनार हैं? कहा—'हैं।' बादशाह ने फ़रमाया कि एक प्याला अनार के रस का ला। बाग़बान की लड़की अच्छी सूरत और स्वभाव की थी; उसको इशारा किया कि अनार का रस ले आ। लड़की गई और फौरन एक प्याला अनार के रस का बाहर ले आई। उस पर कुछ पत्ते भी रखे थे।

"बादशाह ने उसके हाथ से लेकर पी लिया और लड़की से पूछा कि इस पर

१. 'प्रवंधचिंतामणि' : पृष्ठ ११४-१५
२. पूस बदी ६ शुक्रवार सं० १६७५, ता० २७ नवंबर, १६१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन पत्तों के रखने का क्या मतलब था। उसने बड़ी मीठी बोली से अर्ज़ किया कि ऐसी गर्म हवा में पसीने से डूबे हुए और सवारी से पहुँचने में एकदम पानी पीना हिकमत के ख़िलाफ़ है, इस विचार से मैंने पत्ते रस और प्याले के ऊपर रख दिए थे कि धीरे-धीरे पीएँ।

"उसकी यह सुहानी अदा सुलतान के मन में भा गई और उसने चाहा कि मैं इस लड़की को महल की खिदमतगारनियों में दाखिल करूँ।

"फिर उस बाग़बान से पूछा कि तुझको इस बाग़ से क्या हासिल होता है। कहा—३०० दीनार। कहा—दीवान (कचहरी) में क्या देता है। कहा—कुछ नहीं। सुलतान किसी पेड़ का कुछ नहीं लेता है बल्कि खेती का भी दसवां हिस्सा ही लेता है।

"बादशाह के मन में आया कि मेरी सलतनत में बाग़ बहुत और दरख़्त बेशुमार हैं, अगर बाग़ के हासिल भी दसवाँ भाग दें तो काफ़ी रुपया होता है, और रैयत को कुछ नुक़सान भी नहीं पहुँचता। अब फ़रमा दूंगा कि बाग़ों का भी महसूल लिया करें।

"फिर कहा कि अनार का कुछ रस और भी ला। लड़की गई और देर में अनार के रस का एक प्याला लाई। सुलतान ने कहा कि जब तू पहले गई थी तो जल्दी आ गई थी और बहुत ज्यादा ले आई थी। अब तूने बहुत रास्ता दिखाया और थोड़ा भी लाई। लड़की ने कहा कि तब तो मैंने प्याला एक ही अनार के रस से भर लिया था, अब ५-६ अनारों को निचोड़ा और उतना रस नहीं निकला। सुलतान की हैरत और भी बढ़ गई।

"बाग़बान ने अर्ज़ की कि महसूल में बरकत बादशाह की नेकनीयती से होती है। मेरे मन में ऐसा आता है कि तुम बादशाह होगे। जब तुमने बाग़ का हासिल मुझसे पूछा तो तुम्हारी नीयत डावाँडोल हो गई जिससे फल की बरकत जाती रही। सुलतान पर इस बात का बड़ा असर (प्रभाव) पड़ा और उसने उस खयाल को दिल से दूर करके कहा कि एक बेर फिर अनार के रस का प्याला ला। लड़की फिर गई और जल्दी से भरा हुआ प्याला बाहर ले आई और उसने उसे हँसते-खेलते सुलतान के हाथ में दिया।

"सुलतान ने बाग़बान की बुद्धिमानी पर शाबाशी देकर सारा हाल ज़ाहिर कर दिया और लड़की बाग़बान से माँग ली। उस खबरदार बादशाह की यह हिकायत दुनिया के दफ्तर में यादगार रह गई।

"जहाँगीर अपनी ओर से इस कहानी पर लिखते हैं कि इन बातों का ज़ाहिर होना नेकनीयती और इंसाफ़ के नतीजों से है। जब कि इंसाफ़ी बादशाहों की नीयत और हिम्मत दुनिया के आराम और रैयत की भलाई में लगी रहे तो नेकियों का ज़ाहिर होना, खेतियों तथा बाग़ों की पैदावारों का बढ़ जाना मुश्किल नहीं है। खुदा का शुक्र है कि इस सलतनत (हिंदुस्तान) में पेड़ों के हासिल लेने की लाग कभी नहीं थी और न अब है। अमलदारी के सारे मुल्कों में एक दाम और एक कौड़ी भी इस सीग़े (खाते) की दीवान-आला और खज़ाने आमरे में दाखिल नहीं होती है बल्कि हुक्म है कि जो कोई खेती की ज़मीन में बाग़ लगावे तो उसका हासिल माफ़ रहे। उम्मेद है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्चा ख़ुदा इस न्याजमंद (दीनहीन) को हमेशा नेकनीयती की श्रद्धा दे।

"जब मेरी नीयत भलाई की है तो तू मुझे भलाई दे।"[1]

"फ़ारसी भाषा के एक कवि ने बादशाहों की नेक नीयत का बखान करते हुए कहा है—

चु नीयत नेक बाशद बादशा रा।
बजाए गुल गुहर खेजद गियारा॥

"अर्थात् जो बादशाह की नीयत नेक हो तो फूल की जगह घास में मोती लगे।"

ऊपर जो कहा है कि भोज के मन में शिवमंदिर के नाटक को लूटने की आई वह चाहे अनुचित हो, किंतु लोगों के धर्मविश्वास और विनोद से कमाई करना राजाओं का धन-संग्रह करने का पुराना उपाय है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में एक कोशाभिसंहरण का प्रकरण (९२) है। उसमें प्रजा से नजराने लेने, सम्मान के बदले धन लेने आदि का वर्णन करके लिखा है कि कुशीलव (नाटककार) और रूपाजीवा (वेश्या) से राजा उनकी आधी कमाई ले ले। आगे धर्म के धन की कथा चलती है—"किसी भी पाखंड (धर्म-पंथ) के संघ का धन, या ऐसा देवधन जिसे वेद पढ़े हुए (श्रोत्रिय) न भोगते हों, कृत्यकार (हथकंडों में उस्ताद) लोग यों कहकर खजाने में पहुँचा दें कि हमने वह धन किसी ऐसे के यहाँ रखा था जो मर गया, या ऐसे घर में रखा था जो जल गया। देवताध्यक्ष (अधिकारी) दुर्ग और राष्ट्र के देवताओं का जितना धन हो उसे एकत्र करके कोश बना ले और वैसे ही ले आवे। रात-ही-रात में कहीं पर देवमंदिर या चितास्तूप या कोई सिद्धस्थान या अद्भुत घटना खड़ी करके वहाँ यात्रा और समाज लगवा देवे और उनसे (यात्रा तथा समाजों में आनेवालों के चढ़ावे से) कमावे। यदि चैत्य या बाग़ के वृक्ष में बिना समय फूल-फल आ जाय तो देवता का आ जाना (कोप) प्रसिद्ध करे (और शांति के चढ़ावे उगाहे)। वृक्ष में किसी मनुष्य को छिपा, उसके द्वारा राक्षस का भय दिखलाकर सिद्ध का स्वांग बनाए हुए लोग पुर और देशवासियों के सुवर्ण से उसका प्रतीकार (शांति) करावें। सोना भेंट चढ़ाने पर सुरंगवाले कुएँ में नाग दिखलावे जिसका सिर बँधा रहे (कि वह दर्शकों को न काटे) श्रद्धालुओं को (भेंट लेकर) नाग की प्रतिमा[2] में जिसमें भीतर छेद हो, या मंदिर या समाधि के छेद में या वाल्मीक के छेद में प्रत्यक्ष नाग का दर्शन करावे, पहले उसे खिलाकर सुस्त बना दे।

---

१. तुजुक जहाँगीर, जिल्द २, पृ० २५३-५४

२. कहते हैं कि जयपुर में महाराज रामसिंहजी के समय में एक गुसाईं जी आए थे जिनके ठाकुरजी शयन-आरती के पीछे नृत्य करते थे। 'श्रद्दधानों' की भीड़ होने लगी। एक दिन महाराज पहुंच गए और जब नूपुरों की ध्वनि हो रही थी, उन्होंने पर्दा हटा दिया। क्या देखते हैं कि चूहों के पैरों में मँजीरे बँधे हैं और वे प्रसाद के लोभ से इधर-उधर फिरकर रासलीला कर रहे हैं। सुनते हैं कि संप्रदायों से महाराज की अरुचि का आरम्भ उस दिन से हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो श्रद्दधान न हों उनके आचमन और छींटने के पानी में कोई (नशे का) रस मिलाकर (उनके बेहोश होने पर) देवता का कोप बतावें या किसी लावारिस को साँप से कटवाकर अपशकुन मिटाने के लिये शांति करने के बहाने से कोश में धन इकट्ठा करे।"[१] इस प्रसंग में 'सर्पदर्शन' उसी ढंग से आया है जिस ढंग से अशोक के प्रज्ञापन में 'विमानंद-सनानि'।

जैसा कि कौटिल्य ने लिखा है, राजा लोग धन उगहाने के लिये रात को (नया) दैवत चैत्य खड़ा कर वहाँ पर यात्रा और समाज लगवाकर कमाते थे। इसका प्रमाण पतंजलि के 'महाभाष्य' के उस अंश से मिलता है जिसमें कहा गया है—"हिरण्यार्थी मौर्यों से अर्चाएँ प्रकल्पित की गईं।" इस पर बहुत टीका-टिप्पणी, वाद-विवाद और संदेह-संदोह हुए हैं।[२] कभी अर्थ किया गया कि मौर्यों ने सोने की जरूरत पड़ने पर प्रतिमाएँ बेचीं, कभी कहा गया कि प्रतिमाएँ गला कर सिक्के बनाए। उस प्रसंग का पूरा अर्थ यहाँ दे दिया जाता है।

पाणिनि कहते हैं कि किसी वस्तु के सदृश उसकी प्रतिकृति या मूर्ति बनाई जाए तो उसके आगे क प्रत्यय होगा, जैसे अश्व की-सी अश्व की मूर्ति अश्वक[३]। जो प्रतिकृति जीविका के लिये बनाई हो, परन्तु बिक्री के लिये न हो वहाँ क नहीं लगता।[४] जैसे सिलावट में शिव, स्कंद या विशाख की मूर्तियाँ गढ़कर बजार में बेचने को रखी हों तो वे शिवक, स्कंदक, विशाखक कहलाएँगी किंतु यदि वे बिक्री के लिये न होकर जीविका के लिये हों तो शिव, स्कंद या विशाख ही कहलाएँगी। वे मूर्तियाँ कौन हो सकती हैं जो अपण्य होकर भी जीविकार्थ हों? स्मरण रहे कि क न लगने के लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिएँ—मूर्ति बिक्री के लिये न हो और उससे जीविका भी चल जाय। काशिका और कौमुदी का मत है कि ये देवलक (पुजारी) आदि की जीविका देनेवाली देव-प्रतिकृतियों के लिये हैं। कैयट कहता है कि जिन मूर्तियों को लेकर घर-घर (पुजारी) फिरते हैं उनसे मतलब है। इसी को देखकर कौमुदी के टीकाकार ने घुमाई जानेवाली मूर्तियों को इस सूत्र में माना है, और स्थिर प्रतिमाओं को क से बचाने के लिये पाणिनि के अगले सूत्र में देवपथ आदि की शरण ली है।[५] घरों में पूजी जानेवाली मूर्तियाँ जो केवल पूजनार्थ होती हैं, जिनसे जीविका नहीं होती, वे देवपथादि में हैं। वस्तुतः घर-घर घूमनेवाली और मंदिरों में स्थिर रहनेवाली मूर्तियों में कोई भेद नहीं है; दोनों ही अपण्य हैं, दोनों ही जीविकार्थ हैं। क कहाँ-कहाँ नहीं जुड़ता, इसका वैयाकरणों का एक

---

१. पृष्ठ : २४२. अनुवाद मेरा है और पहले अनुवाद से कुछ भिन्न है।—गुलेरी

२. गोल्डस्टुकर (पाणिनि, पृ० १७५-६), वेबर और भंडारककर (इ० एं० जिल्द १, २), भंडारकर और पीटर्सन का विवाद (ज० ब्रां० बॉं० रा० ए० सो०) और जायसवाल (इ० एं० जिल्द ४७)

३. इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६

४. जीविकार्थे चापण्ये ५।३।९९

५. देवपथादिभ्यश्च ५।३।१००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रह श्लोक है—केवल पूजन के काम की अर्चाओं में, चित्रकर्म (=तसवीरों) में (उदा०—अर्जुन के रथ की तस्वीर=अर्जुन, अर्जुनक नहीं), ध्वज (=झंडों पर बनी मूर्ति) में (उदा०—अर्जुन के झंडे पर कपि की मूर्ति=कपि, कपिक नहीं) और देवपथ आदि गिने हुए शब्दों में (उदा०—उष्ट्रग्रीवा पतली गरदन की सुराही, उष्ट्रग्रीविका नहीं; काव्यों में शराब पीने की चुसकी के लिये 'उष्ट्रिका' आता है) प्रतिकृति और सादृश्य अर्थ में क नहीं लगता।[1] अब व्याकरण की बात हो चुकी, पतंजलि की ऐतिहासिक टिप्पणी पर आइए।

पाणिनि—जीविकार्थ अपण्य (सदृश प्रतिकृति) **में भी** ('क' नहीं लगता)।

पतंजलि[2]—(सूत्र में जो) **यह कहा गया है कि 'अपण्य में' तो यह सिद्ध नहीं होता**—शिव, स्कंद, विशाख, **क्या कारण है ? सोना चाहनेवाले मौर्यों ने अर्चा कल्पित की थीं।** (मौर्यों ने यात्रा और समाजों से रुपया कमाने के लिये शिव, स्कंद और विशाख की मूर्तियाँ चलाई थीं। यह तो दूकानदारी थी, कमाई थी, सरासर बिक्री थी। यह तो कोई बात नहीं कि गरीब सिलावट मूर्ति बनाकर धन कमावे तो वह मूर्ति शिवक कहलावे और बड़े राजा दूकानदारी करें तो वह शिव ही कहलावें। क्या व्याकरण के प्रत्यय भी राजाओं के हुक्मी बंदे हैं ? इसका उत्तर देते हैं)—**खैर, उनमें न सही** (उनमें क मत उड़ाओ, उन्हें शिवक आदि ही कहो) **किंतु जो ये आजकल पूजा के लिये हैं** (चाहे वे मौर्यों की कल्पित हों चाहे किसी और की) **उनमें तो हो जायेगा** (मौर्यों की बनाई मूर्तियाँ उनके समय में पण्य थीं उन्हें 'शिवक' कहो; अब तो मौर्य नहीं रहे, उनकी दूकान उठ गई, यदि उनकी बनाई मूर्तियाँ अब तक पुजती हैं, या किसी और की स्थापित मूर्तियाँ हैं, वे पण्य नहीं हैं, केवल पुजारियों की जीविकार्थ हैं, उन्हें तो शिव, स्कंद आदि कहो)।

कैयट—(पतंजलि के **'जो तो वे'** आदि लेख पर) इसका अर्थ यह है कि जिन्हें लेकर घर-घर फिरते हैं उनमें (क का लोप हो जायगा), जो बेची जाती हैं उनमें (लोप) न होगा (क रह जायगा), जैसे शिवकों को बेचता है।

नागोजीभट्ट—(पतंजलि के **'मौर्यों'** ने आदि लेख पर) मौर्य **'बेचने के लिये'** प्रतिमा के शिल्पवाले (बिक्री के लिये मूर्तियाँ बनाने का व्यवसाय करने वाली, शिल्प

---

१. अर्च्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च। इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु॥ 'गणरत्नमहोदधि' में किसी वैयाकरण के 'प्रतिच्छन्देऽनर्चादिः' सूत्र पर इस देवपथादि-गण को 'अर्चादि' कहा है। उसके श्लोक ये हैं—अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मनट-ध्वजे। चञ्चाखरकुटीदासीवध्रिका नरि काश्यपः॥ देवराजाजशङ्कुभ्यः करिसिन्धु-शतात् पथः। सिद्धोष्ट्राभ्यां गतिग्रीवे वामाद्रज्जुः स्थलात् पथः॥ खरकुटी=नाई की दुकान।

२. अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिद्धयति—शिवः स्कन्दो विशाख इति। किं कारणम् ? मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्च्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्, तासु न स्यात्। यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाननेवाली जाति) हैं उन्होंने मूर्तियाँ बनाई हैं । 'बेचने के लिये' इतना और (पतंजलि के वाक्य में) जोड़ो । इसलिये, उनके पण्य होने से वहाँ (क) प्रत्यय सुनाई देने का मौका है यह मतलब है । वहाँ (क) प्रत्यय का सुनाई पड़ना ठीक ही है यह कहते हुए (पतंजलि) सूत्र का क न रहने का उदाहरण दिखाते हैं **'उनमें हो, जो तो ये'** इत्यादि से। **आजकल पूजा के लिये** (अर्थात्) संप्रति—अपने बनाने के समान काल में ही फल उपजानेवाली जो (प्रतिमाएँ) पूजा और जीविका देनेवाली होने से उस (जीविका देने के) अर्थवाली हैं, यह अर्थ है । वही (कैयट) कहता है—'जिन्हें लेकर' इत्यादि । जो मूर्तियाँ घर में शिष्टों से पूजी जाती हैं उनमें तो शिव की अभेद बुद्धि होने से और सादृश्य की बुद्धि न होने से (क) प्रत्यय होता ही नहीं । (संग्रहकारिका की याद करके) यों ही चित्रों के लिये देखना ।

कैयट ने ऐतिहासिक बात का कुछ व्याख्यान नहीं किया । 'यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थाः' में भी घर-घर घुमाई जानेवाली मूर्तियों की बात की । नागोजी ने मौर्य का अर्थ मूर्ति बनाने वाली जाति किया, यह न सोचा कि मूर्ति बनानेवालों का पेशा यही है, उनकी बनाई मूर्ति सदा पण्य होगी, उसमें क न लगने का मौका ही कहाँ आवेगा ? पतंजलि के उदाहरण के लिये **कोई ऐसी मूर्तियाँ चाहिएँ जो प्रत्यक्ष में अपण्य हों, किंतु असल में पण्य हो, जिनकी दूकानदारी छिपी हो** । ऐसी मूर्तियाँ वे ही हो सकती हैं जो, अर्थशास्त्र के अनुसार राजाओं ने 'यात्रासामाजाभ्यामुपजीवेत्' के लिये खड़ी की हों । फिर संप्रति का अर्थ आजकल, भाष्यकार के समय में, न समझ कर वह कहता है कि अभी, बनाते ही, जिनसे पूजा और जीविका का लाभ हो ! आगे उसे यह बरदाश्त न हुई कि घर के शिवलिंग को कोई शिव की 'प्रतिकृति' कह दे । उसमें तो सादृश्य की बुद्धि ही नहीं, अभेद की बुद्धि ठहरी, वहाँ 'इवे प्रतिकृतौ' की गुंजाइश ही नहीं ! !

मेरे पास सं० १८७२-४ का पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान सारस्वत पं० जैसराम जी का स्वहस्तलिखित एक संपूर्ण 'सकैयट महाभाष्य' है जिस पर मैंने अध्ययन किया था[1] ।

---

१. भिन्न भिन्न अध्यायों के लिखे जाने का काल रोचक होने से यहाँ दिया जाता है—
प्रथम अध्याय—(दो आह्निकों में विवरण भी साथ हैं)—संवत् १८७२ ज्येष्ठ शुक्ल १३
द्वितीय अध्याय—संवत् १८७४ आखा (!) ढ कृष्ण १४ भृगुदिने ।
तृतीय अध्याय—संवत् १८७४ दीपमालिकायाम् (=कार्तिक कृष्ण ३०)
चतुर्थ अध्याय—संवत् १८७४ पौषसिताष्टभ्याम् (=पौष शुक्ल ८)
पंचम अध्याय—संवत् १८७४ आश्विन सिते ११
षष्ठ अध्याय—तिथि नहीं है ।
सप्तम अध्याय—संवत् १८७२ शिवरात्र्याम् (=फाल्गुन कृष्ण १४)
अष्टम अध्याय—संवत् १८७३ कार्तिक शुक्ल १५।। सकैयटं महाभाष्यं जैसरामेण धीमता । भवानीदासपुत्रेण लिखितं शोधितं तथा ।। तदस्तु प्रीतये भूयो भवानी-विश्वनाथयोः ।। श्रीगुरुभ्यो नमो नित्यं पितृभ्यश्च नमो नमः ।।२।। श्रीमद्विश्वेश्वरः प्रीयताम् । शुभं भवतु ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें इस स्थल पर पं० जैसरामजी के हाथ की टिप्पणी है। पहले तो नागोजी का मत लिखा है कि "विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवंतो मौर्या इति विवरणकाराः" आगे लिखा है "क्षत्रियविशेषेषु तु प्रसिद्धाः"। इस 'तु' से जान पड़ता है कि पुराने पंडितों में मौर्यराजाओं के अर्चाएँ बनाने की कुछ परंपरागत प्रसिद्धि थी और वे नागोजी के अर्थ से संतुष्ट न थे।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

हूण

पराक्रमी हूणों का स्मरण अभी तक कई प्रकार से चला आता है। हरियाना प्रांत में जब कोई मनुष्य किसी दूसरे से भिड़ते हुए झिझकता है तो उसे हिम्मत बढ़ाने के लिये कहा जाता है—'अरे, यह क्या कोई हून है?' कोई बहुत गाल बजाता है तो भी कहते हैं, "बड़ा कहीं का हून आया!" राजपूताने की ऐतिहासिक दंतकथाओं में कई उच्छृंखल 'हूल' वीरों की कथाएँ हैं जो दुर्गम घाटों में रहते और व्यापारी, यात्रियों आदि से लूट उगाहते थे। दक्षिण में एक सिक्का 'हुन' नामक था जो अभी-अभी तक चलता रहा। राजपूतों के छत्तीस कुलों में एक 'हूण' भी है। इतिहास में कई प्रतिष्ठित और परिज्ञात राजाओं का हूण-कन्याओं से विवाह हुआ लिखा मिलता है। मेवाड़ के राना अल्लट (वि० सं० १०१०) की रानी हरियादेवी हूण-कुल की थी। त्रिपुरी (तेवर, चेदिमंडल) के कलचुरि (हैहय) वंशी राजा कर्णदेव की स्त्री आवल्लदेवी हूण-कुल की थी जिसका पुत्र यशःकर्णदेव था (अजनि कलचुरीणां स्वामिना तेन हूणान्वयजलनिधि-लक्ष्म्यां श्रीमहावल्लदेव्याम्।···श्रीयशःकर्णदेवः, एपि० इंडि० जि० २, ३—५ यशःकर्ण के पुत्र गयकर्ण की प्रशस्ति)।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

कालिदास के समय में हूण

आजकल कालिदास के काव्यों पर मल्लिनाथ ही की टीकाएँ अधिक पढ़ाई जाती हैं। यह प्रसिद्ध टीकाकार दक्षिणी था और ईसवी चौदहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था। इसके वंश के लोग अब भी मद्रास प्रान्त में पाए जाते हैं। मल्लिनाथ ने दावे के साथ लिखा है कि खोटी व्याख्याओं के विष से कालिदास की कविता मूर्च्छित हो गई है। उसे यह मेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संजीवनी टीका फिर जिला देगी ।[1] इसलिए उसने टीकाओं का नाम 'संजीवनी' रक्खा है।

इससे पहले कालिदास के काव्यों के और भी कई पुराने टीकाकार थे, जिनमें एक वल्लभदेव या वल्लभ भी थे। ये कश्मीर के रहनेवाले थे। इनकी 'मेघदूत' की टीका हुल्श साहब ने विलायत में छापी है। 'गणरत्नमहोदधि' नामक व्याकरणग्रंथ के कर्ता वर्धमान ने—लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः (कुमारसम्भवः १।३५) की वल्लभदेव की टीका का हवाला दिया है।[2] इससे वे वर्धमान के पहले के हुए। वल्लभदेव ने माघ के 'शिशुपालवध' के कवि-वंश वर्णन की टीका करते समय बिल्हण का उल्लेख किया है। इससे वल्लभ को बारहवीं शताब्दी (ईसवी) के आरंभ में मानना अयुक्तियुक्त नहीं। वल्लभ इस प्रकार मल्लिनाथ से प्राय: दो सौ वर्ष पुराने हैं। वे उत्तरीय भारत के थे। इसलिए उन्होंने जो कालिदास की रचना का पाठ माना है, वही अधिक प्रामाणिक है। 'रघुवंश' के चौथे सर्ग में राजा रघु के दिग्विजय का वर्णन है। उसमें उत्तर दिशा के राज्यों के विषय-वर्णन में यह श्लोक है—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीर विचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धांल्लग्नकुंकुमकेसराम् ।।

'अमरकोश' में केसर का पर्याय 'वाल्हीक' भी लिखा है वाल्हीक देश में होने से केसर का यह नाम पड़ा है—जैसे काश्मीर में होने से उसका दूसरा नाम 'काश्मीर' या 'काश्मीरज' है या सिन्धु देश में होने से घोड़े का नाम 'सैन्धव' है। 'अमरकोश' के एक टीकाकार क्षीरस्वामी, ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए हैं। 'वाहीक' शब्द पर टीका करते हुए उन्होंने 'रघुवंश' के इसी श्लोक का उत्तरार्द्ध उद्धृत[3] किया है, जिससे तात्पर्य यह निकलता है कि क्षीर स्वामी के मत में, रघु के घोड़ों ने अपने केसर लगे हुए कन्धे वल्हीक-देश में हिलाये थे। पर वल्हीक-देश में सिन्धु नदी कहाँ ? मल्लीनाथ को ऐसी छोटी-छोटी बातों की क्या परवा ?

अब वल्लभ की टीका की तरफ चलिये। वहाँ 'वङ्कूतीरविचेष्टितैः' मानकर उन्होंने टीका की है—'वङ्कू नाम्नी नदी तस्यास्तीरे'। किसी-किसी पुस्तक में 'वङ्क्षू' भी पाठान्तर है। अतएव क्षीर स्वामी तथा वल्लभदेव के मत में रघु ने, उत्तर-दिग्विजय में, हूणों को वल्हीक-देश में जाकर जीता था, जहाँ कि 'वङ्कू' नदी बहती है।

वल्हीक देश या बैक्ट्रिया में बहने वाली एक प्रसिद्ध नदी का ग्रीक नाम 'अक्सस' (oxus) है। तारतम्यात्मक भाषा-विज्ञान के मत से इसका संस्कृत रूप 'वक्ष' और

---

१. भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता।
एषा संजीवनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ।।

२. वल्लभस्य तु तिङन्तप्रतिरूपको निपात इति न
समाप्तम्। तादृशस्यैव तिङन्तस्याभावात् ।।

३. वह्लीकदेशजं यद्वयोरुत्तर दिग्विजये दधुवुर्वाजिनः। इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राकृत 'वक्कू' है जो अनुनासिक उच्चारण से 'वङ्क्ष' या 'वङ्कू' बोला जा सकता है। प्रसिद्ध यात्री हुएन्साङ ने इस नदी का नाम 'पोचू' या 'फोचू' लिखा है। संस्कृत 'व' को इस चीनी यात्री के देश भाई 'पो' या 'फो' उच्चारण करते थे—जैसे मालवा = मोलोपो; नवदेवकुल = नोफोटिपोकुलो। क्ष (संस्कृत) या क्क, क्ख (प्राकृत) के लिए हुएन्साङ् 'च' लाता है; जैसे तक्षशिला या तक्खशिला = तच शिथिलो। इससे फोचु या पोचु नदी वक्षु या वक्कू हुई अर्थात् सुप्रसिद्ध ग्रीक (oxus) नाम से संस्कृत और प्राकृत रूप वक्षू, वङ्क्षू अथवा वक्कू या वङ्कू हैं। क्षीर स्वामी और वल्लभदेव के अनुसार कालिदास ने इसी के तीर पर रघु को पहुँचाकर हूणों का पराजय कराया है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास के समय में हूण (huns) वल्हीक देश में 'वङ्कू' नदी के किनारे थे।

कनिंघम, स्मिथ प्रभृति ऐतिहासिकों का मत है कि ईसा की पाँचवीं सदी के आरम्भ में हूण वहाँ बस गये थे और उनका भारतवर्ष पर पहला-ही-पहला आक्रमण ईसवी सन् ४५५ के पहले, अर्थात् हूणों के हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने के पहले, किंतु उनके आक्सस नदी की घाटी में बस जाने के पीछे बनाये।

पूर्वोक्त श्लोक के आगे ही 'रघुवंश' में यह श्लोक है—

> **तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।**
> **कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥**

हिन्दू विधवायें, पति वियोग होने पर विलाप करते समय गालों को पीट-पीटकर लाल कर लेती हैं। मल्लिनाथ ने इसी रीति का उल्लेख इस श्लोक से समझकर उसी के अनुसार 'पाटलस्य पाटलिमन्स्ताडनादिकृतारुण्यस्य' अर्थ किया है। किन्तु वल्लभ ने पाठ को 'पाटनादेशि' मानकर टीका की है—

> **'कपोलपाटनमादिशति पतिवधाद्भार्या।**
> **रुदन्त्याः कुच कपोलं नखैर्विदारयन्ति'॥**

चारित्रवर्धन और सुमन्त विजय ने भी यही पाठ मानकर टीका की है। लिखा है—

> **"हूणयोषितः कुचकपोलविदारणपूर्वंरुदन्तीति तद्देशाचारः।"**

प्रसिद्धि चीनी यात्री हुएन्साङ् ने चीन और भारत के बीच के भाग के निवासियों के आचार-व्यवहार के वर्णन में कई जगह लिखा है कि वे लोग मौत हो जाने पर शोक-विलाप में अपने गालों को फाड़ लेते हैं। यथा :

"वे मुर्दों को जलाते हैं। सोग की कोई अवधि उनके यहाँ निर्दिष्ट नहीं। वे मुख की चमड़ी उधेड़ डालते हैं और कान काट डालते हैं।

"कुछ जातियों में स्पष्ट ही यह रीति थी कि पिता या सरदार की मृत्यु पर चेहरे को चीर-फाड़ देते थे।

"जब टंग तई त्सुङ् की मृत्यु हुई तब राजधानी के रहने वाले बर्बरों ने चिल्ला-चिल्लाकर, अपने बाल काटकर, चेहरे को चीरकर और कानों को काट कर अपना शोक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकट किया। यहाँ तक कि भूमि लोहू से धुल गई।" (वाटर्स युएनचाङ्)

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि कालिदास ने 'कपोलपाटनादेशि' ही लिखा होगा, पर भारतवर्ष के बाहर की जातियों की चाल-ढाल को न जानने वाले टीकाकार उसके स्वारस्य को न समझ सके।

पूना के प्रोफेसर के०बी० पाठक ने, 'इंडियन एंटिक्वेरी' की नवम्बर, सन् १९१२ की संख्या में इस विषय पर एक लेख लिखा है उसी की छाया पर यह नोट लिखा गया है।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : १ सितम्बर, १९१३ ई०]

सवाई

आमेर की गद्दी पर महाराज जयसिंह पहले को मुगल बादशाह से मिर्ज़ा (राजा) की उपाधि मिली थी और यह प्रसिद्ध है कि जयसिंह दूसरे को, जिन्होंने जयपुर बसाया, एक प्रसिद्ध वाक्पटुता पर औरंगजेब ने 'सवाई' उपाधि दी। तब से जयपुर के महाराजा 'सवाई' कहलाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि फारसी लेखक प्रथम और द्वितीय जयसिंह में भेद करने के लिए द्वितीय के नाम को 'महाराजाधिराज जयसिंह—या धिराज (!) जयसिंह', जैसा कई तवारीखों में है—'सानी' लिखते थे। 'सानी' का लेखदोष से 'सवाई' हो गया जो बिना पूछेपाछे उपाधि बना लिया गया। इस कल्पना में द्वेष को छोड़-कर कुछ सार नहीं। 'सवाई' पद जयपुर के वंश से निकलनेवाले अलवर वंश ने तो लिया किंतु और भी कई वंशों ने, यों ही था तो, क्यों धारण कर लिया? 'सवाई' पद इतना प्रिय हुआ कि संभाजी भी अपने को 'सवाई' कहता था और पेशवा नारायणराव के पुत्र 'सवाई माधवराव पेशवा' ने उसे नाम का अंग ही बना लिया।

शत्रुंजय पर्वत पर के जैन-शिलालेखों में जहाँगीर बादशाह के नाम के साथ 'सवाई' उपाधि लगी मिलती है। यथा[1]—

(लेख नं० १५) सं० १६७५ वैसाख सुदि १३ तिथौ शुक्रवासरे सुरताण नूरदीन जहाँगीर सवाई विजयि राज्ये ॥···

(लेख नं० १७) सं० १६७५ मिते सुरताण नूरदीन जहाँगीर सवाई···विजयि-राज्ये साहिजादा सुरताणखोसड़ू (=खुशरो) प्रवरे श्रीराजी नगरे (=अहमदाबाद) सोवइ (=सूबा) साहियान सुरतान षुरमे (खुर्रम) वैशाखसित १३ शुक्रे···

(लेख नं० १८) संवत् १६७५ प्रमिते सुरताण नूरदी जहाँगीर सवाई विजयि-राज्ये साहिजादा सुरताण षोसरूप्रवरे राजनगरे सोबइ साहियान सुरतान षुरमे वैशाख-

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २, पृष्ठ ३४ प्रभृति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सित १३ शुक्रे।···

(लेख नं० १९) संवत् १६७५ मिते सुरताण नूरदी जहांगीर सवाई विजयिराज्ये साहिजादा सुरतान षोसड़ू प्रवरे राजनगरे सोवइ साहियान सुरतान पुरमे वैशाखसित १३ शुक्रे···

(लेख नं० २०) संवत् १६७५ प्रमिते ।। सुरताण नूरदी जहांगीर सवाई विजयिराज्ये साहिजादा सुरतान षोसरूप्रवरे श्रीराजनगरे सोवइ साहियान सुरतान पुरमे वैशाख सित १३ शुक्रे ।···

(लेख नं० २३) सं० १६७५ वैशाख सित १३ शुक्रे सुरताण नूरदी जहांगीर सवाई विजयिराज्ये ।। श्रीराजनगर···

(लेख नं० २४) सं० १६७५ वैशाख सित १३ शुक्रे सुरताण नूरदी जहांगीर सवाई विजयिराज्ये ।। श्रीराजनगर···

(लेख नं० २७) भी जहाँगीर के समय का है किंतु उसमें सवाई उपाधि नहीं है—

सं० १६८३ वर्षे । पातिसाह जिहांगीर श्रीसलेमसाह भूमंडलाखंडल विजय राज्ये ।।

अस्तु, ये लेख एक ही संवत् और एक ही वंश के होने पर भी भिन्न-भिन्न स्थलों पर हैं। 'सवाई' एक हिंदुस्तानी उपाधि थी जिसका अर्थ पूर्ण से अधिक (सवा, सपाद, १.१/४) होता है। यह बहुत पहले से बादशाह जहांगीर के नाम के साथ प्रामाणिक रूप में मिलती है, या फिर महाराज जयसिंह दूसरे के नाम के साथ।

जैनों के यहाँ प्रसिद्ध है कि हीरविजयसूरि के शिष्य विजयसेनसूरि को बादशाह अकबर ने 'सूरिसवाई' की उपाधि दी थी (सूरीश्वर अने सम्राट् : पृ० १६२)

जोधपुर के राजा अजीतसिंह, जिनकी कन्या मुगल बादशाह फर्रुखसियर को ब्याही थी, उस समय के राज-कर्ता सैयद बंधुओं में से सैयद अबदुल्ला से मिलकर अपने जामाता के विरुद्ध लड़े। सैयद अबदुल्ला से ही उन्होंने 'महाराज' उपाधि पाई। अंत को वे रुष्ट होकर अपनी कन्या को नौकर-चाकर और बहुत-सी धन-दौलत के साथ हिंदू-वेश में दिल्ली से अपने घर ले आये। तारीख इबराहीम खाँ में लिखा है कि किसी हिंदू राजा ने ऐसी गुस्ताखी नहीं की थी। बाबू राखालदास बनर्जी ने किसी फारसी-इतिहास में देखा है कि अजीतसिंह की 'सवाई' उपाधि पाने की इच्छा और उसके लिए परम उद्योग का फलीभूत न होना ही इस विद्रोह का कारण था। यह अंतिम वाक्य बनर्जी महाशय के कथन के प्रमाण पर ही लिखा गया है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारणों और भाटों का झगड़ा

बारहट लक्खा का परवाना

तीर्थगुरु और पंडों की बहियों की खोज करने से बहुत सी इतिहास के काम की बातें मिल सकती हैं। उज्जैन में चारणों के कुलगुरु शक्तिदानजी[1] हैं। उनकी चौथी बही के ५८३वें पन्ने पर एक परवाना है। यह बारहट लक्खा का दानपत्र है। मारवाड़ के आउवा ग्राम के रहनेवाले आंगदोश बारहट मुरारीदान जी ने इस पट्टे की प्रतिलिपि मुझे लाकर दी, इसलिये मैं लेख के आरंभ में धन्यवादपूर्वक उनका स्मरण करता हूँ। नकल पर मुरारीदान जी ने लिखा है—

नकल परवाना कुलगुरु शकतीदांनजी रे चौपड़ा[2] ४ रे पाने ५८३ रे मु: उज्जैण।

परवाने के चारों कोनों पर चार गोल मुहरें हैं। प्रत्येक में यह इबारत है—

॥ श्री ॥ श्रीदीलीपत पातसाहजी श्री १०८ श्री अकबर साहजी बंदे दवगीर[3] बारट लषा।

बारहट लक्खा के विषय में मुंशी देवीप्रससादजी ने कृपा करके जो लिख भेजा है, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है। टिप्पणियों में भी जो कुछ मुंशी जी की कृपा से प्राप्त हुआ है वह चौकोर ब्रैकेट [ ] में 'दे०' इस संकेत के साथ लिखा गया है।

[ये रोहड़िया जाति के बारहट गाँव नानणपाई परगना साकड़े के रहनेवाले थे। बद्रीनाथ की यात्रा को गए थे, छींका टूट जाने से पहाड़ों के नीचे गिर पड़े। चोट ज्यादा नहीं लगी। पास ही पगडंडी थी जिस पर कुछ दूर चल कर एक जगह पहुँचे जहाँ चार धूनियाँ जग रही थीं जिनमें तीन पर तो तीन अतीत बैठे तापते थे, चौथी खाली थी। अतीतों ने लक्खा जी से पूछा कि कहाँ रहता है? यहाँ क्योंकर आया? इन्होंने कहा, "महाराज! दिल्ली मंडल में मेरा गाँव है, बद्रीनाथ जी की यात्रा को जाता था, छींका टूट पड़ा जिससे आपकी सेवा में उपस्थित हुआ। चौथे महात्मा कहाँ हैं, उनके भी दर्शन हो जावें तो वापिस चला जाऊँ।" उन्होंने कहा कि वह तो तेरी दिल्ली में राज करता है। लक्खी जी ने कहा कि महाराज, दिल्ली में तो अकबर बादशाह राज करता है। कहा, हाँ, वही अकबर इस चौथी धूनी का अतीत है, तू उससे मिलेगा? कहा, महाराज, वहाँ तक मुझे कौन जाने देगा? कहा, हम चिट्ठी लिख देंगे।

लक्खा जी उनकी चिट्ठी और कुछ भस्मी लेकर दिल्ली में आए। बादशाह की सवारी निकली तो दूर से वह चिट्ठी और राख की पोटली दिखाई। बादशाह ने पास बुलाकर हाल पूछा और वे दोनों चीजें ले लीं। कहा कि हमारी धूनी में तेरा भी सीर (साझा) हो गया और उनको अपने पास रख लिया।

---

१. [इनके घर में भी गया हूँ और दुर्गादास राठौड़ और कवि कलश के प्रसंग वगैरह के पत्रों की नकलें लाया हूँ। दे०]

२. वही।

३. आशीर्वादक सेवक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कथा जैसी सुनी, वैसी लिख दी है। मालूम नहीं कि यह सही थी या लक्खा जी ने बादशाह को हिंदुओं के धर्म की तरफ झुका हुआ देखकर वहाँ घुसपैठ होने के वास्ते गढ़ ली थी।

कहते हैं कि बादशाह ने लक्खा जी को अंतरवेद में साढ़े तीन लाख रुपये की जागीर मथुरा रहने को दी जहाँ लक्खा जी बड़े ठाठ से रहते थे। बादशाह की उन पर पूरी मेहरबानी थी। बादशाह ने उन्हें बरणपतसाह अर्थात् चारणों के बादशाह की पदवी भी दी थी जिसकी साख (प्रमाण) का यह दोहा है—

अकबर मुँह सूँ आखियो, रूडो कहै दोहूँ राह।
मैं पतसाह दुन्यानपत, लखा बरणपतसाह॥

यह भी कहते हैं कि एक बार जोधपुर के राजा उदयसिंह जी मथुरा में लक्खा से मिलने गए, पर लक्खा जी ने तीन दिन तक उनसे मुलाकात नहीं की, क्योंकि उन्होंने मारवाड़ के शासन-गाँव (चारणों को दिए हुए) जब्त कर लिए थे जिसके वास्ते बहुत से चारण आउवे में धरना देकर मर गए थे। चौथे रोज अपनी ठकुरानी (स्त्री) के यह कहने पर कि निदान तो आपके धणी (स्वामी) हैं, इनसे इतनी बेपरवाही नहीं करना चाहिए, वे राजा जी से मिले।

चारणों में लक्खा जी का बड़ा जस है, क्योंकि बादशाह की आशा करके जो कोई चारण दिल्ली, आगरे में जाता था तो लक्खा जी किसी न किसी उपाय से उसको दरबार में ले जाकर बादशाह का मुजरा करा देते थे, जिससे उसकी मनशा पूरी हो जाती थी। इसी वास्ते ये लोग अब तक भी यह दोहा पढ़-पढ़कर उनकी कीर्ति बढ़ाते हैं। यह आढ़ा जाति के चारण दुरसा जी का कहा हुआ सुना जाता है—

दिल्ली दरगह अंब फल, ऊँचा घणा अपार।
चारण लक्खो चारणाँ, डाल नवाँवणहार॥

अकबर बादशाह की तवारीख में तो 'लक्खा' का नाम कहीं नहीं आता है, लेकिन गाँव टहले के बारहटों के पास, जो लक्खा जी की औलाद है, कई पट्टे-परवाने हैं, जिन्हें देखने से पाया जाता है कि लक्खा अकबर बादशाह के समय से जहाँगीर के समय तक विद्यमान थे। लक्खा जी के नाम एक पट्टा संवत् १६५८ का और दूसरा संवत् १६७२ का है। पहले पट्टे में उनके बेटे नरहरदास का नाम भी है और दूसरे में दोनों बेटों नरहरदास और गिरधर के नाम हैं।

पहला पट्टा राजा उदयसिंह के बेटे दलपतसिंह का है जिसमें लक्खा और नरहरदास को गाँव धानणिया (धानणवा), परगने चौरासी, देना लिखा है। इसकी मिति मगसिर सुदी २ है और जब दलपत जी आगरे में थे, तब यह लिखा गया। परगना चौरासी जिसे अब 'परबतसर' कहते हैं, बादशाह की तरफ से जागीर में होगा। दलपत जी के वंश में रतलाम का राज्य है।

दूसरा पट्टा महाराज सूरसिंह और महाराजकुमार गजसिंह के नाम का है जिसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखा है कि बारहट लक्खा, नरहर और गिरधर को तीन शासन गाँव दिए गए हैं—

१. रेंदडी, परगने सोजत, गाँव हाँथुड़ी के बदले

२. सीकलानड्डी, हरगने जैतारण (वर्तमान सीगलावस)

३. उचियाहैड़ा, परगने मेडता (वर्तमान नाम उचियार्डो ?)

लक्खा की संतान में लक्खावत बारहटों के कई ठिकाने मारवाड़ में हैं जिनमें मुख्य गाँव टहला परगने मेड़ते में है। लक्खा जी की कविता भी है। उनके बेटे नरहरदास ने एक बड़ा ग्रंथ हिंदी भाषा में 'अवतार चरित्र' नाम का बनाया है जो छप भी गया है। मारवाड़ में वही भागवत की जगह पढ़ा-पढ़ाया जाता है। दे०]

परवाने की नकल आवश्यक टिप्पणियों के साथ यहाँ पर दी जाती है। परवाने का आशय यह है कि दिल्ली में बादशाह के सामने भाटों ने चारणों की निंदा की। इस पर लक्खा ने जैसलमेर के ग्राम जाजियाँ से कुलगुरु गंगाराम जी को बुलाया। उन्होंने 'चारणोत्पत्ति शिवरहस्य' सुनाया जिससे भाट झूठे सिद्ध हुए। इस पर लक्खा ने उनका सत्कार किया और दिल्ली के "घणे ऊँचे अंबफलों की डाल नमावणहार" इन बारहट जी ने बावन हजार बीघा जमीन उज्जैन के परगने में दिलवाकर बादशाह की ओर से ताम्रपत्र करवा दिया। विवाह तथा दान के अवसरों पर सब चारणों से गुरु के वंश को नियत धन देने का अनुरोध भी इस परवाने में किया गया है। परवाने पर माघ शुक्ल ५, संवत् १६४२ की मिति है और पंचोली पन्नालाल के हस्ताक्षर हैं।

इससे जाना जाता है कि चारण भाटों का झगड़ा[१] अकबर के दरबार तक भी पहुँचा था और जाति-निर्णय पर व्यवस्थाएँ लेने की चाल रिज़ले साहब की मर्दुमशुमारी से ही नहीं चली है।

परवाना

लीषावतां[२] बारटजी[३] श्रीलषोजी समसत[४] चारण वरण वीसजात्रा[५] सीरदाराँ सू[६]

---

१. [चारण भाटों का झगड़ा बहुत पुराने समय से चला आता है। दोनों एक दूसरे को बुरा कहते हैं। किसी ढोली ने 'कूलकुलमंडण' ग्रंथ चारणों की उत्पत्ति का बड़े मज़े का बनाया है। इसका नाम व्रजलाल था और यह मारवाड़ का रहनेवाला था। कूल या कूला भी चारण जाति का नाम है। दे०]

२. (अमुक की) ओर से लिखा गया।

३. बारट=बारहट=द्वारहठ। चारणों का एक उच्च भेद। राजपूतों के विवाह पर ये द्वार पर हठ करके अपने नेग लेते हैं, इसी से ये 'पोलपात' भी कहलाते हैं। पोलपात =पौलपात्र=प्रतोलीपात्र। [सरदारों में इनका डेरा भी पौत्र के ऊपर दिलाया जाता है। जोधपुर की फौज ने एक ठाकुर की हवेली घेर ली थी। पौल लगी थी। जब ठाकुर लड़ने को बाहर निकलने लगा, तब यह सवाल हुआ कि पौल कौन खोले, क्योंकि जो खोले पहले वही मारा जावे। निदान पोलपात चारण ने कहा कि पौल मैं खोलूंगा क्योंकि इस पौल के नेग पाता हूँ। उसने पौल खोल दी। पहला गोला उसी पर पड़ा और वहीं मारा गया। दे०]

४. समस्त (सब)।

५. 'वीसोत्रा' चाहिए। [चारणों की एक सौ बीस जातें या गोत हैं इससे कुल चारणों की बिरादरी वीसोतर या वीसोत्रा कहलाती है। दे०]

६. राजपूताने में अब तक बिरादरी के समस्त लोग 'सरदार' कहकर संबोधित किए जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीजेमाताजी की[1] बाच ज्यो अठे[2] तषत आगरा श्रीपातसाजी, श्री १०८ श्री अकबर साहजी, रा हजुरात[3] दरीषांना माहीं[4] भाट चारणां रा कुल री नंदीक[5] कीधी[6] जण[7] वषत समसत राजेसुर[8] हाजर था वां का[9] सेवागीर[10] वी[11] हाजर था जकां[12] सुण[13] मो सु[14] समंचार कह्या जद[15] सब पंचां री सला सु[16] कुलगुरु गंगारांमजी प्रगण[17] जेसलमेर गांव जाजीयां का जकाने[18] अरज लीष अठे[19] बुलाया गुर पधारया श्रीपातसाहजी नी रुबकारी

---

१. चारण शाक्त होते हैं। भगवती उनकी कुलदेवी है। आपस में वे 'जै माताजी की' कहकर नमस्कार करते हैं। भगवती ने एक अवतार चारण कुल में लिया था जिससे चारण उन्हें 'बुआजी' या 'बाईजी' भी कहते हैं। ये 'करणी' जी किसी सायात्रिक की तूफान से रक्षा करके गीले कपड़ों ही बीकानेर से एक स्टेशन इधर देशणोक (देशनोक) ग्राम में अपने मंदिर में आईं। इसी से वहाँ के कुओं का पानी अत्यन्त खारा है। करणी जी के मंदिर में चारणों और राजपूतों की बहुत मानता है। उस मंदिर में चूहे अमर हैं। सारा जगमोहन, निजमंदिर और प्रतिमा तक चूहों से ढके रहते हैं। वे दर्शनियों के सिर, गले और टाँगों पर भी चढ़ जाते हैं। उन्हें बाजरा खिलाया जाता है। मारना तो दूर रहा, उन्हें झिड़कना भी महा-पाप है। कहते हैं कि जिससे चूहा मर जाय वह सोने का चूहा चढ़ावे तो देवी क्षमा करें। [ये चूहे काबा (लुटेरे) कहलाते हैं। 'करनीजीरा काबाओ' की मेंगनियों से सारा मंदिर गंदा रहता है, दस-पाँच चारण लट्ठियाँ लिए बिल्ली से उनको बचाने के लिए पहरे पर बैठे रहते हैं। बिल्ली आ जाय तो बहुधा मारी जाती है। पर कभी-कभी कुछ काबों को ले भी जाती है। दे०]

२. यहाँ; ३. हुजूर; ४. दरबार में (राजपूताना में दरबारी मजलिस अभी तक 'दरी-खाना' कहलाता है); ५. निंदा; ६. को; ७. जिस; ८. राज्येश्वर=राजा महाराजा; ९. उनके;

१०. सेवक—यह शायद चारणों के लिए ही आया है। [चारण अपने को 'सेवागीर नहीं कहते। इसका अर्थ नौकर-चाकर भी हो सकता है। एक बार जोधपुर-दरबार से कविराजा (महामहोपाध्याय) मुरारदान जी और मुंशी मुहम्मद मखदूमजी के नाम एक मिसल पर राय लिखने का हुक्म आया था। उसके जवाब में मुहम्मद मखदूम ने अर्जी लिखी, उसमें ताबेदार का शब्द था। उसी तौर से कविराजा जी के नवीसंदे पंचोली चतुरभुजजी ने भी 'ताबेदार कविराज मुरारदान की अर्ज मालूम हो' लिखा, तो कविराजजी ने कहा कि ताबेदार मत लिखो दवागीर (दुआगो, देखो नोट ३) लिखो। तब चतुरभुजजी से कहा कि कविराजजी तो देवता बनते हैं और तुम ताबेदार बनाते हो। इस कविराज जी ने हँसकर, हाँ, ठीक। उन्हीं दिनों कविराजजी ने चारणों की उत्पत्ति की, एक पुस्तक बनाई थी जिसमें चारणों को देवता सिद्ध किया था, इसलिए मैंने मजाक में ऐसा कहा था। दे०]

११. भी; १२. जिन्होंने; १३. सुन और=सुनकर; १४. मुझसे; १५. जब; १६. सलाह से; १७. परगने; १८. जिन्हें; १९. यहाँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में चारण उत्पत्ती सास्त्र सिवरहस्य सुणायो पंडतां कबुल कीधो[१] जणपर[२] भाट झुटा पड्या गुरां चारण वंसरी पुषत राषी[३] नीवाजस[४] सारां[५] बुतासु[६] सीवाय[७] बंदगी कीधी ओर मारा बुता माफक हाती लाष पसाव[८] प्रथक[९] दीधो[१०] गांव की अेवज[११] बावन हजार बीगा[१२] जमी[१३] ऊजेण के प्रगने दीधी जकणरो[१४] तांबापत्र श्रीपातसाहजी का नांव को कराय दीधो अण[१५] सवाय[१६] आगा सु[१७] चारण वरण समसत पंचां कुलगुरु गंगाराम जी का बाप दादा ने व्याव[१८] हुअे[१९] जकण में[२०] कुल[२१] दापा[२२] रा रुपीया १७॥) ओर त्याग[२३] परट हुवे[२४] जीण मां मोतीसरां[२५] को नांवो बंधे[२६] जीण सु दुणो[२७] नांवो कुलगुरु गंगारामजी का बेटा पोता[२८] पायां जासी संमत १६४२ रा मती माहा सूद ५

१. स्वीकार किया; २. जिसपर; ३. (बात) दृढ़ रक्खी; ४. बख्शिश; ५. सबने; ६. बिडते से; ७. बढ़कर; ८. [ब्राह्मणों का दान 'दक्षिणा' कहलाता है और चारणों का दान 'लाखपसाव', 'कोड़पसाव' और 'अरबपसाब', जिसमें एक गाँव अवश्य होता है। दे०] पसाव=प्रसाद । हाती=हाथी । ९. पृथक् (अलग); १०. दिया; ११. बदले में; १२. बीघा; १३. जमीन; १४. जिसका; १५. इसके(के); १६. अतिरिक्त; १७. आगे से; १८. विवाह; १९. होवे; २०. जिसमें; २१. संपूर्ण; २२, दान, नेग;

२३. विवाह के अवसर पर राजपूत जो बधाई की रकम चारणों को देते हैं उसे 'त्याग' कहते हैं। चारण इसे बहुत लड़-झगड़कर मांगते हैं। वाल्टरकृत 'राजपुत्र हितकारिणी सभा' ने इसकी परमावधि और बाँटने के नियम बाँध दिए हैं। भांड़ियावास के आसिया चारण बुधदान ने त्याग कम करने या बंद करनेवालों पर जलकर यह कविता कही है—

> जासी त्याग जकारां घर सूं जात खाग न लागे जेज्ञ।
> धररो तोल न बांधो धणिय त्याग तणी किह बांधो तोल ?
> जासी त्याग जकां घर सूं जाती धरती करै जुहार।
> दीजै दोस किसूं सिरदारां जमी जाणरा अंक जरूर॥

अर्थात् जिनके घर से त्याग जावेगा उनके यहाँ से तलवार (खाग=खग्ग=खड्ग) जाते देर न लगेगी। स्वामियो! त्याग का हिसाब तो बाँधते हो, जमीन का हिसाब नहीं बाँधते? जिनके घर से त्याग जायगा उन्हें जाती हुई पृथ्वी भी सलाम करती है। सरदारो! दोष किसे दें? ये लक्षण तो अवश्य भूमि छिन जाने के हैं।

२४. दिया जावे [फरद या सूची बने। दे०] २५. जैसे राजपूतों के यश गानेवाले और त्याग माँगनेवाले चारण होते हैं वैसे चारणों की याचक जाति 'मोतीसर' नामक है। २६. नाम पर नियत हो; २७. दुगुना; २८. ऊपर जो 'बाप दादा ने' आया है वह भी 'बेटा पोता ने' ही होना चाहिए। या यह अर्थ हो कि बाप-दादों को जो मिलता आया है वह तो बेटे-पोतों को मिलता ही रहे और मोतीसरों से दूनी रकम दापे के रुपयों से अतिरिक्त मिला करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दसकत पंचोली[1] पन्नालाल हुकम बारठ जी का सु लीषी तषत आगरा समसत पंचांकी सजाह सू आपांणो[2] यां[3] गुरां सू अधीकता[4] दुजो नहीं छे[5]=

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२० ई०]

चारण

ब्राह्मणों के पीछे राजपूतों की कीर्ति बखाननेवाले भाट और चारण हुए, जैसा कि एक छंद में कहा है—

'ब्राह्मण के मुख की कविता कछु भाट लई कछु चारण लीन्हीं।'

यह जानना आवश्यक है कि चारणों की प्रधानता कब से हुई। कोई शिलालेख

---

१. पंचोली=पंचकुली (देखो 'राजा पंचकुलमाकार्यं', 'प्रबंधचिंतामणि', बंबई की छपी पृष्ठ १४०)। पंचकुल=राजकर वसूल करनेवाला राजसेवक-समाज, उसका एक जन। अब साधारणतः 'पंचोली' कायस्थ जाति के मुतसद्दियों का उपनाम हो गया है और यहाँ भी यही अर्थ है किंतु वास्तव में जिसे पंचकुल का अधिकार होता वही 'पंचकुल' या 'पंचकुली' या 'पंचोली' कहलाता। यह उपाधि ब्राह्मण, महाजन, गूजर आदि कई जातियों में मिलती है और दीवान, भंडारी, मेहता, नाणावाटी आदि की तरह—जो ब्राह्मण, वैश्य, खत्री, कायस्थ, पारसी, जैन श्रावक (सरावगी) आदि सबमें कहीं न कहीं प्रचलित है, पद की सूचक है, न कि जाति की। कुछ 'पंचोली' (कायस्थ) पंचाल (=पंजाब ?) देश से—आने से हमारी उपाधि 'पंचोली' है ऐसा कहते हैं जो असार है। (पंचोली 'पंचोल' से बना है। मारवाड़ी बोली में पंचोल 'पंचायत' (=पंचकुल) को कहते हैं। गाँवों के झगड़ों को कानूनगो लोग, जो बहुत से कायस्थ ही होते और ओसवाल या सरावगी कम, पहले मिटा दिया करते थे। परंतु कानूनगो का ओहदा जारी होने के पीछे कानूनगो कहलाने लगे। कायस्थ 'पंचोली' ही कहलाते रहे। पूरब में ब्राह्मण जो गांववालों का काम करते हैं पंचोरी कहलाते हैं। मारवाड़ में 'पंचोली' का उपनाम झामरिया जाति के माथुर कायस्थ खीमसी से चला है। ये राव चूंडाजी के समय में दिल्ली की तरफ से रगट (परगने नागौर) के हाकिम होकर दिल्ली से आए थे। दे०]

२. अपना;

३. इन;

४. अधिकतः, बढ़कर;

५. है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या ताम्रपत्र संस्कृत में, या पुराना, अब तक नहीं मिला है जिसमें चारणों या भाटों को भूमिदान का उल्लेख हो।

'सुभाषितहारावलि' नामक एक सुभाषित श्लोकों का संग्रह हरि कवि का किया हुआ है (पीटर्सन, दूसरी रिपोर्ट, पृष्ठ ५७-६४)। उसमें मुरारि कवि के नाम से यह श्लोक दिया हुआ है—

चर्चाभिश्चारणानां क्षितिरमण! परां प्राप्य संमोदलीलां
मा कीर्तेः सौविदल्लानवगणय कविप्रात (?) वाणीविलासान्[1]।
गीतं ख्यातं न नाम्ना किमपि रघुपतेरद्य यावत्प्रसादा-
द्वाल्मीकेरेव धात्रीं धवलयति यशोमुद्रया रामभद्रः[2]।

आशय—कोई राजा चारणों की कविता से प्रसन्न होकर संस्कृत-कवियों का अनादर करने लगा। उसे कवि कहता है कि महीपाल! चारणों की चर्चाओं से बड़ा आनंद पाकर कवियों की रचनाओं का अनादर मत कीजिए, क्योंकि वे कीर्तिरूपी नायिका के रखवाले[3] या लाकर (राजाओं से) उसे मिलानेवाले हैं। देखिए, रामचंद्र का एक गीत या ख्यात नाम को भी नहीं है। वाल्मीकि ही की कृपा से आज तक रामभद्र अपने यश की छाप से पृथ्वी को अलंकृत कर रहे हैं। भाव यह है कि चारणों के (देश-भाषा के) गीत और ख्यात अस्थायी हैं, कवियों के (संस्कृत) वाणीविलास सदा रहते हैं। राम का एक भी गीत या ख्यात नहीं मिलता। संसार में उनका जो यश है, वह वाल्मीकि की कृपा ही का फल है।

इस श्लोक में चारण, गीत और ख्यात विशेष सांकेतिक या पारिभाषिक अर्थ में लिए गए हैं। चारण का अर्थ देवयोनि का (सिद्ध, गंधर्व आदि का-सा) यश-गायक नहीं हो सकता, क्योंकि उनका कवियों से मुकाबिला कैसा? गीत और ख्यात साधारण गान या यश के काव्य नहीं हो सकते, पारिभाषिक (technical) गीतों और ख्यातों से ही

---

१. यह पाठ अशुद्ध है। 'कविप्रोतवाणीविलासन्' या 'कवीन् प्राप्तवाणीविलासान्' हो सकता है।

२. विल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित' में इसी भाव से मिलते हुए दो श्लोक हैं—

(अ) लंकापतेः संकुचितं यशो यद् यत्कीर्तिपात्रः रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितींद्रैः॥ (१।२७)

(इ) हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबंधे विरोधं
शुद्धा कीर्तिर्भवति भवतां नूनमेतत्प्रसादात्।
तुष्टैर्बद्धं तदलघु रघुस्वामिनः सच्चरित्रं
क्रुद्धैर्नीतस्त्रिभुवनजयी हास्यमार्गं दशास्यः॥ (१८।१०७)

३. मंख कवि ने एक नाग नामक विद्वान् को साहित्यविद्या का 'सौविदल्ल' कहा है (श्रीकंठचरित २५।६४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय है। चारणों के रचित काव्य दो ही तरह के होते हैं, कविताबद्ध 'गीत' और गद्यबद्ध 'ख्यात'। राजपूताना में अब तक इसी अर्थ में 'गीत' और 'ख्यात' पदों का व्यवहार है, जैसे, मोटा राजा उदयसिंह रा गीत, राठौडां री ख्यात। [गीत और ख्यात पदों की गीति और ख्याति (आख्याति) संज्ञा-शब्दों का अपभ्रंश मानने की कोई जरूरत नहीं। ये कर्मवाच्य भूतकालिक धातुज विशेषण हैं जिनके आगे विशेष्य लुप्त हैं, जैसे—चारणै: गीतं (यश:) चारणै: ख्यातं (वृत्तम्)। मारवाड़ी में इसी अर्थ में कह्योड़ो (कहा हुआ) भी आता है, जैसे बापजी गुणेशपुरीजी रो कह्योड़ो (पद, गीत वा दूहो)।]

मुरारि कवि प्रसिद्ध 'अनर्घराव नाटक' का कर्त्ता है। उसका पिता भट्ट श्रीवर्धमान, माता तंतुमती, गोत्र मौद्गल्य और उपनाम 'बाल-वाल्मीकि' था। उसका समय आठवीं या नवीं शताब्दी ईसवी है। यदि यह श्लोक मुरारि का ही है तो उस समय भी चारणों के गीत और ख्यात प्रचलित थे, और उनकी संस्कृत के कवियों से प्रतिद्वंद्विता होने लग गई थी। इस श्लोक के मुरारिकृत मानने में संदेह करने के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो इतने प्राचीन काल में चारणों के गीतों और ख्यातों का प्रचलित होना, और दूसरे यह कि सुभाषितावलियों में श्लोकों के साथ जो कवियों के नाम दिए होते हैं, वे कहीं-कहीं प्रामाणिक नहीं होते। कई श्लोक जो प्रसिद्ध कवियों के काव्यों में पाए जाते हैं, वे भी 'कस्यापि' के साथ या किसी भिन्न कवि के नाम से दिए होते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२० ई०]

बौद्धों के काल में भारतवर्ष

प्रोफेसर रिस डेविड्स ने 'राष्ट्र-कथा-माला' में, इस नाम का एक ग्रंथ गुंफित किया है। उसमें कई विलक्षण बातें हैं। प्रोफेसर साहब के अनुसार ब्राह्मणों के लेख विश्वासपात्र नहीं हैं। सब युद्धों में, कामों में उन्होंने अपने ही को प्रधान बताया है। किंतु उनकी बातें देश भर की बातें नहीं हैं। बौद्ध धर्म सर्वसाधारण के उद्योग का फल है और राष्ट्रीय उन्नति में ब्राह्मण पृथक् रह गए थे। जैनों और बौद्धों के ग्रंथ राजपूतों के लिखे हुए हैं। इस ग्रन्थ में उनके ही लेख अर्थात् पाली-ग्रन्थों से बुद्ध भगवान् के निर्वाण से लेकर कनिष्क पर्यंत काल का ऐतिहासिक चित्र देने का यत्न किया गया है। इससे प्राचीन इतिहास में कई अन्तर लक्षित होते हैं। ब्राह्मणों के अनुसार तो 'ब्राह्मणों के अधीन स्वतंत्र राजा' यही भारतवर्षीय राजप्रणाली थी किंतु पाली-ग्रंथों के अनुसार राजतंत्र के साथ-साथ ही प्रजातंत्र भी पाए जाते हैं। (अवश्य ही बौद्ध धर्म सर्वसाधारण की समानता और प्रजातंत्र के जन्म का कारण हुआ होगा।) ये चक्रवर्ती अशोक के शिलालेख और चरित्र बौद्धग्रंथों में पाए जाते हैं किंतु ब्राह्मणग्रंथों में उसका नाम भी नहीं है। (कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बतावे तो अशोक के पीछे के ब्राह्मणग्रंथ कौन से हैं ?) उसने ब्राह्मणों का भूसुर होना मिटाया था। धर्म-विषय में प्रोफेसर साहब कहते हैं कि ब्राह्मणग्रंथों में प्रजा का धर्म नहीं है, किंतु ब्राह्मण प्रजा पर जो धर्म चिपकाना चाहते थे वही धर्म लिखा है, ब्राह्मणेतरों के साहित्य में वैदिक देवताओं की और अधिक खर्च करानेवाले यज्ञों की चर्चा नहीं है। (युरोपीय आचार्य मान बैठे हैं कि ब्राह्मण-शत्रुओं का कहा सत्य है और ब्राह्मणों का मिथ्या। इसी तरह जब यह कहा जाता है कि ब्राह्मणों ने ईर्ष्या वा घृणा से बौद्धों का वा प्रजा का विश्वास नहीं वर्णन किया, वैसे ही यों क्यों नहीं कह सकते कि बौद्धग्रंथ-लेखकों ने ईर्ष्या से वास्तव-धर्म का अपलाप किया ?)यज्ञों के अधिक व्ययशाली होने से तप अर्थात् आत्मयज्ञ की सृष्टि हुई। (नहीं, बौद्धों से सैकड़ों वर्ष पहले उपनिषदों में यह हो चुकी थी।) ब्राह्मणों का आदर था, किंतु उतना न था जितना वे बताते हैं। उस समय श्रमण और परिव्राजक भी हो गए थे जिनका आदर ब्राह्मणों से कम न था और इस लड़ाई से निराश होकर ब्राह्मणों ने आश्रम-कल्पना की, जिससे बिना गृहस्थ रहे और वृद्ध हुए कोई मनुष्य परिव्राजक न बन सके। उन्होंने और जातियों को भी संन्यास से रोका किंतु उनकी चली नहीं। ब्राह्मणों के ग्रंथों में लिखा मिलता है कि आश्रमधर्म का पालन होता था किंतु वे सत्य बात नहीं कहते, जैसा उनकी बुद्धि में होना चाहिए वैसा कहते हैं। (आश्रमधर्म बौद्धों से बहुत पूर्व बन चुका था, आश्रम की कैदों से बचने के लिये ही तो बौद्ध परिव्राजकों ने सुगम उपाय निकालकर ब्राह्मण-भिक्षुओं का अनुकरण किया था।) कनिष्क के उत्तर-कोशल, मगध, वत्स, अवंती ये तो मुख्य राज्य थे, बाकी उत्तर भारत में कुल १६ छोटे-छोटे राज्य थे, जिनमें परस्पर संबंध और विग्रह होते रहते थे और कहीं-कहीं प्रजातंत्र भी था। आर्यों का आगमन पंजाब से गंगा के किनारे-किनारे हुआ किंतु सिंधु के किनारे उज्जैन तक और तराई में होकर तिरहुत तक भी आर्यों की गति हुई थी। दाक्षिणात्य में बहुत कम आर्य थे। पहाड़ी आर्य धर्म और शासन में स्वतंत्र प्रकृति के थे और अनार्यों में भी शांति और सामाजिक बंधन विद्यमान थे। ग्राम-गोष्ठ या ग्राम-संघ ही हिंदुओं की प्रधान चाल थी। गाँव की चरागाह सर्व साधारण की सम्पत्ति थी और सिंचाई भी मिलकर होती थी। गाँव से बाहर जमीन बेची वा रेहन नहीं की जाती थी। स्त्रियों की भूषण आदि ही सम्पत्ति थी और माता से दाय-भाग भी मिलता था। सहभोजन और सहविवाह के नियम दृढ़ थे (अर्थात् जातिबंधन था)। राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चांडाल, पुक्कस यों जातिभेद था। कई क्षत्रिय अनार्य भी थे। जातियों में भेद, (आपत्काल होने से) कर्म का परिवर्तन भी होता था और उच्च जातियों में अनुलोम प्रतिलोम विवाह होने पर भी संतान 'ब्राह्मण' वा 'क्षत्रिय' ही रहती थी। (हैं !) बुद्ध के संवादों में जन्माभिमान की निंदा की गई है। (इससे तो जाति दृढ़ हुई।) ब्राह्मणों ने अभी क्षत्रिय से ऊपर होने और भू-देव कहाने की हिमाकत नहीं दिखाई थी। (यह 'हिमाकत' बहुत पहले से थी और बौद्ध-धर्म इसी को तोड़ना चाहता था।) जाति के लिये कोई शब्द ही नहीं है। रोमन और ग्रीक लोगों में यदि जाति-भेद होता तो भारतवर्ष में भी उस समय होता। (वदतोव्याघात—बौद्ध-धर्म क्या तोड़ना चाहता था ? क्या जाति-धर्म बौद्धों के पीछे जम सका ?) नगरों में प्राकार होते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घरों में दालान, कोष, अन्नागार, मोरी प्रभृति का पता है। शवदाह के अतिरिक्त उनका वनों में पक्षियों के भोजनार्थ त्याग भी होता था। नाव, गाड़ी से व्यापार, किराये की पुलिस, और ताँबे के प्राइवेट सिक्कों से व्यापार भी पाया जाता है। चाँदी के राजनियमित सिक्के न थे (वाह !)। व्यापारी, व्यापार, विज्ञापन और मोहरमात्र में लेख का प्रयोग, विद्या का कंठ से ही पढ़ा-पढ़ाया जाना, साधु परिव्राजकों के आदर का वर्णन करके 'ईसा की षष्ठ शताब्दी में भारतवर्ष' का यह चित्र समाप्त होता है।

उन्नतिमत्त पाश्चात्य अपनी दशा को और देशों के इतिहास में पढ़ने का उद्योग करते हैं। यूरोपीय क्लर्जी ने राजाओं पर पीछे प्रभाव डाला और उनके राजाओं के बीच इस बात पर लड़ाइयाँ हुईं, यही बात भारतवर्ष में ढूंढ़ना चाहते हैं। अपनी छठी शताब्दी की सभ्यता से बढ़कर सभ्यता यहाँ नहीं दिखाना चाहते। और, ब्राह्मण तो गालियाँ देने को हैं ही।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

खसों के हाथ में ध्रुवस्वामिनी

एक ही श्लोकमय काव्य को, जिसका बीज किसी पुरानी कथा या घटना से लिया हो, 'कथोत्थ मुक्तक' कहते हैं। इसके उदाहरण में राजशेखर की काव्य-मीमांसा[1] में यह श्लोक दिया है—

> दत्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
> यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
> तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
> गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥

कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा में चाटु कह रहा है। जिस हिमालय में चाल रुक जाने पर अपनी देवी ध्रुवस्वामिनी को खसों के राजा को सौंपकर खंडितसाहस होकर श्रीशर्म (?) गुप्त लौट आया, वहीं पर आपकी कीर्ति गाई जा रही है। यह तो उस अज्ञात राजा की बड़ाई हुई कि जहाँ पर श्रीशर्मगुप्त के-से पराक्रमी राजा को खसों से हार, चौकड़ी भूल, अपनी रानी उनके हाथ में सौंप, चला आना पड़ा था वहीं आपकी कीर्ति गाई जा रही है। यह श्लोक वैसा ही है कि जैसा भास के नाटक में रावण को सूचना दी जाती है कि जिस अशोकवाटिका में सँवारने-सिंगारने के चाववाली मंदोदरी महारानी भी पत्ते नहीं तोड़ती वही वानर (हनुमान्) ने तोड़-मरोड़ डाली है। एक में हिमालय की अतिशय दुर्जयता और दूसरे में अशोकवाटिका की रावण को अतिशय

---

१. गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, नं० १। (पृ० ४७—संपादक।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रियता दिखाकर पहले में राजा के प्रताप की और दूसरे में वानर के अपराध की अधिकता बताई है।

किंतु यह श्लोक जिस कथा से उत्थ (निकला) है वह ध्यान देने योग्य है। 'काव्यमीमांसा' एक ही पुस्तक से छापी गई है। श्रीशर्मगुप्त कोई अशुद्ध पाठांतर हो तो पता नहीं। गुप्त महाराजाओं के वंश में एक प्रसिद्ध ध्रुवदेवी वा ध्रुवस्वामिनी हुई है जो चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य की स्त्री तथा कुमारगुप्त (प्रथम) की माता थी। और, किसी ध्रुवस्वामिनी का उस वंश में पता नहीं चलता। न कहीं पुराने या पिछले गुप्तों में शर्मगुप्त नाम मिलता है। यदि शर्मगुप्त चंद्रगुप्त के लिए लेखक-प्रमाद हो तो बंध बैठ जाता है, नहीं तो कोई शर्मगुप्त और उसकी रानी ध्रुवस्वामिनी ये दो कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी। कथा सच्ची है, नहीं तो 'कथोत्थ मुक्तक' का उदाहरण यह कैसे दिया जाता? ध्रुवस्वामिनी का नाम प्रसिद्ध है, उसके पुत्र की मुद्रा भी मिली है। चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य बड़ा प्रतापी और विजेता हुआ। वह उत्तर की ओर खसों से हारा ही नहीं किंतु खसों के राजा के हाथ अपनी महारानी को बंदी छोड़कर लौट आया यह बात यदि सच्ची भी हो तो भी गुप्तों के लेखों में नहीं मिलने की। ऐसे ही किसी श्लोक में उसकी परंपरागत चर्चा मिले तो मिले। चीन के खस बड़े पराक्रमी थे। कई बार नेपाल के मार्ग से आकर उन्होंने हमले किए तथा पिछले गुप्त राजाओं का बल क्षय किया। संभव है कि चंद्रगुप्त की उनसे टक्कर हुई हो और चंद्रगुप्त ने फिर कुबेर की दिशा में बढ़ने से हाथ खैंच लिया हो, जैसे कि थानेश्वर के हर्षवर्धन ने और सब देशों को जीत नर्मदा तट पर पुलुकेशी (द्वितीय) से हार खाई और दक्षिण में राज्य फैलाने का विचार छोड़ दिया। बड़े विजेताओं की हार की सूचना उनके वंश के लेखों में कभी नहीं मिल सकती। राजशेखर के समय (नवीं शताब्दी ईसवी) में यह कथा प्रसिद्ध थी कि कोई गुप्त राजा (शर्मगुप्त या चंद्रगुप्त?) अपनी देवी ध्रुवस्वामिनी को खसों के राजा को देकर हारकर उत्तर से लौटा।[1]

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२० ई०]

---

१. 'काव्यमीमांसा' के उपर्युक्त श्लोक में, हमारी समझ में, 'शर्मगुप्तो नहीं', 'रामगुप्तो' पाठ होना चाहिए। क्योंकि इतिहास में अब यह बात सिद्ध है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकार उसके मंत्रियों ने उसके बड़े बेटे रामगुप्त को दिया। उसे अशक्त जानकर कुशान-वंशी राजा ने गुप्त-साम्राज्य पर चढ़ाई की। हिमालय की बाह्य श्रृंखला के एक गढ़ में रामगुप्त 'रुद्धगति' हुआ और अपनी रानी ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी को शत्रु की भेंट कर वह मुक्त हुआ। उसके छोटे भाई चंद्रगुप्त ने शत्रु को उसके गढ़ में ही परास्त कर इस अपमान का शोधन किया। इसके बाद रामगुप्त का अंत हुआ और चंद्रगुप्त सम्राट् हुआ। ध्रुवस्वामिनी ने अपने उद्धारकर्त्ता का वरण किया। इस पुनर्लग्न से देवी ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पत्नी हुई। (दे०—श्री जयचंद विद्यालंकार-कृत इतिहास-प्रवेश, पृ० १५०-५१; श्री जयशंकर 'प्रसाद' कृत ध्रुवस्वामिनी की 'सूचना'।)—संपादक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरातत्त्व

शैशुनाक मूर्तियाँ

शिशुनाक वंश के महाराजाओं की दो प्रतिमाएँ

लगभग सौ वर्ष हुए, गंगा की बाढ़ का पानी उतर जाने पर, पटने से दक्षिण की ओर नदी तीर पर, बुकानन महाशय को पत्थर की एक विशाल मूर्ति मिली। यह सिर समेत पुरुष की मूर्ति थी, किंतु इसके हाथ-पांव खंडित और चेहरे के नाक आदि त्रुटित थे। ऊँचाई में यह पूरे पुरुष के आकार की थी और कुछ भद्दी थी, सुकुमार शिल्प का नमूना न थी। दुपट्टा कंधे पर होकर पीछे को गया था। उस पर पीठ की ओर कंधे के पास कपड़े की सलवटों में कुछ अक्षर थे। मूर्ति को खोदकर बुकानन साहब के घर पर लानेवाले मजदूरों ने कहा कि कुछ वर्ष हुए देहात के दक्षिण भाग में एक खेत में यह मूर्ति मिली थी और लोग इसे पूजने लगे, किंतु पहले दिन ही वहाँ पर आग लग जाने से इसका पूजन अशुभ समझकर लोगों ने इसका गंगा-प्रवाह कर दिया था। उसी स्थान पर एक और ऐसी ही मूर्ति की टाँगें पृथ्वी के बाहर निकल रही थीं और एक तीसरी मूर्ति को हाकिंस साहब उठवा ले गए थे। उस स्थान पर जाकर बुकानन साहब ने देखा तो ५०, ६० फुट लम्बे ईंटों के मकान के ध्वंसावशेष पाए। उनमें से ईंट आदि तो लोग निकालकर ले गए थे। खोदने पर पहली मूर्ति के समान, किंतु उससे मोटी और कुछ लंबी दूसरी मूर्ति मिली। इसके पैर साबित तथा भुजाओं के कुछ अंश थे। सिर न था और बाएँ कंधे पर चँवर बना हुआ था। जैन साधु भी ऐसा ही चँवर (ओगा) रखते हैं। मिस्टर बुकानन ने समझा कि मंदिर और उसकी मुख्य प्रतिमा नष्ट हो गई हैं, ये परिचारकों या पार्षद देवताओं की प्रतिमाएँ हैं। तीसरी मूर्ति मिस्टर बुकानन ने देखी ही नहीं। ये दोनों मूर्तियाँ डाक्टर टेलर के हाथ लग गईं और उसके भाई ने सन् १८२० ई० में इन्हें बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी को भेंट कर दिया। वहाँ इनकी कुछ कद्र न हुई, पिछवाड़े के बगीचे की झाड़ियों में ये बरसों पड़ी रहीं। चालीस वर्ष पीछे इन पर बेगलर महाशय की दृष्टि पड़ी तब उसने उस समय के पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर सर अलिगजेंडर कनिंगहाम का ध्यान इनकी ओर खींचा। सन् १८७९ ई० में ये इंडियन म्यूजियम की भरहुत गैलरी में ऊँची चौकियों पर पधराई गईं। जेनरल कनिंगहाम ने अपनी पंद्रहवीं रिपोर्ट में इनका वर्णन किया। उस समय उसे याद आया कि पटने शहर के बाहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अगम कुआँ' नामक स्थान के पास एक ऐसी ही तीसरी मूर्ति है जो ढंग, हाथों के निवेश और वेशविन्यास में ठीक इन विशालकाय मूर्तियों की-सी है। अगम कुएँ के पास रहने वाले ग्रामीण उस पर नया सिर लगाकर उसे 'माता माई' के नाम से पूजते थे। संभव है कि वह कभी वहीं कहीं मिल जाय। यदि हाकिसवाली मूर्ति यही हो, तो तीन नहीं चार समानाकार मूर्तियाँ वहाँ से मिलीं।

जेनरल कनिंगहाम ने उनकी बहुत ही चमकदार पालिश या ज़िलअ़ पर ध्यान देकर उनके शिल्प-संबंधी महत्त्व को समझा और प्राचीन हिंदू-शिल्प के नमूनों में उन्हें सर्वोच्च स्थान दिया। यह ज़िलअ़ 'मौर्य-पालिश' कहलाती है। मौर्यकाल से पहले की मूर्तियाँ तो उस समय मिली ही कहाँ थीं, मौर्यकाल के पीछे की चीजों में ऐसी सुंदर दर्पणाकार पालिश नहीं मिलती। खोजियों ने यह भी माना है कि यह पालिश हिंदुस्तान की अपनी उपज नहीं, पर्शिया (ईरान) के कारीगरों की लाई हुई है। इस विषय पर पीछे विचार किया जायगा।

जेनरल कनिंगहाम ने इन्हें यक्षों की मूर्तियाँ माना और उनके पीठ पर के लेखों को यों पढ़ा—

[सिरवाली मूर्ति (१) पर] **यखे अचुसनिगिक** (अर्थात् अचुसनिगिक यक्ष)।
[बिना सिर की मूर्ति (२) पर] **यखे सनतनंद** (अर्थात् सनतनंद यक्ष)।

कनिंगहाम साहब के पीछे किसी ने इन मूर्तियों वा उन पर के लेखों पर ध्यान नहीं दिया।

यों ये मूर्तियाँ सन् १८१२ में मिलीं, सन् १८७९ में उनका स्वरूप ज्ञात हुआ, किंतु उनका वास्तव विवरण सन् १९१९ में बाबू काशीप्रसाद जायसवाल ने किया। जायसवाल महाशय ने खूब विचार कर निर्णय किया है कि ये दोनों मूर्तियाँ शिशुनाक वंश के दो महाराजाओं की हैं। बुकानन साहब ने जिस ईंट के मकान का उल्लेख किया है वह शैशुनाक राजाओं का 'देवकुल' था। 'देवकुल' क्या होते थे तथा भास के 'प्रतिमा-नाटक' से उनके विषय में क्या जाना जाता है इस पर (इसी अंक में)[1] एक पृथक् लेख[2] पढ़िए। पहली (सिरवाली) मूर्ति शैशुनाकों के 'देवकुल' में से महाराज अजउदयिन् की है जिसने पाटलिपुत्र बसाया और जिसका समय ईसवी सन् पूर्व ४८३ से ४६७ है। दूसरी (बिना सिर की) मूर्ति प्रसिद्ध विजेता सम्राट् नंदिवर्धन की है जिसका समय ईसवी सन् पूर्व ४४९ से ४०९ है। लेख दोनों रप इस प्रकार हैं—(१) **भगे अचो छोनीधीशे** (२) **सपखते वट नंदि, या षपखेते वेट नंदि।**

दीदारगंज की प्रतिमा

ता० १८ अक्तूबर सन् १९१७ को पटने से पूर्व गंगातीर पर नसीरपुर ताजपुर

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२० ई०
२. देखिए : चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी का लेख : देवकुल : ('गुलेरी साहित्यालोक' तथा 'गुलेरी रचनावली-१') सम्पा० डॉ० मनोहरलाल; किताबघर, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिस्सा खुर्द, या दीदारगंज कदम रसूल, में एक मुसलमान सज्जन को कोई बड़ा पत्थर गड़ा दिखाई दिया। खोदने से जान पड़ा कि वह एक मूर्ति की चौकी थी। मूर्ति निकलते ही बाँस की छतरी बनाकर लोग उसे पूजने लग गए किंतु कई उत्साही खोजियों के उद्योग से यह मूर्ति बचाकर 'पटना म्यूजियम' में पहुँचा दी गई। 'बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' के जर्नल की मार्च, १९१९ की संख्या में डाक्टर स्पूनर ने इस प्रतिमा के विषय में एक लेख लिखा है। यह किसी चामरग्राहिणी स्त्री की प्रतिमा है जो किसी मंदिर या महल की देवमूर्ति या राजमूर्ति के दाहिने हाथ पर खड़ी हुई परिचारिका हो। साधारण परिचारिका के भूषण तथा शृंगार इतने अधिक नहीं होते। मूर्ति तथा चौकी मिलकर साढ़े छः फुट ऊँची है। मूर्ति तथा चौकी चुनार के चकतेदार रेतीले पत्थर की एक ही शिला से गढ़ी हुई है। इस पर भी मौर्यकाल की वही चमत्कारी पालिश है जो कहीं-कहीं पानी या मैल के दागों से बिगड़ गई है, तो भी बाएँ कंधे, दाहिने हाथ, जाँघ और नंगी पीठ पर वही काँच की-सी चमक विद्यमान है जिसे मौर्यकाल (और उसके पूर्व के) शिल्पी ही चुनार के पत्थर पर ला सकते थे। अशोक के आज्ञास्तंभ सदा के लिये इस शिल्पकला-यश के ध्वज के समान हैं।

हिंदुस्तान में जो मूर्तियाँ या जो प्रतिमाएँ मिली हैं वे प्रायः पत्थर पर कोरकर ही बनाई हुई मिली हैं। कहीं कुराई से आकार, अंग, भूषण आदि अधिक उभरे हैं, कहीं कम; किंतु समूची मूर्ति ही तक्षण से प्रायः नहीं बनाई जाती है, पीछे पत्थर का आधार रख लिया जाता है। पिछला भाग पत्थर ही से चिपका रहता है। देवमूर्तियों में सहारे के लिये आभा, प्रभामंडल, तकिया, दंड या भुजा और जंघाओं के सहारे की आड़ी या खड़ी पत्थर की शिला रख ली जाती है। समूची मूर्तियाँ गुलाई में चारों तरफ से कोरी हुई, अँगरेजी स्टेच्यू के ढंग की, बहुत ही कम मिलती हैं। 'इंडियन म्यूजियम' की दोनों विशालकाय (शिशुनाक) मूर्तियाँ, बेसनगर की स्त्री-मूर्ति, जो महाराजा सेंधिया ने वहाँ हर भेंट की है, तेलिम मूर्ति, साँची की स्त्री-मूर्ति, मथुरा की परखम मूर्ति, और यह प्रतिमा—ये मूर्तियाँ ही सुडौल गोल सब ओर से कोरकर बिना सहारे बनाई हुई मिली हैं। ऐसी बनावट में शिल्पी की वस्त्र और भाव बताने की चतुराई पाई जाती है। ये सब मूर्तियाँ बहुत प्राचीन काल की एक ही शिल्प-संप्रदाय की होनी चाहिएँ।

यह प्रतिमा बहुत ही सुन्दर है, तो भी इसका आगा जितना अच्छा बना है पीछा तथा बगलें इतनी रमणीय नहीं। नीचे के भाग पर धोती की तरह एक ही वस्त्र पहनाया गया है। उसे सामने घनी बुनावट में समेटकर एक लंबी लाँग के रूप में पैरों तक गिराया है। नितंब पर उसकी सलवट तथा जंघाओं पर उसकी मोड़ बहुत फबती है। बाएँ नितंब पर एक मोरी है। जिसमें होकर वस्त्र का एक छोर पीठ पर से टेढ़ा जाकर दाहिनी कुहनी पर टिककर बल खाता हुआ नीचे की ओर गिरा है। ऊपर का भाग नंगा है। दाहिने हाथ में चँवर बड़ी अच्छी धज से लिया हुआ है। भूषणों में एक पाँच लड़ी की मेखला है। लड़ियाँ पीछे को छितरी हुई हैं किंतु आगे एक ही जगह सिमट गई हैं और दो घंटी के-से छल्लों में निकलकर लटकती लाँग के नीचे आ गई हैं। छल्ले, संभव है, सोने के हों, किंतु मेखला की कड़ियाँ शकरपारे आकार के मूल्यवान् पत्थरों की हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक नगीने के दोनों ओर गोल मनके हैं। गले में बड़े मोतियों की एक तिलड़ी है जिसकी ऊपर की लड़ कंठ से चिपकी हुई है; बाकी दोनों छातियों तक आई हैं। कुंडल डमरू के आकार के हैं, उनके नीचे के टोकन औंधे हैं। दाहिने हाथ में १४ चूड़ियाँ हैं और कुहनी के पास उनके पीछे एक बड़ा कड़ा है। सिर पर मोतियों की लड़ें हैं जो ललाट पर एक गोल बिंदे में सिमटी हैं और सिर पर भिन्न धाराओं में जाकर सुंदर लटों के विशेष रूढ़ि से गुँथे हुए केशपाश तक चली गई हैं। पैरों में घुँघरू हैं। क्या वस्त्र, क्या भूषण, और क्या सिर, चेहरे तथा नेत्रों के भाव, सब में प्रतिमा मनोहारिणी है। भावभंगी बहुत ही नैसर्गिक है। कुछ उझकन और चमरवाले हाथ का बल अच्छी तरह दिखाया है। आँख का कटाक्ष ठीक वैसा ही है जैसा कुमराहर में उपलब्ध मौर्यकाल के सिर में है। नंगे अंगों की बनावट बहुत चमत्कारिणी है। नीचे तथा पीछे का भाग उतना अच्छा नहीं। पृथुजघना का कविसंकेत ठीक निबाहा नहीं गया।

वेश में बेसनगर की प्रतिमा की इससे समानता है। उसमें कौंधनी ऐसी ही है किंतु केशविन्यास और तरह का है। यह ऐतिहासिक पालिश भी उसमें नहीं है तथा और कई बातों में वह इससे भद्दी है। नीचे के भाग में उसमें भी यही न्यूनता है। अंगों की बनावट में भरहुत गैलरी की (शैशुनाक) प्रतिमाएँ इसके समान नहीं, किंतु भावगठन आदि में यह दीदारगंज की चामरग्राहिणी तथा शैशुनाक मूर्तियाँ एक ही शिल्प-संप्रदाय की हैं।

संभव है कि यह मूर्ति किसी गणिका की हो। बौद्ध जातकों (६।४३२) में उल्लेख है कि राजमहलों में मातृकाओं की सजीव-सदृश प्रतिमाएँ रहा करती थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार (पृष्ठ १२३) मातृकाएँ एक प्रकार की दरबारी गणिकाएँ होती थीं जो त्यौहारों के अवसर पर राजचिह्न (चामर, भृंगार आदि) लेकर राजा की सेवा में उपस्थित होती थीं। क्षेमेंद्र की सम-मातृका में ऐसी ही चतुर मातृका (गणिका, वारस्त्री) की कथा है। कवियों ने 'एतासामरविन्दसुन्दरदृशां द्राक् चामरान्दोलनादुद्वेल्लद्भुजवल्लिककंणझणत्कारः'[1] तथा 'लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनां'[2] का वर्णन किया है। यह विभूषण-विभूषित प्रतिमा भी किसी गणिका की होगी जो किसी राजमहल के सहन में रखी गई होगी।

अस्तु, यह प्रतिमा भी मौर्य-पालिश के कारण यक्षिणी मानी गई। 'पटना-म्यूजियम' में इस पर यक्षिणी का टिकिट (लेवल) लगाया जाने लगा। जायसवाल महाशय ने सोचा कि भारतवर्षीय शिल्प में सांकेतिक व्यवहार यह है कि यक्षों तथा यक्षिणियों की नाक चिपटी और गाल की हड्डियाँ निकली हुई होती हैं। इस गोल ठुड्डी तथा उभरे वक्षस्थल की आर्यमहिला को 'यक्षिणी' क्यों कहा जाता है? तब कनिंगहाम साहब की दुहाई देकर कहा गया कि 'इंडियन म्यूजियम' की 'भरहुत गैलरी' की विशालकाय प्रतिमाएँ भी तो उन पर के लेखों से यक्षों की सिद्ध होती हैं।

---

१. भोजप्रबंध।
२. उद्भट।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पर जायसवाल ने उन मूर्तियों पर के लेखों की छापों को देखा तो उन पर 'यक्ष' पद ही कहीं न था !

मूर्तियों का विवरण

मूर्तियाँ मिरजापुर या चुनार के मटमैले रेतीले पत्थर की बनी हुई हैं। इन पर मौर्य-पालिश है। जहाँ मूर्तियाँ पहले थीं वहाँ अवश्य अग्निकोप हुआ होगा, उसी से रंग पीला पड़ गया है। इसी तरह के पत्थर पर अशोक के स्तंभाभिलेख हैं और अशोक-कालीन प्रतिमाएँ भी इसी पत्थर की मिली हैं। उन सब पर भी यही उत्कृष्ट पालिश है। दोनों मूर्तियों के हाथ टूटे हैं। अज की मूर्ति में धोती के फूँदे तथा पैर पलस्तर से भद्दी तरह पुनः बनाए गए हैं। नंदि की मूर्ति के सिर नहीं है। अज के नाक आदि कुछ खंडित हैं। उसके दुहरी ठुड्डी है। बाल किसी विशेष शैली से पीछे की ओर सँवारे हुए हैं। चेहरे पर दाढ़ी-मूँछ नहीं है। मूर्ति छः फुट ऊँची है। नंदि की मूर्ति उससे कुछ ऊँची, गठीली और मोटी है। 'वर्त' का अर्थ पीतल या लोहा होता है सो मूर्ति देखने से 'वर्तनंदि' नाम दृढ़ता के विचार से अन्वर्थ जान पड़ता है। प्रतिमाओं में सजीवता है, जीव-सदृश कल्पना है। नीचे का वस्त्र धोती है, आगे वह कुछ ऊँची है जिससे पैर दिखाई देते रहें। पीठ की ओर लगातार सलवटों की लहरों से धोती एड़ी तक दिखाई गई है। धोती के पीछे लाँग या मोरी लगी हुई नहीं है। धोती के ऊपर सलवटदार गुलाईवाला कमरबंद है जो धोती तथा मिरजई को सँभाले हुए है। इस कमरबंद पर धोती के छोर की फूलदार घुलवाँ गाँठ है जिससे गुलाईदार पल्ले लटके हुए हैं। उनके सिरों पर फूँदे हैं। पल्ले तथा सिमटी धोती की बत्ती और फूँदे अच्छे बने हैं। ऊपर का वस्त्र एक चौड़ा दुपट्टा वा उत्तरीय है जो सामने बाएँ कंधे के ऊपर से गया है। पेट पर वह जनेऊ की तरह पड़ा है। बीच में छाती पर दुपट्टे में एक गुलाईदार गाँठ है। पीठ पर भी दुपट्टा तिरछी सलों में सिमटा हुआ गया है। बाएँ कंधे पर से उसका पल्ला नीचे एड़ी तक चुनावटदार लंबाई में लटक रहा है। अज की बाँह पर अंगद ठीक वैसा ही है जैसा भरहुत स्तूप के कठहरे के राजाओं की मूर्तियों में है। नंदि के अंगद मकर-मुख हैं, उन पर स्वर्णकारों के सांकेतिक बेल-बूटे हैं। अज के कानों में कुंडल हैं। दोनों में दुपट्टे के नीचे एक अधोवस्त्र मिरजई का-सा होना चाहिए। मोटे निकले हुए पेट, कमर की त्रिबलि तथा नाभि का विन्यास यही सूचित करते हैं। इस मिरजई की कंठी पर बुनगट के काम का हाशिया है। दोनों मूर्तियों में इसकी बूटेकारी न्यारी-न्यारी है। गले में एक चाँद या निष्क है। इस गहने की डोर पीछे बँधी हुई है और उसके फूँदे लटक रहे हैं। वैदिक राज्याभिषेक प्रकरण में भी ऐसे ही वस्त्र वर्णित हैं। जूतों का वर्णन प्राचीन काल से चला आता है, किंतु मूर्तियों में नंगे पैर दिखाने का कदाचित् आशय है कि प्रजा राजा के पैरों को पूजती थी।[1] नंदि के कंधे पर एक चँवरी है।

---

१. राजसूय-प्रकरण में इतने वस्त्रों का वर्णन* है—(१) तार्प्य-तार्प्य या क्षौम, तृपा या क्षुमा नामक रेशेदार घास का बना हुआ एक तरह का सनिया या टसर होता (क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौर्य-पालिश और शिल्पकार

कंधे पर दुपट्टे का जो पल्ला नीचे तक लटका है उस पर सलवट की समानांतर गहरी रेखाएँ हैं। उन रेखाओं के नीचे, कंधे के पास ही, लेख हैं। दुपट्टे की सलवट बनाने के पहले ही शिल्पी ने लेख के अक्षर खोदे थे। वस्त्र की रेखा अक्षरों को बचाकर गई है, उनके ऊपर से गई है, उनके रहते हुए बनी है। चतुर शिल्पी ने अक्षरों के रहते हुए भी वस्त्र की भंगी को नहीं बिगड़ने दिया। कनिंगहाम साहब इन मूर्तियों को अशोक-काल की मानते थे, किंतु लेख के अक्षरों को नवीन समझकर उन्हें ईसवी सन् के आरंभ की कह गए। कलकत्ता विश्वविद्यालय के भारतीय शिल्प के वाचक अरुण सेन महाशय का मत है कि अक्षर दुपट्टे की रेखाओं से पहले बने हैं, तथा शिल्प-संबंधी विचार से मूर्तियाँ मौर्यकाल के पूर्व की हैं। मौर्यकाल के शिल्प में एक प्रकार की उन्नति या अधःपात दिखाई देता है। इन प्रतिमाओं में उस शिल्प का प्राचीन युग है। दोनों प्रतिमाएँ एक ही उस्ताद के हाथ की नहीं, तो भी दोनों कारीगर एक ही संप्रदाय के थे। केशों की सांकेतिक बनावट, पैरों का पारिभाषिक भद्दापन, सब इस शिल्परूढ़ि का पुरानापन सिद्ध करते हैं। मौर्य-पालिश कहती है कि ये मूर्तियाँ मौर्यकाल के पीछे की नहीं हो सकतीं। लेख उसी समय के हैं जिस समय की प्रतिमाएँ हैं। लिपि मौर्यकाल से प्राचीन है, मौर्यलिपि की पूर्वज लिपि है। अतएव प्रतिमा तथा लेख, शिल्प तथा लिपि-विचार से, मौर्य-काल के पहले के हैं। रहे पालिश और उसके ईरानी जन्म, सो यही दर्पणाकार चमकदार पालिश बाबू शरच्चन्द्र दास ने जायसवाल महाशय को एक 'वज्र' पत्थर के टुकड़े पर दिखाई जो मौर्यकाल से भी बहुत प्राचीन है। शाक्यस्तूप के घियाभाटे के पात्र (पिपरावा पात्र) पर भी, जो मौर्यों से पहले का है, यही पालिश है। इन्हीं मूर्तियों की प्राचीनता इस पालिश की प्राचीनता सिद्ध करती है। अतएव इस पालिश

था या जिसे बुनते समय तीन बार जल या घी से तर किया जाता था। यह भीतर का वस्त्र होता था जिस पर यज्ञपात्रों की मूर्तियाँ सुई के काम से काढ़ी हुई होती थीं। (२) पांड्य कंबल, बिना रँगे ऊन का ऊपर का वस्त्र। (३) अधीवास, लबादा या चोगा। (४) उष्णीय, लंबी पगड़ी जिसे सिर पर लपेटकर दोनों छोर कमर की मोरी में या नाभि के पास खोंसे जाते थे। कुछ लोग सिर पर ही लपेटते थे, नाभि के पास नहीं खोंसते थे। (स्त्रियाँ भी उष्णीष बाँधती थीं, क्योंकि एक जगह 'इन्द्राण्या उष्णीषः' कहा है) इन चारों वस्त्रों को रूपक से गर्भरूप क्षत्र (क्षत्रियत्व) के उल्ब, जरायु, योनि और नाभिनाल कहा है। (५) वराहचर्म के जूते—बिना केशवननीव इष्टि किए वर्ष भर तक राजसूययाजी को बाल न मुंडवाने चाहिएँ और गद्दी पर जूते पहने ही बैठना चाहिए। (देखो, शतपथ ब्राह्मण, ५।२-५; 'मर्यादा', दिसम्बर-जनवरी १९११-१२ में मेरा लेख X)। सूर्य की मूर्ति से घुटनों तक के फुटबूट होते हैं और सब देव-मूर्तियों के पाँव नंगे बनाए जाते हैं।

* X दे०—गुलेरी रचनावली-१ : गुलेरी जी का 'राजसूय' निबंध।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जन्म हिंदुस्तान में, जहाँ वह 'वज्र' बना, मानना चाहिए, पर्शिया (ईरान) में नहीं।

चँवरी

नंदि के कंधे पर चँवरी देखकर यह कहा जा सकता है कि यह राजा की मूर्ति नहीं है, किसी परिचारक या यक्ष की है; किंतु यह साधारण नियम नहीं कि राजा चँवरी हाथ में न रखे या परिचारक ही चँवरी रखे। अजंता की गुफा में एक चित्र है जिसमें रानी थाली पर कमल रखकर एक राजा के सामने पेश कर रही है। यह राजा हंसजातक का राजा है क्योंकि सिंहासन पर हंस बने हुए हैं। उसके हाथ में चँवरी है। और भी कई राजाओं के चित्रों में हाथ में चँवरी है। एक सचित्र जैन-रामायण में राजाओं के हाथ में चँवरियाँ बनी हुई हैं। मुसलमानी समय के चित्रों में हाथ में चँवरी देना एक सौंदर्यकला थी। जैन यति चँवरी (पिच्छिका) हाथ में रखते थे।

लिपि-विवेचन

मूर्तियों को अशोक के समय को मानने को तैयार होकर भी जिन 'पीछे के', ईसवी सन् के प्रारंभ के आस-पास के, अक्षरों के भरोसे जेनरल कनिंगहाम ने पुरानी न समझा था वे अक्षर विचार करने पर बड़े अद्भुत निकले। हिंदुस्तान की प्राचीन लिपियों में जितने प्रकार के अक्षर मिले हैं उनमें से किसी शैली से भी वे पूरी तरह नहीं मेल खाते। ये अति प्राचीन ब्राह्मी अक्षरों से भी प्राचीन रूप जान पड़े। इन अक्षरों का पढ़ना यही मानकर संभव हो सका है कि ये अशोक लिपि के अक्षरों के भी मूल अक्षर हैं, अर्थात् जिन अपरिस्फुट, श्रमसाध्य वर्णों का व्यवहार करते-करते परिमार्जित होकर अशोकलिपि के सुडौल अक्षर विकसित हुए हैं, ये वर्ण वे ही हैं।

सिरवाली प्रतिमा पर का लेख, जायसवाल महाशय के अनुसार, **भगे अचो छोनीधीशे** है। पहले दो अक्षर अलग खोदे हैं, मानो पदच्छेद किया है। दूसरे दो अक्षर कुछ बड़े हैं तथा यह जोड़ा भी पृथक् है, मानो नाम होने के कारण न्यारा पद बनाया गया है। पहला अक्षर **'भ'** है। यह कलम को तीन दफा उठाकर तीन रेखाओं से बना है। अशोकलिपि का **'भ'** दो ही रेखाओं से बनता है। इसी से उसमें ऊपर की ओर नोक-सी उठ गई हुई मिलती है। अर्थात् यह **'भ'** पूर्वरूप है। अशोकलिपि का 'भ' मँजा हुआ है। दूसरा अक्षर **'ग'** है। बाईं ओर की रेखा के अंत में नोक है और दाहिनी ओर की कुछ टेढ़ी है। अशोकलिपि के **'ग'** की दोनों रेखाएँ या तो कलम उठाए बिना ही बनती हैं, या दोनों अंश सहज और समान बने होते हैं। भट्टिप्रोलु के लेख के **'ग'** में दोनों रेखाओं में असमानता रह गई है। यों यह अक्षर भी अशोकलिपि के **'ग'** का पूर्णरूप हुआ। तीसरे अक्षर **'अ'** को देखिए। इस प्राचीन रूप में दोनों कान बहुत विलग हैं। धीरे-धीरे उनकी गुलाई घटी, वे पास-पास आए और दो रेखाओं से बननेवाला अशोकलिपि का **'अ'** बन गया। चौथे अक्षर **'च'** में यह विशेषता है कि इसकी खड़ी लकीर नीचे के अक्षरांश से पृथक् रहकर आगे को बढ़ी हुई है। यह तीन रेखाओं से बना है। अशोक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिपि का 'च' दो ही रेखाओं से बना है—एक तो ऊपर की खड़ी रेखा, दूसरी नीचे के वर्ण को कलम बिना उठाए बनाती है। अशोक के गिरनार लेख में 'च' का एक नमूना इससे कुछ मिलता है। पुराने जाने हुए अक्षरों में यह 'च' ही मूर्ति के 'च' से मिलता है। पाँचवें तथा छठे अक्षर 'छ' तथा 'व' तीन-तीन रेखाओं से बने हैं। अशोकलिपि में वे दो-दो रेखाओं से बने जान पड़ते हैं। इस 'न' तथा अशोक के समय के 'ग' की समानता केवल दिखाई देने की है, वास्तव नहीं। सातवाँ अक्षर 'ग' नहीं हो सकता, 'ट' नहीं हो सकता (क्योंकि ये अक्षर स्थानांतर में इन्हीं मूर्तियों पर असंदिग्ध मिलते हैं), 'ए' नहीं हो सकता (क्योंकि 'ई' की मात्रा स्पष्ट लगी हुई है), यह अशोकलिपि के 'घ' का ही पूर्वरूप माना जा सकता है। ऊपर से दो रेखाएँ नीचे की ओर खींचकर नीचे एक आधार की रेखा उन दोनों को मिलाती हुई बनाने से यह तीन कलमों से बना है। अशोक का 'ध' इसी का बिगड़ा या सुधरा रूप है जो एक सीधी तथा एक गुलाईदार रेखा से बनता है। भट्टिप्रोलु के स्तूप का 'ध' इस 'ध' तथा अशोक के 'ध' का मध्यवर्ती रूप जान पड़ता है। अंतिम अक्षर 'श' है। यह तीन रेखाओं से बना होने से ईसवी चौथी शताब्दी का 'के' नहीं हो सकता। यह भी भट्टिप्रोलु के 'श' तथा अशोकलिपि के 'श' का पूर्वज है। ऊपर की मध्यरेखा पिछले रूपों में छोटी होती चली गयी है, ऊपर का भाग बिलकुल न रहकर नीचे का अंश दोनों ओर की रेखाओं से लंबा हो गया है। इस 'श' में ये रेखाएँ ऊपर की ओर हैं, किंतु पिछले रूपों में नीचे की ओर हैं।

बिना सिर की मूर्ति का लेख यह है—**सपखते वट नंदि या षपखेते वेट नंदि।**

पहला अक्षर 'ष' का पुराना रूप हो सकता है, किंतु मूर्ति की कोहनी से ऊपर की सलवट तक एक पतली रेखा और है, जो या तो पत्थर की दर्ज है या सलवट का ही अंश हो। उसे इस अक्षर का भाग न मानें तो यह 'स' है। इस अक्षर के तीन अंश हैं—एक तो भीतरी रेखा से नोक तक, दूसरे नोक से दूसरे अक्षर की आड़ी रेखा तक अर्द्धवृत्त, तीसरा नोक के ऊपर का सिरा। अशोकलिपि में 'स' और 'ष' दोनों द्विरेखात्मक वर्ण हैं, उनमें बिचली रेखा सीधी नहीं होती। वस्तुत: 'स' 'ष', 'स' में उतना भेद न उस समय की भाषा में था, न लिपि में। दूसरा अक्षर तीन भिन्न रेखाओं से बना है, एक दाहिनी ओर की सकोण रेखा ऊपर से नीचे को, दूसरी बाईं ओर नीचे से ऊपर को, तीसरी आधार रेखा। यह बनावट 'प' की है, 'ल' की नहीं। दाहिनी रेखा बाईं से कुछ छोटी है। अशोकलिपि के 'प' के एक ही कलम से बनने से उसकी बाँईं रेखा बहुत ही छोटी होती गई है। यह 'ब' भी हो सकता है। तीसरा अक्षर 'ख' है जो चार रेखाओं से चौखूंटा बना है, ऊपर की तुर्रा है। अशोकलिपि में चारों खूंटें गुलाई पा जाती हैं जिससे चारों रेखाओं का पृथक्त्व मिट सा जाता है। तुर्रा भी नीचे लटक आया है उसकी नोक मिट गयी है, मानो लिखना अधिक सरल और सहज हो गया है। चौथे अक्षर 'त' की दो टाँगें हैं और ऊपर सिर अलग जोड़ा है। अशोक के समय तथा पीछे के 'त' दो ही रेखाओं से बने हैं। पाँचवें अक्षर 'व' में बगलों की दोनों रेखाएँ कुछ गुलाई लिए हुए हैं। आधार रेखा आड़ी पृथक् है। ऊपर को खड़ी लकीर है। भट्टिप्रोलु का 'व' इससे कुछ मिलता है। अशोकलिपि का 'व' बिलकुल गोल हो गया है। एक वृत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दूसरी ऊपर की खाड़ी रेखा, यों दो ही रेखाओं का बनता है। छठा अक्षर 'ट' अशोकलिपि का है। सातवाँ 'न' पहली मूर्ति में भी है। अंतिम अक्षर तीन बार कलम उठाकर बनाया है। दिल्ली के अशोक लेख का 'द' इससे कुछ मिलता है, बाकी 'द' एक ही कलम से बनते थे।

मात्राओं में 'ए' की मात्रा अक्षर की बाँईं ओर एक आड़ी या तिरछी रेखा है (देखो : गे, शे, खे, ते)। यही मात्रा बढ़कर पीछे बँगला में बाँईं ओर आ गई, जैन-पोथियों में पड़ी मात्रा हो गई और हिंदी में वर्ण के ऊपर चली गई। 'ओ' की मात्रा वर्ण के सिर पर आड़ी रेखा है (देखो, चो, छो, में सिरे की मुटाई। 'ते' पर 'ए' की मात्रा 'ओ' की सी है)। 'इ' की मात्रा वर्ण पर एक ही खड़ी रेखा (देखो : दि) और ई की मात्रा दो खड़ी रेखाएँ हैं (देखो : नी, धी)। अनुस्वार (नं पर) स्पष्ट है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पहले जो अक्षर तीन या अधिक रेखाओं से कलम उठाकर बनाए जाते थे, वे अशोकलिपि में दो एक रखाओं से बिना कलम उठाए बनने लगे। ये अक्षर आयास साध्य हैं, अशोक के अक्षर अनायास बनते हैं। विकासक्रम में धीरे तथा श्रम से बनने वाले अक्षर (जैसे इन मूर्तियों के) पुराने होते हैं, गुलाईदार (घसीट या शिकस्ता) पीछे के। इन अक्षरों तथा अशोकलिपि के अक्षर में विकास का वही संबंध है जो अशोक के लेख तथा **रुद्रदामन्** के लेखों में है।

यह संभव है कि मौर्यकाल के पहले दो तरह की लिपियाँ प्रचलित हों, दोनों पहले की मूल ब्राह्मी के रूपांतर हों। उनमें से एक के अक्षर तो ईसवी पूर्व पांचवीं शताब्दी के ये ही हैं, दूसरी आगे चलकर मौर्यों की राजलिपि हो गई हो। उधर दक्षिणी लिपि, मथुरा, पभोसा, हाथीगुंफा के लेखों के कई अक्षर इसी मूर्तियोंवाली लिपि के वंशज हैं। मौर्य काल के पीछे एक ही काल की लिपियों में इतने अवांतर भेद मिलते हैं कि बिना दो मूल लिपि माने ईसवी सन् पूर्व तीसरी शताब्दी की एक ही मूल लिपि से वे सब निकले हों यह मानना कठिन है। बौद्ध तथा जैन-पुस्तकों में ब्राह्मी लिपि के साथ-साथ ही पौष्करसादी लिपि का भी नाम मिलता है। संभव है कि ये इन्हीं दोनों पुरामौर्य लिपियों के नाम हों।

लेखों का अर्थ तथा उनकी भाषा

भगे अचो छोनीधीशे का अर्थ 'भगवान् (=ऐश्वर्ययुक्त) अच (अज) क्षोणि + अधीश (=पृथ्वीपति)' है। **भगे** वैदिक साहित्य में आता है जिसका अर्थ संबोधन में ऐश्वर्ययुक्त स्वामी या महामहिम प्रभु होता है। दूसरे लेख का अनुवाद यह होगा—'सर्वक्षेत्र [पति] या सर्वक्षिति [पति] वर्त नंदि'। **सप** को **षप** या **सब** पढ़ने से या **वट** को **वेट** पढ़ने से भी इन प्राकृत शब्दों की संस्कृत-छाया **सर्व** और **वर्त** ही रहेगी। अर्थशास्त्र (पृष्ठ ३३८) में राज्य के अर्थ में **क्षेत्र** पद आया है। बौद्ध धर्म-ग्रंथों की पाली भाषा ही इन लेखों की भाषा है। शैशुनाक काल में वही राजभाषा रही हो यह प्रतीत होता है, संस्कृत नहीं। इस भाषा में 'ज' को 'च' हो जाता है (**अजो** का **अचो**)। वैयाकरणों ने इसे उत्तर-पश्चिमी प्राकृत अर्थात् राजकीय पाली का एक लक्षण माना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(जैसे **प्राजन** का **प्राचन**, अशोक लेखों में **व्रजन्ति** का **व्रचन्ति**)। **सर्व** का **सप** होना भी पाली के अनुकूल ही है। जैसे **प्रजावती** का **पजापति**)। **क्ष** का **छ** (**क्षोणी** का **णोनी**) भी पाली लेखों में बहुत मिलता है (जैसे क्षुद्र जा छुद्दो)। क्षोणि+अधीश की संधि छोनीधीशे (संस्कृत क्षोण्यधीश) होना पाली व्याकरण ते सिद्ध है। भगे तथा क्षेत्र शब्दों का प्राचीन अर्थों में प्रयुक्त होना भाषा की प्राचीनता सिद्ध करता है।

इतिहास

पुराणों में पाटलिपुत्र के शैशुनाक राजाओं की नामावली में नंदिवर्धन का नाम है। इसमें नाम तो नंदि ही है, 'वर्धन' विजयसूचक उपाधि है, नाम का अंश नहीं, जैसे हर्ष के लिए 'हर्षवर्धन', अशोक का 'अशोकवर्धन'। वायु, ब्रह्मण्ड तथा मत्स्यपुराणों में नंदि को उदयिम् का पुत्र लिखा है। 'विष्णुपुराण' में उदयिन् को 'उदयाश्व' कहा है। 'भागवत' में नंदि को आजेय अर्थात् अज का पुत्र लिखा है और उदयिन् के स्थान पर 'अज' नाम दिया है। उधर आवंती की 'राजनामावली' में प्रद्योतवंश के समाप्त होने पर 'नंदिवर्धन' का नाम है। ये दोनों नंदि एक ही हैं, अर्थात् पाटलिपुत्र का नंदि ही अवंती (उज्जैन) का राजा भी हुआ। वहाँ पर वायु, ब्रह्मण्ड और विष्णुपुराणों में उसके पिता का नाम 'अजक' या 'अज' लिखा है। 'मत्स्यपुराण' की एक पुरानी प्रति में अज को 'शैशुनाक' कहा गया है। अतएव कोई संदेह न रह गया कि शैशुनाक नंदि के पिता उदयिन् और अवंती के नंदि के पिता अज दोनों एक ही व्यक्ति हैं। 'अज' तथा 'उदियन्' दोनों का अर्थ सूर्य होता है, इसीलिए 'मत्स्यपुराण' में प्रद्योतवंश के प्रसंग में इस राजा का नाम 'सूर्यक' लिखा गया है। 'वायुपुराण' में अवंती के वंश में नंदिवर्धन का पाठांतर वर्तिवर्धन भी मिलता है; वर्ति का प्राकृत रूप वट्टि या वटि होता है। मूर्ति के लेख से अनुमान कर सकते हैं कि प्राकृत वट या वेट का संस्कृत रूप 'वर्त' होना चाहिए, वर्ति नहीं। पोथियों की २३०० वर्ष की लेख-परंपरा में एक मात्रा की गड़बड़ क्षंतव्य है।

पुराणों में नंदि के पुत्र का नाम 'महानंदि' या 'महानंद' दिया है। उत्तरी बौद्ध ग्रंथों में उसे 'नंद' और 'महानंद' लिखा है। जैन लोग नंद, उसके पिता, और पुत्र तीनों के लिए नंद नाम का ही व्यवहार करते हैं। खारवेल के लेख में भी नंद ही नाम दिया है। पुराणों में 'नंद राज्य' का काल १०० वर्ष दिया है जिसमें अनिरुद्ध के राज्य के ९, मुंड के ८, नंदिवर्धन के ४०, महानंद के ३५ और महानंद के पुत्रों के ८ वर्ष सम्मिलित हैं। मुंड और अनिरुद्ध वर्तनंदि के भाई थे। यों पुराणों में भी नंदिवंश कह दिया है। ये शैशुनाक नंद थे, इनके पीछे जो 'संकर नंद' हुए उन्हें 'नवनंद' (नए नंद) कहा गया है। एक जैन ग्रंथ में जिस नंद को चंद्रगुप्त मौर्य ने हराया उसे 'नवनंद' कहा है।

अज-उदयिन् का समय ई० पू० ४८३ ने आरम्भ होता है और पुराणों के अनुसार ४४९ ई० पू० तथा बौद्ध लेखों के अनुसार ई० पू० ४६७ तक है। नंदि के राज्य का अंत पुराणों के अनुसार ४०९ ई० पू० है। अतएव प्रथम मूर्ति का काल ई० पू० ४६७ से ४४९ तक है, तथा द्वितीय मूर्ति का ई० पू० ४०९ है, क्योंकि मूर्तियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजाओं के परलोकवास के पीछे देवकुल में स्थापित की गई होंगी।

जैन-लेखों में अवंती के इतिहास के वर्णन में नंद-वंश का वर्णन करते समय पालक वंश के पीछे उदयिन् का राज्य करना लिखा है। पुराणों ने अनुसार नंदि अवंती का विजेता मान लिया गया था इसलिए पौराणिक और जैन-लेखों में यह विसंवाद प्रतीत होता था। अब 'अज' और 'उदयिन् की एकता स्थापित हो जाने से और पुराणों में शैशुनाक अज का अवंती की वंशावली के अंत में नाम होने से यह भेद मिट गया। उदयिन् (अज) ने ही अवंती को जीतकर मगध का राज्य बंगाले की खाड़ी में अरब सागर तक फैलाया और अवंती का जो आतंक शताब्दी भर से मगध के सिर पर था उसे दूर किया।

प्रद्योतवंश का अंत विशाखयूप नामक राजा से हुआ। विशाखयूप को ही आर्यक गोपालक मानना चाहिए। भास तथा 'कथासरित्सागर' (अर्थात् बृहत्कथा) के अनुसार वह प्रद्योत का पुत्र था और 'मृच्छकटिक' के अनुसार यह पालक के प्रजापीड़न से विप्लव होने पर राजा हुआ।

पुराणों में अवंती में अज का राज्यकाल २१ वर्ष और मगध में उदियन् का राज्य ३३ वर्ष लिखा है। उदयिन् के राज्यकाल के १२वें वर्ष (ई० पू० ४७१ के लगभग) अवंती के राजवंश का अंत हुआ होगा। जैन-वंशावलियों के अनुसार अजातशत्रु के राज्य के छठे वर्ष में पालक (अवंती की) गद्दी पर बैठा। अजातशत्रु के छठे वर्ष तथा उदयिन् के १२वें वर्ष का अंतर ७४ वर्ष होता है। अर्थात् पालक और विशाखयूप ने ७४ वर्ष राज्य किया। पुराणों में इन दोनों का राज्यकाल भी २४ और ५० अर्थात् ठीक ७४ वर्ष ही दिया है। किन्तु जैन वंशावलियों में इन दोनों के ६० या ६४ ही वर्ष दिए हैं जिसका समाधान यह हो सकता है कि मृत्यु के पहले दस वर्ष तक विशाखयूप मगध के उदयिन् राजा के अधीन रहा हो, अर्थात् उसका अस्तित्व पराधीन होकर भी बना रहा हो या उदयिन् के अवंती में राजा होने के समय से उसका राजकाल न गिनकर मगध में गद्दी पर बैठने के समय से गिन लिया गया हो और पालक के पीछे उसी का समय गिनने से प्रद्योतवंश के वर्ष कम रह गए हों।

पुराणों में अवंती के (प्रद्योत) राजवंश के समाप्त हो जाने पर भी वहाँ की वंशावली जारी रखी, इसका अर्थ यह हो सकता है कि उदयिन् ने विजेता होकर भी यावज्जीवन अवंती के राज्य का मगध से पृथक्त्व रखा और उसके पुत्र नंदि ने भी ३० वर्ष तक वैसा ही किया। 'मत्स्यपुराण' में अज और नंदि के राजकाल का योग ५२ वर्ष दिया है। अज के २१ तथा नंदि के ३० वर्ष पृथक्-पृथक् भी दिये हैं। 'मत्स्यपुराण' की कुछ प्रतियों में लिखा है कि इन ५२ वर्षों के पीछे पाँच प्रानंद्यों का राज्य रहा। नंदि के पीछे पिछले (नवीन) नंदों को मिलाकर अवश्य ही पाँच नंद हुए।

नंदि ने अपने पिता उदयिन् की राजधानी पटालिपुत्र को छोड़कर लिच्छिवियों के गणराज्य की राजधानी वैशाली में गंगा पार दूसरी राजधानी बनाई। बौद्ध तारानाथ ने नंदि को वैशाली में राज्य करता हुआ लिखा है। सुत्तनिपात में, नंदि के समकाल में, वैशाली को मगध की राजधानी लिखा है। उसी के काल में वैशाली में बौद्धों का दूसरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघ हुआ था। बौद्ध-कथानक यह है कि पाणिनि उसी की राजसभा में आया। मगध का राज्य बढ़ाकर उसने 'वर्धन' उपाधि को चरितार्थ किया और कदाचित् इसीलिये राजधानी पाटलिपुत्र से आगे को हटाई। उत्कल का विजय भी उसी ने किया।

वाद-विवाद

जायसवाल महाशय का लेख छप जाने के पीछे इन मूर्तियों के विषय में बहुत कुछ वाद-विवाद हुआ है। इस विवाद के मुख्य प्रश्न ये हैं—

० मूर्तियाँ यक्षों की हैं कि राजाओं की ?

० लेखों का पाठ जो जयसवाल महाशय पढ़ा है वही ठीक है कि और कुछ ?

० लेख मूर्तियों के समकालिक हैं या पीछे के ? यदि समकालिक हैं तो अपेक्षाकृत नवीन लिपि पुरानी मूर्तियों पर कैसे ? अथवा नए अक्षरोंवाली मूर्तियाँ पुरानी क्योंकर हो सकती हैं ? यदि पीछे के अक्षर हैं तो मूर्तियों का वस्तुतत्त्व वे कैसे दिखा सकते हैं ?

० मगध और अवंती के इतिहास के अज और उदयिन् तथा दो नंदिवर्धनों की एकता जो जायसवाल महाशय ने स्थापित की है वह कहाँ तक ठीक है ?

इस विवाद से कभी-कभी सनातन धर्म और सुधारकों के विवाद का रूप धारण कर लिया है। जैसे पाणिनीय व्याकरणवाले यह दुहाई दिया करते हैं कि "सामर्थ्ययोगान्न हि किंचिदत्र पश्यामि शास्त्रे या यदनर्थकं स्यात्" और "अपाणिनीयं तु भवति, यथान्यासमेवास्तु" कहकर नई कल्पनाओं का मुख बंद करते हैं, जैसे 'अर्कनिगहामीय' या 'अबूलरीय' होने के भय से यक्षमूर्ति, मौर्य-पालिश के ईरानी जन्म, और पिछले अक्षरों का सिद्धांत सहसा छोड़ा नहीं जाता। पुरातत्त्व की खोज में भी धर्म की तरह कुछ सिद्धांत जम से जाते हैं, उन्हें उखाड़ने में देर लगती है। पहले मानते थे कि संस्कृत कोई भाषा ही न थी, ब्राह्मणों की कल्पना है। यह माना जाता था कि क्या नाटक और क्या शिल्प हिंदुस्तान में यूनानियों के आने के पीछे चले; 'नाट्यशास्त्र' और 'गांधार-शिल्प' में ग्रीस की सभ्यता का अनुकरण ही है। भागवत संप्रदाय और भक्ति-मार्ग में भी सनातन धर्म के आदिकाल की काया दिखाई पड़ती थी। ये सिद्धांत अब हट गए हैं। रतन ताता के दान से पटने की खुदाई होने पर ईरानी शिल्प और मय असुर के शिल्प की कल्पना हुई है। पटने का राजप्रासाद ईरानी राजा दारा के महल और स्तंभों का अनुकरण माना गया। अशोककालीन स्तंभों तथा मूर्तियों पर की पालिश ईरानी-पालिश ठहराई गई। पिपरावा स्तूप के पात्र पर वैसी पालिस उपलब्ध होने पर भी यह कहा गया कि स्तूप पुराना है, पात्र पीछे से उसमें रखा गया है। सुधारकों के कहने से सनातन धर्म छोड़ने पर लोग सहसा तैयार नहीं हो जाते। पहले हिंदुस्तान भर में एक साम्राज्य रहा हो यह कोई न मानता था। शाहबाजगढ़ी से मैसूर तक अशोक के लेख मिलने से अब यह संस्कार हटा है। हिंदुस्तान में कभी प्रजातन्त्र या गणराज्य की कल्पना हुई हो यह कौन मानता था ? गणों के सिक्कों, प्रजा की समितियों, राजा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वेच्छा पर प्रजा के दबाव आदि बातों का अब पता चल रहा है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के मिलने के पहले हिंदू दंडनीति के विकास की कथा भी नहीं थी। पीटर्सन को तो वात्स्यायण-कामसूत्र में भी ग्रीस के प्रभाव का गंध आया था। पहले मौर्यकाल से पहले राजवंशों की बात कोई न मानता था। पुराणों को इतिहास के बारे में देखने योग्य नहीं माना जाता था। किंतु पार्टिजर ने पुराणों की वंशावलियों का समीकरण तथा विश्लेषण करके पूरा इतिहास बना दिया है और अब वही वेदों के ऋषियों तथा क्षत्रियवंशों का इतिहास बना रहा है। जहाँ श्रद्धा समूल या निर्मूल जम जाती है वहाँ से उसे उखाड़ने में क्लेश ही होता है। इस विवाद ने कुछ राजनैतिक रूप भी धारण किया है। बिहार के नए प्रांत का इन मूर्तियों पर दावा होकर कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम से कहीं ये हटाई न जायँ इसकी चिंता 'पुराने' खोजियों को हुई है। अस्तु।

बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी के जर्नल के जून, १९१९ के अंक में बाबू राखालदास बनर्जी ने इन मूर्तियों पर एक लेख लिखा है। उन्होंने **अचो और वटनंदि** पाठ को ठीक माना है। वे कहते हैं कि ये मूर्तियाँ अज तथा वर्तनंदि नामक शैशुनाक राजाओं की ही हैं। अब तक भारतीय शिल्प के जितने नमूने मिले हैं उन सब में प्रतिमाएँ प्राचीनतम युग की हैं। अभी तक लोग कुशन सम्राट् कनिष्क प्रथम की प्रतिमा को ही सबसे प्राचीन मानते थे। डाक्टर ब्लाख ने भी इनके ऊपर के लेखों को पढ़ने का यत्न किया तथा नंदि पद पढ़ भी लिया था, किंतु उनकी खोज अधूरी ही रही। सन् १९१३ में डाक्टर स्पूनर ने यह माना था कि पालिश तो कहती है कि ये मूर्तियाँ मौर्य शिल्प की हैं किंतु लेख उनसे पीछे के हैं। बनर्जी महाशय भी यही मानते हैं कि लेख पीछे के हैं, ईसवी पूर्व या ईसवी पहली शताब्दी के हैं। बनर्जी महाशय के मन में **'सपखते'** में दूसरा अक्षर **प** नहीं ब है। इससे अर्थ में कोई अंतर नहीं पड़ता। अज की मूर्ति पर के लेख में वे **भ**, **धी** और **शे** के पाठ को ठीक नहीं मानते। **भ** तो किसी प्रकार **भ** हो भी सकता है किंतु **'शोशे' 'वीके'** है। इस लेख में प्रत्येक अक्षर की बनावट का विचार करके सिद्ध किया है कि अक्षर ईसवी पूर्व की पहली शताब्दी से पहले के नहीं हो सकते। उन्होंने उस समय के भिन्न-भिन्न शिलालेखों के वर्णों से इनकी समानता दिखाई है। अंत में यह माना है कि शैशुनाकों के देवकुल में इन्हीं राजाओं की वे प्रतिमाएँ अवश्य रही होंगी। पहले उन पर लेख नहीं थे, जब लोग यह भूलने लगे कि ये प्रतिमाएँ किसकी हैं तब किसी ने पहचान के लिए ये नाम ऐसी जगह पर खोद लिए जहाँ सबको दिखाई न दें।

जायसवाल महाशय ने इसके उत्तर में **प** को तो **ब** मान लिया है किंतु यह बताया है कि **शोशे** को **वीके** पढ़ने से **छोनीवीके** का अर्थ कुछ भी नहीं होता। अक्षरों की बनावट में तीन रेखाओं के वर्ण पहले होते हैं, उनके विकास से दो रेखाओं के अक्षर बनते हैं। इस पर बनर्जी महाशय ने विचार नहीं किया। उन्होंने कुशन और पश्चिमी लेखों के अक्षरों से इनकी तुलना करके इन्हें अर्वाचीन सिद्ध किया है किंतु उनमें अशोक-लिपि की अपेक्षा अधिक पुराने और भिन्न शैली के वणसंप्रदाय के चले आने की संभावना है। लिपि को पिछली मानकर ही बनर्जी महाशय ने उसकी पुष्टि के प्रमाण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाने के लिए यह लेख लिखा है, तो भी मूर्तियों की प्राचीनता तथा राजाओं के नामों की ऐतिहासिकता को उन्होंने मान लिया है।

परखम की मूर्ति भी शैशुनाक प्रतिमा है

सितम्बर सन् १९१९ के 'बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' के जर्नल में बाबू वृंदावनचंद्र भट्टाचार्य ने यह दिखाया कि बनर्जी महाशय का यह कहना ठीक नहीं है कि कुशन सम्राट् कनिष्क प्रथम की प्रतिमा ही अब तक प्राचीनतम प्रतिमा मानी जाती थी तथा पुरामौर्यकाल की और कोई प्रतिमा अब तक न मिलने से इन दोनों मूर्तियों की उससे तुलना करके पुरामौर्य शिल्प के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। परखम गाँव की मूर्ति इन दोनों मूर्तियों से बहुत समानता दिखाती है। उसका वर्णन जेनरल कनिंगहाम की 'आर्कियालजिकल सर्वे आफ इंडिया' की रिपोर्ट की २०वीं जिल्द में है। वह सात फुट ऊँची है। शैशुनाक मूर्तियाँ ६ फुट से ऊपर हैं। वह चौड़ाई में दो फुट है। एक ही पत्थर को चारों ओर कोरकर बनाई हुई है। बायाँ घुटना कुछ मुड़ा हुआ है। दोनों बाँहें कंधों पर से टूट गई हैं इससे यह पता नहीं चलता कि मूर्ति किस मुद्रा में थी। चेहरा तेल तथा सिंदूर मलते-मलते अस्पष्ट हो गया है, छाती पर मैल जम गया है। इसके भी दाहिने कंधे पर चँवरी मानी गई है। कानों में कुंडल हैं। गले में एक छोटा हार या बूटेकारी का पट्टा है जिसके चार फूँदे पीठ पर लटकते हैं। इसके भी घटोदर तथा भद्दे पैर हैं। वस्त्र पर दो चौड़े पट्टे हैं। एक कमर पर बँधा है, एक उसके नीचे जघन पर है; मानो वे भारी पेट को सम्हालने को बँधे हैं। कमरबंद की गाँठें भी आगे बँधी हुई हैं, पैरों तक एक ही लंबा ढीला वस्त्र है, उस पर सलवटें और लहरें वैसी ही हैं। यह भी मिर्जापुरी भूरे दरदरे पत्थर की है और उत्कृष्ट पालिश के चिह्न अभी तक बाकी हैं। परखम में यह देवता कहलाती और वर्षों से पुजती थी। वहाँ पर जो और ध्वंसावशेष हैं वे लाल पत्थर के तथा अर्वाचीन हैं।

इस समानता से परखम-मूर्ति की भी उतनी ही प्राचीनता देखकर जायसवाल महाशय का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। जेनरल कनिंगहाम ने उसे भी यक्ष कहा था। आजकल यह मथुरा म्यूजियम में है। जायसवाल महाशय ने उसे स्वयं देखा और सरकार की कृपा से छापें प्राप्त करके उसकी चरणचौकी पर के लेख को यों पढ़ा—

(दाहिनी ओर) निभद्र प्रशेनि अज (।)···सत्रु राजो सि (ि) र
(सामने) क (=४) थ (=२०) ड (=१०) ह (=८)
(बाँई ओर) कुणिक शेवासिनागो मागधानं राजा

इसका अर्थ है—परलोकवासी, श्रेणिवंशी अजातशत्रु श्री कुणिक शेवासिनाग, मागधों का राजा, (राज्यकाल ?) (२०+१०+४=) ३४ (वर्ष) ८ (मास)।

मगध के राजा अजातशत्रु की मृत्यु ईसवी पूर्व सन् ५१८ में हुई। जैन लेखानुसार उसका नाम कुणिक भी था। यह बुद्ध का समकालिक मगध का शैशुनाकवंशी राजा था। शैशुनाक का प्राकृत रूप 'शेवासिनाग' है। उसके पिता बिंबसार का नाम 'श्रेणि' भी था। अतएव यह सिद्ध हुआ कि यह भी शैशुनाक प्रतिमा है, यक्ष की मूर्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। कुणिक को 'कणिक' पढ़कर इसे 'कनिष्क' की मूर्ति मानते थे। कनिष्क को 'कनिक' भी कहते थे, जैसे कवि मातृचेट ने कनिष्क के नाम जो पत्र लिखा है उसका नाम 'कनिकलेख' दिया है। संभव है कि यह देवकुल-प्रतिमा न हो, मथुरा प्रांत के विजय या किसी बड़े धर्मकार्य की स्मृति में स्थापन की गई हो, क्योंकि देवकुल-प्रतिमा होती तो अजातशत्रु की राजधानी राजगृह के पास पाई जाती। इसके अक्षर स्पष्ट हैं, यहाँ संदेह का स्थान नहीं, क्योंकि यह प्रामाणिक लेख मूर्ति के सामने है, पीठ पर नहीं।

यक्ष-पूजा

'इंडियन एंटिक्वेरी' की मार्च, सन् १९१९ की संख्या में, जो सितंबर में प्रकट हुई है, इन मूर्तियों के विषय में दो लेख छपे हैं। एक बाबू रामप्रसाद चंदा का लिखा हुआ है। चंदा महाशय ने यह सिद्ध करने का उद्योग किया है कि लेख मूर्तियों के समकालिक नहीं हैं; सलवटों के बनाए जाने के पीछे किसी अन्य मनुष्य ने कालांतर में खोदे हैं। वे यह नहीं मानते कि इन लेखों के अक्षर किसी काल की लिपि से नहीं मिलते। 'वे कुशन समय की ब्राह्मी लिपि से मिलते हैं। जब तक किसी अज्ञात वस्तु की किसी ज्ञात प्राचीन वस्तु से सदृशता सिद्ध न हो जाय तब तक वह प्राचीन नहीं मानी जा सकती। दो पदार्थों में समानता होने पर उन दो में से जिसकी गठन कम विकसित है वह अधिक विकसित गठन वाले पदार्थ से प्राचीन माना जा सकता है, या दोनों ही किसी एक कल्पित प्राचीन पदार्थ से उद्भूत माने जा सकते हैं, बिना साधारण पूर्वरूप के ज्ञात हुए केवल कल्पना से प्राचीन रूप नहीं माने जा सकते। ब्राह्मी लिपि के उद्भव के विषय में सर्वमान्य मत बूलर का है कि उत्तरी शैमेटिक वर्णमाला के सबसे प्राचीन रूप व्यापारियों द्वारा हिंदुस्तान में लगभग ई० पू० ८०० में आए, उनसे ब्राह्मी अक्षर बने। दूसरे मत ये भी हैं कि ब्राह्मी लिपि और प्राचीन शैमेटिक अक्षर एक ही मूल से निकले या हिंदुओं ने अपनी लिपि स्वतन्त्र ही निकाली। मौर्यकाल की ब्राह्मी लिपि के विवेचन में शैमेटिक मूल से समानता का विचार न भी करें तो भी बिना किसी स्वतंत्र प्रमाण के इन लेखों के अक्षरों को ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी के दो सौ वर्ष पहले के पूर्वज नहीं मान सकते।' पहली मूर्ति पर के लेख के पहले दो अक्षरों को जेनरल कनिंगहाम की तरह **यखे** न पढ़कर जायसवाल महाशय के अनुसार इन्होंने भग या भगे मान लिया है। ये दोनों अक्षर उन्हें सलवटों की रेखाओं को छीलकर बनाए जान पड़े हैं। आगे के लेख को चंदा महाशय ने अच (चु) **छनीविक** पढ़कर पूरे लेख **भगे अचुछ-नीविक** का अर्थ किया है भगवान् अचच्छ (=अक्षय !) **नीवि** (कोश, मूलधन) वाले यक्ष अर्थात् वैश्रवण कुबेर। दूसरी मूर्ति पर के लेख को **यख सर्वतनंदि** पढ़कर निश्चय किया है कि लेख खोदे जाने के समय, ईसवी सन् की दूसरी सदी में, इन्हें यक्षों की प्रतिमा ही माना जाता था, एक मूर्ति यक्षों के राजराज वैश्रवण (अक्षयनीविक) की है, दूसरी चँवरीवाली उसके पार्षद सर्वतनंदि की। शिल्प की सजीवता तथा प्राचीनता की बात को वे हँसी में उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि अशोक-स्तम्भों तथा उनकी खुदाई की सुन्दरता के सामने ये मूर्तियाँ भद्दी हैं। सारनाथ-स्तम्भ के सिंहों का चित्रकौशल इनसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं उत्कृष्ट है। यदि सजीवता तथा शिल्पसौष्ठव प्राचीनता का चिह्न हों तो ये मूर्तियाँ मौर्यकाल के पीछे की हैं और भरहुत के कठहरे के यक्षों की मूर्तियों के पास से उन्हीं के भाई-बंधु इन दोनों यक्षों को हटाना अनुचित है।

कनिंगहाम साहब के सिर में यक्षवाद समाया हुआ था। उस समय तक यह नहीं जाना गया था कि देवकुलों में राजाओं की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। ये मूर्तियाँ एक ही मंदिर में तीन या चार थीं। यदि यक्षों की हों तो यक्षों की पंचायत का देवालय होने का प्रमाण क्या है, परखम की मूर्ति इनकी समानता से यक्ष की मानी गई और उसके कंधे पर चँवर न होने पर भी नंदि की मूर्ति के सादृश्य से वहाँ चँवर की कल्पना की गई। अब उस मूर्ति का राजमूर्ति होना लेख से सिद्ध हो गया। तब उसके प्रमाण पर ये यक्षमूर्तियाँ कैसे कही जायँ? मालवा की मणिभद्र प्रतिमा को भी यक्ष कहा जाता है किंतु उसके नाम के पहले भगवान् पद होने से वह बोधिसत्त्व मणिभद्र की मूर्ति है। उस पर के लेख में जितना बहुमान दिखाया गया है वह केवल यक्ष का नहीं हो सकता। और वह मूर्ति बहुत पीछे की भी है। कनिंगहाम साहब ने चाहे वैसे पढ़ा हो किंतु इन मूर्तियों पर 'यखे' पद नहीं है। चंदा महाशय उसे 'भगव' मानते हैं पर फिर कहते हैं कि यक्षमूर्ति है! मजूमदार महाशय कहते हैं कि 'यखे' था, किसी ने नीचे का भाग छीलकर 'भगे' कर दिया है! भरहुत-गैलरी में यक्षों की कई मूर्तियाँ हैं उन पर 'कुपिरो यखो', 'सुप्रभो यखो' आदि नाम लिखे हैं। उनके सिर पर दो शृंगोंवाली पगड़ी है और धोती की मोरी पीछे की ओर खोंसी हुई है। उनकी तरह ये मूर्तियाँ कैसे मानी जायँ? शिल्प के विद्वान् बाबू अर्धेन्दुकुमार गांगुली इस यक्षोपासना के दुराग्रह में ऐसे आ गए कि वे मूर्तियों को पुरामौर्यकाल की मानने को तैयार हैं, किंतु कहते हैं कि मूर्तियाँ यक्षों की हैं, राजाओं की नहीं, यहाँ तक कि जायसवाल महाशय का लेखों का पाठ ठीक हो तो भी वे यही मानते हैं कि जब यक्षपूजा उठ गई तब लोगों ने वास्तव बात को भूलकर उन पर राजाओं के नाम खोद दिए! ('माडर्न रिव्यू' अक्टोबर, १९१९) इस यक्षमत के समर्थन के लिये आर० सी० मजूमदार महाशय ने 'इंडियन इंटिक्वेरी' की उसी संख्या में एक बड़ा अद्भुत लेख लिखा है।

मूर्तियों पर संवत्?

वे लेखों के अक्षरों को कुशन-काल के पूर्व का नहीं मानते। कहते हैं कि जायसवाल महाशय के सिद्धान्त का मूलस्तम्भ यही है कि ये अक्षर किसी भी समय के वर्णों से नहीं मिलते। कुशन-अक्षरों से उनकी स्पष्ट समानता से उन्हें न पढ़कर जायसवाल महाशय ने पुराने रूप, तीन रेखाओं के अक्षर आदि की नई कल्पना पहले गढ़ कर उन्हें अशोक-वर्णों का पूर्वज माना है। इन पूर्वज वर्णों का कोई पता नहीं, कल्पना से उन्हें खड़ा कर किसी भी आकृति का जो चाहे सो पूर्वज मान सकते हैं। कुशन-काल की वर्णमाला उत्तरी भारत की पश्चिमी लिपि है, किंतु पूर्वी लिपि उनसे कुछ भिन्न थी, यह समुद्रगुप्त के प्रयाग-लेख से अनुमान कर सकते हैं। यदि पूर्वी भाग में मिली हुई इन मूर्तियों के लेखों के अक्षर कुशन लिपि से पूरी तरह नहीं मिलते तो उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वी अवांतर लिपि के लक्षण उनमें मिलते हैं। प्रथम मूर्ति के पहले दो अक्षर औरों से छोटे हैं, कनिंगहाम की प्रतिलिपि में वे यखे हैं तो उस समय अवश्य यखे होगा, पीछे कुछ भाग छील दिया गया है, बाकी अंश वह है जिसे जायसवाल महाशय ने भगे पढ़ा है! अक्षरों को कुशन-समय के लेखों से मिलाकर मजूमदार महाशय ने कहा है कि अंत के दो अक्षर अक्षर नहीं हैं, संख्यावाचक चिह्न हैं। पहले संख्या अक्षरों से बताई जाती थी (देखो, ऊपर परखम-मूर्ति का लेख) और वे अक्षर संयुक्त वर्णों से मिलते-जुलते होते थे। प्रथम मूर्ति का लेख मजूमदार महाशय के मत में यह है—**गते (यखे?) लेच्छाई (च्छवि) प्त (=४०) के (=४)** अर्थात् लिच्छिवि संवत् ४४ (में यह मूर्ति बनाई गई)। लिच्छिवि संवत् प्रसिद्ध है, जैन-कल्पसूत्र में लिच्छिवि का पाठांतर लेच्छाई मिलता है, वही लेच्छवि हुआ। लिच्छिवि संवत् का आरंभ ईसवी सन् ११०-१११ में हुआ, अतएव इस मूर्ति का समय ईसवी सन् १५४-१५५ हुआ। दूसरी मूर्ति के लेख के पहले दो अक्षर तो यखे ही हैं। अंत का अक्षर द नहीं है, वह क्षत्रप सिक्कोंवाला ७० का चिह्न है। यदि वह उससे नहीं मिलता है तो उसी चिह्न का पूर्वी रूपांतर है, चाहे नीचे की नोक अधिक झुकी हुई हो। उसका अधिक झुकाव खोदनेवाले की बुद्धिमानी है जिसने इस अक्षर को औरों से विशेष महत्त्व देने के लिये गहरा खोदा! अंकों के स्थान में जो वर्ण-संकेत आते हैं उनमें साधारण समानता ही होती है अतएव अधिक मिलाने-जुलाने की आवश्यकता नहीं। यों लेख हो गया—**यखे सं वजिनां ७० अर्थात्** (यह) यक्ष वजियों के संवत् ७० में (बनाया गया)। वजि वृज्जि का प्राकृत रूप है। वृज्जि गण था, लिच्छिवि भी इसी जाति-गण के अन्तर्गत थे। एक ही संवत् समष्टिरूप जातिगण का भी कहलाता होगा जो पीछे जाकर एक ही प्रधान जाति (लिच्छिवि) के नाम से कहलाया गया। इस गण की और जातियाँ तो अप्रसिद्ध रह गईं किन्तु लिच्छिवियों ने नेपाल में राज्य स्थापित किया और वे ऐसे बढ़े कि प्रसिद्ध गुप्त सम्राट् भी लिच्छिवि-दौहित्र कहलाने का गर्व करने लगे। वज्जि संवत् ७० ईसवी सन् १८०-१८१ हुआ। ये मूर्तियाँ यक्षों की हैं। समय निर्णीत है जिससे शिल्प-कल्पना की जगह ही नहीं रह जाती। लिच्छिवियों का पाटलिपुत्र पर अधिकार था। नेपाल के बाहर लिच्छिवि संवत् के पुराने वर्षों के ये ही लेख मिले हैं।

यह लीजिए। कनिंगहाम महाशय का यक्ष पहली मूर्ति पर से हटता न हटता दूसरी पर तो निकल पड़ा! मूर्तियों के शिल्पकाल-निर्णय, अक्षरों के मूल या अर्वाचीन होने आदि के विचार की जड़ ही कट गई! मूर्तियाँ स्वयं पुकार कर अपना समय कह रही हैं। यक्ष अपनी मूर्ति खड़ी किए जाने का समय साथ ही लिखवाए फिरते हैं!! अंत के अक्षरों को संवत् के वर्षों का चिह्न मानना बहुत ही हास्यास्पद हुआ है। रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, जिनके समान प्राचीन लिपियों के पढ़ने में कोई कुशल नहीं है और जिन्हें यह लेख दिखा लिया गया है, इस चेष्टा को दुःसाहस कहते हैं। ये अक्षर किसी दशा में अंकचिह्न नहीं हो सकते।

आगे चलकर मजूमदार महाशय कहते हैं कि यदि इन लेखों से **अचो और वटनंदि** निर्विवाद पढ़े भी जायँ तो दूसरे अनिश्चित अक्षरों के साथ से उन्हें पृथक् पद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या नाम नहीं मान सकते। पुराणों में शिशुनाक वंशी राजाओं में अज का नाम ही नहीं है, उदयिन् को अजय कहा है अज नहीं, नंदिवर्धन को आजेय (अजय का पुत्र) कहा है, अज का पुत्र नहीं। पुराणों में कहीं पर वटनंदि नामक कोई शैशुनाक राजा ही नहीं मिलता। 'वायुपुराण' में वर्तिवर्धन, वर्धिवर्धन, कीर्तिवर्धन नाम मिलते हैं, यदि ये नंदिवर्धन के ही नामांतर हों तो दोनों मिलाकर वर्तनंदि कैसे बन गया ? चंद्रगुप्त द्वितीय का नाम देवगुप्त भी था, विग्रहपाल का नामांतर शूरपाल था, किंतु इससे चंद्रदेव या देवचंद्र, शूरविग्रह या विग्रहशूर तो नहीं बन जाता। बनर्जी महाशय ने लेखों को कुशन-काल का माना है मूर्तियों को पुराना। यदि कोई देवकुलिक मूर्तियों पर बनर्जी महाशय के कथनानुसार पीछे से नाम लिखता तो पीछे छिपा कर क्यों लिखता, सामने क्यों नहीं ?

योरोपीयन पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत

विंसेंट स्मिथ : डाक्टर विंसेंट स्मिथ ने, जिनके अभी-अभी परलोकवास से पुरातत्त्व और इतिहास की बड़ी भारी क्षति हुई है, एशियाटिक सोसाइटियों की सम्मिलित सभा में, ता० ५ सितंबर, १९१९ को, जायसवाल और बनर्जी महोदयों के मत से अपने को सहमत बतलाया था। उन्होंने यह मत प्रकाश किया कि ये मूर्तियाँ मौर्यकाल के पहले की हैं, ईसवी पूर्व ४०० से पीछे की नहीं बनीं, लेख मूर्तियों के समकालिक हैं, तथा लिपि की आधुनिकता की बात पक्की नहीं। अब तक पत्थर का शिल्प अशोक के समय से ही आरंभ हुआ ऐसा मानते रहे हैं, अब इन मूलियों से यह जानकर कि अशोक से दो शताब्दी पहले भी मूर्ति-कला इतनी उन्नत थी, भारतीय शिल्प का इतिहास बिलकुल बदल जाता है। मूर्तियों की रचना कहती है कि बहुत पहले से इस शिल्प की उन्नति हो रही थी।

डाक्टर बार्नेट ने, और लेखों की तरह अविश्वास तथा खंडन की धुन से नहीं, किंतु शालीनता के साथ, 'क्षमंतु, साधवः' कहकर जायसवाल महाशय के मत का विरोध किया है। (१) अक्षरों और सलवटों की बनावट से लेख मूर्तियों के पीछे का है, समकालीन नहीं। (२) जायसवाल महाशय का पाठ स्वीकार करने में भाषा-संबंधी कई कठिनताएँ हैं। **भगे** तथा **छोनीधीशे** में कर्त्ता का रूप ए-कारांत है, और **अचो** में ओ-कारांत। प्राकृत में दोनों होते हैं, किंतु एक ही लेख में दो वैसे और एक ऐसा क्यों ? **अज** में तो **ज** का **च** हो गया, **भगे** और **धीशे** में व्यंजन का परिवर्तन क्यों न हुआ ? जायसवाल महाशय ने एक उदाहरण पाली से तथा एक अशोक-लेख वे अपनी पुष्टि में दिया है किंतु वे इसलिये संतोषदायक नहीं कि यह क्योंकर हो सकता है कि राज के नाम में परिवर्तन हो जाय तथा विशेषण शब्दों में न हो। यह परिवर्तन पैशाची और चूलिका-पैशाची में होता है जो कभी पटने के आसपास की भाषा न थी। यदि यह मानें कि राजा का नाम **अच** था, उसका पुराणों में संस्कृत **अज** बना लिया तो शैशुनाक अज का अस्तित्व कहाँ रहा ? **सपखते** में **सर्व** का प्राकृत **सप** होना भी संदिग्ध है। (३) प्रथम लेख **भगे अचे छनीवीके** है, इसका अर्थ न जाने क्या है, अक्षर सब पिछले हैं, कुशन-समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लेखों तथा स्टेन के उपलब्ध तुरफन के लेख-खंडों से मिलते हैं। सपखने में स है ही नहीं, य है और वह कुशन-काला का य है। सार यह है कि प्रथम लेख में अज का नाम ही नहीं। दूसरे लेख में वटनंदि हो सकता है किंतु पुराणों में कोई वर्तनंदि नहीं है, जायसवाल महाशय का वर्तनंदि तथा नंदिवर्धन को एक करने का यत्न निष्फल हुआ है। लेखशैली मौर्यकाल से बहुत पीछे की है।

प्रोफेसर फूशे ने शिल्पविचार से मूर्तियों को ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी की यक्षमूर्तियाँ ही माना है।

बि० ओ० रि० सो० के जर्नल की दिसंबर १९१९ की संख्या में जायसवाल महाशय ने सब आक्षेपों के उत्तर दिए हैं—

१. अक्षर मूर्तियों के समय के हैं या पीछे के खुदे हुए, इस पर कलकत्ते के विक्टोरिया मेमोरियल के प्रधान शिल्पी मार्टिन कंपनी के मिस्टर ग्रीन का मत लिया गया। मिस्टर ग्रीन का मत है कि अज की मूर्ति पर तो अक्षर पहले खोदे गए हैं, सलवटें पीछे बनाई गईं। नंदि की मूर्ति में अक्षर तथा सलवटें एक काल की हैं, पूर्वापर नहीं। अक्षरों के लिए सलवट की रेखाएं बचा कर ली गई हैं, अक्षर सलवटों के ऊपर नहीं रखे गए हैं। इस विशेषज्ञ की सम्मति बड़े महत्त्व की है। शिल्प-विचार से किसी विद्वान् ने मूर्तियों को मौर्य-काल के पीछे की नहीं कहा। अशोक और शुंग-काल की प्रतिमाओं से ये भिन्न हैं, इनकी समानकक्ष परखम-मूर्ति पुरामौर्य-काल की है, इन पर मौर्य पालिश और मौर्य शिल्प है, और अक्षर मूर्तियों के समकालीन हैं। फिर अक्षर पुराने क्यों नहीं? मि० ग्रीन ने अग्निदाह से मूर्तियों का पीला पड़ना तथा पत्थर का असली रंग मिर्जापुरी पत्थर का माना है।

उसी अंक में मि० अरुण सेन का लेख है जिसमें इन मूर्तियों के पुरामौर्य शिल्प का विवेचन है। इसमें अंग-प्रत्यंग की बनावट और मौर्यकाल के सिंह तथा सारनाथ के कटघरे की प्रतिमा, बेसनगर की मूर्ति, परखम की मूर्ति, ग्वालियर की मणिभद्र मूर्ति, सारनाथ के वृष तथा साँची और भरहुत के नमूनों की तुलनात्मक विवेचना से सिद्ध किया है कि पिछले शिल्प में रूढ़ि है, चित्रण का धर्रा है; इन मूर्तियों में केवल भाव (कहीं-कहीं भोंदेपन से) है, जैसे स्थूलता या बिना केश का सिर दिखाया है, नसों के मोड़ और लटों के पेच नहीं। अतएव यह पुराना सजीव शिल्प है, पिछला रूढ़ि का जमा हुआ नहीं।

२. यह ठीक है कि कर्त्ता के रूप या तो अर्धमागधी के अनुसार सभी ए-कारांत हों या सभी मागधी के अनुसार ओ-कारांत हों, किंतु अशोक के लेखों में भी ऐसा मिश्रण पाया जाता है, जैसे **सातियापुतो केललपुतो तम्बपंनी अतियोये** (कालसी का लेख), **राजुको, प्रदेसिके** (शहबाजगढ़ी), **ध्रमसंश्तवे ध्रमसंविभागो** (वहीं), वहीं पर कहीं **देवान प्रिये**, कहीं **देवानं प्रियो**, गिरनार के लेख में **देवानां प्रिये**, और आगे चलकर **देवानां प्रियो**, और शहबाजगढ़ी के लेख में **अतियोको तुरमये नाम अलिकसुदरो** दिया है। इस प्रत्यक्ष व्यवहार के प्रमाण के आगे व्याकरण-सम्मत शुद्ध पाली प्रयोगों का न मिलना असभव नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज का **च** हो जाना शाची का लक्षण है जो सीमाप्रांत में व्यवहृत होती थी, किंतु यह कोई बात नहीं कि वह और कहीं न मिलता हो। जब प्राकृत भाषाएँ जीवित थीं तब बोलनेवाले या लिखने खोदनेवाले की मौज से उच्छृंखलता होती थी, व्याकरणों को लेकर कोई न बैठता था। प्राकृत के प्रयोग के रूपों में विकल्प बहुत हैं, देश-विशेष का नियम भी इतना जकड़ा हुआ न था। एक ही बृहस्पतिमित्र का नाम सिक्कों पर **बहसति-मित्र** और लेख में वृहास्वातिमित्र मिला है। प्रसिद्ध ग्रीक राजा **गोंडो-फोरस** के सिक्कों पर **गुदफर, गदफर, वा गुदफर्न** तीन रूप मिलते हैं। **व्रज** के स्थान में **व्रच** और **प्राजन** के लिए **प्राचन** ये जो दो उदाहरण दिए गए थे वे पर्याप्त न माने जायँ तो प्राकृत-मंजरी नामक प्राकृत व्याकरण का सूत्र है 'चो व्रजनृत्योः'। ये परिवर्तन भी सब जगह नहीं होते, एक पद में भी किसी वर्ण को होते हैं, किसी को नहीं। भरहुत कटहरे में **कुबेर** का **कुपिर, विधुर** का **वितुर, मुगपंखिय** का **मुगपकिय, ऐरावत** का **एरापतो**, अमरावती के लेख में **भगवत** का **भगपत**, जातक में **मघादेव** का **मखादेव** मिलता है। मूलर के पाली व्याकरण में **लाव = लाप, पजापती = प्रजावती, पलाप = पलाव, छाप = साव, सपदान = सवदान, सुपाण = सुवान** (श्वान), **धोपन = धोवन**, इतने उदाहरण दिए हैं। ये **अज** के **अचो** और **सर्व** के **सप** हो जाने के प्रमाण हो चुके।

३. 'अच' यदि राजा का नाम है, चाहे उसे 'अचो', 'अचे' या 'पच' पढ़ें, वह पुराणों का 'अज' ही है। नाम 'अच' था, उसका संस्कृत रूप 'अज' हुआ तो इसमें क्या हानि है। पुराणों के और और नाम सिक्कों तथा शिलालेखों से सत्य प्रमागित हो गए हैं, तब एक 'अज' नाम को ही केवल कथामात्र क्यों मानें?

पुराणों में वर्तनंदि नाम का कोई राजा नहीं, इस प्रश्न को फिर से विचार लेना चाहिए। नंदिवर्धन नाम तो पुराणों में है ही। बुद्ध और महावीर के समकालिक दो राजवंश—उज्जयिनी (अवंती) और मगध—थे। बौद्ध और जैन अपनी धार्मिक इतिहास की बातों का समय इन्हीं दो वंशों के राजाओं के राज्यवर्षों में देते हैं। अवंती की राजसूची में प्रद्योत, बुद्ध और बिंबिसार का समकालीन था। उससे लेकर अज या अजक और नंदिवर्धन तक १३८ या १२८ वर्ष होते हैं। इधर मगध में बिंबसार से लेकर उदयिन् यक १११ वर्ष और उसके उत्तराधिकारी नंदिवर्धन आजेय तक १५१ वर्ष होते हैं। ये दोनों नंदिवर्धन एक काल के हुए, अर्थात् मगध के शिशुनाक नंदिवर्धन आजेय और अवंती के अज के पुत्र नंदिवर्धन के काल में अवंती के वंश का अंत हुआ। अवंती के नंदिवर्धन को मत्स्यपुराण की एक पुरानी पोथी में शिशुनाक कहा है।[1] अतएव अवंती का अजक शिशुनाक का पुत्र शिशुनाक नंदिवर्धन और मगध का प्रसिद्ध शिशुनाक आजेय नंदिवर्धन समकालिक ही नहीं, एक ही व्यक्ति हुए।

जैनों के आख्यानों से भी यही बात सिद्ध होती है, यथा—

१. एकविंशत् समा राज्यमजकस्य (या सूर्यकस्तु) भविष्यति।
शिशुनाकः नृपस्त्रिशत् तत्सुतो नंदिवर्धनः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराणों के अनुसार		जैन आख्यानों के मत से
प्रद्योत		
पालक २४ वर्ष	७४ वर्ष	पालक ६० वर्ष
विशाखयूप ५० वर्ष		
अज		मगध के नंद
नंदिवर्धन		

जैन आख्यानों के अनुसार पालक के पीछे ६० वर्ष बीतने पर मगध के नंदों का अवंती में राज्य हुआ। पुराणों में पालक को प्रद्योत का पुत्र कहा है और वहाँ पालक और अज के बीच में विशाखयूप नामक राजा देकर पालक और विशाखयूप के ७४ वर्ष गिने हैं। पुराणों में मगध वंशावली में प्रद्योतवंश को मिला-सा दिया है, अर्थात् शिशुनाकों और प्रद्योतों को साथ ही साथ लिया है। वायुपुराण की एक पुरानी अतिप्रामाणिक पोथी में अवंती की वंशावली अजक पर समाप्त कर दी है और आगे कहा है—'हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं शिशुनाको भविष्यति।'

अवंती की वंशावली का अंत कई पोथियों में अजक शिशुनाक पर और कई पोथियों में उसके पुत्र नंदिवर्धन शिशुनाक पर किया है। कई पाठांतरों में अवंती के राजा अजक के पुत्र को वर्तिवर्धन कहा है, वधि या कीर्ति पाठदोष है। अतएव मगध तथा अवंति की सूचियों में वर्तिवर्धन और नंदिवर्धन शिशुनाक एक ही नाम हैं। इसे नंदिवर्धन, और कोरा नंद भी कहा है। वर्धन तो केवल उपाधि है। नाम नंदि या वर्ति हुआ। यदि ये दोनों नाम साथ ही मिल जायँ तो असंभव क्यों है? पुराणों में सिमुक नाम मिलता है, साथ में सातवाहन पद नहीं। उस राजा की मूर्ति पर 'सिमुक सातवाहनो' मिलता है, तो क्या यह मानें कि यह राजा पौराणिक आंध्र राजाओं की वंशावली का प्रथम राजा नहीं है? पुराणों में अशोक या अशोकवर्धन मिलता है। सिंहल के इतिहासों में प्रियदर्शन नाम दिया है। लेखों में कहीं अशोक है, कहीं प्रियदर्शी : अब यदि कहीं 'अशोक प्रियदर्शी' मिल जाय तो क्या यह कहें कि यह कोई भिन्न राजा है?

अवंती की सूची में 'अज' या 'अजक' का नाम उपलब्ध होना और उनमें से एक का शिशुनाक लिखा मिलना हमारे साध्य को सिद्ध करने के लिए बहुत है। इधर सब पुराणों में मगध की सूची में, अर्थात् शिशुनाकों की सूची में, नंदिवर्धन उदयिन् के पीछे है। केवल भागवत में उदयिन् को अजय और नंदिवर्धन को आजेय कहा है। आजेय अपत्यवाचक तद्धित रूप है, वह अज से बनता है, अतएव भागवत में अजय अशुद्ध पाठ है, अज या अजक चाहिए। 'इंडियन एंटिक्वेरी' में जिस लेखक ने अजय अजेय का अर्थ 'न जीतने योग्य' समझ कर उससे तद्धित आजेय बनाया है, क्या वह यह नहीं जानता कि तद्धित प्रत्यय नामों में लगते हैं, विशेषणों में नहीं? शिशुनाक सूची में आजेय और अवंती की वंशावली में अज या अजक मिलने से उदयिन् का दूसरा नाम अज या अजक सिद्ध होता है, अजय नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'छनीवीके' पाठ का कोई अर्थ नहीं। अच्छ का अर्थ 'अक्षय करना' हास्यास्पद है। छ के साथ ओ की मात्रा स्पष्ट है है। खते की जगह खतो पढ़ें तो भी अर्थ में भेद नहीं होता। सप को य मानना या यखत पढ़ना भी अनर्थक है।

अक्षरों के नए पुराने होने के विषय में बूलर का सिद्धांत प्रामाणिक नहीं! बूलर ने लिखा है कि भट्टिप्रोलु का च और स ब्राह्मी के द्रविड़ उपविभाग का है, वह अशोक के लेख तथा एरण के सिक्के से पुराना है। वही च और स हमारे इन लेखों में हैं। बूलर कहता है कि ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी में द्राविड़ी लिपी ब्राह्मी से पृथक् हो गई। ये मूर्तियाँ पटने में मिली हैं, द्राविड़ देश में नहीं। उन पर उन अक्षरों का होना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि ये लेख उस समय के हैं जिस समय ब्राह्मी और द्राविड़ी पृथक् न हुई थीं? हैदराबाद में कुछ समाधियों में मट्टी के बरतन मिले हैं। उन पर कई अक्षर हैं जिनमें से कुछ पुराने ब्राह्मी अक्षर माने गए हैं। ये समाधियाँ बहुत पुरानी हैं, उनके शिला के छादन हाथ लगाते झरते हैं और बरतनों को अंगुली से छेद सकते हैं। उनके अक्षरों में हमारे ष और भ की आकृतियाँ मिलती हैं। समाधियों की प्राचीनता में किसी को संदेह नहीं। चाहे हमारे भ को शेमेटिक ब से मिलाइए (जैसे कि बूलर ने ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति शेमेटिक से मानी है। चाहे समाधिवाले से, वह अशोक काल से बहुत पुराना है।

यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि अशोक के समय के पहले अशोक लिपि से भिन्न लिपियाँ प्रचलित थीं। ईरानी 'सिग्लोई' नामक सिक्के पर्शिया के अखमानी वंश के हैं। ईरानी राज्य को सिकंदर ने ई० पू० ३३१ में नष्ट किया और हिंदुस्तान के सीमाप्रांत पर अखमानियों का राज्य दारा दूसरे के समय में, ई० पू० ४०० के लगभग, छूट गया। ये सिक्के उस समय के हैं। यदि बूलर के नए-पुराने अक्षरों के सिद्धांत को मानें तो ये सिक्के अशोक से कई शताब्दी पीछे के होने चाहिएँ, और ये हैं अशोक से कम-से-कम सौ वर्ष पहले के। बूलर को बरबस मानना पड़ा है कि अखमानी समय में मौर्य-लिपि के अधिक प्रौढ़ रूप प्रचलित थे। अशोक के लेखों में भी कई अक्षर ऐसे मिल जाते हैं जो बूलर के मत से (कि ब्राह्मी लिपि ईसवी पूर्व ८०० से ५०० के बीच की किसी प्रचलित और विज्ञात शेमेटिक लिपि से निकली) कुशन, मथुरा, आंध्र या आभीर-काल के, अर्थात् कई शताब्दी पीछे के होने चाहिएँ। इतनी विभिन्न आकृतियों के मिलने से बूलर ने माना है कि अशोक के समय में कई वर्णमालाएँ काम में आती थीं, कुछ अधिक प्राचीन अर्थात् भद्दी और कुछ अधिक प्रौढ़। धौली के षष्ठ अभिलेख में सेतो ये दो अक्षर जो श्वेत हस्ति की मूर्ति के नीचे खुदे हुए हैं गुप्त या कुशानकाल के हैं। वे किसी ने पीछे से न खोदे हों तो यही निश्चय है कि खोदने और लिखनेवाले जमे हुए तथा घसीट दोनों प्रकार के अक्षरों को मिला देते थे। पहले ६०० वर्षों के ब्राह्मी और द्राविड़ी अक्षर पत्थर, ताम्रपत्र, सिक्कों और मुहरों से ही विदित हुए हैं। ईसवी पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी का स्याही का एक ही लेख मिला है। यह सर्वविदित है कि व्यवहार में नए चलन के अक्षर आते हैं, चिरकाल के लिये स्थापित अभिलेखों में पुराने रूप जमा जमाकर लिखे जाते हैं। इसलिए अशोक-लेखों के अक्षरों से यह नहीं जाना जा सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उस समय व्यवहार में अधिक परिमार्जित रूप न थे क्योंकि उसके पहले के ईरानी सिक्कों में वैसे रूप हैं जिन्हें बूलर के भरोसे कुशन-काल का कहना चाहिए। अतएव राजाओं की मृत्यु के पीछे देवकुल में स्थापित मूर्तियों पर, जो शिल्प तथा पालिश से पुरानी सिद्ध हो चुकी हैं, कुछ नए अक्षर मिल जायँ तो उनकी प्राचीनता का व्याघात नहीं होता, जबकि दूसरे अक्षरों की प्राचीनता निर्विवाद है। 'शेमेटिक लिपि से यथारुचि बिना किसी सिद्धांत के मोड़-तोड़कर या उलटकर ब्राह्मी लिपि बनाई गई है', बूलर के इस सिद्धांत को कई लोगों ने नहीं माना है। उसे कौशलपूर्ण किन्तु विश्वास न उपजाने-वाला कहा है। पिपरावा पात्र आदि के प्रमाण, बूलर के 'नए' अक्षरों का भी अशोक के पहले प्रयोग में आते रहना सिद्ध करते हैं और उसके सिद्धांत को हिला देते हैं।[1]

द्राविड़ी ब्राह्मी तथा पूर्वी पश्चिमी ब्राह्मी दोनों के लक्षण इन लेखों के अक्षरों में मिलते हैं। कोई भी ऐसा अक्षर नहीं जो नया कहा जा सके, क्योंकि नए अक्षरों का सिद्धांत ही अप्रमाण है। इसलिये इन अक्षरों का अशोक से दो शताब्दी पूर्व का होना कुछ भी असंभव नहीं।

उसी संख्या में इन्हीं मूर्तियों के विषय में **महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री** का लेख भी प्रकाशित हुआ है। इस लेख की कई बातें ऊपर यथास्थान आ गई हैं। यहाँ तीन प्रधान बातों का उल्लेख किया जाता है। वे प्रायः सभी बातों में जायसवाल महाशय से सहमत हैं।

१. यदि ये मूर्तियाँ कुशन समय की हों तो उस समय मगध पर आंध्रों का अधिकार था। आंध्र ठिगने, मोटे पेट और चौकोर मुंह के थे। ये मूर्तियाँ लंबे, बलिष्ठ और गोल मुख के उत्तरीय मनुष्यों की हैं।

२ इन लेखों की भाषा, व्याकरण, वर्णशैली आदि के विचार की कोई आवश्यकता नहीं। ये राजकीय लेख तो हैं नहीं कि राजाज्ञा से शुद्ध प्राकृत में लिखे गए हों। ऐसा होता तो लेख सामने होते। ये लेख मूर्ति खोदनेवाले ने अपनी समझौती के लिए मूर्तियों की पीठ पर लिख लिए हैं। पत्थर को आधा गढ़ कर उसने अपनी ओर से नाम खोद लिए जिससे कारखाने में गड़बड़ न हो जाय। पीछे वस्त्र की सलवट बनाते समय अक्षरों को बचा कर बारीक काम कर दिया। भगवान्, क्षोणि + अधीश, सर्व-क्षेत्रपति, पद भी उसने इसीलिये लिख लिए हैं कि मूर्ति में आकार, वस्त्र, प्रभाव आदि के क्या-क्या भाव लेने चाहिएँ। साधारण शिक्षित शिल्पी के सांकेतिक चिह्नों के विषय में मागधी, अर्धमागधी, व्याकरण आदि का विचार क्या ?

३. आर्यों का पुराना वेश क्या था तथा इन मूर्तियों का वेश क्या है इसका विचार करना चाहिए। 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' में ब्रह्मचर्य में विद्याभ्यास समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होनेवाले स्नातक का यह वेश लिखा है—उत्तरीय (चादर या दुपट्टा),

---

१. ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में बूलर के सिद्धांत का खंडन रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' के उपक्रम में बड़े विस्तार से किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतरीय (धोती)—ये दोनों वापसी या दो वस्त्र कहे जाते हैं—उपानह (जूता), छाता, उष्णीय (पगड़ी), कर्णकुंडल, निष्क (गले में सोने का चाँद)। दूसरे गृह्यसूत्रों में भी जहाँ समावर्तन का प्रकरण है वहाँ स्नातक के लिए ऐसे या इससे मिलते हुए वस्त्रों का विधान लिखा है। 'कात्यायन श्रौतसूत्र' में व्रात्यस्तोम' के प्रकरण (२२वें अध्याय) में व्रात्यों के वेश का वर्णन है। महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने उसमें से कुछ बातें गिना कर बतलाया है कि यह वेश इन मूर्तियों के वेश से कई बातों में मिलता है और यह सिद्ध किया है कि वर्तनंदि या वटनंदि वास्तव में व्रात्यनंदि है।

व्रात्य[1] सावित्री (गायत्री) से पतित ब्राह्मण और क्षत्रियों को कहते हैं। जो

---

१. 'कात्यायन श्रौतसूत्र' के प्रस्तुत प्रकरण में 'व्रात्यधन' अर्थात् व्रात्य की वेश-सामग्री में कुछ वस्तुओं को गिना गया है। व्रात्य इन्हें काम में लाते थे। व्रात्यधनों को गिनाकर लिखा गया है कि (व्रात्यस्तोम यज्ञ के अन्त में) दक्षिण-दान-काल में व्रात्यधन मागध-देशीय ब्रह्मबन्धु को दे दिए जायँ (२२), अथवा उन लोगों को दे दिए जायँ जो व्रात्य आचरण से अभी विरत न हुए हों (२३), अर्थात् व्रात्य दस व्रात्यस्तोम से शुद्ध होकर व्रात्यभाव से रहित हो जाते (२७), और व्यवहार-योग्य, विवाह याजन और भोजन के योग्य हो जाते हैं (२८), इसलिये अपना पुराना पापमय जीवन का चिह्न उन्हीं को दे देते हैं जो उनकी पहली दशा के अनुयायी हैं। क्षत्रिय तो दक्षिणा लेने का अधिकारी नहीं है, इसलिए व्रात्य क्षत्रबंधु भी अपना धन मागधदेशीय ब्रह्मबंधु को दे देता है (२२), क्योंकि वह वर्ण में उसके समान न होकर भी व्रात्यपन में तो सदृश है, अथवा अपने सदृश ब्राह्मण व्रात्यों को दे देता है (२३), क्योंकि श्रुति का प्रमाण दिया है कि उन्हीं में (अर्थात् अपने सदृश लोगों में अपने पिछले पाप को) धो देते हुए (शुद्धता को) प्राप्त होते हैं (२४)। व्रात्यधन ये हैं—(१) तिर्यङ्नद्धमुष्णीषम्—टेढ़ी बंधी हुई पगड़ी (२) प्रतोद-तीखी नोक की आर, जैसी बैल हाँकने वाले रखते हैं (३) ज्याह्रोडोऽयोग्यं धनुः—बिना पणच का बेकार धनुष जो ज्योह्लोड नाम से ही प्रसिद्ध था (४) वासः कृष्णाशंकद्रु—काले सूत से बुना हुआ कबरे रंग का या काली किनार का कपड़ा (धोती—एक ही वस्त्र, दुपट्टा वा उत्तरीय नहीं) (५) रथ जो मार्ग-कुमार्ग में जा सके जिसमें लकड़ी के पट्टे बिछे हों तथा जिसमें कुछ आचार्यों के मत से काँपते हुए दो घोड़े या खच्चर जुते हों (६) निष्को राजतः—चाँदी का गले का चाँद (७) भेड़ की दो छालें जिनके दोनों पार्श्वों में सिलाई हो और जो काले और सफेद रंग की हों। ये खालें उस व्रात्य की होती हैं जो सबसे नृशंस (निर्दय अथवा प्रसिद्ध) या सबसे धनवान् या सबसे विद्वान् हो। वह व्रात्यस्तोम में गृहपति बनाया जाता है। दूसरे व्रात्यों के केवल एक ही छाल होती है और रस्सी के से मोटे किनारे वाली, काली या लाल पाड़ की, दो छोर की धोती होती है। (८) दामनी द्वे—दो रस्से (कमर या पेट को बाँधने के) (९) दो जूते जिनके चमड़े के कान

(क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम भर के ब्राह्मण या क्षत्रिय, ब्रह्मबंधु और क्षत्रबंधु या राजन्यबंधु, पीढ़ियों से वैदिक संस्कारों से रहित थे उनकी शुद्धि व्रात्यस्तोम से की जाती थी और फिर वे व्यवहार के योग्य हो जाते थे। कात्यायन के अनुसार मगधदेशीय ब्राह्मणबंधु को शुद्धि में व्रात्य को वेश-सामग्री दी जाती थी। पुराणों में मगध के शैशुनाक राजाओं को क्षत्रबंधु अर्थात् घटिया, नाम मात्र के, क्षत्रिय कहा है। व्रात्य संस्कार युक्त द्विजों से हीन तो थे, किंतु गर्हित न थे। वे शुद्ध करके वर्णधर्म में आ जाते थे। अथर्ववेद में व्रात्यों की प्रशंसा में एक कांड का कांड गद्य में है। संभव है कि शिशुनाक काल में अथर्व को वेदों में न गिना जाता हो, क्योंकि मौर्यकाल में भी कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में तीन ही वेद गिने हैं और आगे 'अथर्ववेदोऽपि वेद:', 'इतिहासवेदोऽपि वेदः' कह कर अथवा और इतिहास को समान कोटि का कहा है।

व्रात्य भी आर्य थे। उनकी भाषा प्राकृत थी, संस्कृत नहीं। उनमें वैदिक आचार व्यवहार न था। उनमें से कुछ वैदिक संप्रदाय में आ जाते थे। उनकी शुद्धि के लिए सूत्रों में व्रात्यस्तोम आदि का विधान है। उनके दंडविधान में ब्राह्मण अदंड्य न थे। वे अर्हतों को ब्राह्मणों की तरह मानते थे। शैशुनाक भी अर्हत के उपासक (बौद्ध या जैन) थे। 'मनुस्मृति' में लिच्छिवियों को व्रात्य कहा है। बुद्ध ने लिच्छिवियों के अर्हतों के धातुस्तूपों का उल्लेख किया है। शैशुनाक अजातशत्रु ने अरहत (बुद्ध) के शरीर धातुओं पर अपना अधिकार बतलाया था। इन सब बातों से शैशुनाकों का व्रात्य होना, जैन और बौद्ध-धर्म की ओर उनका अधिक झुकाव होना तथा पुराणों में उन्हें क्षत्रबंधु कहना संगत हो जाता है। 'कात्यायन श्रौतसूत्र' में उन्हीं के वेश का उल्लेख है। कात्यायन के समय का निश्चय नहीं। राजशेखर ने लिखा है कि वैयाकरण पाणिनि और कात्यायन का पाटलिपुत्र में परीक्षित होकर सम्मान हुआ था। यह कात्यायन उसी समय का होगा।

इन मूर्तियों का वेश व्रात्यों के वेश से बहुत कुछ मिलता हुआ होने से वटनंदि या वर्तनंदि या वर्तिनंदि नाम को व्रात्यनंदि क्यों न मानें? मूर्तिकार ने अपनी समझौती के लिए नंदि के पहले वट (=व्रात्य) पद लिख लिया हो जिसमें गढ़ने में क्या-क्या वेश

(चोंच, जैसी पंजाबी जूतों में होती है) हो ॥ (का० श्रौ० सू०, अ० २२, कंडिका ४, सूत्र २१। ऊपर भी सूत्रों के अंक हैं।) पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने कर्णिन्यौ का अर्थ कर्णभूषण समझा है, किंतु वह जूते का विशेषण है। इस व्रात्यधन में से एक मूर्ति के सिर नहीं, एक के नंगा है, इसलिये (१) का पता नहीं। पैर नंगे हैं, इससे (६) का पता नहीं। हाथ टूटे हैं, इसलिये (२) (३) का निश्चय नहीं। प्रतिमा में कैसे दिखाया जा सकता है? किनारेवाला एक कपड़ा (४), दो कमरबंद (८), और गले में निष्क (६) मिलते। दुपट्टा शायद मेषछाला (७) की जगह हो। दुपट्टे और धोती की सलवटें संभव है कि दशाएँ (किनारें) हों। पाड़ भी स्पष्ट है। दामन् दोनों कमर में बँधे ही हैं। पहले मेषछाला होती हो, राजा की मूर्ति में उसकी जगह रेशमी दुपट्टा हो गया हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाना है यह स्मरण रहे। तथा 'व्रात्यनंदि' नाम ही प्रसिद्ध होकर पुराणों में वर्तिवर्धन बन गया हो।

४. पिपरावा पात्र के अक्षरों से भी मात्राएँ बहुत लंबी हैं, इन लेखों में भी हैं। फिनीशियन अक्षरों तथा मोआब के पत्थर के अक्षरों से भी इन मूर्तियों के अक्षरों की बड़ी समानता है। यदि ब्राह्मी अ फिनीशियन अलिफ से बना मानें, तो फिनिशियन अलिफ बकरे की मूर्ति के दो सींगों के आकार का है। इस अ के भी सींग देख लीजिए। ब 'बेय' से बना है तो 'बेय' खुले मुँह का चौकोर संदूक-सा था। इस जगह भी सबखती का ब देख लीजिए।

उपसंहार

इस लेख का लेखक तथा रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा इन मूर्तियों तथा इन पर के लेखों के विषय में जायसवाल महाशय के मत से सहमत हैं। विरोधपक्ष की जो जो कोटियाँ हैं वे बहुधा आग्रह तथा प्राचीनवाद को लेकर उठाई गई हैं। इस लेख में बहुत तथा बड़े-बड़े लोगों का सार दिया गया है तथा स्थान-स्थान पर अपनी ओर से विस्तार भी कर दिया गया है क्योंकि ऐसी बातों का विवेचन हिंदी पढ़नेवालों के लिये संक्षेप में लिखना असंभव था। कई जगह इस लेख में तथा 'देवकुल' के लेख में अपनी ओर से कुछ नई बातें भी जोड़ दी गई हैं। विद्वानों तथा लेखकों के नामों का एकदेश और एकवचन से व्यवहार भी जो कहीं-कहीं हो गया है, क्षंतव्य है।

चित्रपरिचय

हम इस लेख के साथ कई चित्र दे रहे हैं।[1] उनका वर्णन इस प्रकार है।

पहला चित्र—

दीदारगंज की मूर्ति

दूसरा और तीसरा चित्र—

मूर्तियों पर के लेख। अक्षर उभरे हुए तथा उलटे हुए हैं। सलवटों की रेखाएँ तथा उनसे अक्षरों का संबंध स्पष्ट दिखाई देता है। चित्र मूर्तियों के प्रकृत अंश की आधी नाप का है। ऊपर का लेख अज-उदयिन् की मूर्ति पर है, नीचे का वर्तनंदि की प्रतिमा पर।

चौथा और पाँचवाँ चित्र—

अज-उदयिन् और वर्तनंदि की प्रतिमाएँ—एक ओर से फोटो। नीचे के पीठ कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम के हैं।

छठा चित्र—

अज उदयिन् की मूर्ति, सामने से। फूँदे और पैर पलस्तर से पीछे से बनाए गए हैं।

सातवाँ चित्र—

वर्तनंदि की मूर्ति, पीछे से। अधोवस्त्र की सलवटें, दुपट्टे की चुनावट और

१. कुछ चित्र स्पष्ट न होने के कारण नहीं दिए जा सके।—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



दीदारगंज की मूर्ति

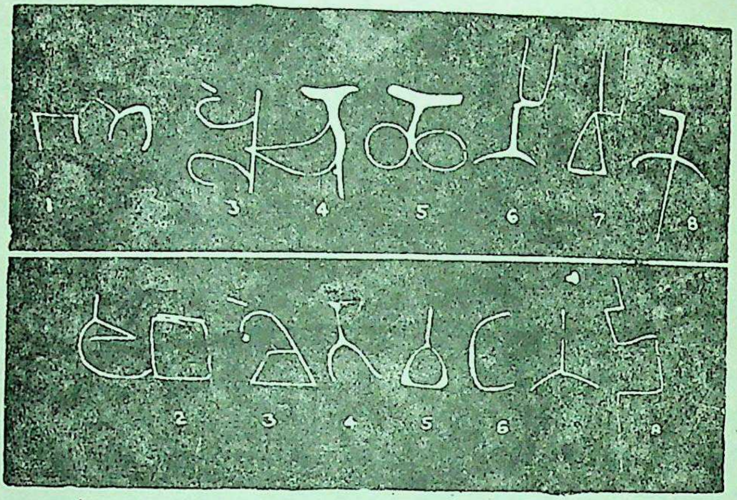
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्क के फूंदे दिखाई दे रहे हैं। कंधे पर दुपट्टे के सिरे पर लेख के अक्षर दिखाई दे रहे हैं।

आठवाँ चित्र—

(क)
(ख)



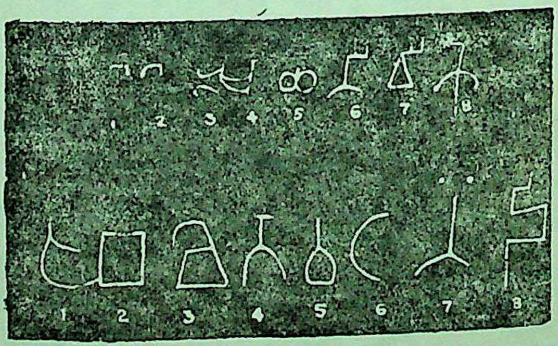
कागज के छापों में लेखों की नकल

कागज के छापों से लेखों के असली आकार की नकल। बिहार-उड़ीसा के पूर्वी हल्के के सुपरिंटेंडिंग एंजिनियर मिस्टर विशुनस्वरूप की बनाई हुई। अक्षरों के नीचे अंक दिए हैं।

पहला लेख—	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
	भ	गे	अ	चो	छो	नी	धी	शे
दूसरा लेख—	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
	स	ब	ख	ते	व	ट	नं	दि

नवाँ चित्र—

(क)
(ख)



महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री की मूर्तियों को देखकर बनाई हुई नकल

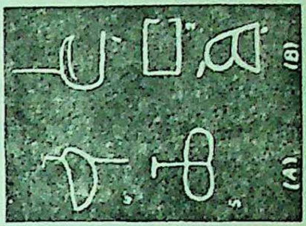
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री कृत लेखों की नकल जो उन्होंने मूर्तियों को देख-देखकर बनाई है। अंक उसी क्रम में दिए हैं। बिंदुवाली पत्थर की रेखा दर्ज है।

दसवाँ चित्र—

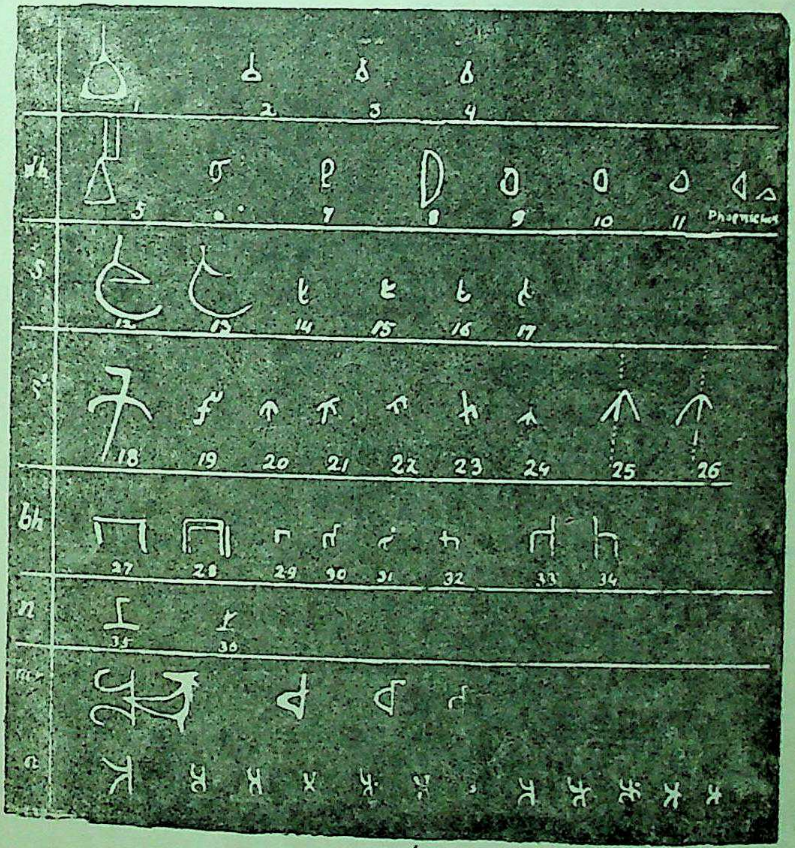
देख-देखकर मिस्टर ग्रीन की बनाई हुई संदिग्ध अक्षरों की नकल। प्रथम लेख में से (४) चो (५) छो। द्वितीय लेख में से (१) स (या ष) (२) ब (प) (३) खे।



(ख)
(क)

श्री ग्रीन की बनाई हुई संदिग्ध अक्षरों की नकल

ग्यारहवां चित्र—



मिलान के लिये भिन्न-भिन्न अक्षर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहली पंक्ति—(१) मूर्ति के लेख का
'व' (२) बूलर के मत में सबसे पुराना
(३) मथुरा का
(४) हाथी गुंफा का

दूसरी पंक्ति—(५) मूर्ति के लेख का ध (ई की मात्रा छोड़कर)
ध 'धी' (६) भट्टिप्रोलु का
(७) कालसी का
(८) गिरनार का
(९) नानाघाट का
(१०) कोल्हापुर का
(११) नासिक का

अगले दो रूप फिनीशियन के हैं।

तीसरी पंक्ति—(१२), (१३), मूर्ति के लेख का
स (ष) (१४) कालषी का ष
(१५) दशरथ का ष
(१६) घसूंडी का ष
(१७) दिल्ली का स।

चौथी पंक्ति—(१८) मूर्ति का श (ए की मात्रा छोड़कर)
श (१९) भट्टिप्रोलु का श या ष
(२०) कालसी का श
(२१) मामूली ब्राह्मी श
(२२) कालसी का श
(२३) (२४) हैदराबाद समाधियों का
(२५) (२६) उसी अक्षर का विकास

पाँचवीं पंक्ति—(२७) मूर्ति का
भ (२८ हैदराबाद की समाधि का
(२९) सेवियन लिपि का
(३०) (३१) कालसी का
(३२) भट्टिप्रोलु का
(३३), (३४) उसी का विकास

छठी पंक्ति—(३५) गिरनार का
न (३६) गिरनार का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सातवीं पंक्ति—(१) मूर्ति का अच
अच (२) भट्टिप्रोलु का च
(३) (४) वहीं के च के दूसरे रूप

आठवीं पंक्ति—
अ (१) गिरनार का
(२) (३) दिल्ली के
(४) (५) सिद्धापुर के
(६) से (१३) डाक्टर बार्नेट के बताए हुए नमूने।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२० ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान

आँख

[१]

"य एषोक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति
होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म" —छान्दोग्य ४।१५।१[१]

"अक्षि चष्टेरनक्तेरित्याग्रायणस्तस्मादेत
व्यक्ततरे इव भवतः —निरुक्त १।३।४[२]

परमेश्वर की रचना में यों तो एक से एक अद्भुत अनुपम और सुन्दर पदार्थ हैं; सारा विश्व ब्रह्माण्ड ही ऐसा है कि अपने गुणों से अपने कर्त्ता के लिए वह बारम्बार कहलाता है कि—यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह[३]।

तथापि मनुष्यदेह से अधिक कोई पदार्थ अद्भुत नहीं। यही ईश्वर का प्रथम

---

१. यह आँख में जो पुरुष दिखाई देता है, यही आत्मा है। यही अमृत है, यही अभय है और यही ब्रह्म है। —सम्पादक

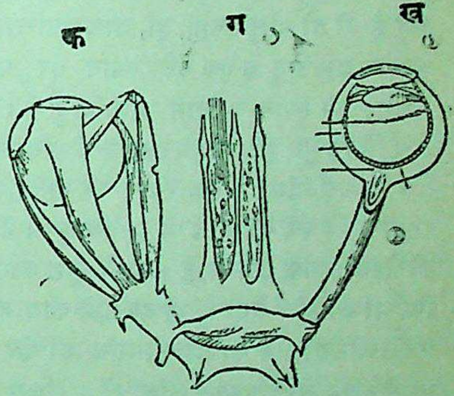
२. 'अक्षि' शब्द 'चक्षु' धातु से निष्पन्न होगा। 'अञ्ज्' (प्रकाशित होना या करना) से 'अक्षि' शब्द बनेगा ऐसा आग्रायण (आचार्य) मानते हैं। (ब्राह्मण ग्रंथों से) यह पता लगता है कि—"इस कारण यह (आंख) अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक व्यक्त-सी होती है।"
इस पर डॉ० वाचस्पति उपाध्याय की टिप्पणी इस प्रकार है—'अक्षि' शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने 'चक्ष्' देखना धातु से मानी है। यास्क से प्राचीन आचार्य आग्रायण ने 'अञ्ज्' (प्रकाशित होना या करना) धातु से 'अक्षि' शब्द की निष्पत्ति मानी थी। ब्राह्मण-ग्रंथकारों को भी 'अञ्ज्' धातु से 'अक्षि' शब्द बनाना अभीष्ट था। इसी दृष्टि से यास्क ने किसी ब्राह्मण का 'तस्माद् एते व्यक्ततरे इव भवतः' यह वाक्य उद्धृत किया, जिसमें यह कहा गया है, कि आँखें अधिक व्यक्त-सी होती हैं। —सम्पादक

३. जहां न पहुंचकर वाणी मन के साथ लौट आती है। —सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्दिर है, यही जगत् की सब लीलाओं का केन्द्र है। यदि किसी घर का रहनेवाला अपने निवास का हाल न जाने तो वह हास्यास्पद होता है; किन्तु इस पवित्र घर में रहते भी हम इसका वृत्तान्त न जानने के अपराधी हैं। इस घर की प्रधान खिड़की आँख ऐसी विलक्षण है कि न्यूटन के कथनानुसार आँख की परीक्षा नास्तिकता की परम महौषधि है। ऊपर लिखी 'श्रुति' का अभिप्राय यह है कि ज्ञानी लोग आँख ही के द्वारा सच्चिदानन्द का ज्ञान प्राप्त करते हैं। निरुक्तकार 'अक्षि' का अर्थ यह करते हैं कि वह स्वयं बहुत व्यक्त होती है अथवा सब चीजों को व्यक्त करती है। साधारण कहावत है कि आँख मूंदने पर कुछ भी नहीं रहता। सच है, आँख की आवश्यकता और उपयोगिता की महिमा तब तक कदापि कम नहीं हो सकती जब तक कि मनुष्य जाति और इन्द्रिय उत्पन्न न कर ले। दूरबीन प्रभृति विज्ञान के मुकुट स्वरूप यन्त्र आँख के परिशेष-पूरक हैं। आँख न होने से वे किसी काम के नहीं। विशेष करके चञ्चलता और त्वक् से सम्बन्ध होने के कारण आँख ने मानो जगत् के ज्ञान-साम्राज्य को ठोकर ही मार दी। ऐसी अनुपम इन्द्रिय का वृत्तान्त किसको न रुचेगा? नैयायिकों के अनुसार कृष्णतारा के अग्रभाग में स्थित चक्षु इन्द्रिय आलोक-संयोग, और उद्भुत रूप संयोग से, उद्भुत रूप, रूपवान्, द्रव्य, पृथक्त्व, संख्या, विभाग, संयोग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व और परिमाण तथा क्रिया जाति और समवाय का ग्रहण करती है। गवेषणा के नायक पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने आँख पर क्या-क्या लिखा है उसका एकसाथ समावेश करना अति दुष्कर है। तथापि उसका सार देने का यत्न किया जाता है।



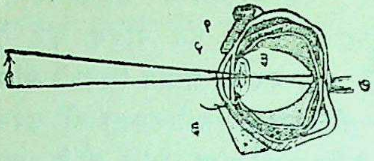
चित्र १

(क) बाईं आँख स्नायु दिखाती हुई।
(ग) शंकु और छड़ियाँ
(ख) दाहिनी आँख का असली रूप।

इन्द्रिय : आँख बाहर से प्रायः गोलाकार होती है। सामने जो काँच की सी झिल्ली दिखाई देती है उसे 'कार्निया' कहते हैं। इसके पीछे थोड़ी दूर पर 'आइरिस' नाम की झिल्ली है; यह वही रङ्गीन गोल पदार्थ है। जो आँख के सफ़ेदे के बीच दिखाई देता है। इस झिल्ली के बीच में एक छिद्र होता है। यह मनुष्य की आँख में गोल होता है; बिल्ली की आँख में तङ्ग और लम्बा होता है। इसी के द्वारा किरण आँख के भीतर प्रवेश करते हैं। प्रकाश के प्रवेश को नियमित करने के लिए यह फैल और सिकुड़ सकता है। इसके पीछे, बहुत पास ही, दोनों ओर से उन्नतोदर एक काँच वा उसके सदृश पदार्थ है। यह भी फैल और सिकुड़ सकता है। इस ताल को यथास्थान रखने के लिए 'सिलिएरी' स्नायु नामक एक मांस का छल्ला है, जो ऊपर के ढक्कन स्केलोरेटिक में ही लगा हुआ है। इसके पीछे का सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



चित्र २

१. कार्निया । २. इरिस । ३. काँच । ४. रेटिना । ५. काली चद्दर । ६. स्केलेरोटिक । ७. ज्ञानतन्तु ।

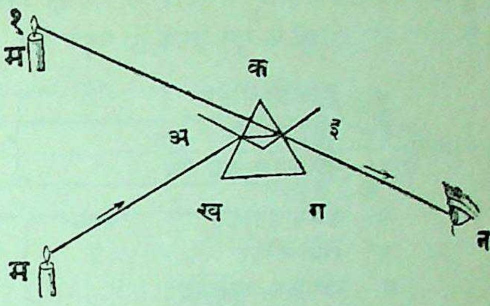
भाग, आँख के पिछवाड़े तक, अण्डे के रस के सदृश चिपचिपे पारदर्शक पदार्थ से भरा हुआ होता है, जिसे 'काँचीय अर्क' कहना उचित होगा। आगे, 'काँच' और कार्निया के बीच में भी ऐसा ही विमल रस है जिसे 'जलीय अर्क' कहते हैं। आँख के अन्दर का सब पिछला भाग रेटिनानामक मुलायम, श्वेत और विमल झिल्ली से मढ़ा हुआ है। यह मानो उस ज्ञानतन्तु के जाल की तरह फैला हुआ अग्रभाग है जो यहाँ से मस्तिष्क तक जाने तथा दर्शन का ज्ञान कराने के कारण 'चाक्षुष ज्ञानतन्तु' कहलाती है। रेटिना ही दर्शनेन्द्रिय का प्रधान तथा दुर्बोध भाग है। ज्ञानतन्तु पीछे से आकर तन्तु-शिराओं के रूप में अन्दरी सतह पर फैले हुए हैं वहाँ से पीछे को मुड़कर मस्तिष्क के प्रथम स्वरूप गोल-गोल कणों की तरह वे व्याप्त हैं; वा छड़ी से अथवा शंकु के से टुकड़ों का रूप धारण करके आड़े पड़े हुए हैं। मनुष्य की आँख में इन शंकुओं की संख्या ३३,६०,००० मानी गई है; छड़ियों की संख्या का पता नहीं। इन छड़ियों में एक प्रकार का रङ्ग है जो प्रकाश में उड़ जाता है और अन्धेरे में फिर प्राप्त हो जाता है। इन छड़ी शङ्कुओं का पूरा कर्तव्य क्या है सो तो मालूम नहीं, हाँ, आकारपरिज्ञान तथा रङ्गज्ञान में यह काम देते हैं। यदि आलोक ज्ञानतन्तु के एक ऐसे स्थान पर पड़े जहां कोई शंकु न हो, तो कुछ देख नहीं पड़ता; इस स्थान का नाम 'अन्धबिन्दु' है। इसके विरुद्ध एक दूसरे स्थान पर बहुत से शङ्कु रक्खे हुए हैं; वहां पर बहुत तीव्र दर्शन होता है। इस स्थान को 'पीतबिन्दु' कहते हैं। यह सब आँखों में एक स्थान पर नहीं होता; तथा मृत्यु के पीछे बहुत कम देर तक रहता है। बकरे की आँख में इस बिन्दु को मैंने स्वयं देखा है। रेटिना के पीछे एक ओर कोरोइड नामक झिल्ली है। उसमें कुछ काले गोल दानों के समान पदार्थ है जो उन किरणों को शोष लेता है जो दर्शन में काम नहीं दे सकतीं। अन्त में यही कहना है कि 'स्केलेराटिक' नाम की झिल्ली आँख को घेरे हुए है और आगे आकर कार्निया में मिल गई है। यह सफ़ेद ढक्कन आँख को सुरक्षित रखता है। इसी में पतली ढकनी से ढका हुआ छिद्र काँच की खिड़की का काम देता है।

आँख की विशेष उपयोगिता इसी में है कि इसके प्रबन्ध के लिए कितने ही स्नायु हैं जो इसको समय-समय पर मोड़ वा बदल सकते हैं। अन्दर के सीलियरी छल्ले का हाल कह ही चुके हैं। यह समीपावलोकन के लिए काँच को दबाकर अधिक उन्नतोदर कर देता है। बाहर की तरफ कपाल की हड्डी से लगे हुए स्नायु हैं। उनमें से चार तो खड़े हैं और डेले को ऊपर-नीचे घुमाने का काम देते हैं; और दो अगल-बगल में रहकर आँख को तिरछा घुमा सकते हैं। इनसे आँख की धुरी बदल सकती है और हम पदार्थों को ध्यानपूर्वक देख सकते हैं। यदि आँख का डेला स्थिर होता तो आँख से बहुत कम ज्ञान मिलता। इस चञ्चलता से पदार्थपरिज्ञान में बड़ा काम निकलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेत्र द्वारा ज्ञान का मुख्य करण दोनों ओर से उन्नतोदर इस काँच को ही गिनना चाहिए; क्योंकि आलोक इसी के द्वारा भीतर जाकर ज्ञान-तन्तु सम्बन्धी प्रकम्पन में परिणत होता है। अतएव, यहां पर ताल, काँच और उन पर आलोक पड़ने के प्रभाव पर कुछ कहना अनुचित न होगा।



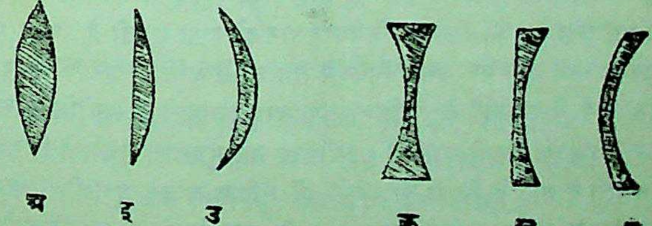
चित्र ३

म मोमबत्ती, क ख ग ताल, अ इ प्रकाश की किरण के मुड़ने के स्थल, 'न' आँख, 'म'' मोमबत्ती का प्रतिबिम्ब

यहां काँच वा ताल से 'दर्पण' का अभिप्राय नहीं है किन्तु ऐसे कांच के टुकड़े से अभिप्राय है जिसके दोनों किनारे एक-दूसरे के समानान्तर न होकर किसी कोण को बनाते हुए झुके हों। सुप्रसिद्ध तिकोने काँच में पदार्थों को उठा हुआ देखने के दृष्टान्त और इस चित्र से जान पड़ेगा कि आलोक की किरणें तरल पदार्थ से अधिक घने पदार्थ में घुसती बेर मुड़ जाती हैं।

[२]

आलोक की किरण जिस पदार्थ में प्रवेश कर रही है उसकी सतह पर लम्ब खींचा जाय तो तरल पदार्थ में उस किरण का लम्ब के साथ बना हुआ कोण, घने पदार्थ में बने हुए कोण से बड़ा होगा। 'क ख ग' ताल में 'म' मोमबत्ती की किरण जा रही है। वह 'अ' 'इ' स्थानों पर उपर्युक्त नियमानुसार दो बेर मुड़कर 'न' नेत्र में पहुंची। अतएव 'न' नेत्र को, 'म' अपने स्थान में नहीं किन्तु 'न इ'' सिलसिले में 'म'' पर दिखाई देगी। अर्थात् त्रिपार्श्व में देखे जाने से, पदार्थ, उसकी चोटी की तरफ़, किरणों के वक्रीभवन से, बदले हुए दिखाई देते हैं। प्रकाश के दो बेर मोड़ देने का यह गुण, तालों के विषय में जो कुछ कहा जायगा, उसका आधार है।



(चित्र ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताल ६ प्रकार के होते हैं और उन्हें दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। इनके गुणों के विचार के लिए 'अ' और 'क' का ही विचार बस होगा, क्योंकि उस-उस समूह के और-और तालों के गुण उनके ही सदृश हैं।

अ	उभयोन्नतोदर	केन्द्राकर्षक
इ	समोन्नतोदर	
उ	मध्यस्थूल अर्धचन्द्र	
क	उभय नतोदर	केन्द्रापसारक
ख	समनतोदर	
ग	मध्यकृश अर्धचन्द्र	

उन्नतोदर ताल—यदि दो वृत्त एक-दूसरे को काटें तो जो भूमि दोनों वृत्तों में समान होगी वही 'उभयोन्नतोदर ताल' होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन दोनों वृत्तों के केन्द्र, गुलाई के केन्द्र, और उन दोनों केन्द्रों को जोड़नेवाली ताल में होकर जानेवाली रेखा प्रधान धुरी कहलाती है। काँच के दोनों किनारों से समान दूरी पर, प्रधान धुरी पर जो बिन्दु हो उसे दर्शन केन्द्र कहना उचित होगा। ऐसी और कोई रेखा जो दर्शन-केन्द्र में होकर जाय, किन्तु गुलाई के केन्द्रों से दूर रहे, उसे गौण धुरी कहेंगे। प्रधान धुरी एक ही होती है; गौण धुरी अनन्त हैं। अनन्त सरल रेखाओं के मिलने से वक्र रेखा वा वृत्त बनता है। अतएव अ इ उ तालों को हम अनन्त त्रिपार्श्वों के, एक के आधार में दूसरे तथा दूसरे के आधार में तीसरे के, जुड़ने से बना हुआ मान सकते हैं। क ख ग तालों को इसके विरुद्ध चोटी की तरफ़ जुड़े हुए मान लें। अब यह समझना कठिन न होगा कि उन्नतोदर ताल केन्द्राकर्षक क्यों होते हैं, और नतोदर केन्द्रापसारी क्यों होते हैं। क्योंकि त्रिपार्श्व में किरणें दो दफ़ा मुड़कर आधार की तरफ़ जाती हैं। उन्नतोदर में जुड़े अनन्त त्रिपार्श्वों का आधार बीच की तरफ़ और नतोदर में ऊपर की तरफ़ होता है। इसीलिए उन्नतोदर में किरणें बीच में आती हैं और नतोदर में ऊपर की ओर उड़ जाती हैं।

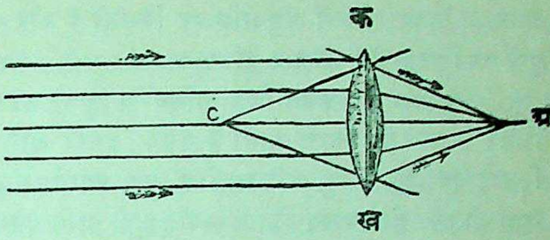
१. मान लीजिए कि किसी उन्नतोदर ताल पर बहुत दूर के पदार्थ की किरणें पड़ रही हैं—इतनी दूर से कि वह एक स्थान से प्रचलित न दिखाई देकर समानान्तर दिखाई देती हों, जैसे सूर्य की किरणें, तो उन किरणों में से जो किरण प्रधान धुरी पर जाती है वह तो मानो समानान्तर ताल में होकर जा रही है और बिना वक्र हुए निकल आती है। इससे कुछ दूर की किरण, नियमानुसार दो दफ़ा मुड़ती है और मध्यकिरण से समानान्तरता नष्ट होने पर उससे मिलती है। उससे अधिक दूर की किरण, अधिक झोंकवाले त्रिपार्श्व में टकराने से, अधिक झोंक खाकर मुड़ती है, क्योंकि ताल की झोंक केन्द्र से ऊपर की तरफ़ बढ़ती जाती है। इसीलिए यह मुड़कर पहली दो किरणों से उसी स्थान पर मिलती है जहां वे मिली थीं। ऐसे ही अधिक अधिक दूर की किरणें, अधिक अधिक झोंक खाकर, प्रधान धुरी के ऊपर या नीचे, एक बिन्दु 'अ' पर मिलती हैं।

यों समानान्तर किरणजाल केन्द्राकृष्ट किरणजाल बनकर एक बिन्दु पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलता है। इस बिन्दु का नाम 'अंशुनाभि' है। वास्तव में यह सूर्य का चित्र है। उन्नतोदर ताल ही 'आतिशी शीशा' कहाता है। इस नाभि में आलोक ही नहीं, उष्णता भी इकट्ठी होकर जलाने का काम दे सकती है। ताल पर जिस तरफ़ से किरणें आती हैं उसके दूसरी तरफ़ यह बनता है। जितनी काँच की गुलाई अधिक होगी, उतनी ही यह नाभि छोटी और उष्ण होगी। यह नाभि सच्ची है अर्थात् ताल के पीछे कपड़ा या काग़ज़ रखने से दिखाई देगी।



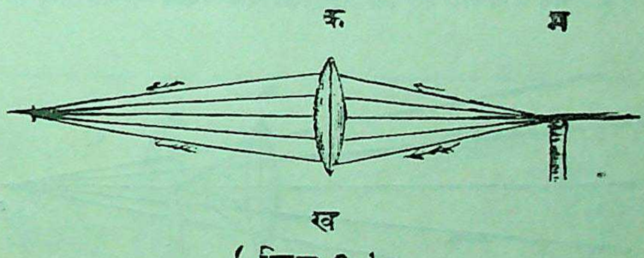
(चित्र ५)

क ख ताल । अ अंशुनाभि

२. अब मान लीजिए कि आलोक का पदार्थ (मोमबत्ती) अधिक समीप आ गया है; किन्तु अंशुनाभि से दूर है। समानान्तर किरणों की अपेक्षा इनमें एक-दूसरे से कम अन्तर है, इसीलिए ताल के दूसरी ओर निकलकर यह उतनी जल्दी केन्द्राकृष्ट नहीं होती, किन्तु अंशुनाभि से हटकर अगाड़ी मिलती हैं।

[३]

यहां 'म¹' को म का संयोगी केन्द्र कहना पड़ता है, अर्थात् यदि मोमबत्ती 'म¹' पर हो तो छाया चित्र 'म' पर और वह 'म' पर हो तो 'म¹' पर होगा। ऐसी नाभियों की कोई संख्या नियत नहीं। उनके लिए यही नियम है कि आलोक का पदार्थ अंशुनाभि के जितना समीप



(चित्र ६)

क ख ताल । म प्रकाश का संयोगी केन्द्र म¹ और म¹ का म है।

हो, उसका संयोगी केन्द्र उतना ही दूर होगा—"विपरीते विपरीतम्"। उपपत्ति यह है कि पदार्थ से आनेवाली किरणें ज्यों-ज्यों अधिक केन्द्रापसारी होती जाएंगी त्यों-त्यों उनकी छाया-किरणें अधिक केन्द्रापसृत होकर दूर पर मिलेंगी।

३. अब कल्पना कीजिए कि 'म' मोमबत्ती ताल के समीप आते-आते अंशुनाभि पर आ गई। मैं (१) में जो कह चुका हूँ उसके अनुसार इसमें से निकलनेवाली किरणें

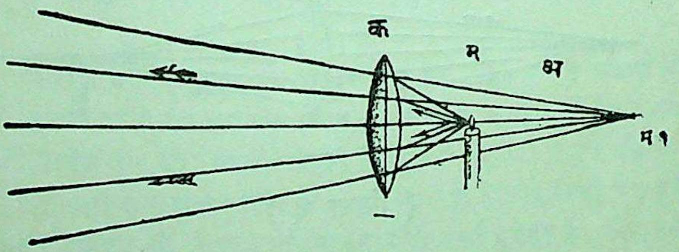
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताल के पार जाकर समानान्तर हो जाएंगी और कहीं भी उनका चित्र न बनेगा। वास्तव में अनन्तता और अंशुनाभि ये दोनों (२) के अनुसार परस्पर संयोगी केन्द्र हैं; अनन्तता से आई किरणें अंशुनाभि पर मिलती हैं और अंशुनाभि से चली हुई अनन्त दूरी पर मिलती हैं। चित्र ५ देखिए।

४. अब तक हमने जिन नाभियों व चित्रों का वर्णन किया है वे सच्चे हैं अर्थात् जिधर से ताल पर किरणें आती हैं उसके दूसरी ओर काग़ज़ वा परदा लगाने से वे दिखाई देती हैं। किन्तु, यदि आलोक का पदार्थ अंशुनाभि और ताल के बीच में आ जावे तो और ही तमाशा होगा। अर्थात् झूठी नाभि बनेगी। हम देखते आये हैं कि किरणें ज्यों-ज्यों ताल के समीप आती गईं, त्यों-त्यों केन्द्र से छायाकिरणों की अपसारण की मात्रा बढ़ती गई। यहां तक कि अंशुनाभि के प्रकाश की किरणें समानान्तर हो गईं। अब अधिक समीप आने से बाहर निकलने वाली किरणें और भी केन्द्रापसृत होंगी (चित्र ७) देखिए। अतएव चित्र बनने के बजाय देखनेवाला यह समझेगा कि ये किरणें 'म' से न आकर 'म'' से आई हैं, जहां पर अपसर्पिणी रेखाएं बढ़ाने से मिलती हैं। यह भ्रममात्र है; यह चाक्षुष छल है।

तो उभयोन्नतोदर ताल के ये गुण हुए—(१) धुरी के समानान्तर रेखाओं का सच्चा चित्र अंशुनाभि पर और अंशुनाभि से चलनेवाली किरणों का चित्र, दूसरी ओर निकलकर, अनन्त दूरी पर बनता है। (चित्र ५) (२) अंशुनाभि से दूर के पदार्थों का चित्र दूसरी ओर अंशुनाभि के समीप, और समीप के पदार्थों का दूर पड़ता है। ऐसी नाभि संयोगी केन्द्र कहलाती है (चित्र ६) (३) अंशुनाभि और ताल के बीच के पदार्थों का चित्र झूठा, और जिधर पदार्थ होता है उधर ही, बनता है। (चित्र ७ को नीचे देखिए) अब तक आलोक को एक बिन्दु से आता मानकर इस विलक्षण ताल के गुण समझाए गए हैं। अब मान लीजिए कि आलोकदायक पदार्थ गणितबिन्दु न होकर कोई



चित्र ७

क ख ताल। म मोमबत्ती, अंशुनाभि म और ताल के बीच में है। इससे झूठा चित्र म१ बनता है।

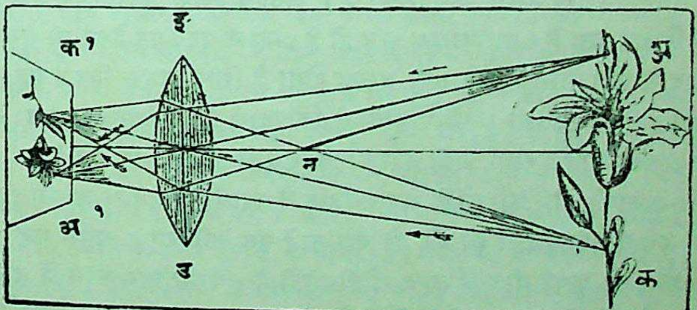
बड़ा पदार्थ है। पहले मोमबत्ती के आलोक बिन्दु ही को हम देख रहे थे; उस समय यदि हम ध्यान देते तो स्वयं मोमबत्ती के भी चित्र बनते हुए देखते। अस्तु, जिन पाठकों ने बिन्दु-चित्र को ध्यान से पढ़ा है वे पदार्थ-चित्र को भी ठीक-ठीक समझ जाएंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. समानान्तर किरणों का आना सूर्य से वा किसी ऐसे ही विकृष्ट पदार्थ से हो सकता है। अतएव अंशुनाभि पर बना चित्र किसी विन्दु की नहीं किन्तु सूर्य की मूर्त्ति है। यह चित्र रङ्ग में और तेज में सूर्य के समान ही है। चित्र काँच के समीप होने के कारण छोटा है और अपनी समीपता के अनुसार तेज रखता है। इतना और जान लीजिए कि यह चित्र उलटा है, किन्तु सूर्य के गोल होने से उलटेपन से कोई क्षति नहीं। विशेष हाल पहले कहा ही गया है।

२. यदि कोई पदार्थ किरणाकर्षक ताल के सामने प्रधान धुरी से दूर रक्खा जाय तो ताल के दूसरी ओर परदा डालने से उसी पदार्थ का उल्टा चित्र दिखाई देगा। रङ्ग, ढङ्ग और सफ़ाई में यह बहुत ही ठीक उतरता है; यह पदार्थ की ठीक नक़ल है; इसमें दोष है तो यही कि वह उलटा है। इसकी बनावट समझना बहुत सहज है। नाभियों के विचार में प्रधान धुरी के विषय में जो कहा गया है, गौण धुरी के विषय में भी वही सब सच है। पहले आलोकदायक बिन्दु को प्रधान धुरी पर मानकर मीमांसा की गई थी, किन्तु यहां कई गौण धुरियों पर कई आलोकदायक बिन्दु हैं। चित्र ८ पर ध्यान देने से किरणों के मार्ग खूब साफ दिखाई देंगे। प्रत्येक धुरी गुलाई के केन्द्र में होकर जाती है; अतएव प्रकट है कि जिस धुरी का एक सिरा ऊपर होगा उसका सिरा ताल में होकर निकलने के बाद नीचे जाएगा। अतएव 'अ' बिन्दु की सब किरणें गुलाई के केन्द्र में होकर उस बिन्दु से आने वाली धुरी के दूसरे सिरे पर 'म' में कहीं होंगी। अर्थात् अ' 'अ' का संयोग केन्द्र, अर्थात् चित्र है। यों ही 'क' का चित्र 'क'' पर बनता है। अब देखिए 'अक' पदार्थ के प्रत्येक बिन्दु का चित्र (संयोगी केन्द्र) अपनी-अपनी धुरी पर बन गया अर्थात् अ' क' छोटा और उलटा चित्र बन गया। छोटा इसलिए कि पदार्थ की अपेक्षा ताल के वह अधिक समीप है और उलटा इसलिए कि गौण धुरियां पदार्थ और उसके चित्र के बीच में ताल की गुलाई के केन्द्र पर परस्पर काटती हैं।



चित्र ८

इ उ ताल। न अंशुनाभि।
अ क पदार्थ का उलटा छायाचित्र अ' क'

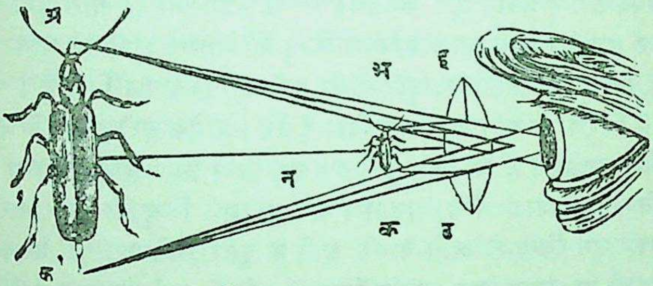
कोई यह न समझे कि उन्नतोदर ताल में उलटा सच्चा चित्र पदार्थ से छोटा ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है; नहीं यदि पदार्थ समीप हो तो चित्र बड़ा भी हो सकता है। संयोगी केन्द्रों के परस्पर सम्बन्ध याद रखने से जान पड़ेगा कि यदि चित्र ८ में वास्तव पदार्थ अ¹ क¹ होता तो उससे निकलकर किरणें पहले की तरह मार्ग पर चलती हुई 'अक' पर बड़ा चित्र बनातीं। उन्नतोदर ताल पास के पदार्थों का उलटा चित्र दूर और दूर के पदार्थों का उलटा चित्र समीप डालते हैं।

यह सिद्धान्त विज्ञानशास्त्र में बहुत काम देता है। इन सच्चे चित्रों के अतिरिक्त ये ताल झूठे चित्र भी बनाते हैं। जब पदार्थ ताल और अंशुनाभि के बीच में होता है तब झूठा चित्र वैसे ही बनता है जैसे चित्र ७ में उपकेन्द्र वा झूठी नाभि बन गई थी। चित्र ९ को देखने से प्रतीत होगा कि पदार्थ 'अक' की किरणें बाहर निकलती बेर ताल से टकराती हुई जब दूसरी ओर निकलती हैं तब वे अपसारिणी बन जाती हैं अर्थात् उलटे



चित्र ९

इ उ ताल। न अंशुनाभि

अ क पदार्थ का सीधा, बड़ा, झूठा, चित्र अ¹ क¹

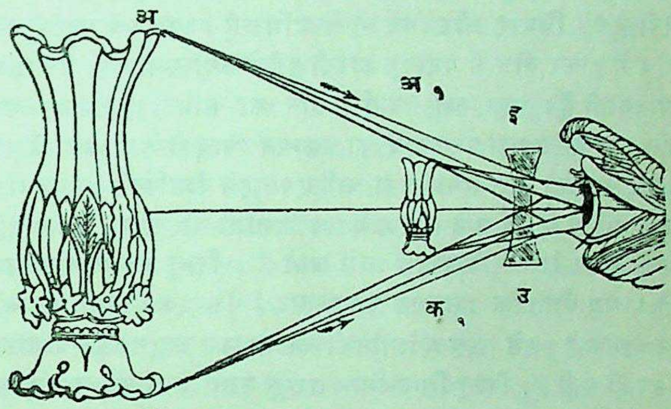
गोपुच्छ के आकार में हो जाती हैं। उनके आँख में पहुंचने पर यह भ्रम होता है कि किरण जाल 'अ' से न चलकर अ¹ से चला है जहां कि बढ़ाने पर यह मिल जायगा और जो इस अवसर्पि-किरण-जाल का शिखर है। अतएव 'अक' पदार्थ का बढ़ा हुआ चित्र अ¹ क¹ दिखाई देता है। यह चाक्षुष भ्रम ही है। यह न परदे पर देखा जा सकता है और न वास्तव में ही। वास्तव चित्र सदा उलटा होता है किन्तु उसके विरुद्ध यह सदा सीधा और बड़ा होता है। सीधा इसलिए होता है कि पदार्थ से आनेवाले किरण मुड़कर भी आँख तक आते-आते परस्पर नहीं काटते; और बड़ा इसलिए कि यह चित्र 'अ' 'क' में होकर जाने वाली गौण धुरियों के सम्पातबिन्दु से पदार्थ की अपेक्षा अधिक दूर है।

अब नतोदर तालों की भी दो-चार बातें सुन लीजिए। पहले कह चुके हैं कि नतोदर ताल की मुटाई बीच में बहुत छोटी होती है। उन्नतोदर काँच में दोनों पार्श्वों का एक-दूसरे की ओर झुकाव केन्द्र से छोरों की तरफ बढ़ता जाता है; किन्तु यहां उलटी बात है। इसीलिए फल भी उलटा है। अर्थात् उन्नतोदर ताल किरणों को दो बेर उसी तरफ़ को मोड़कर प्रधान धुरी की ओर केन्द्राकृष्ट करते हैं। वैसे ही ये दो बेर मोड़कर केन्द्र से अधिक दूर कर देते हैं। चित्र १० देखिए। ताल में होकर जानेवाली किरणें दो दफ़ा मुड़कर आधार की ओर खिच आती हैं। उन्नतोदर ताल में आधार बीच में और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नतोदर में ऊपर होता है। इन सब पहले कही हुई बातों को याद करके कह सकते हैं कि पदार्थ 'अ क' से आनेवाली किरणें दो बेर मुड़कर अधिक अपसृत हो जाती हैं। इस मोड़ से यह फल हुआ कि किरण जाल 'अ¹' बिन्दु से आता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार क से आनेवाली किरणें 'क¹' में आती ज्ञात होती हैं। फल यह हुआ कि एक छोटा चित्र असत्य अ¹ क¹ पर दिखाई देता है। यह चित्र असत्य है और गुलाई के केन्द्र के पास होने से छोटा है। नतोदर ताल में यही हो सकता है।



चित्र १०

इ उ ताल

अ क पदार्थ का छोटा झूठा चित्र अ¹ क¹

तालों के बारे में जो कुछ कहना था हम कह चुके। जो कुछ है उससे आँख से सम्बन्ध नहीं और उसके लिखने का यह स्थान भी नहीं है। तथापि जिन तालों ने इतनी देर तक हमारे साथ रहकर ज्ञानोपदेश दिया उनसे इतनी जल्दी विदा भी नहीं हो सकते। अतएव इतना और जान लीजिए कि ताल अपने गुणों से हमको सहस्रों काम देते हैं; और वैज्ञानिक उनके गुणों का बखान कर यश लेते हैं। उन्नतोदर ताल सूर्य की किरणों की गर्मी आकृष्ट करके जलाने का काम देते हैं। यदि भरी हुई बन्दूक पर उनको यों रख दीजिए कि बारूद उनकी अंशुनाभि पर हो तो मध्याह्नकाल में वे 'फायर' भी कर देते हैं। पानी भरे हुए गोल काँच के घर के अन्दर रक्खी हुई मछलियां मर जाती हैं। समुद्र में जो रोशनीघर होते हैं उनमें दीपक के चारों ओर समोन्नत ताल यों रक्खे रहते हैं कि दीपक अंशुनाभि में हो। अतएव ये काँच आलोक की किरणों को समानान्तर करके दूर-दूर तक प्रकाश का प्रतिस्फलन कर देते हैं। समीप रक्खे हुए छोटे पदार्थ का बड़ा चित्र बताने के लिए खुर्दबीन का और दूर के पदार्थों का चित्र समीप बताकर दूरबीन का काम भी यही काँच देते हैं। मैजिक लैण्टर्न में भीतर रक्खे हुए छोटे पदार्थों का बाहर की ओर यही बड़ा चित्र दिखाते हैं। और, फोटोग्राफ केमेरा के बाहर रक्खे हुए बड़े पदार्थ का उलटा छोटा चित्र, मसालेदार काँच पर डालकर, छाया चित्र भी यही बना देते हैं। भूत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेतों के घटते-बढ़ते चित्र; एक आकार के कई तरह के चित्र और तड़ित् फोटो; खुर्दबीन में बाल को सोटे का-सा और मच्छर को पेड़ का-सा आकार दिखा देना भी इन तालों का ही काम है। जिस चाक्षुष प्रत्यक्ष का हम वर्णन कर रहे हैं वह भी इन तालों ही की कृपा है। बुड्ढे और जवानों के चश्मे, जिनसे प्राकृतिक ताल की उपयोगिता बढ़ती जाती है, इन्हीं तालों से बनते हैं।

जब पाठक तालों के विषय में इतनी बातें जान गये हैं तब यह समझना कुछ भी कठिन नहीं है कि 'आँख' एक प्रकार का 'कैमरा आवसेक्यूरा' है। आँख में वही प्रक्रिया होती है जो चित्र १ और चित्र २ में दर्शित है। बाहर के पदार्थों की किरणें आँख के काँच में होकर बीच में परस्पर काटती हुई रेटिना रूपी पर्दे पर उलटा छोटा सच्चा चित्र बनाती हैं। यहां तक पदार्थ-विज्ञान का काम है। जब यह उलटा चित्र रेटिना पर पड़ता है तब वहां पर पदार्थ का प्रकम्पन स्नायुओं के प्रकम्पन में परिणत हो जाता है। इस बात को ज़रा समझ लेना चाहिए। पहले वैज्ञानिकों का यह मत था कि प्रकाशवान् पदार्थ में से कई छोटे-छोटे कण सब दिशाओं की ओर फेंके जाते हैं और वे असीम वेग से सरल रेखाओं में दौड़ते चले जाते हैं। किन्तु अब विज्ञान का और ही सिद्धान्त है। सब वैज्ञानिक इस बात पर एकमत हैं कि एक अत्यन्त द्रव और सूक्ष्म पदार्थ ईथर नामक है। इसे संस्कृत-वैज्ञानिकों का आकाश कह सकते हैं। आकाश केवल शब्द-गुण का ही नहीं है; किन्तु भिन्न-भिन्न तरङ्ग उसमें आलोक, उष्णता और शब्द उत्पन्न कर सकते हैं।

आलोकदायी पदार्थों में से बन्दूक की गोली की तरह कोई चीज़ नहीं छूटती। उस पदार्थ के कण बिलकुल नहीं चलते। किन्तु अपने ही स्थान पर एक प्रकार का प्रकम्पन करते हैं। उस हरकत से आसपास के ईथर में प्रकम्पन की तरंगें, जैसे रस्सी के एक छोर को हिलाने से दूसरे छोर तक कम्प होता है, वैसी उठती हैं। वही प्रकम्पन चलता हुआ हमें आलोक की भावना देता है। ऐसे ही एक भिन्न प्रकार के प्रकम्पन उष्णता वा शीत का ज्ञान देते हैं। प्रकम्पन एक ही है। किन्तु आँख, कान वा त्वचा के भेद से तीन भेद हो जाते हैं। इन्हीं प्रकम्पमान किरणों की तेजी-मन्दी से रङ्ग का ज्ञान होता है। जो किरणें प्रति सेकण्ड ४५८ अयुतायुत (दश लाख गुना दश लाख) कम्प भोगती हैं, वे लाल होती हैं और जो ७२७ अयुतायुत प्रकम्पन पाती हैं, वे बैंगनी होती हैं। इस प्रकार प्रति सेकण्ड १,९०,००० मील चलने वाली आलोक की किरणें अपने कम या ज्यादह प्रकम्पन के अनुसार, लाल, नारङ्गी, पीत, हरित, आसमानी, नीला, बैंगनी इन सात अकृत्रिम रङ्गों में प्रगट होती हैं।

सूर्य्य के प्रकाश को श्वेत मत समझिए। उस में ये सातों रङ्ग हैं। पदार्थों में भिन्न-भिन्न रङ्ग होने का कारण यह है कि जो पदार्थ और रङ्गों की किरणें शोषकर, जिसकी किरणें प्रतिफलित करे, वह उसी रङ्ग का है। वृक्ष का पत्ता और रङ्गों की किरणें शोषकर केवल हरी किरणें प्रतिफलित करता है। ये किरणें आँख में टकराकर हरा ज्ञान उत्पन्न करती हैं। अब हम फिर पहली बात पर आ गये। पदार्थ ने जिस रङ्ग की किरणें और रङ्ग की किरणों को शोषकर प्रतिफलित की हैं वे आँख में ताल के पार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुंचीं। कहना नहीं होगा, किरणें सूक्ष्म प्रकम्पन मात्र हैं। यह प्रकम्पन रेटिना में उलटा चित्र बना देगा। वहां पर इस प्रकम्पन के धक्के से चाक्षुष ज्ञानतन्तु में प्रकम्पन शुरू हो जायगा जोकि मस्तिष्क तक पहुंचकर ज्ञान उत्पन्न करने का सहायक होगा। यह न समझना चाहिए कि उस भीतर बने हुए चित्र को कोई देखता है। वह मस्तिष्क में देखने की शक्ति है। ज्ञानतन्तु-प्रकम्पन के साथ-साथ चाक्षुष प्रत्यक्ष की चेतना हो जाती है। बस, ज्ञानतन्तु-प्रक्रिया के साथ मानसिक प्रक्रियायें हो जाया करती हैं। यहां भी पदार्थ के प्रकम्पन के होने से मानसिक ज्ञान "मैं देखता हूं"—हुआ। इस प्रकार वैज्ञानिक नियमों के अनुसार चित्र बनकर उसके प्रकम्पन के साथ-साथ ही ज्ञान होने का नाम ईक्षण, अवलोकन, दर्शन वा रूप-संवेदन है।

ज्ञान-प्रकार : हमें आँख से स्वभावतः एक रङ्गदार सतह ही का ज्ञान होता है; और कुछ नहीं। यह जान पड़ता है कि यह सतह हमारे समीप है वा हम पर प्रभाव डालती है, किन्तु उस सम्बन्ध में अनुभव और तर्क करने से हम अपने ज्ञान को बहुत बढ़ा सकते हैं। यह बात 'लाक' आदि कई दार्शनिकों ने अनुमान की थी; किन्तु १७०१ ई० में 'अवलोकन का नया सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में पहले-पहल 'बर्कले' ने ही यह सिद्ध किया कि हमें रैखिक अर्थात् रेखा-सम्बन्धिनी दूरी का ज्ञान आँखों से होता ही नहीं। सामने देखती बेर हमें रङ्गदार सतह का ज्ञान होता है सही, किन्तु वह कितनी दूर पर है, सो हम नहीं कह सकते। उक्त दार्शनिक ने अपनी खोज में पहले अवलोकन के विषय में इन प्रश्नों का विचार किया है—आँख से, स्वाभाविक रीति पर, हम क्या देखते हैं? किस इन्द्रिय के द्वारा हमें पदार्थों के प्रथम गुण ज्ञात होते हैं? त्वक् अर्थात् त्वचा आँख की कहां तक सहायता करती है? बर्कले का सिद्धान्त यह है कि आँख से हमें खाली रङ्ग जान पड़ता है। यह सिद्धान्त उसने पदार्थों के (१) दूरत्व, (२) आकृति और (३) स्थान की गवेषणा से निकाला है।

[४]

पहले दूरता स्वयं नहीं दिखाई दे सकती, क्योंकि यह ऐसी रेखा है जिसका लम्बाव में आँख की तरफ होने के कारण एक छोर रेटिना पर है और दूसरा अदृश्य है। किन्तु हम इसको देखते हैं; इसलिए यह किसी दूसरे भाव की मध्यस्थता से मन को सूचना द्वारा ज्ञान देती होगी, क्योंकि मन भावों के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उस समय के लोग कहते थे कि 'चाक्षुष धुरी' कोण बनाती है और उससे दूरत्व का ज्ञान होता है। किन्तु पदार्थों को दूर देखते समय तो हमें किसी कोण का ज्ञान नहीं होता। दोनों आँखों से किसी पदार्थ को देखकर जो हम उसकी दूरी का फैसला करते हैं सो केवल अनुभव का फल है और इसमें ३ सहायक हैं—१. आँख में फेर-फार की स्नायु-सम्बन्धी भावना; २. मन में, धुंधलेपन और दूरता के जो भिन्न-भिन्न दरजे हैं उनमें, सदा यह ज्ञान होने से कि पदार्थ का धुँधलापन दूरता के साथ बदला करता है, आदत से माना हुआ सम्बन्ध और ३. दूर-दृष्टि के समय आँख पर ज़ोर पड़ने की भावना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये तीनों भाव मन में अधिक या न्यून दूरता का विचार उत्पन्न करते हैं। यदि कोई जन्मान्ध देखने में समर्थ हो जाय, तो पहले पहल उसको नजर से दूरता का ज्ञान न होगा। सूर्य और तारे, सुदूर और सुनिकट पदार्थ उसे सब ही आँख में, अर्थात् मन में, प्रतीत होंगे। चक्षु वास्तव में रङ्ग मात्र का प्रत्यक्ष कराती है! जैसे कान से दूरता का ज्ञान नहीं होता वैसे इससे भी नहीं होता; दोनों दशाओं में त्वचा की पहली भावनाओं से ही दूरता का अनुमान होता है। बहुत काल तक इस बात का अनुभव करते रहने से कि त्वचा से जाने हुए कुछ भावों (दूरता, स्पृश्य आकार, स्थूलता आदि) के साथ आँख के भाव भी संबद्ध हैं, मैं, आँख के उन भावों के उपस्थित होने पर, उसी दम अनुमान करता हूं कि कौन से त्वचा के भाव, अभ्यास के अनुसार, अब मिलेंगे। सो यदि ठीक-ठीक कहा जावे तो मैं न तो दूरता देखता हूं; न किसी पदार्थ को किसी दूरी पर देखता हूं। वह विस्तार और आकार जो मैं आँख देखता हूं, त्वचा से छुए हुए आकार और विस्तार से बहुत भिन्न हैं।

दूसरे, जैसे हम दूरी देखते हैं, वैसे ही, हम आकृति देखते हैं। दृश्य आकृति, जो दिखाई देने वाले पदार्थ के सम्बन्ध में अपना स्थान बदलती ही रहती है, हमें स्पृश्य आकृति की सूचना देती है। स्पृश्य आकृति ही सच्ची है—१. दृश्य पदार्थ की आकृति वा विस्तार, २. उसकी बाह्य रेखाओं की सफाई वा झिलमिलाहट, ३. उसके रङ्गों की तेज़ी वा धुंधलापन, ४. बीच में स्थित पदार्थों का आकार, संख्या और स्थिति और ५. आँख के विन्यास-विशेष के विशेष संज्ञान—ये सब चाक्षुष चिह्न हैं जो जीवों को सचेत करते हैं कि अपने देह को अमुक पदार्थ से, जो दूरी पर है, छुआने पर क्या भला वा बुरा फल होगा। दिखाई देने वाले चिह्न और स्पृश्य आकृतियों में यह सम्बन्ध सहज नहीं है। हम किसी पदार्थ की ठीक-ठीक आकृति नहीं देखते, किन्तु कुछ रङ्गदार बिन्दु दिखाई देते हैं, जिनकी संख्या, अवलोकन क्षेत्र में, एक पदार्थ के लिए उतनी ही होने के कारण, हमें आँख से आकृति-ज्ञान का अभ्यास हो गया है।

तीसरे, अपने देह से भिन्न पदार्थों की सच्ची स्थिति वास्तव में अदृश्य है। कई बेर यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि रेटिना पर छायाचित्र उलटा होता है, तो हम पदार्थों को खड़ा क्यों देखते हैं? इस कठिनाई का कारण यह है कि मैं नहीं समझता कि स्पृश्य पदार्थ और दृष्टि से पाये हुए ज्ञान में कोई सम्बन्ध नहीं है। जो कुछ मैं देखता हूं वह प्रकाश और रङ्गों का भेद-विशेष है; जो कुछ मैं छूता हूं वह कठोर वा मुलायम, गरम वा ठंढा, खरखरा या मृदु है। उन भावों का इन भावों से भला क्या सम्बन्ध है? 'ऊँचा' 'नीचा', 'ऊपर' तले' यह भेद हमको त्वक् से मालूम होता है। पदार्थ के चित्र में कोई गड़बड़ नहीं होती जब तक उसमें दृश्य पृथ्वी से दृश्य पैर समीप, और दृश्य सिर दूर प्रतीत होते हैं। अभ्यास से, ये अपने मुक़ाबिले के त्वक् के संवेदनों को सुझा देते हैं। वे पदार्थ, जिनका चित्र रेटिना के निचले भाग पर पड़ता है, आँख उठाने से साफ़ देख पड़ते हैं। इसीलिए हम उन्हें 'ऊपर' समझते हैं। यों ही वे पदार्थ जो आँख के ऊपरी भाग पर चित्रित हैं आँख नीची करने से साफ़ दिखाई देते हैं; अतएव वे 'नीचे' माने जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बर्कले' अपनी मीमांसा को यह सिद्ध करके समाप्त करते हैं कि "विस्तार, आकृति आदि आँख से जाने हुए भाव त्वक् के उन भावों से बिलकुल भिन्न हैं जो इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं। और, दोनों इन्द्रियों में कोई भाव भी समान नहीं है। क्योंकि मैं आलोक और रङ्ग के सिवा कुछ नहीं देख सकता और वह, वा उनके अवान्तर भेद कदापि त्वक् के भाव नहीं हैं। हम स्पृश्य रेखा वा सतह में दृश्य रेखा वा सतह नहीं जोड़ सकते। इससे सिद्ध होता है कि ये दोनों भिन्न हैं। यदि अन्धे आदमी को आँख हो जाय तो वह उन पदार्थों को नहीं पहचानेगा जो उसे त्वक् से परिचित हैं। जैसे शब्द भावों के लिए चिह्न हैं वैसे ही दृश्य आकार स्पृश्य आकारों के चिह्न हैं। किन्तु यह प्रकृति की भाषा सर्वसाधारण और सरल है; क्योंकि बहुत जल्दी बाल्यावस्था में ही सीख ली जाती है। इसका फल यह है कि हम संसार के व्यवहारों में सचेत हो जायँ। दृष्टि वास्तव में 'दूरदृष्टि' है; त्वक् से जो भाव प्रतीत होते हैं उनका आभास दृष्टि से हो जाता दे।

[५]

बस। ईश्वरीय नियमों से दृश्य आभास भूत वा भविष्यत् त्वक् के संवेदनों के विश्वस्त चिह्न हो गये हैं। दर्शन के चिह्नों का यह ज्ञान स्वाभाविक नहीं है; किन्तु दोनों प्रकार के संवेदनों के भूत सम्बन्ध से क्रमशः सीखा जाकर कल्पनाओं को सुझाता है।

इस तरह बर्कले ने सिद्ध किया है कि "पदार्थ हमें दूर दिखाई देते हैं", यह केवल भ्रम मात्र है; आँख से दूरत्व का ज्ञान नहीं होता; केवल कुछ स्पर्श के संवेदनों की सूचना हो जाती है जिसे हम व्यवहार में 'दूरत्व' मान लेते हैं। इसके बाद 'बर्कले' ने सिद्ध किया है कि दूरत्व ही कल्पना से उत्पन्न नहीं है, किन्तु यह बाह्य जगत् भी वैसा ही है। 'मन' से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। सब संवेदन मन की शक्ति का ही विकास हैं। जड़ जगत् (Matter) कोई चीज़ नहीं है; सब 'माया' ब्रह्म ही ने कल्पित की है। इस विषय को हम फिर कभी विस्तृत रूप से प्रतिपादन करेंगे।

दर्शनेन्द्रिय के विषय में 'बर्कले' के इस सिद्धान्त की पुष्टि उन अन्धे मनुष्यों की चेष्टाओं से की है जिनकी जन्मान्ध आँखें प्रयोग द्वारा सुधारी गई हैं। हैमिल्टन ने ऐसे कई प्रयोगों का हाल लिखा है जिनमें से हम यहाँ तीन लिखते हैं :

चेसलडन प्रयोग : डाक्टर चेसलडन ने, १७२७ ई० में, एक १३।१४ वर्ष के जन्मान्ध की आँख सुधारी। आँखों से दूरता जानना तो दूर रहा, उसे सब पदार्थ आँखों से वैसे ही छूते हुए मालूम हुए जैसे छुए हुए पदार्थ त्वक् पर मालूम होते हैं। उसे मुलायम पदार्थ अच्छे मालूम होते थे; किन्तु वह देखकर पदार्थों में भेद नहीं जान सकता था। अतएव कई पदार्थ रोज़ सीखकर भी वह भूल जाता था। पदार्थों को देखकर फिर पहचानने के लिए उन्हें छूकर अपने मन में वह उनका ज्ञान उत्पन्न करता था। कुत्ते-बिल्ली का भेद वह बार-बार भूल जाता था। अतएव बिल्ली को पकड़ने के बाद स्पर्श द्वारा पहचान कर, उसे बहुत देर देखता रहता और फिर बोलता—"अच्छा, पुस, अब मैं तुम्हें पहचान गया।" चित्रों में उसको पदार्थों का ज्ञान न होता था; चित्र उसे केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंग-बिरंगे समधरातल प्रतीत होते थे। प्रायः दो महीने बाद उसे ज्ञान हुआ कि वह स्थूल पदार्थों के चित्र हैं। पहले उसे वहम हुआ कि अंशों के ऊँचे-नीचे दिखाई देने से चित्रों में भी ऊँचाई-निचाई होगी, किन्तु जब उसने छूकर देखा कि वे अंश जो प्रकाश और छाया (Light and shade) के कारण गोल मालूम देते हैं, स्पर्श में चिपटे ही हैं, तब बहुत दिनों तक वह पूछता रहा कि—"कौनसा इन्द्रिय झूठा है, आँख वा त्वक् ?"

फ्रान्ज़ प्रयोग : १८४१ ई० लीपजिक् के डाक्टर फ्रान्ज़ ने एक १७ वर्ष के जन्मान्ध की आँख ठीक की। उसके सामने एक काग़ज़ के टुकड़े पर 'वर्ग' के बीच में 'वृत्त' का चित्त बनाकर रक्खा गया। उसने दोनों पहचान लिए। फिर एक मोटा चौकोर लकड़ी का टुकड़ा और उस पर वैसा ही गोला रखकर परीक्षा ली गई तो उसने उन्हें समधरातल पर बने 'वर्ग' और 'वृत्त' पहचाना। अर्थात् उसे मोटाई का कुछ भी ज्ञान न हुआ। घन टुकड़े के स्थान पर काग़ज़ रखने से भी उसे वही भाव हुआ। एक शंकु को उसने 'त्रिकोण' कहा। पूछने पर मालूम हुआ कि वह पहले तो उन पदार्थों को पहचान नहीं सकता था; किन्तु उसकी उँगलियों पर उन पदार्थों के छूने का-सा ज्ञान हुआ; अतएव वह उन्हें जान सका। हाथ से छूकर वह उन तीनों चीज़ों को (घन, गोल, शंकु को) पहचान गया। पहले-पहल वह झिझकता था कि कहीं पदार्थ (जो उससे दूर थे) उससे टकरा न जायँ। स्पर्श से यह जानकर भी कि नाक ऊँची है, और आँखें नीची, वह मनुष्यों के चेहरों को सपाट ही देखता था। इससे सिद्ध हुआ कि नेत्र ऊपर का आकार तो जान सकते हैं, किन्तु मोटाई नहीं; और जिस प्रकार दो भाषाओं के पढ़ने वाले बिना एक का दूसरी में अनुवाद किए आगे नहीं बढ़ सकते, वैसे ही त्वक्-प्रत्यक्ष और चाक्षुष-प्रत्यक्ष का हमें मिलान करना पड़ता है। वह बालक, आँख ठीक होने पर भी, बिना बात सुने, आने वालों को नहीं पहचान सकता था। तब तक उसे स्वप्न में माता-पिता आदि का स्पर्श और शब्द ही मालूम पड़ता था, किन्तु अब रूप भी जान पड़ने लगा।

ट्रिञ्चिनेटो प्रयोग : डा० ट्रिञ्चिनेटो ने एक ११ और १० वर्ष के भाई और बहन की आँखें बनाईं। सामने नारङ्गी रखने पर, और उसे लेने को कहे जाने पर, भाई ने आँख पर हाथ मारा, और खाली मुट्ठी बन्द होने से लज्जित हो, क्रमशः हाथ मारते-मारते, उसने नारङ्गी पाई। बहन ने एक बेर तो आँख पर ही विफल मुट्ठी बन्द की, किन्तु फिर आँख की सरल रेखा में तर्जनी उँगली चलाकर उसने नारङ्गी उठाने का उद्योग किया।

सो, दूरत्वज्ञान आँख का गुण नहीं है; तो भी हम आँख से दूरी जानना सीख सकते हैं; क्योंकि यद्यपि हमें अपने से दूरी नहीं सूझती, तथापि दोनों छोरों के बीच में दूरी वाले पदार्थ देखने से हमें बड़ी सहायता मिलती है। इसके सिवा इन बातों से भी हमें आँख से विप्रकर्ष के ज्ञान में सहायता मिलती है।

१. समीप के पदार्थों को देखने में आँख का डेला जरा संकुचित होता है, और ताल कुछ उन्नतोदर हो जाता है। यह क्रिया बदलने की होने पर भी ऐच्छिक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सचेतन है। अतएव, आँख पर कुछ दबाव होने से हम जान लेते हैं कि दृश्य पदार्थ पास ही है।

२. दूर के पदार्थों से आनेवाले प्रकाश के किरण समानान्तर ही होते हैं। इसीलिए उन्हें लेते समय नेत्र यथावस्थित रहता है। पास के पदार्थों के किरण विसर्पी होते हैं इसीलिए उन्हें लेने में हुआ आयास, आँख की गेंद के द्वारा नहीं, किन्तु स्नायु-सम्बन्धी छल्ले के द्वारा मन को पहुँचाया जाता है।

३. जब पदार्थ दूर होते हैं तब तक आँख से, या दोनों आँखों से देखने से रेटिना पर बने चित्र में कुछ अन्तर नहीं होता। पास होने पर भेद अवश्य होता है। किसी पुस्तक को बन्द करके उसकी पीठ को, पहले एक आँख और फिर दोनों आँखों से, २० फुट और एक फुट की दूरी पर रखकर इस भेद को जान सकते हैं।

४. पदार्थों के समीप या दूर होने से रेटिना पर बने हुए चित्रों में अपेक्षाकृत भेद होता है। आँख के पास रक्खे हुए एक पैसे से सूर्य भी ढक सकता है; परन्तु दूर होने पर पैसा रेटिना का बहुत थोड़ा स्थान रोक सकता है।

५. पदार्थों के दूर होने से उनसे आनेवाली किरणें धुंधला और समीप होने से साफ़ चित्र बनाती हैं अतएव हम अनुमान करते हैं कि धुंधले चित्रवाला पदार्थ दूर और साफ़ चित्रवाला पदार्थ समीप होगा।

६. पदार्थों की दूरता के ज्ञान में हमें उन पदार्थों से भी ज्ञान मिलता है जो हमारी आँख और उन पदार्थों के बीच में हैं, और जिन पर आँख टिकती है। बीच में ज्यादा पदार्थ होने से दृश्य पदार्थ दूर, और कम होने से समीप, जाना जाता है। इससे दूरता का अन्दाज़ बहुत जल्दी होता है; किन्तु बहुधा भूल भी हो जाती है।

७. प्रायः पदार्थों की दूरता का ज्ञान उनके माने हुए आकार से होता है। हमारे नेत्र में किसी मनुष्य के चित्र का कोई आकार बसा हुआ है। उससे कम या अधिक होने से हम देखे हुए पदार्थ को दूर या समीप मान लेते हैं।

अवश्य ही यहाँ सच्ची दूरी का विचार किया गया है। मानसिक दूरी बड़ी विलक्षण है। विद्यार्थियों को घर से मदरसे की दूरी, मदरसे से घर की दूरी से दूनी मालूम होती है। प्रेमिक को प्रेयसी के घर की दूरी का जो अभ्यास है, वह वास्तविक दूरी से बहुत भिन्न है!

सम्पादित परिवेदन

अनुभव और तर्क के द्वारा हमें कृत्रिम, प्राप्त, या सम्पादित ज्ञान इन्द्रियों से होते हैं। वास्तव में जिह्वा से 'रसानुभव' मात्र ज्ञात होता है। किन्तु बारम्बार अभ्यास से हम यह जानने लगते हैं कि यह रस जल का है, यह इमली का है। गन्ध में भी नासाग्र की चेतना ही पहले-पहल पाई जाती है। किन्तु अनुभव, गुलाब और चमेली के गन्ध में भेद, गन्ध इधर है वा उधर, पास है वा दूर, इत्यादि कई ज्ञान सिखा देता है। स्पर्श में, असल में, शरीर की सतह पर किसी सत्ता का ही अनुभव होता है, किन्तु अभ्यास से भिन्न-भिन्न भाव जाने जाते हैं और यह भी जान पड़ता है कि स्पर्श उष्ण है या शीत,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखदायक है या दुःखदायक। शब्द भी, पहले कर्णचालन मात्र होकर, अभ्यास से, दहने हैं या बायें, मनुष्य की आवाज़ है या ढोल की इत्यादि भेद बता सकता है। स्नायु-सम्बन्धी इन्द्रिय से भी भिन्न-भिन्न चोटों का भेद जानना सीखा जाता है। ऐसे ही आँख से दूरी का कृत्रिम ज्ञान होता है।

जिन पदार्थों का क़द हम जानते हैं उनके उपमान से हम और पदार्थों की ऊँचाई समझते हैं। आगरे के ताज के बुर्जों पर चढ़े हुए मनुष्यों की तुलना से हमें बुर्ज की ऊँचाई का अनुमान होता है। चित्रकार चित्र के मकान की ऊँचाई दरसाने को, उसके सामने आदमी का चित्र बना देता है। और 'बछड़ा है' यह समझाने को बछड़े के चित्र में गौ बना देता है।

द्विनेत्रावलोकन से हमें पदार्थों की स्थूलता का ज्ञान होता है। लम्बाई, मोटाई, चौड़ाई तीनों का ज्ञान तो स्पर्श तथा स्नायु से होता है, किन्तु दोनों आँखें दोनों तरफ़ के भिन्न-भिन्न चित्र दिखाती हैं। इसलिए हमें मोटाई का भाव जान पड़ने लगता है। नेत्रों के अभाव में और इन्द्रिय कहाँ तक सहायता करते हैं यह जानकर आश्चर्य होता है। **सांडरसन** नामक अन्धा गणितज्ञ, हाथ से ही, कई रोमन तमग़ों में से जाली तमग़े को पहचान सकता था। जब कभी वह अपनी पाठशाला के बाग में बैठा होता तब वह सूर्य पर बादल आते ही जान लेता। यह इन्द्रिय-विशेष की उन्नति का ही नहीं, किन्तु बची इन्द्रियों की ओर अधिक ध्यान देने के अभ्यास का फल है। एक अन्धे ने, एक घोड़े की परीक्षा करते समय, उसे अन्धा बताया। यह बात सत्य थी, किन्तु किसी परीक्षक ने यह नहीं पहचाना था। अन्धे ने यह कारण बताया कि घोड़े की टाप की आवाज़ में एक प्रकार की सचेतता और डर पाया जाता था! दूसरे ने ऐसे ही मौक़े पर एक घोड़े को काना बताया और हेतु यह कहा कि एक आँख दूसरी की अपेक्षा शीतल थी!! अन्धे दार्शनिक डाक्टर **मायस** गन्ध से अपने मित्रों की काली पोशाक पहचानते थे। अन्धे मनुष्य प्रायः स्पर्श से रङ्ग जान लेते हैं। एक ऐसे अन्धे ने 'बायल' साहब से कहा था कि उसे काला, खुरखुरा और नीला पदार्थ बहुत मुलायम प्रतीत होता है। डाक्टर **रश** दो अन्धे भाइयों का हाल लिखते हैं कि वे, सड़क पर चलते हुए, खम्भे के पास की ज़मीन की आवाज़ से, खम्भा जानकर, हट जाते थे! और अपने प्यारे पालतू कबूतरों के उड़ने ही से उन्हें नाम लेकर पुकार सकते थे!! अमेरिका के आदिम निवासी और भारतवर्ष के मीने पहाड़ों में दुश्मनों के पैरों के चिह्न पहचान लेते हैं, और उनकी संख्या तक बतला देते हैं!!!

किन्तु, कभी-कभी ऐसा ख़याल होता है कि इन्द्रिय धोखा देते हैं। प्राचीन लोग तो इन्द्रियों को छली मानते थे। परन्तु संवेदन और परिवेदन सब ठीक होते हैं। भ्रम के कारण हमी ही हैं! नियमित इन्द्रिय-प्राप्त ज्ञान को अनियमित और पर्याप्त मानकर हम जो अनुमान या उपमान करते हैं भ्रम उसी में है। ऐसे धोखे आँख के सम्बन्ध में बहुत होते हैं, क्योंकि ज्ञान का बड़ा भारी भाग आँख के द्वारा ही होता है। बड़े भारी मैदान, तालाब या समुद्र की दूसरी तरफ़ दिखाई देनेवाले पदार्थों को हम बहुत समीप समझते हैं। रेल पर चलते समय पेड़ और पर्वत चलते और रेल ठहरी हुई प्रतीत होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। बड़ी ऊँची इमारतों में घुसते हुए मनुष्य इमारत के सामने निरे बच्चे प्रतीत होते हैं।

यहाँ पर मनोविज्ञान की एक और बात जान लेनी चाहिए। वह यह कि मनुष्य के कितने इन्द्रिय हैं, उनमें क्या-क्या विशेषता है, और वस्तु-ज्ञान के हिसाब से उनका क्या उपयोग है। उनका परस्पर सम्बन्ध और आँख की प्रधानता जाने बिना विषय ठीक-ठीक नहीं खुलेगा।

त्वक्, रसना, घ्राण, कान और आँख ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा हमें 'भावों' (Feelings) का ज्ञान होता है। भाव सुख या दुःख के बोधक हैं। तो बताइए पेट का दर्द किस इन्द्रियों का भाव है? इसलिए मानना पड़ता है कि 'साधारण इन्द्रिय' या 'दैहिक इन्द्रिय' और है जो इन सबके नीचे है और इन सबका आदिम स्वरूप है। साधारण इन्द्रिय के भाव प्रायः एक ही प्रकार के होते हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों विशेषता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों भावों का भेद भी बढ़ता जाता है। इन्द्रियों से हम भावों का ही काम नहीं लेते हैं किन्तु ज्ञान का भी। इन्द्रियों का सामान्य क्रम ऐसा है—साधारण इन्द्रिय, त्वक्, रसना, घ्राण, दृष्टि और श्रोत्र। ज्ञान के अनुसार यह क्रम बिलकुल बदल जाता है। यथा—साधारण इन्द्रिय, रसना, घ्राण, श्रोत्र, स्पर्श और दृष्टि।

पशुओं में घ्राण अधिक ज्ञान देता है। जो सुना हुआ ज्ञान है उसके विषय में तो 'श्रोत्र' को सबसे आगे मानना चाहिए, किन्तु परिज्ञान की दृष्टि में स्पर्श और चक्षु ही प्रधान हैं। इनसे कई भाव और कई ज्ञान एक ही काल में जाने जाते हैं। आँख की प्रधानता इससे प्रकट हुई; किन्तु एक और इन्द्रिय है जिससे मिलकर आँख और सब इन्द्रियों का बादशाह बन गई है। हम में एक छठी इन्द्रिय भी है—उसका नाम स्नायवीय इन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय है। जब हम इच्छापूर्वक कुछ काम करते हैं, तब हमें, कार्य-विचार के साथ ही चेतना होती है। इस चेतना का ज्ञान हमें इस कर्मेन्द्रिय से होता है। हम चल सकते हैं; हम हिल सकते हैं; हमारे स्नायु हमारे आधीन हैं—यह ज्ञान इसी का दिया हुआ है। यह विलक्षण इन्द्रिय हैं। यह पराधीन रूप से भाव नहीं ग्रहण करती, और अब तक जाने हुए इन्द्रियों से भिन्न होने के कारण पृथक् नहीं दिखाई पड़ती। यह इन्द्रिय यद्यपि ७०-८० वर्ष से ही जानी गई है, परन्तु यह इन्द्रियों के हक़ में बड़े काम की है। क्योंकि यह उन्हें पराधीन से स्वाधीन बना देती है। जो कुछ किसी इन्द्रिय के पास है, उसी का हमें ज्ञान होगा; जो नहीं है उसे हम नहीं पा सकते। पर स्नायु-शक्ति के कारण अकर्त्ता इन्द्रिय कर्त्ता बन जाते हैं। जब हमें ज्ञान होता है कि हम—कर्त्ता बनकर—स्वयं संवेदन कर रहे हैं, तब जानना चाहिए कि कर्मेन्द्रिय के योग से वह इन्द्रिय 'कर्त्ता' बन गया। उदाहरण लीजिए। साधारण इन्द्रिय तो अकर्मण्य अर्थात् पराधीन इन्द्रिय का नमूना है। 'रस' में दोनों रूप हैं—एक तो जीप पर रक्खी हुई चीज़ का रस चखना और एक इच्छापूर्वक जीभ बढ़ाकर रस लेना। 'घ्राण' पराधीन ही है; परन्तु, हम सूंघ या साँस ले सकते हैं। श्रोत्र में दोनों रूप हैं; एक यथास्थित सुनना; दूसरा ध्यान देकर सुनना। चक्षु में इन्द्रिय अतीव चंचल है। वह कई आसन धारण करती है। त्वक् का मुख्य कारण हाथ भी अति चंचल है। अतएव, कर्मेंद्रिय के योग से, ये दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलने फिरने वाले इन्द्रिय, स्वाधीन इन्द्रियों के नमूने हैं !

इस बात पर इतना ज़ोर क्यों दिया गया ? इसलिए कि स्वाधीन इन्द्रिय परिवेदन में बड़ा काम देते हैं। संवेदन—अर्थात् पराधीन इन्द्रियों का ज्ञान—एक कल्पना मात्र है; चेतना में यह कभी नहीं होता। हम खरखरापन, मुलायमी, गर्मी सर्दी आदि त्वक् के गुणों को किसी पदार्थ पर मढ़ते हैं; हम यह नहीं कहते कि हम 'रंग' देखते हैं; किन्तु कहते हैं कि हम 'गुलाब' देखते हैं। 'लड्डू' कहने से पाठकों को पहले गोल चीज़ का ज्ञान होगा, पीछे मिठास का। सो, इन्द्रियों के जाने हुए भावों को अपने से पृथक् किसी पदार्थ पर लगा देने का व्यापार रात-दिन होता है, और इसका नाम परिज्ञान या परिवेदन (Perception) है। परिवेदन, विशेष करके पदार्थपरिवेदन, वह चेतना है जो खर्च की हुई स्वाधीन शक्ति के बाद पर अर्थात् कर्मेन्द्रिय पर अवलम्बित है।

परिवेदन बिना कर्मेन्द्रिय का प्रयोग नहीं होता। किसी पदार्थ को देखकर या छूकर मैंने कह दिया कि यह 'किताब' है। अब विचारना चाहिए कि यह ज्ञान कहाँ से आया। पराधीन इन्द्रियों के संवेदन से तो रंग, गन्ध या स्वाद जाना जा सकता है। उस स्वाद, गन्ध या रंग का आधार हमने कैसे बना लिया? यह जानना कर्मेन्द्रिय की सहायता से स्वाधीन नेत्र और त्वक् का काम है। पदार्थों में दो गुण हैं, विस्तार और रोध। इन्हीं के होने से पदार्थ पदार्थ होते हैं; और, यदि ये गुण न हों तो पदार्थ पदार्थ ही नहीं। एक पदार्थ अवश्य ऐसा है जिसमें विस्तार है, किन्तु रोध नहीं, जैसे आकाश। किन्तु यह सबसे प्रधान गुण विस्तार और उससे कुछ ही कम प्रधान रोध किसी भी पराधीन इन्द्रिय से नहीं जाने जाते। ये स्वाधीन इन्द्रिय से, अथवा दृष्टि और त्वक् से मिली हुई कर्मेन्द्रिय से ही जाने जा सकते हैं; और इसीसे समझ लेना चाहिए कि पदार्थ-परिवेदन में स्नायविक शक्ति कितना काम करती है।

[६]

इन्द्रियों से केवल गुणों का संवेदन होता है। किन्तु हम गुणों को स्वतन्त्र गुण नहीं कहते, किन्तु किसी पदार्थ का गुण कहते हैं। संवेदन परिवेदन में बदल जाता है, अर्थात् पराधीन इन्द्रियों से जाने गये गुण, कर्मेन्द्रिय से जाने परिवेदन से मिला दिए जाते हैं। सबसे बड़ा प्रश्न जो उठता है, वह यह है कि जब इन्द्रिय केवल गुणों को बताते हैं तो हम उन्हें 'परिवेदन से जाने हुए **पदार्थ** का गुण' कैसे कहते हैं। लड्डू का जो दृष्टान्त अभी दिया जा चुका है उसमें इन्द्रियों से तो मिठास, रंग, विस्तार, गंध यही न जाने गये थे ? हम 'लड्डू' इस भाव को कहां से ले आये, और लड्डू की मिठास, लड्डू की गोलाई, लड्डू का रंग, लड्डू का गन्ध कैसे कहने लग गये ? यहाँ पर दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान में भेद हो जाता है। दर्शनशास्त्र तो ऊपर कहे प्रश्नों का समाधान करके इस विचार में लगता है कि वास्तव में कोई चीज़ मन के बाहर और इन्द्रियों के बनाये गुणों से पृथक् है जिसमें वे सब गुण रहते हैं। मन के भिन्न कोई पदार्थ है या सब मन ही की कल्पना है। इन सब गुणों को लड्डू कह दिया है, या लड्डू कुछ चीज़ है भी। मनोविज्ञान इस प्रश्न को नहीं उठाता। वह इसी में सन्तुष्ट है कि इन्द्रियों के बनाये गुण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी एक पदार्थ पर कैसे जड़ दिये जाते हैं, इसकी खोज करे। मनोविज्ञान के छात्र उस प्रकार की खोज करते हैं, जिससे संवेदन (गुण) का परिवेदन (पदार्थ) हो जाता है, और इस खोज को दार्शनिकों के लिए छोड़ देते हैं कि परिवेदन सच्चा है, या केवल माया ही है।

हम लोग मनोविज्ञानियों का मार्ग लेते हैं। यह जाना गया कि गुणों का पदार्थों पर आरोप किया जाता है। किन्तु भिन्न-भिन्न मनुष्य कहीं-कहीं पर भिन्न-भिन्न प्रकार का आरोप करते हैं। चाकू से मेरी अँगुली कट जाय, तो मैं चाकू में चमक और अँगुली में पीड़ा मानता हूँ। सभी ऐसा करते हैं। ऐसा कोई नहीं है जो अँगुली में चमक और चाकू में पीड़ा मान ले। यहां पर सब का आरोप एक ही प्रकार का होता है। किन्तु कहीं-कहीं आरोप में भेद भी होता है। गुलाब के फूल को वर्णान्ध मनुष्य पत्रों के रंग का कहेगा, और मैं लाल कहूँगा। नैयायिकों के पुराने दृष्टान्त में पीलिए का रोगी शंख को पीला कहेगा। यहाँ आरोप में भेद हो गया। अवश्य ही गुलाब दोनों रंग का नहीं है, और न शंख दुरंगा है। मैंने, और दूसरे देखने वाले ने, जो अपनी-अपनी ओर से आरोप किया है वह मानो गुलाब का अपनी अपनी भाषा में तर्जुमा कर लिया है। वास्तव में गुलाब पदार्थ गुलाब है। न इस रंग का है, न उसका। अब देखना चाहिए कि पदार्थ क्या है, और कौनसे इन्द्रिय से उसका ज्ञान होता है। मेरे सामने एक खम्भा है। यदि इसका रंग काला न होकर लाल होता तो भी यह खम्भा ही रहता। यदि यह लोहे का न होकर लकड़ी का होता, और बजाने से और तरह का टंकार सुनाता, तो भी इसके खम्भे होने में सन्देह नहीं होता। यदि इसमें तारपीन का गन्ध न आकर इत्र की खुशबू आवे, तो भी इसका खम्भापन नहीं छूटेगा। यदि यह इतना मोटा, लम्बा और गोल न दिखाई देकर, तिकोना या पतला दिखाई दे, तो भी और तरह का खम्भा कहलाएगा, किन्तु रहेगा खम्भा ही। किन्तु यदि इसमें रोधकता न हो अर्थात् यदि मैं इसमें से निकल जा सकूं, या इससे टकराने से मेरा सिर न फूटे, तो इसका नाम खम्भा नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि वास्तव पदार्थ का ज्ञान कर्मण्य त्वक् से होता है, और कर्मण्य त्वक् से कर्मण्य आँख ऐसी मिली हुई है कि छुड़ाई नहीं जा सकती। पदार्थ वास्तव में रोधक और विस्तृत हैं याने पहले वे स्पृश्य और दृश्य हैं और पीछे घ्रेय, स्वाद्य और पेय।

यद्यपि परिवेदन में चक्षु की ही प्रधानता है, चक्षु ही परिवेदन का प्रधान तथा एकमात्र अंग है, तथापि, बर्कले के मत से परिवेदन वास्तव में स्पर्श है। बिना आँख बच्चे जनमते हैं, किन्तु बिना त्वक् नहीं। बिना चक्षु के त्वक् से जगत् जाना जाता है किन्तु त्वक् के बिना चक्षु से नहीं। अन्धे के लिए जगत् है, किन्तु त्वक्हीन के लिए नहीं। चक्षु का काम कितना ही बड़ा हो तथापि ऊपरी 'पालिश' है; नींव तो त्वक् ही डालती है। आँख रंग सकती है, गढ़ नहीं सकती। अतएव 'त्वक्' से परिज्ञान तत्त्व आरम्भ करना चाहिए।

विस्तार और रोध दोनों ही केवल कर्मेन्द्रियुक्त त्वक् से जाने जाते हैं। यह स्नायविक कर्तृता दो प्रकार की होती है :—स्वतन्त्र और रुकती हुई। पहली से विस्तार और दूसरी से रोध जाना जाता है। किन्तु यह काम खाली स्नायु का ही नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, त्वक् के ज्ञान से भी इस विषय में बड़ी सहायता मिलती है। हम जो कहते हैं, कि "यह पदार्थ एक-दूसरे से इतने दूर है" सो पहले हमें दो भिन्न-भिन्न स्पर्श ही मालूम देते हैं। रोध के छः प्रकार हैं—(१)(२) बोझ और दबाव। इनमें स्नायुबल की मुख्यता है। (३) (४) खरखरापन और चिकनाई। इनमें त्वक् प्रधान है। (५)(६) कठिनाई और मुलायमी। इनमें दोनों बराबर-बराबर हैं। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि कई रोध वाले स्पर्श, एक ही काल में एक ही क्रम से दोहराये जाने से, भिन्न-भिन्न स्पर्श नहीं मालूम देते, किन्तु एक विस्तृत पदार्थ के रूप में जाने जाते हैं। यह अभ्यास का फल और पदार्थ-परिवेदन का मूल है। कुछ लोग 'विस्तार-ज्ञान' को स्वभाव से उत्पन्न, मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह गुण जन्म से ही उत्पन्न होता है, और विज्ञान इसकी उत्पत्ति का हेतु नहीं बता सकता। यह तो विषय को छोड़कर भागना ही हुआ; किन्तु प्रथम मतवालों का भी समाधान ठीक नहीं। उत्तरोत्तर एक काल में कई स्पर्श होने से समकालिकता हो सकती है, किन्तु समकालिकता विस्तार नहीं है। यह कहना कि स्नायु शक्ति से, उलटे-सीधे कई स्पर्शों का भास होने से, वे अन्त में विस्तारयुक्त पदार्थ का रूप लेते हैं, बिल्कुल ठीक नहीं है। पदार्थों को विस्तृत कहने के पहले हमें यह कहना चाहिए कि हमें, पदार्थ स्वयं कैसे दिखाई दिए ? यद्यपि विस्तार ही सब पदार्थों का साधारण गुण है, कोई पदार्थ विस्तारहीन नहीं, तो भी हमें पहले 'रोध' ज्ञान का वैज्ञानिक हेतु बतलाना चाहिए। आकाश जानने के पीछे हम रोधक पदार्थों को नहीं जानते, किन्तु रोधक पदार्थों के अभाव को आकाश कहने लगते हैं। जो हमारी शक्ति को रोके वही चीज़ है और 'रोकना' ही रोधकता है। रोधकता उस शक्ति से जानी जाती है जो स्पर्श के बढ़ने के साथ बढ़ती जाती है।

अपनी कर्तृत्व शक्ति का कुछ धुंधला आभास, उसके रुकने का ख़याल और कठोरता का कुछ भान ही बालक के लिए पदार्थ-परिवेदन की जड़ है। पहले-पहल जननेन्द्रिय के स्पर्श और स्तनपान में ओठों के दबाव से ही बालक का संसार आरम्भ होता है। पहला पदार्थ जिसको वह जानेगा अपना ही देह है क्योंकि वह कभी दूर नहीं होता और उसमें अपनी शक्ति रुकने का दृष्टान्त क्षण-क्षण पर दिखाई देता है। भिन्न-भिन्न त्वक् में भिन्न-भिन्न रूप से स्पर्श शक्ति है, और भिन्न अंगों को छूने में हाथ को भिन्न-भिन्न परिश्रम होता है। इसी से बालक अपने देह के विस्तार और भिन्न-भिन्न अंगों को पहचानने लगता है। इसी से हम त्वक्सम्बन्धी द्वित्व जानते-जानते त्वक्सम्बन्धी दूरत्व जानने लगते हैं। देह पर कम्पास के दोनों छोर रखने से हमें खाली दो स्पर्श ही नहीं मालूम होते, किन्तु कुछ दूरी भी प्रतीत होती है। क्यों ? इसलिए कि उन दो स्थानों पर स्पर्शों में भेद है और उनके स्पर्श के लिए हाथ चलाने की जो शक्ति है उससे हमें उन्हीं में अन्तर जान पड़ने लगता है। किसी भाग को छूने के लिए कितनी शक्ति लगती है, इससे और सुलभ स्पर्श-यन्त्र हाथ से, देह के प्रत्येक भाग का दूसरे भाग से स्थानीय सम्बन्ध हो जाता है। इस बात में एक अपवाद भी है। यदि मध्यमा अँगुली को तर्जनी पर चढ़ाकर दोनों के बीच में कोई छोटी चीज़ रक्खी जाय, तो हमें एक विस्तृत पदार्थ वा दूरस्थ बिन्दुओं का ज्ञान न होकर दो पदार्थों का ज्ञान होता है। इसका कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान नहीं। हाँ, तर्जनी के स्पर्श को हम ऊपर मानते हैं और मध्यमा के स्पर्श को नीचे। सो तो ठीक है, क्योंकि यहाँ उंगलियों का क्रम बदला हुआ होने पर भी अध्यास पहले ही क्रम का है।

कर्तृत्व से हमें जब इतना ज्ञान हो जाता है तब चेष्टा किये ही हमें विस्तारज्ञान हो जाता है। अंधेरे में मेज़ पर हाथ और हाथ पर किताब रखने से, बिना हाथ चलाये भी 'मेज़' और 'पुस्तक' विस्तृत अर्थात् पदार्थ जान पड़ते हैं। क्यों ? इसलिए कि हम अपने हाथ का विस्तार जानते हैं और उससे 'रूल' का काम लेते हैं।

स्थूलता का ज्ञान पहले-पहल ओष्ठों से होता है। वह हिल सकते और स्पर्श भी कर सकते हैं। इससे वही स्थूलत्वपरिवेदन में काम आते हैं। हाथ से भी स्थूलता का ज्ञान होता है। जब अँगूठा और अँगुलियों से मिलना चाहता है, वा एक हाथ दूसरे हाथ से नहीं मिल सकता, तब हमें स्थूलता का ज्ञान होता है। पुस्तक पर हाथ के दबाव से रोध, हाथ रखकर कई स्पर्श होने देने से विस्तार और दोनों हथेलियों के बीच पुस्तक रखने से स्थूलता का ज्ञान होता है।

इन सब ज्ञानों में आँख बड़ी सहायता देती है। त्वक् में तथा उसमें बहुत समानता है। सारे रेटिना से दर्शनेन्द्रिय और सारी त्वक् में स्पर्शेन्द्रिय व्याप्त है, किन्तु 'पीतबिन्दु' और 'हाथ' ही सब कुछ है। दोनों की चञ्चलता ही इन इन्द्रियों को इतना उपयोगी बनाती है। त्वक् में हाथ बढ़कर छू लेता है, और आँख में स्नायु के द्वारा पीतबिन्दु वा ताल चाहे जिस ओर घुमाया जा सकता है। खम्भा देखते ही मैं उससे सिर क्यों नहीं टकरा देता और अंधेरे में खम्भे को छूकर उसका आकार कैसे जान सकता हूं ? पहले दृष्टांत में, मैं छूता नहीं और दूसरे में देखता नहीं। किन्तु प्रकाश में चीज़ देखने पर मुझे उसके स्पर्श का खयाल होता है और अन्धकार में स्पर्श करने पर उसके रूप का खयाल होता है। अतएव इन दोनों में बड़ा भारी सम्बन्ध है। आँख, हमें अपनी भाषा में प्रकाश और रंग तथा समधरातल और रैखिक विस्तार का ज्ञान देती है। आँख से रोध का ज्ञान नहीं होता। और इसी से स्थूलता का ज्ञान गौण रीति से होता है। आँख बहुत दूर देख सकती है, किन्तु इधर-उधर घूमकर पदार्थों को पकड़ नहीं सकती। अतएव स्पर्श से हमें जिस विस्तार का सूत्र मिल गया है, उस पर यह भाष्य बनाती है। सो स्वयं आँख रंग और प्रकाश से कुछ नहीं दिखाती, किन्तु त्वक् की बात सदा सच्ची है; आँख की बात कभी-कभी धोखा दे दिया करती है। स्पर्शज्ञान ही वास्तव ज्ञान है। वास्तव विस्तार त्वक् का बताया विस्तार है। पृथ्वी का वास्तव आकार आँख से नहीं जाना जाता, किन्तु स्पर्श करने वाले पैरों की संख्या से। सूर्य हमें थाली-सा दिखाई देता है, क्योंकि उसकी तुलना सारे दृश्य आकाश से होती है और आकाश की तुलना स्पृश्य पृथ्वी से होती है। अतएव स्पर्श ही सूर्य को थाली-सा दिखाता है। आँख केवल कुछ चिह्न बताती है जिसका अर्थ हम त्वक् के सहारे करते हैं। तारे और पहाड़ों के शिखर जो स्पर्श से दूर हैं वे भी आँख के आधीन तो हैं, किन्तु आँख दूरत्व अथवा वास्तविक सत्ता का ज्ञान नहीं उत्पन्न करती।

यह कोई न समझे कि 'रेटिना' के चित्र से पदार्थों का दृश्य-विस्तार जाना

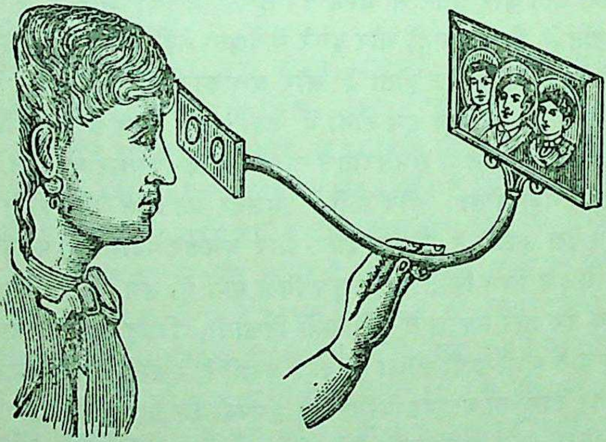
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। रेटिना का चित्र बहुत सूक्ष्म होता है, और उस पार्थिक सत्ता का, उसकी सहचारिणी मानसिक संवेदना से, कोई सम्बन्ध नहीं। स्पर्श से ही विस्तार जाना जाता है, क्योंकि पदार्थ दूर होने पर आँख उसका विस्तार बहुत ही छोटा देखती है।

रेटिना के चित्र के उल्टे होने पर भी हमें पदार्थ सीधे क्यों दिखाई देते हैं? यह आँख के विज्ञान का एक मुख्य प्रश्न है। कुछ लोग कहते हैं कि 'उलटा' 'सीधा' यह द्वन्द्व परस्पर संबद्ध है; जहाँ सभी उलटा है वहाँ सीधा नहीं। इससे सभी पदार्थ सीधे अर्थात् एकाकार दिखाई देते हैं। किन्तु सीधा शब्द स्पर्श की भाषा का है। पदार्थ की चोटी वह है जिसे छूने के लिए हमें हाथ ऊँचा करना पड़े। वास्तव में यदि चित्र उलटा न हो तो हमें पदार्थ सीधा ही न दिखाई दे। नेत्र गोल हैं, इससे पदार्थ की चोटी देखती बेर छाया पीतबिन्दु के ऊपर पड़ती है, और 'कार्निया' ऊँचा करने से 'पीतबिन्दु' नीचे आ जाता है। यदि किरणें एक दूसरे को बिना काटे भीतर जातीं तो आँख उठाने से पीतबिन्दु नीचे हो जाता, और नीचे करने से नीचा होता। अतएव आँख से और, और स्पर्श से और ही ज्ञान होता। चोटी देखने को हमें आँख नीची करनी पड़ती और चरण देखने के लिए ऊँची!! चोटी छूने को हाथ ऊँचे करने पड़ते हैं, और चरण छूने को नीचे। इन दोनों भावों को मिलाने के लिए चित्र का उल्टा होना आवश्यक है।

एक और बात विचारणीय है। हमें दो आँखों से एक पदार्थ क्यों दिखाई देता है? इसका एक उत्तर तो यह है कि यदि दो आँखों से अप्रसन्न हो तो एक आँख फोड़ डालो। आचार्य जगदीशचन्द्र बोस का सिद्धान्त है कि जब एक आँख देखती है तब



चित्र ११

स्टीरियोस्कोप

उन्नतोदर ताल के दो टुकड़ों में दो चित्र देखने से एक प्रतीत होता है।

दूसरी विश्राम लेती है। यह बात ठीक नहीं, कि दोनों रेटिनाओं के दोनों चित्र मिलकर एक भाव पैदा करते हैं। जिस पदार्थ को हम ताक रहे हैं उसके अतिरिक्त सब पदार्थ वास्तव में दो-दो ही दिखाई देते हैं। किन्तु त्वक् से उन्हें एक जानकार एक ज्ञान दृढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

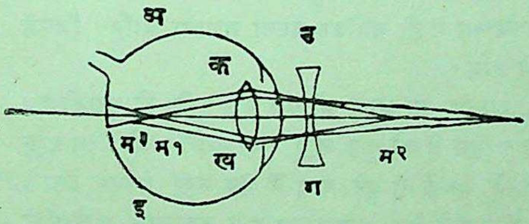
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना पड़ता है। अवश्य ही सूर्य को नहीं छू सकते। किन्तु और सब पदार्थों से अनुमान करते हैं कि वह भी एक ही है। बेन के अनुसार हम एक आँख से देखते हैं और दूसरी से उस चित्र को पूर्ण करते हैं। तो नेत्र होने से ही हमें स्थूलता का ज्ञान होता है। एक आँख से हमें एक तरफ से अधिक दीखता है और दूसरी से दूसरी तरफ से। दोनों मिलकर हमें एक उभड़ा हुआ चित्र दिखाती हैं। यही तत्त्व 'स्टीरियोस्कोप' नामक यन्त्र में है।

यदि दो चित्र बनाये जायं यौर एक में दाहनी ओर और दूसरी में बाईं ओर अधिक दिखाया जाय और यदि वे दोनों चित्र एक उन्नतोदर ताल के दो टुकड़ों को दोनों आँखों पर रखकर देखे जाय तो एक स्थूल पदार्थ का भान होता है। जैसा कि इस चित्र में दोनों फ़ोटोग्राफ़ों का एक ही फ़ोटोग्राफ़ प्रतीत होता है; और वास्तव में पदार्थ को देखने का-सा सन्देह होता है। यदि चित्रों के स्थान बदल दिये जायं तो ऊँचाई की जगह निचाई और निचाई की जगह ऊँचाई प्रतीत होगी। पृथक्-पृथक् रङ्गों को दोनों आँखों के सामने रखने से मिश्रित रङ्ग प्रतीत होता है। यदि दोनों चित्र समान हों तो नया चित्र बिकुल चिपटा होगा। इससे जाली नोट, नक़ली दस्तावेज़ आदि पकड़े जा सकते हैं। अतएव दो नेत्रों के होने से स्थूलत्व और दूरत्व के ज्ञान में बड़ी सहायता मिलती है। एक आँख बन्द करके हम सूई नहीं पिरो सकते।

अब आंख के बारे में केवल तीन बातें कहना रह गई हैं—समीपदृष्टि, वृद्ध-दृष्टि, वर्णान्धता।

१. रेटिना तथा काँच की बनावट के अनुसार कई लोग समीप तो देख सकते हैं किन्तु दूर नहीं। वे आँख ने पास ले जाकर देखते हैं; और अंधेरे में अच्छा देख सकते हैं। इसका हेतु आँख के ताल का अधिक उन्नतोदर होना है। इसीलिए उनके किरणों का छायाचित्र रेटिना से कुछ इधर ही 'म^{3}' बनता है। (चित्र १२ देखो) इससे पदार्थ धुंधला दिखाई देता है। पदार्थ समीप लाने से 'म^{1}' चित्र ठिकाने पर बनता और पदार्थ दिखाई देता है। ऐसे मनुष्य कुछ आँख मूंदने से, या छिद्र में होकर देखने से, अच्छा देख सकते हैं। क्योंकि उससे डेला छोटा हो जाता है। और आँख में जाने वाली किरण-माला छोटी होने से किरणें ताल को केन्द्र ही में काटती हैं और केन्द्र पर अधिक गोलाई होने से दूर अर्थात् रेटिना पर चित्र बनाती हैं; अर्थात् अवस्था बढ़ने से आँख की गोलाई कम हो जाती है। इससे उनकी आँख उस समय सुधर जाती है जबकि



चित्र १२

समीपदृष्टि

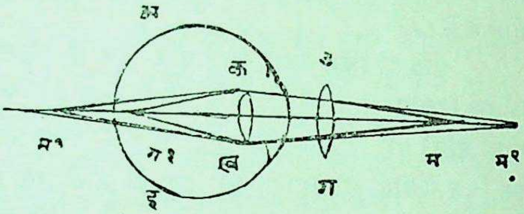
अ इ रेटिना। म पदार्थ। क ख नेत्र। म^{3} धुंधला चित्र। उ ग चश्मा। म^{2} पदार्थ कल्पित स्थान। म^{1} साफ चित्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औरों की आँख वृद्धदृष्टि से बिगड़ जाती है। इस रोग की वृद्धि सभ्यता की वृद्धि के साथ होती है। आफ्रिका में किसी को यह रोग नहीं होता, किन्तु प्रकाश में काम करने से सभ्य देशों में बहुत अधिक होता है।

२. वृद्धदृष्टि—उम्र अधिक होने से, काँच की गोलाई कम होने के कारण किरणें रेटिना पर चित्र न बनाकर उससे कुछ आगे 'म^{४}' चित्र बनाती हैं। (चित्र १३ देखो) किन्तु पदार्थ को दूर हटाने से चित्र ठिकाने पर आ जाता है। अतएव बुड्ढे आदमी पास के पदार्थ को ज़रा दूर हटाकर देखते हैं।



चित्र १३

वृद्धदृष्टि

भ इ रेटिना। म पदार्थ। क ख नेत्र। म^{१} धुंधला चित्र। उ ग चश्मा। म^{२} पदार्थ का कल्पित स्थान। म^{१} साफ चित्र

समीपदृष्टि, केन्द्रापसारक ताल आँख के सामने लगाने से, मिट जाती है। आँख से प्रवेश करने से पहले किरणें अवसर्पिणी होने के कारण आँख के ताल की अंशुनाभि हटकर 'म^{३}' बन जाती है। वृद्धदृष्टि के लिए केन्द्राकर्षक तालों की ज़रूरत है। इससे ताल में घुसने के पहले किरणें केन्द्राकृष्ट होने से रेटिना के पार नहीं किन्तु रेटिना पर ही चित्र बनती हैं।

बहुत दिनों तक उभयनतोदर और उभयउन्नतोदर काचों ही का प्रयोग होता था; किन्तु अब उनके बदले अर्द्धचन्द्र (उ, तथा ग, चित्र ४) काचों का प्रयोग होता है। इससे आँखें सब दिशाओं में देख सकती हैं और थकती नहीं। अतएव जिन्हें समीपदृष्टि का रोग हो उन्हें, हमारी तरह, बाल्यावस्था में ही नतोदर चश्मा लगाना चाहिए जिससे बड़ी उम्र में आँखें औरों से अच्छी हो जायं।

३. लोक में कहावत है कि श्रावण के अन्धे को सब कुछ हरी ही सूझती है। जो लोग नहीं देख सकते वे तो उनके समान हैं जो कुछ नहीं सुन सकते। जो लोग रङ्ग नहीं देख सकते वे उनके समान हैं जिन्हें अच्छे या बुरे राग में भेद नहीं मालूम देता। पहले सब पदार्थ एक ही रङ्ग के प्रतीत होते थे। मनुष्य जाति ने रङ्गज्ञान धीरे-धीरे प्राप्त किया है। कुछ बन्दर वर्णान्ध होते हैं, अर्थात् नारङ्गी के फल और पत्तों को एक ही रङ्ग का मानते हैं। मच्छियों का वर्णपरिज्ञान तो बहुत ही कच्चा है। वे केवल उजेला, अंधेरा ही पहचानती हैं। अभी विलायत के एक डाक्टर ने एक ऐसे मनुष्य की आँख देखी जिसको सूर्यकिरण का सप्तरङ्ग एक आँख से भूरा दिखाई देता था और दूसरी से आसमानी और लाल रंग—दोनों छोर के रङ्ग-मात्र वह देखता था। बीच में सब भूरा था। मनुष्य को भी पहले-पहल किनारे के दोनों रङ्ग दिखाई दिये; और बीच में केवल भूरा रङ्ग। फिर उस भूरे में क्रमशः दोनों कोनों के दोनों रङ्ग नारङ्गी और नीले दिखाई दिये। बीच की भुराई ने कुछ काल बीतने पर और दो रङ्ग प्रकट किये। सम्भव है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे वंशज हमसे अधिक रङ्ग देख सकें। हमारे पूर्वजों से हम अधिक रङ्ग देखते हैं। जो पूर्वज जितने प्राचीन है उनका वर्ण-परिज्ञान उतना ही कम है। अजण्टा गुफाओं में चित्रों के आसपास हरी आभा बनी हैं जो वास्तव में गुलाबी होनी चाहिए। ऐसे ही हम पुराणों में हरे घोड़े का वर्णन पढ़ते हैं। पीत को कई पुराने मनुष्यों ने 'रक्त-हरित' कहा है। 'राम' 'कृष्ण' को नवजलधर श्याम कहने का अभिप्राय भी शायद उस समय के वर्ण-परिज्ञान के अनुसार हो। वास्तव में, हम भी सच्चे और वे भी सच्चे, क्योंकि अपनी-अपनी आँख के अनुसार सभी रङ्ग मानते हैं। किन्तु यों नये-नये रङ्ग जानकर मनुष्य ने कुछ खोया भी है। जङ्गली बहुत कम रङ्ग पहचानते हैं और उनकी दृष्टि बड़ी तीव्र होती है। सातों रङ्ग और उनके अनेक सङ्कर देखनेवाले हम सभ्यगण 'शार्टसाइट'(मन्द-दृष्टि) से घबरा रहे हैं! सम्भव है कि रङ्गदर्शन-विहीन काल में मनुष्य बहुत दूर तक देख सकता रहा हो। इन सातों रङ्गों से आगे भी एक रङ्गों का सप्तक है जिसके लिए हम सब वर्णान्ध हैं। सम्भव है, कभी कालान्तर में वह भी हमारे वंशजों को दिखाई देने लगे।

अस्तु, लेख के बहुत बढ़ने की क्षमा माँगकर यही कहना है कि—

'य इमां चाक्षुषी विद्यां नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति न तस्य कुलेऽन्धो भवति इति।'[1]—चाक्षुषोपनिषद्

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : क्रमशः फरवरी, मार्च, मई, जून, अगस्त तथा सितम्बर, १९०५ ई०]

---

१. (क) गैनो, राबर्टसन, मैकाश, सली, बर्कली प्रभृति के आधार से लिखित।

(ख) जो इस चक्षु-सम्बन्धी विद्या को नित्य पढ़ता है उसे कभी आँख का रोग नहीं होता और न ही उसके कुल में कोई अंधा होता है। —सम्पादक

(ग) गुलेरी जी ने इस लेख के अन्त में, पादटिप्पणी में—"क्या हिंदी-रसिक और इंद्रियों का भी ऐसा वर्णन पसंद करेंगे?"—लिखा तो 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पादटिप्पणी में लिखा—"खुशी की बात है कि यह लेख आज पूरा हो गया।"

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध

मनोरंजक श्लोक-१

(राजाओं को चिट्ठियाँ)

महाराष्ट्र राज्य के संस्थापक शिवाजी महाराज के विरुद्ध जब मुगल सम्राट् औरंगजेब की तरफ़ से लड़ाई के वास्ते शाइस्ता खाँ आया, तब, ऐसा सुना जाता है, कि उसने यह श्लोक लिखकर शिवाजी के पास भेजा—

वानर ! त्वं वने शायी पर्वतस्ते सदाश्रयः ।
वज्रपाणिरहं साक्षात् शास्ता स्वयमुपागतः ॥

अर्थात् हे वानर ! तुम वन में रहते हो और पर्वत ही तुम्हारा आश्रय है। पर्वतों के पक्षों को काट डालनेवाला साक्षात् वज्रपाणि इन्द्र शासन करनेवाला (शास्ता, शाइस्ता खाँ) बन कर, मैं तुम पर चढ़ आया हूँ।"

शिवाजी ने इसका जो उत्तर दिया उसका तात्पर्य यह है कि पर्वत में रहनेवाले, और वन के आश्रित वानर हनूमान ने बालकपन ही में इन्द्र को पराजित किया था, और इन्द्र के दमन करनेवाले रावण को खूब नाच नचाया था। मुसलमानी सेनापति की ओर से संस्कृत-श्लोक का लिखा जाना चमत्कारजनक है।

दिल्ली के मुग़ल बादशाहों के अन्तिम काल में आम्बेर (जयपुर) के महाराज सवाई जयसिंह अपने राज्य को बढ़ाते चले जाते थे, और मालवा की सूबेदारी भी करते थे। उस समय पेशवा राज्य के नायक बाजीराव ने, उन्हें अन्योक्ति में यह श्लोक लिखवा भेजा—

पीत्वा गर्जन्त्यपस्ते दिशि दिशि जलदास्त्वं शरण्यो गिरीणां
सुत्रामत्रासभाजां, त्रिदशविटपिनां जन्मभूमिस्त्वमेव ।
ऐश्वर्यं तच्च तादृक् त्वयि सलिलनिधे ! किन्तु विज्ञाप्यमेतत्
सर्वोपायेन मैत्रावरुणिमुनिकृपादृष्टयः प्रार्थनीयाः ॥

"हे समुद्र ! मेघ तुम्हारा ही जल पीकर सब कहीं गरजते हैं, इन्द्र से डरे हुए पर्वतों के शरण भी तुम्हीं हो, कल्पवृक्षों का जन्म भी तुम्हीं से है और ऐश्वर्य भी तुम्हारा वर्णन से बाहर है। परन्तु विज्ञापना इतनी ही है कि सभी उपायों से अगस्त्य मुनि (समुद्र को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पी जानेवाले) की कृपादृष्टि की प्रार्थना करते रहना ।"

इसका उत्तर यह गया—

क्षन्तव्यो द्विजजातिनः परिभवोऽप्येतद्वचः पालनात्
पीतः कुम्भसमुद्भवेन मुनिना किं जातमेतावता ?
मर्य्यादां यदि लङ्घयेद्विधिवशात् तस्मिन् क्षणे वारिधिस्त्रैलोक्यं
सचराचरं ग्रसति वै, कस्तत्र कुम्भोद्भवः ॥

"समुद्र के द्वारा इस वचन के पालन किये जाने के कारण, कि ब्राह्मण से हार जाने पर भी उसे क्षमा ही करना पड़ता है, यदि घड़े से पैदा होने वाले मुनि ने उसे पी लिया तो क्या हुआ ? यदि समुद्र (प्रलयकाल की तरह) अपनी मर्यादा को उलांघ जाय तो वह सारे संसार का ग्रास कर सकता है, बेचारे कुल्हिया से जन्मे हुए मुनि की क्या कथा ?"

यह रूखा उत्तर देकर भी उक्त महाराज ने सुनते हैं, मालवा की सूबेदारी का पट्टा बादशाह से पेशवा के नाम लिखवा, सिप्रा में स्नान करके 'ब्राह्मण' पेशवा को मालवा का दान कर दिया ।

[प्रथम प्रकाशन : **सरस्वती** : अगस्त, १९०४ ई०]

मनोरंजक श्लोक-२

ताम्रपत्रों और शिलालेखों में जो राजाओं की प्रशस्तियाँ लिखी मिलती हैं उनमें प्रशस्ति लिखने वाले कवि अपनी-अपनी बुद्धि से अपने आश्रयदाता के वंश को बहुत ऊँचा वर्णन करते हैं। यदि वंश में कुछ न्यूनता हो तो उसको तो छिपाते हैं ही, परन्तु और उसी समय के वंशों से उसको उत्कृष्ट दिखाने का भी यत्न करते हैं। अपने वंश के उत्कर्ष को दिखाने के लिए दूसरों के वंश की निंदा भी किया करते हैं। परन्तु एक कवि की अनूठी वर्णना राग-द्वेष की, बिना निन्दा की और बहुत ही मनोरम है ।

राजा अन्नवेम का एक दानपत्र शक संवत् १३०० का वनपल्ली (गोदावरी ज़िला, मद्रास) में मिला है। ये राजा शूद्र जाति के रेड्डी थे। प्रशस्ति के निर्माता त्रिलोचनार्थ अपने आश्रयदाता के वर्ण का यों वर्णन करता है[1] :

तत्र चतुर्थो वर्णः शौरेः पदपद्मसम्भवो जयति ।
यस्य सहजा स्रवन्ती त्रिभिः प्रवाहैः पुनाति भुवनानि ॥

भगवान् विष्णु के चरण-कमल से उत्पन्न चतुर्थ वर्ण की जय हो जिसकी सहोदर भगिनी गंगा अपने तीन प्रवाहों से तीन लोकों को पवित्र करती है ।

---

१. एपिग्राफिया इण्डिका : मार्च, १८९४, पृष्ठ ५९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चमत्कार यह है कि जो लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को भगवान् के मुख, बाहु, ऊरु और चरण से क्रमशः उत्पन्न हुआ मानते हैं और चतुर्थ वर्ण को नीच समझते हैं वे ये भी मानते हैं कि लोकपावनी गंगाजी भी उसी भगवान् के चरण के अंगुष्ठ से निकली हैं। कवि गंगा को शूद्र वर्ण की बहन बनाकर चुपचाप बिना दूसरों की निन्दा किये, दूसरों ही के शब्दों में अपने आश्रयदाता के वंश का उत्कर्ष दिखा गया।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : नवम्बर, १९१० ई०]

मनोरंजक श्लोक-३

प्रसिद्ध विद्वान् बालंभट्ट से किसी ने पूछा कि आजकल आपका पुत्र क्या करता है। बालंभट्ट अपने कुपुत्र के आचरणों से दुःखी थे। बोले :

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति। परिपन्थं च तिष्ठति।
व्रातेन जीवति। अधुना। न वशः। पूर्ववत्स नः॥

अर्थात्—पक्षि, मत्स्य और मृगों को मारता है; कुमार्ग पर चलता है, लुच्चे-लुंगाड़ों के साथ रहता है, अब वह पहले की तरह हमारे वश नहीं।

इस श्लोक के छः टुकड़े हैं [जैसा कि चिह्नों (।) से दिखाया गया है] और वे छहों पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के सूत्र हैं। सूत्रों को जोड़कर ही श्लोक बना दिया गया है।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : नवम्बर, १९११ ई०]

मेंढकों की टर्र

इस पत्र (वेंकटेश्वर) की किसी गत संख्या में पंडित बालचन्द्र शास्त्रीजी ने तुलसीदासजी की—'दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई। वेद पढ़हिं जिमि वटु समुदाई॥' इस उक्ति से 'श्रीमद्भागवत' के नीचे लिखे हुए श्लोक की समानता दिखाई है—

श्रुत्वा पर्जन्यनिनादं मण्डूका व्यसृजन्गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये॥

इस सम्बन्ध में पाठकों को यह जानकर विनोद होगा कि मेंढक के टर्राने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपमा ब्राह्मणों के वेदपाठ से देने की चाल बहुत पुरानी है। यहाँ तक कि 'ऋग्वेद' के 'मण्डूकसूक्त' (मण्डल ७ : सूक्त १०३) में भी यह बराबर मिलती है। वहाँ मेंढकों को 'साल भर तक व्रत के नियम से रहने वाला' (संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः) कहा गया है। इससे 'भागवत' के श्लोक के 'श्याना' और 'नियमात्यये' को मिला देखिए। आगे चलकर 'बेटा जैसे बाप के पीछे-पीछे बोलता है' (पितरं न पुत्रः) वैसे मेंढकों का बोलना बताया गया है। 'इनमें से एक दूसरे की बोली का अनुवाद करता है, जैसे गुरु की बोली को चेला' (अन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः) 'भरे हुए तालाब के चौतरफ अतिरात्र सोमयाग में ब्राह्मणों की तरह बोलते हुए' (ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वन्दतः) 'सालाना यज्ञ करते हुए सोमयागी ब्राह्मणों की तरह' (ब्रह्मणासः सोमिनो वाचमक्रतः ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्) ये बोलते हैं और इनमें से कुछ पसीजते हुए अध्वर्यु याज्ञिकों की तरह छिपे हुए सामने आते हैं (अध्वर्यवो धर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित्) नियम से बहुत काल तक चुप रहकर फिर नियत समय तक बोलना और बार-बार एक स्वर से बोलना इन्हीं सादृश्यों को लेकर यह उपमा चली है और वेद, पुराण और भाषा-कविता तीनों में अमर हो गई है। अवश्य ही वेद-पाठियों का इसमें कोई अपमान नहीं विचारा गया गया। व्यर्थ बोलने को भी मेंढकों के टर्राने की उपमा दी गई है। जैसे वेद में...ऋषि अपने शत्रुओं के विषय में कहते हैं कि "मैं तुम्हारा सर्वस्व लेकर तुमसे ऊँचा हो जाऊँ और तुम्हारे सिर चढ़ बैठूं और तुम मेरे पैरों तले से यों बोलो जैसे मेंढक पानी में से।"

[प्रथम प्रकाशन : वेंकटेश्वर : १८ मार्च, १९१० ई०]

काकपद

लिखते-लिखते यदि कुछ अक्षर छूट जाते हैं तो उन्हें पंक्ति के ऊपर लिख दिया करते हैं। जहाँ यह 'टूटक' जोड़ी जाने को होती है, वहाँ एक चिह्न कर दिया करते हैं। आजकल की लिखावट में यह काम इस ∧ चिह्न से लिया जाता है, जिसे अंगरेजी में 'केरेट' कहते हैं। प्राचीन पोथियों में यह चिह्न V अथवा = पाया जाता है। संस्कृत में इसका नाम 'काकपद' अर्थात् 'कौवे का पाँव' है। यह नाम सादृश्य पर रखा गया है। संस्कृत के प्रौढ़ि कवि, लिखने-पढ़ने की साधारण बातों के आधार पर भी बड़ी ही रसमयी उक्तियाँ कहा करते थे। श्रीहर्ष ने सूर्य तथा चन्द्रमा के आसपास घेरा देखकर यह उक्ति की कि जैसे पण्डित लोग व्यर्थ या अशुद्ध अक्षरों को न काटकर उनके चारों ओर हरताल से एक कुण्डल या घेरा बना दिया करते हैं वैसे ही नल के तेज और यश के आगे सूर्य-चन्द्र को व्यर्थ समझकर विधाता उनके चारों तरफ़ कुण्डल खींच देता है। काकपद के विषय में दो उक्तियाँ इस लेख में दी जाती हैं :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'स्तुतिकुसुमांजलि' का कर्त्ता जगद्धर भट्ट अपने दादा गौरधर के विषय में लिखता है—

प्रमादनिर्माय पुरातनः कविर्यमग्निमश्लोकमवश्यमग्रतः ।
विमृश्य पङ्क्तेरुपरि द्विजन्मनां न्यवीविशत्काक पदांकितं पुनः ॥ (३६।२)

ब्रह्मा भूल गए। अति यशस्वी गौरधर को सबसे पहले बनाना उचित था। विचार करने पर जब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई तब उन्होंने उनको ब्राह्मणादि वर्णों की पंक्ति पर उसी तरह बिठला दिया जैसे कवि पहले श्लोक को भूल से पीछे बनाकर, पंक्ति के ऊपर लिख देता है।

'श्रीकण्ठचरित' के कर्त्ता मङ्खक महाकवि कहते हैं—

येनाङ्घ्रिपीठहठसंततघृष्टिनिर्यत्तिर्यक्किणा जगति कस्य न भालपाली ।
दैवानधीतनवदिव्यशुभाक्षरालीन्यासेच्छया निहितकाकपदेव चक्रे ॥

विधाता सबके ललाट पर होनहार शुभ-अशुभ लिख देता है। जो लिखा गया है, वही होता है, उसमें कमी-बेशी नहीं होती। परन्तु शिवजी के भक्तों के विषय में ऐसा नहीं होता। नित्य शिव के चरणारविन्दों को प्रणाम करने से ललाट घिसते-घिसते एक तिरछा-सा काला दाग पड़ जाता है। वह मानो शिवजी काकपद के सदृश इसलिए बना देते हैं कि विधाता ने जो अक्षर न लिखे हों उन्हें, भक्तों के सिर पर, अब आकर लिख जाय। जो कुछ उनके भाग्य में त्रुटि हो, उसकी अब वह पूर्ति कर दे।

यह सभी मानते हैं कि विधाता ललाट पर भावी भोग लिख दिया करता है। इस विषय में महाकवि बिल्हण की एक अनूठी उक्ति सुन लीजिए—

चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य भालश्रियं कण्टकिनो वनान्ताः ।
अद्यापि किं वानुभविष्यतीति विपाटयन्द्रष्टुमिवाक्षराणि ॥

चालुक्य राजा के डर से चोल देश का राजा जंगल को भागा। कँटीले पेड़ों से उसके मस्तक की चमड़ी छिलने लगी। कवि कहता है कि जंगल उसके सिर का लेख पढ़ना चाहते हैं कि देखें अब यह क्या भोगेगा। राजपाट छोड़कर जंगल में भग आया। इसके बाद इस पर अब क्या-क्या बीतती है। यही जानने के लिए वे उसके मस्तक को खुरच रहे हैं कि लिखा तो होही गा (होगा ही), पढ़ लें।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : १ जुलाई, १६१३ ई०]

विवाह की लाटरी

विवाह एक लाटरी है। 'गाय-बजायकर', 'आँख मूंदकर', काठ में पाँव दिया जाता है। आगे चलकर किसी को वह काठ सोने का कंकण बन जाता है, किसी को काठ ही बना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहता है, किसी को लोहे की बेड़ी और किसी को जलते अंगारों की माला बन जाता है। दो न्यारे दृश्यों को मिलाकर एक बनाने का काम है, तभी तो वेद कहता है कि एक पेट की जन्मी हुई बहन तो दूसरे की बनती है और नई न जानी-सुनी और ही स्त्री बनकर भाई की हो जाती है। इस लाटरी में कुछ समझ लगाने का जतन सभी करते हैं, करते आए हैं, करते रहेंगे। जैसे शब्दों से शब्दों का व्याख्यान होता है, प्रश्न से प्रश्न सुलझता है और पहेली से पहेली, वैसे एक लाटरी में दूसरी से परीक्षा की जाती है। पुरुष या स्त्री अपने होनहार जोड़े को अपने ही आँख, कान या मन से परखना चाहता है। आप न कर सके तो मित्रों की सहायता लेता है। जैसे अर्जी देने वाले सर्टिफ़िकेट देखकर चुने जाते हैं वैसे जोड़े के माता-पिता, कुल, लक्षण और प्रसिद्धि जांची जाती है। अपने सिर का भरोसा न हो तो माता-पिता पर लाटरी का टिकट डालना छोड़ा जाता है। नाई और पुरोहित भी इस जूए में मध्यस्थ बनते हैं। ज़मीन पर के सहायकों के भरोसे न रहकर तारों और ग्रहों की सहायता भी ली जाती है कि इस फाटके या सट्टे का ठीक अंक वे ही बतला दें। वर्ण, वश्य, तारा, योनि, ग्रहमैत्री, भकूट, नाड़ी—क्या-क्या जाल बिछाये गए हैं कि जो मछली हम चाहते हैं, वह ही हाथ लगे! मनुष्य और अमनुष्य, पृथ्वी और ग्रह सबकी सहायता लेने पर भी लाटरी लाटरी ही बनी रही। वश्य होने पर भी वश नहीं रहती, ग्रहमैत्री होने पर भी गृह में दोष हो जाता है, भकूट के रहते भी कुटाई होती है और नाड़ी मिलने पर भी नारी अनाड़ी के हाथ लग जाती है।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, १९२० ई०]

जोड़ा हुआ सोना

कहते हैं कि हिंदुस्तान बहुमूल्य धातुओं की समाधि (क़ब्र) है। धातु यहाँ खिचकर चले आते हैं, फिर निकलते नहीं। और देशों में सोने के निकास को रोकने के लिए नियम बनते हैं, यहाँ निकास की कथा नहीं, आमद पर डाँट लगाना पड़ती है। जैसे वैद्यों का बुभुक्षित पारद सोना चट कर जाता है और डकार तक नहीं लेता, वैसे यह देश भी सोना सोसता जाता है, इस स्पंज या ब्लाटिंग पेपर में कितना सोना सोखा जा सकता है। कहते हैं कि बढ़िया दस्तकारी का माल बाहर भेज-भेजकर बदले में सोने के सिक्के खेंचकर हिन्दुस्तान ने ही रोम के साम्राज्य का दिवाला निकाल दिया था। कुछ अंक-शास्त्रियों के मत में प्रति चूल्हे की परिधि में और प्रति खटिया की तल में कुछ-न-कुछ सोना अवश्य है, उसका लेखा करोड़ों पर जा लगता है, यहाँ की चाल भी सोने का प्रेम सिखाती है। जनमते बालक को जीभ पर सोने की सलाई से शहद और घी चटाना 'गृह्यसूत्र' कहते हैं और मरते दम तुलसी, सोना मुंह में डाला जाता है, यों जीवन-मरण सोने के प्रेम में बीतता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोना जोड़ने का एक अद्भुत उपाय इस देश ने निकाला है। वह है, चलती-फिरती तिजोरियाँ, घूमती-फिरती पेटियाँ, दौड़ते-खेलते बंक! जहाँ सोना पास हुआ गले में या सिर में टाँक दीजिए। बंक प्रसन्न हो जाएँगे। बंकिम कटाक्षों को धन्यवाद देंगे, अठलाते दिखलाते फिरेंगे, सम्भाल रखेंगे, काम पड़ने पर जीती-जागती सोने की बेल से एक-आध नग उतारकर काम चला लीजिए फिर सुविधा होने पर चढ़ा लीजिए। इन चलते-फिरते बंकों के गलों तथा नाकों और जाँघों और हाथों में कितना कनक लदा हुआ है, इसका अन्दाज करते हुए अंक-शास्त्री भी हारते हैं। पिछले वर्षों से इनकी मात्रा बढ़ी है। जहाँ पीतल थी, वहाँ चाँदी चमकती है। जहाँ चाँदी थी, वहाँ सुवर्ण का वर्ण दमकता है।

इन खूँटियों से लदने वाले कभी सोना खरीदने में थकते नहीं। लोग कहते हैं कि देश गरीब है, सोने की खपत के अंकों को देखें तो यह मानने का साहस नहीं होता। सोना ३४ का था, तब भी लेने वालों ने लिया, लेना बंद न हुआ। आजकल सरासर देख रहे हैं कि सोने का असली भाव १३ का है, पर सरकार २०।२१ में बेचती है और लोग चट किये जाते हैं, फिर बाजार में २३।२४ में बिकता है पर मिलता नहीं, पखवाड़े के पखवाड़े एक लाख कई हजार तोले बिकता है, पता नहीं कहां घुस जाता है। इस बड़वाग्नि में कितना सुवर्ण सागर खप जाता है, यह कौन कहे?

सोने की खानें अमेरिका में बहुत अधिक हैं। अमेरिका को पहले-पहल सन् १४९३ से कोलम्बस ने पाया। इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले अमेरिका था ही नहीं, देश था, किन्तु योरोपियन जातियाँ बाईबल के अनुसार मानती थीं कि ज़मीन चपटी है और आकाश उस पर तम्बू की तरह तना हुआ है।

अमेरिका का होना उसने दिखाया और आना-जाना चलाया। सोने की खानें आस्ट्रेलिया में हैं, एफ्रीका में हैं, कुछ भारत में भी हैं। अच्छा, तो सन् १४९३ में संसार की खानों से तीन अरब पचास करोड़ पाउंड का सोना निकल चुका है। इसमें से एक अरब पचास लाख का तो पिछले साल में निकला है। सन् १४९३ से पहले भी संसार में बहुत कुछ सोना था ही। सोना कभी नष्ट नहीं होता। वैद्य लोग पारद में मिलाकर या खाक करके कुछ खिला डालें, या शौकीन लोग पान के साथ वरकों के रूप में चट जायं, नहीं तो सोने का नाश नहीं होता। गीता के आतमा की तरह न इसे शस्त्र काटते हैं, न आग जलाती है, न पानी गीला करता है, न वायु सुखाता है तो भी पिछले सोने की बात जाने दीजिए। तीन अरब पचास लाख पौंड सोना तो कम-से-कम दुनिया में है और पचीस साल पहले इससे लगभग आधा था। इन पचीस साल में हिंदुस्तान में इक्कीस करोड़ पचास लाख पौंड मूल्य का सोना आया। इसी में नौ करोड़ चालीस लाख पाउंड के सिक्के भी हैं जो सन् १९०१ से यहां आये, एक अंकविद्या-विशारद की कूत है कि आजकल हिंदुस्तान में ३७ करोड़ १० लाख पौंड का सोना है जो संसार के सोने के लगभग दशमांश के बराबर है। लड़ाई के पहले के पाँच वर्ष में यहां पर दस करोड़ पचास लाख पाउंड खप गये थे, यह भी संसार की सुवर्ण-मुद्रा पूंजी का दसवां हिस्सा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सोना दिखाई तो बहुत देता है पर यह भी याद रहे कि यहां पर जनसंख्या साढ़े इकतीस करोड़ है, इससे इतना सोना भी प्रति मनुष्य एक पाउंड से कुछ कम ही ऊपर पड़ा। इंगलैंड के बंकों में इतना सोना जमा है कि प्रति मनुष्य तीन पौंड से अधिक पड़ता है और वहां की चलती-फिरती बंकों में भी आभूषणों के रूप में बहुत कुछ सोना होगा ही। अमेरिका के बंकों और चलते-फिरते बंकों में सिक्कों और आभूषणों के रूप में एक अरब सोना रखा हुआ है जो प्रति मनुष्य दस पौंड पड़ता है। अब क्या बात ठहरी ? यदि भारतवासी सोना जोड़ने में दक्ष हैं तो इंगलैंड वाले तिगुने दक्ष और अमेरिका वाले दस गुने दक्ष हैं—कानी का काजल भी खटकता है, नहीं तो जोड़ने में ये सभ्य देश भी इस गंवार किसानों की भूमि के पीछे नहीं हैं। हां, अन्तर यह है कि उनकी निधि बंकों में एकत्रित है जहां से व्यापार आदि का काम चलता है और इकट्ठी निधि का दबाव दूसरे देशों पर पड़ता है और हमारी निधि छल्लों, कंगनों और कर्णफूलों में बिखरी पड़ी है, जो दिखाई देती है, पर काम नहीं आ सकती।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जून, १९२० ई०]

हलवाई

कोई पूछे कि संस्कृत में रसोईदार को सूपकार कहते हैं, क्या वह केवल सूप (दाल) ही बनाता है, या पुराने हिन्दू पतली दाल के खाने वाले ही थे, तो उससे पूछिए कि हलवाई क्या हलुआ ही बनाता है और आजकल जेंटलमैनों के दाँत टूट गये हैं कि वे हलुआ ही खाते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : दिसम्बर, १९२० ई०]

देवानां प्रिय

नागरी प्रचारिणी पत्रिका। नया संस्करण, भाग १, संख्या ३, पृ० ३५६, में 'देवानां प्रिय' के अर्थ पर कुछ लिखा गया है। इस जगह यह दिखाया जायगा कि पतंजलि के महा-भाष्य आदि में 'देवानां प्रिय' साधारण बोलचाल में 'सरकार, हुजूर, राउरे, आप, श्रीमान्, जनाब' के अर्थ में आता था।

पाणिनि का एक सूत्र है कि किसी-किसी प्रयोग में अज् धातु की जगह 'वी' हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है।[1] अज् का अर्थ चलना है, वी का भी। पतंजलि ने समझाया है कि किन पदों में अज् का वी हो जाता है (जैसे, प्रवेता, प्रवेतुम्, प्रवीतः, संवीतिः) और किन में अज् ही रहता है (जैसे, समाज, समज, उदाज, उदज, समजन, उदजन, समज्या) इस हिसाब से (रथ) हाँकने वाला इस अर्थ में प्र+अज् से प्रजिता होना चाहिए, किंतु इस सूत्र के अनुसार प्रवेता होगा। पतंजलि ने व्यवहार में 'प्राजिता' प्रयोग भी देखा, इसलिए विकल्प का नियम माना कि 'प्रजिता' भी होता है। यहाँ पर एक वैयाकरण और एक सूत की कल्पित बातचीत[2] दी है। बातचीत बड़ी रोचक है। वैयाकरण अपने शास्त्रज्ञान के घमंड में है, सूत व्यवहार की भाषा में पक्का है, वह पोथी पढ़े पंडित जी की ख़ीट उड़ाता है।

भाष्यकार पूछते हैं कि क्यों भाई यह रूप (प्राजिता) स्वीकृत है, चाहिए, मान लिया जाय? स्वयं ही उत्तर देते हैं कि बेशक, चाहिए। यों कोई वैयाकरण कहता है—इस रथ का प्रवेता कौन है? यह नियमों का पक्का है—साधु भाषा में 'अज्' की जगह 'वी' काम में ला रहा है, वही मजमून है कि पानी खटिया तर रहो, पूत मरे बकि आव। सूत उत्तर देता है—आयुष्मन्, मैं रथ का प्राजिता हूँ। वैयाकरण कहता है कि यह तो अपशब्द है। सूत कहता है कि देवानां प्रिय प्राप्तिज्ञ[3] है, इष्टिज्ञ[4] नहीं, यह रूप माना जाता है। यों टोकने पर वैयाकरण खीझ गया। वह सूत को सूत कहलाने योग्य नहीं समझता। वह अपने व्याकरण के भरोसे समझाता है कि सूत सु+उत से बना है, सु+उत=अच्छा बुना हुआ, ऐसे दोष दिखाने वाले के नाम में सु=अच्छा क्यों आवे? उसने इस अपराध में सु+उत=सूत को दुर्+उत कहना चाहा। सु का उलटा 'दुर' है, जैसे सुगंध, दुर्गंध, सूक्त, दुरुक्त। वैयाकरण कहता है, अहो, इस दुरुत ने हमें निश्चय बाधा पहुँचाई। भोज के 'यथा बाधति बाधते' कहने वाले कहार की तरह सूत चट बोल उठा कि 'वेञ्' (बुनना) धातु से सूत नहीं बनता, यह तो सू (=सुवति,

---

१. अजेर्व्यधम्योः २।४।५६

२. किंच भो इष्यत एतद् रूपम्। बाढमिष्यते। एवं हि कश्चिद्वैयाकरण आह—कोस्य रथस्य प्रवेतेति। सूत आह—अहमायुष्मन्नहमस्य रथस्य प्राजितेति। वैयाकरण आह—अपशब्द इति। सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः नत्विष्टिज्ञ इष्यत एतद्रूपमिति। वैयाकरण आह—अहो, नु खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामह इति। सूत आह—न खलु वेञः सूतः। सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्।

३. किस नियम की कहाँ पर प्राप्ति (पहुँच) होती है, यह जाननेवाला प्राप्तिज्ञ। पिबतिं चर्करीतान्तं पचतीत्यत्र यो नयेत्। प्राप्तिज्ञं तमहं मन्ये प्रारब्धस्तेन संग्रहः'। यहाँ 'प्रातिज्ञ' कहने में कुछ ताना है कि आप पोथी ही पढ़े हो।

४. जो नियम सूत्रों में दिये हैं उनके अपवाद या उनमें अधिक नियम 'इष्टि' (=मंजूरी, स्वीकृति, मानना, चाहिए, इच्छा की हुई बात) कहे जाते हैं, उन्हें जाननेवाला इष्टिज्ञ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षू = प्रेरणा करना) से सूत बनता है। यदि सू धातु के साथ आपको कुत्सा का प्रयोग करना हो, मेरी और अपनी अप्रसन्नता दिखानी हो, तो 'दुःसूत' ऐसा कहिए, दुरुत नहीं।

यहाँ पर पहले तो सूत ने वैयाकरण को आयुष्मान् = (बड़ी) उमरवाला कह कर संबोधन किया है। बोलचाल में बुलाए जाने पर बुलाने वाले के साथ आशीर्वाद से बातचीत शुरू करना सभ्यता की चाल है। हिंदी में किसी को पुकारने पर उत्तर मिलता है 'जी'—यह 'जीव' = 'जीते रहो' आशीर्वाद है। राजा के पास रहने वाले 'जय जीव' कहने वाले कहे जाते हैं।[1] एक श्लोक में विष्णु पुकारते हैं—'हे नंदक', उत्तर मिलता है, 'जीव'[2] हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' में धण्णाउस (धन्यायुष) आशीर्वादात्मक संभाषण में दिया मिलता है (५।५८)। दूसरी जगह सूत कहता है—'देवानां प्रिय प्राप्तिज्ञ' हैं। यहाँ देवानां प्रिय का अर्थ देवताओं का लाड़ला, देवताओं का प्यारा है, यह भी आशीर्वाद और विनय की भाषा है, जैसे राजपूताने में 'राम का पूरा' 'राम जी भला दिन दें' आदि कहते हैं। भगवान नेकबखत, भला आदि पद भी यों बोलचाल में आते हैं। सूत ने 'देवानां प्रिय' सरकार आप, या जनाब की तरह आदर ही में काम लिया है। (चाहे उसमें कुछ ताना भी हो), इसका अर्थ अच्छा ही है, मूर्ख नहीं।

इस भाष्य की व्याख्या में कैयट ने—'देव शब्द मूर्ख का वाचक है। मूर्खों के प्यारे मूर्ख ही होते हैं। अथवा सुख में आसक्त होने के कारण शास्त्र में ध्यान न लगाना ही यहाँ प्रतिपादित होता है'—लिखा है। यह पीछे की बात से लेकर है, पतंजलि के काल में यह अर्थ नहीं था। सूत की बातचीत बहुत सभ्य है, वह 'आयुष्मान्' कहकर सम्बोधन करता है, वैयाकरण की अपेक्षा संस्कृत के महाविरे अच्छे समझता है, दर्जे में भी वह विद्वान वैयाकरण से छोटा है, इन सब कारणों से वह गँवार की तरह मुँहफटपने से वैयाकरण को 'मूर्ख' नहीं कहता 'देवानां प्रिय' अदब और आशीर्वाद का पद था।

इसी तरह 'मीमांसा' के शाबर-भाष्य में जहाँ यह प्रसंग है कि एक ही सूर्य नाना देशों में कैसे एक साथ दिखाई देता है वहां उदाहरण दिया है कि किसी को कहा जाय कि 'आदित्य को देख, देवानां प्रिय।' तो उसे सूर्य एक जगह टिका हुआ-सा ही दिखाई देता है[3], वहाँ देवानां प्रिय का अर्थ आयुष्मान् की तरह आशीर्वादात्मक ही है। गुरु अपने शिष्य को कह रहा है कि बच्चा, चिरंजीव या भलेमानस, सूर्य को देख। किसी गाली की यहाँ जरूरत नहीं कि अंधे या मूर्ख, सूर्य को देख। कोई ऐसा प्रसंग ही नहीं है।

---

१. जय जीवेति वादिनः = हाँ, हुजूर, करनेवाले।

२. 'चक्र !'—,ब्रूहि विभो !'—'गदे !'—'जयहरे !'—'कंबो !' 'समाज्ञापय—भो भो नन्दक ?'—'जीव'—'पन्नगरियो ?' 'किं नाथ ?'···॥

३. आदित्यवद्यौगपद्यम् (अध्याय १, पाद १, सूत्र १५) पर 'यत्तु एकदेशस्य सतो नाना देशेषु युगपद्दर्शनमनुपपन्नमिति 'आदित्य' 'पश्यदेवानां प्रिय' एकः सन्नेकदेशावस्थित इव लक्ष्यते कथः पुनः' इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदांत सूत्रों के शंकर भाष्य में जहाँ प्रतिवादी के कथन का उल्लेख करके उसका खण्डन करने के लिए प्रतिवादी से कोई उसकी कचाई की बात पूछी है, अर्थात् प्रतिप्रश्न से खंडन किया है, वहाँ कहीं-कहीं यह आता है—'इदं तावद् देवानां प्रिय: प्रष्टव्य:' अर्थात् देवानां प्रिय से इतना तो पूछो। यहाँ भी यह महावरा सभ्यता ही से सम्बन्ध रखता है, सम्भव है इसमें कुछ ताना भी हो, जरा हज़रत से यह तो पूछिए। शिष्ट लोग प्रतिवादी को मुँह पर 'मूर्ख' नहीं कहते, 'रामदुलारे' ही कहते हैं। शंकर ने बूढ़े 'गौतम' को 'गो-तम' कह दिया तो इसका अर्थ यह नहीं कि 'रामदुलारे' (देवानां प्रिय) सदा गाली ही हो तथा शिष्ट शास्त्रार्थ में गाली ही दी जाती हो।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग-३, १९२० ई०]

पुराना व्यौपार

साधारण बोलचाल के चलते हुए शब्दों में कई नाम ऐसे हैं जिन पर संस्कृत और अंग्रेजी के बल पर हिंदी लिखने वालों ने ध्यान नहीं दिया है। कई चीज़ों के नामों में इतिहास का बीज छिपा हुआ पड़ा है। खाँड को अब तक 'चीनी' बोलते हैं। सस्कृत में सिन्दूर का नाम 'चीनपिष्ट=चीन का पिसा हुआ चूर्ण' है। रेशम को 'चीनांशुक' कहते ही थे। 'चीनी मट्टी' अंगरेज़ों के आने के पहले से ही इस नाम से कहलाती थी। चिनिया केला, चिनिआ बदाम (=मूँगफली) और दारचीनी (दालचीनी) नाम भी हमारे पड़ौसी देश के व्यापार की यादगार हैं। मालूम होता है जैसे आजकल कोई भी अनोखी चीज़ 'विलायती' कहलाती है वैसे बाहर की चीज़ें 'चीनी' कहलाती हों। जावा टापू का नाम भी मसालों में चलता है, जावित्री, जवामिरच, जवा हरड़। दक्खिनी सुपारी का अर्थ प्रकट ही है। लाल मिर्च को राजपूताने में 'प्रितकाली' या 'प्रुतकाली' जो पुर्तगाली का अपभ्रंश होकर वास्कोडिगामा के भाई-बंद व्यापारियों की याद दिलाता है। पंजाब में एक रेशमी कपड़ा (धारीदार दरयाई) होता है जिसे 'नौरंगशाही' कहते हैं। औरंगजेब का नाम वस्त्र का मान कैसे बढ़ाता है, यह खोजने की बात है। जिस बालूशाह के नाम से प्रसिद्ध मिठाई का नाम चला और जो व्यापारी मानिकचन्द मानिकचन्दी सुपारी के नाम से अमर है उनका पता भी खोजना चाहिए। काबुली चने, सैंधव (नमक) और वाल्हीक या सौवीर (=हींग) स्पष्ट ही हैं। पतंग (उड़ाने की) का पुराना नाम 'चंग' उसके चीनी जन्म का उल्लेख है। 'मोरस खाँड' नाम अभी चला है पर लोग 'मोरस चीनी' कहकर उत्तर-दक्खिन मिला देते हैं। केसर का नाम 'काश्मीर' था ही। जूतों में कौन से सलेमशाह ने अमरता पाई है, यह जानना कौन नहीं चाहेगा? तालाब के नमक को 'साँभर' कहते हैं। बंगाल में लाल मिरच को 'लंका' कहते हैं जो उसकी बाहर की आमदनी का सूचक है। पंजाब में एक कान का गहना 'बहादुरशाही बालियाँ'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। घोड़ों की जातियों के नाम तो देशों से हैं ही, पान भी 'बँगला' या 'मगही' या 'मदरासी' होते हैं। मुलतानी मिट्टी से कौन सिर नहीं धोता ? फ्रांस या फिरंग एक गंदे रोग के नाम से जस या अपजस पा गया है। पंजाब में एक धारीदार कपड़ा 'बुखारा' कहलाता है।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जनवरी, १९२० ई०]

वेलावित्त

'प्रबंधचिंतामणि' में एक जगह आया है कि 'स्थगिकावित्त' से पान दिए जाने के पहले ही मुँह में पान डालकर राजा खाने लगा।[1] स्थगिका तो चंगेरी, पिटारी थैली या पानदान होता है, तो आशय पानदान रखने वाले नौकर से हुआ। इस अर्थ में उसी पुस्तक में 'स्थगीधर'[2], और छ (स्थ)गिकाधर[3] आया है और सइद नामक समुद्र के व्यापारी को 'नौवित्तक'[4] कहा है जिससे 'स्थगिकावित्त' के अर्थ में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

इससे 'राजतरंगिणी' के 'वेलावित्त' का अर्थ स्पष्ट होता है। वहाँ कई जगह राजा के वेलावित्त नौकरों की चर्चा आती है। राजा शंकर वर्मा (ई० स० ८८३ से ९०२) के मारे जाने पर तीन रानियों के साथ-साथ जयसिंह नामक कृतज्ञ, कृती वेलावित्त का उसका अनुगमन करना, पीछे मारना लिखा है।[5] (शिलालेखों में पोते के साथ सहमरण करने वाली पोता-सतियों और राजा के साथ 'सती' होने वाले पाचक, पुरोहित और नौकरों का भी उल्लेख मिलता है।) राजा यशस्कर (ई० स० ९३९-९४८) के लिए लिखा है कि उसने एक वेलावित्त को मंडलेश बना दिया और वह राजपत्नियों से कुव्यवहार करने लगा तो राजा ने इस बात को देखी-अनदेखी कर दिया।[6] वही राजा सांघातिक रोग से पीड़ित होकर मठ में मरने गया और उसके प्राण नहीं निकले तो

---

१. राजतरंगिणी—४।५१२
२. वही, पृ० ८२
३. वही, पृ० ९५
४. वही, पृ० २६०
५. वही, ५।२२६ पं० दुर्गाप्रसादजी के संस्करणों में 'वेलाविभुः' पाठ है जो कश्मीरी लिखावट में 'त्त' और 'भु' की समानता से हुआ है।
६. नीतस्य मण्डलेशत्वं वेलावित्तस्य भूभुजा। देवीः कामयमानस्य चक्रे गजनिमीलिका॥ राजतरंगिणी : ६।७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्य हर लेने की जल्दी करने वाले (कृतत्वरैः)[1] मित्र, बंधु, नौकर और वेलावित्तों ने उसे विष देकर मार डाला। उसके पुत्र संग्राम देव (ई० स० ९४८-९४९) के राजा होने पर पर्वगुप्त ने राज्य के लोभ में संग्रामदेव के पिता के किसी वेलावित्त से नजर की तरह लाई हुई फूलमाला गले में डाल घसीटकर संग्रामसिंह को राजसिंहासन से गिराया और दूसरे घर में मारकर गले में शिला बाँधकर वितस्ता में डूबो दिया।[2] रानी दिद्दा ने, जो बहुत बदनाम थी, भुय्य नामक नगराधिपति को विष से मरवाकर रक्म के पुत्र वेलावित्त देवकलश को, जो निर्लज्ज छिनाला, कुटनापन करता था, भुय्य के स्थान पर नियत किया।[3]

इन सब स्थलों में 'वेलावित्त' का तात्पर्य किसी प्रकार के कृपापात्र या हाजिर-बाश नौकर से है जिसका समय से कुछ सम्बन्ध है।

इसी से मिलता हुआ शब्द प्रसादवित्त है जो कृपापात्र (मर्ज़ीदाँ) के लिए 'राजतरंगिणी' में दो जगह आया है। एक चमक नामक चारण था जो कुटनेपन से नये राजा कलश (ई० स० १०६३-१०८९) के मुँह लग गया, मंत्रियों के बीच उस 'प्रसादवित्त' ने प्रतिष्ठा पाई और वह 'नृनुक्कुर' 'ठक्कुर' कहलाने लगा।[4] उसी राजा कलश की भोगपत्नी कय्या की आगे चलकर निंदा की गई है कि सात रानियाँ और एक पासवान तो सती हुईं, किंतु उस प्रसादवित्त ने स्त्री जाति को कलंकित किया। वह विजयक्षेत्र में किसी ग्रामनियोगी गाँव के कर्मचारी की रक्षिता बनकर रहने लगी।[5]

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार वित्त का अर्थ 'पाया हुआ', 'जाना हुआ या प्रसिद्ध' या 'विचारा हुआ' हो सकता है।[6] पाणिनि ने एक सूत्र में दिखाया है कि 'अमुक बात से प्रसिद्ध' इस अर्थ में वित्त आता था।[7] अतएव 'स्थगिका वित्त' का अर्थ हुआ—'स्थिगिका रखने से राजदरबार में प्रसिद्ध' या 'जाना गया'। वेलावित्त का अर्थ हुआ—'राजा का समय जानने से प्रसिद्ध अर्थात् जो समय-असमय राजा के पास जा सके और जिसे अवसर की कोई रुकावट न हो' और 'प्रसादवित्त' हुआ—'राजा की कृपा के कारण

---

१. राजतरंगिणी : ६।१०६
२. वही : ६।१२५-२९।
३. वही : ६।३२२-३२४।
४. वही : ७।२८७-९०। स्टाइन ने न मालूम नृकुक्कुर का अर्थ 'मनुष्यों में मुर्गा' कैसे किया है।
५. वही : ७।७३४-८।
६. वित्तो भोग प्रत्यययौ : (पाणिनिः ८।२।५८) धनंहि भुज्यते इति भोगोऽभिधीयते। वित्तोऽयं मनुष्यः प्रतीतः प्रतीयते इति (काशिका) वेत्तेस्तुविदितौ निष्ठा विद्यतेर्विन्न इष्यते। वेत्तेर्विन्नश्च भोगे वित्तश्च विन्दतेः (महाभाष्य। विन्दतेर्धन प्रसिद्ध्योः भाषावृत्ति)।
७. तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ (पाणिनि : ५।२।२६) तृतीयासमर्थात् वित्तः प्रतीतो ज्ञात इति (काशिका)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसिद्ध'। 'वित्त' का अर्थ—'पाया हुआ या धन' ही करें तो क्रमशः अर्थ हुए—'स्थगिका रखना ही है धन जिसका', 'वेला जानना या वेला का उपयोग करना ही है वित्त जिसका' और 'कृपा ही है वित्त जिसका'। 'नौवित्तक' तो स्पष्ट ही है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग ३, सं० १९७९; १९२२ ई०]

पूर्ण पात्र

किसी को कोई आनंद का समाचार सुनाने पर मुँहमाँगा इनाम मिलता है। बधाई देने पर यह पूछने की चाल भी है कि बधाई देने वाले को जो पसंद आवे, वह ले ले। अधिक अंतरंगता पर यह भी हो सकता है कि भाई, अच्छी खबर लाए हो, जो वस्त्र, भूषण आदि हमारे शरीर पर से उतारना चाहो वह उतार लो। समाचार लाने वाला अधिक प्रौढ़ हो तो स्वयं छीन लेता है। इस चाल का नाम 'पूर्ण पात्र का हरण करना' या 'पूर्ण पात्र का लेना' है। बाण की 'कादंबरी' में इसका उल्लेख है, 'हर्षचरित' में भी जहाँ हर्ष का जन्म हुआ है, वहाँ बाण लिखते हैं कि समाचार लाने वाला **'उत्तरीयं पूर्ण पात्रं जहार'** उसने ऊपर का वस्त्र (दुशाला आदि) पूर्ण पात्र छीन लिया। 'हर्षचरित' का संकेत टीकाकार पूर्णपात्र का अर्थ यों समझता है—**पूर्णपात्रं यथापरिहितवस्त्रादि। उक्तं च—आनंददोहि सौहार्दादित्य वस्त्रादिकं बलात्।[1] अजानतो हरत्येव पूर्ण पात्रं तु तत्स्मृतम्।** अर्थात् 'पूर्णपात्र का अर्थ है, जैसा पहना हो वैसा वस्त्र' आदि। कहा भी है कि 'आनंद (का समाचार) देने वाला प्रेम से आकर जबरदस्ती वस्त्र आदि (समाचार सुननेवाले के) बिना जाने हर लेता है, वह पूर्ण पात्र कहलाता है।'

यह तो सब ठीक है, किंतु पूर्ण पात्र का अर्थ वस्त्र कैसे हुआ? दीनारों या रत्नों से भरा पात्र होता या गृहपद्धतियों में जो ब्रह्मा को दिए जाने वाले पूर्ण पात्र का लक्षण[2] लिखा है वह होता तो ठीक होता। हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' में इसी अभिप्राय के दो शब्द दिए हैं। एक तो 'पुण्णावत्त' जिसका अर्थ **'प्रमोदहृतवस्त्र'** अर्थात् खुशी से छीना हुआ कपड़ा दिया है (६।५३)। दूसरा 'वड्ढवण' जिसके दो अर्थ हैं—वस्त्राहरण और अभ्युदयावेदन, अर्थात् कपड़ा छीनना, और बढ़ती की सूचना देना (७।८५)। अब सब स्पष्ट हो गया। 'वढ्डवण' तो हिंदी का बधाई देना, 'बधाई है' कहना, बढ़ाना, संवर्धना करना है; बधावे गाना, बधाई बजना में वही शब्द है।

'प्रबंधचिंतामणि' में 'महाराज बधाई है' इस अर्थ में **'स्वामिन वर्धाप्यसे'** आया है।

---

१. डाक्टर फुहरर के संस्करण में छपा है—'वस्त्रादि कम्बलात्' (!)

२. अष्टमुष्टि भवेत्किंचित् किंचिच्चत्वारि पुष्कलम्। पुष्कलानि तु चत्वारि पूर्ण पात्रं प्रचक्षते॥ (पारस्कर परिशिष्ट) कई जगह इस नाम के बारे में मतभेद भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस वड्ढवण के दो अर्थ ठीक ही हैं, एक अभ्युदयावेदन कारण और दूसरा वस्त्राहरण कार्य। 'पुण्णवंत' का ठीक संस्कृत पूर्ण (उदय) वस्त्र होना चाहिए अर्थात् (हर्ष या इच्छा···) पूर्ण वस्त्र या पुण्यवस्त्र। किंतु देशी को संस्कृतीकृत करने में पूर्णपात्र हो गया।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३, १९२२ ई०]

कादंबरी के उत्तरार्ध का कर्त्ता

प्रसिद्ध 'कादंबरी' का पूर्व भाग ही रचकर महाकवि बाणभट्ट का स्वर्गवास हो गया और उस अद्वितीय कथा का उत्तरार्ध बाण के पुत्र ने पूरा किया। उसने 'सुदुर्घट' कथा के परिशेष की सिद्धि के लिए अर्धनारीश्वर को प्रणाम किया है, पिता के अधूरे काम को पूरा करने के लिए (अपना कवित्वदर्प दिखाने के लिए नहीं) ही अपना उद्योग बताया है, और शालीनता से कहा है कि पिता के बोए बीजों की फसल ही मैं इकट्ठी कर रहा हूँ। इस पितृभक्त और पितृतुल्य कवि का नाम क्या था इस पर पुराने विद्वानों ने लक्ष्य नहीं दिया। उन्हें आम खाने से काम था, गुठलियाँ गिनने से नहीं। नैयायिक तो इस बहस में संतुष्ट रहे कि मंगलाचरण होते हुए भी 'कादंबरी' की पूर्ति में विघ्न क्यों हुआ और टीकाकार केवल शब्दों के अर्थों और अलंकारों में लगे रहे। 'कादंबरी' का विख्यात टीकाकार भानुचंद्र अकबर के समय में हुआ। उस समय तक साहित्यिक प्रवादों की शृंखला का उच्छेद हो चुका था। अर्थ का समझना केवल कोश व्याकरण से नहीं होता, साहित्यिक समय (संकेत) की शृंखला के ज्ञान से होता है। 'कादंबरी' में चलते ही बाण के एक पूर्व पुरुष के लिए कहा गया है—'अनेकगुप्तार्चितपादपंकजः'। टीकाकार चट इसका अर्थ करता है—अनेक वंश्यों से पूजित। आगे बाण के गुरु भश्चु की प्रशंसा में कहा है कि उसके चरणों को मुकुटधारी मौखरी प्रणाम करते थे। यहाँ तो भानुचंद्र समझ गया कि मौखरी राजाओं से अभिप्राय है किंतु वहाँ न समझ सका कि प्रसिद्ध गुप्तवंशी महाराजाओं से तात्पर्य है, सेठों से नहीं। क्योंकि भानुचंद्र स्वयं जैन वैश्य था और इस समय वैश्यों का गुरु होना, आजकल की तरह, बड़ी बात थी। 'गुप्त' नामक सम्राट्-वंश भी था, यह भानुचंद्र को पता न रहा होगा।

अस्तु। पुस्तक-लेखकों के संकेत में इस बाणतनय का नाम सुरक्षित रह गया। डाक्टर स्टाइन की कश्मीर की हस्तलिखित पुस्तकों के सूचीपत्र में 'कादंबरी' के उत्तरार्ध के कर्त्ता का नाम 'पुलिन' दिया है[१]। नाथद्वारे में एक हस्तलिखित पोथी में बाण के पुत्र का नाम 'पुलिंद' दिया है[२] और विक्टोरिया हाल म्यूजियम, उदयपुर, में एक कादंबरी

१. स्टाइन्स मैनुस्क्रिप्ट्स, पृ० २६६
२. श्रीधर रा० भंडारकर, दूसरे दौरे की रिपोर्ट, पृ० ३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की पोथी है उसमें भी 'पुलिंद' नाम ही है[1]। यह श्रीधर रा० भंडारकर को पं० गौरीशंकर हीरानंद ओझा ने बतलाया था। अतएव 'कादंबरी' के पूर्वार्ध का कर्ता बाण है, उत्तरार्ध का रचयिता उसका पुत्र 'पुलिंद' वा 'पुलिन' था।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९२० ई०]

'कादंबरी' और 'दशकुमारचरित' के उत्तरार्ध

पहले एक लेख में (पत्रिका भाग १, पृ० २३५-३७)[2] 'कादंबरी' के उत्तरार्ध के कर्ता, बाण के पुत्र, पुलिंदभट्ट के विषय में लिखा जा चुका है। बूलर ने उसका नाम 'भूषणभट्ट' लिखा है किंतु कोई प्रमाण नहीं दिया। उस लेख में डाक्टर स्टाइन के अनुसार जिस कश्मीर की पुस्तक का हवाला दिया है वह शारदाक्षरों में भूर्ज पत्र पर लिखी हुई है और उसका लेख-काल शक संवत् १५६९ (ई० १६४७) है। 'सूक्तिमुक्तावलि' में धनपाल कवि कृत एक श्लोक विशिष्ट कवि-प्रशंसा में है जिसमें बाण और पुलिंद का नाम साथ देकर श्लेष से दिखाया है कि बाण की 'कादंबरी' का 'संधान' पुलिंद ने किया—

केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन्।
किंपुनः क्लृप्तसंधानपुलिंदकृतसन्निधिः॥

जम्मू के पुस्तकालय में, स्टाइन की सूची के अनुसार, एक 'दशकुमारचरित' की पोथी भूर्जपत्र पर संवत् १८३३ की लिखी हुई है, जिससे जाना जाता है कि 'दशकुमार-चरित' का शेषांश (उत्तर-पीठिका) पद्मनाभ ने पूर्ण किया था। संभव है कि वह भी दंडी का पुत्र हो क्योंकि दूसरी एक प्रति के वर्णन में यह संवेदन दिया है—'अत्र दंडिन एव कर्तृत्वं न तु तत्पुत्रस्य'।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२१ ई०]

अधिक संतति होने पर स्त्री का पुनर्विवाह

भास्कर मिश्र सोमयाजी का बनाया हुआ एक 'आपस्तंबछ्त्रनितार्थकारिका' नामक निबंध है। ग्रन्थकार के पिता का नाम 'वादिमुग्दर-ठाकुर-कुमारस्वामीसूरि' है और ग्रंथकार की

१. श्रीधर रा० भंडारकर, दूसरे दौरे की रिपोर्ट पृ० ३९
२. दे०—इस ग्रंथ में पिछला लेख : कादंबरी के उत्तरार्ध का कर्त्ता (पृ० ३००)—सं०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपाधि 'त्रिकांडमंडन' होने से ग्रन्थ भी 'त्रिकांडमंडन' कहलाता है। इसमें सोमयाग के विषय में कई श्रौतसूत्रों के वचनों का पूर्वापर विचार करके आपस्तंब सूत्रानुसार मीमांसा की है। कई धर्मशास्त्र-निबंधों में इसकी कारिकाएँ उद्धृत हैं इससे ग्रन्थ पुराना है। कहते हैं कि भास्करमित्र हेमाद्रि से लगभग २०० वर्ष पहले हुआ।[1] इसकी एक टीका 'विवरण' नाम की है, परन्तु उसके कर्त्ता और समय का पता नहीं।

त्रिकांडमंडन में एक जगह लिखा है कि हिमालय में बकरा बोझा ढोने के काम आता है[2]। उसकी टीका में एक और जगह एक और बड़ी अद्भुत बात लिखी है। लिखा है कि यदि किसी स्त्री के बीस सन्तान हो जायँ तो अपने कुल के भले के लिए उसका पुनर्विवाह कर देना चाहिए, ऐसी स्मृति है[3]। ऐसा किस स्मृति में है?

[प्रथम प्रकाशन: **नागरी प्रचारिणी पत्रिका**, भाग १, अंक २, श्रावण १९७७ वि०, १९२० ई०]

श्रीश्रीश्रीश्री

बीकानेर के महाराज अनूपसिंह, आमेर (जयपुर) के सवाई जयसिंह जी की तरह, अद्भुत पुरुष हुए हैं। उन्होंने सन् १६६९ से १६९८ ई० तक राज्य किया। औरंगजेब की ओर से उन्होंने दक्षिण में राजगढ़ के राजा को परास्त किया, सन् १६८७ में गोलकुंडा विजय किया और मद्रास हाते के बिलारी जिले के अडोनी स्थान में बादशाह के काम पर ही रहकर देह त्याग किया। यों चिरकाल तक दक्षिण में रहकर उन्होंने विद्वानों से मित्रता की और संस्कृत-ग्रन्थों का संग्रह किया।

बीकानेर के विशाल संस्कृत-पुस्तकालय में कई वैदिक पुस्तकों की पुष्पिका में लिखा हुआ है कि नासिक के अमुक विद्वान् ने यह पुस्तक महाराज अनूपसिंह जी की प्रीति से भेजी। इस प्रकार उन्होंने इस अमूल्य पुस्तकालय की स्थापना की। वे स्वयं भी संस्कृत के विद्वान् थे। कई पुस्तकों पर लिखा हुआ है कि यह पुस्तक महाराजकुमार अनूपसिंह जी की है जिससे सिद्ध होता है कि कुमारपद में भी वे संस्कृत के प्रेमी और पढ़नेवाले थे।

---

१. रा० गो० भण्डारकर, रिपोर्ट, सन् १८८३-४, पृ० २७-२८

२. छागोऽपि संभवत्येतद् वहत्येन हिमालये (बिल्लो० इंडि० संस्करण) पृ० ६५

३. स्मर्यते विंशतिप्रसूतायाः पुनर्विवाहः।
यदा विंशतिधापत्यंप्रसूयेतांगना जनः।
पुनर्विवाहं तस्यास्तु कुयर्पात्स्वकुलशान्तये ॥ इति' वही पृ० २०२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन पुस्तकों पर उनका नाम 'महाराजकुमार' की उपाधि के सहित लिखा है उनमें कहीं कहीं उनके नाम के पहले 'श्री४' लिखा है जो एक नई बात है। हिंदी के एक पुराने दोहे के अनुसार (जिसका समय निश्चित नहीं है) श्री लिखने का यह क्रम है—

श्री लिखिए षट् गुरुन को, स्वामि पंच रिपु चारि।
तीन मित्र द्वै भृत्य को, एक पुत्र अरु नारि॥

इसका मूल वररुचि कृत 'पत्रकौमुदी का यह श्लोक कहा जाता है—

षट् गुरोः स्वामिनः पंच द्वे भृत्ये चतुरो रिपौ।
श्रीशब्दानां त्रयं मित्रे एकैकं पुत्रभार्ययोः॥

यद्यपि 'पत्रकौमुदी' वैयाकरण वररुचि (कात्यायन) की बनाई नहीं हो सकती तो भी अनूपसिंह जी के समय से तो प्राचीन ही है। फिर होनहार राजा के नाम के पहले 'श्री४' क्यों? यह कई पुस्तकों में है। जैसे 'खण्डप्रशस्ति' की प्रति में—

॥ पु० [पुस्तक] महाराजकुँवर श्री४ अनूपसिंह जी रो छै॥

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या राजपूताना में महाराजकुमार के नाम के पहले 'श्री४' लिखने की रीति के प्रमाण और भी कहीं हैं? हैं तो क्या उस समय 'रिपु चारि' वाला संकेत प्रचलित न था? तो क्या स्वामी की 'श्री५' में से महाराजकुमार को छोटा समझकर एक कम करने से ही चार की संख्या स्थिर की गई थी? अथवा यह कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के इस सिद्धांत की गूंज है कि—

'कर्कटकसधर्माणो जनकभक्षः राजपुत्राः'?

(राजपुत्र केंकडे की तरह पिता के खानेवाले होते हैं)।

कौटिल्य ने राजपुत्रों की सम्हाल, उनसे बचने और उन्हें उपद्रव के लिए असमर्थ बनाए रखने के विषय में बहुत कुछ लिखा है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका :
भाग १, अंक २, श्रावण १९७७ वि०, १९२० ई०]

निदर्शन पर सम्मति

जयपुर आकर मैंने श्रीयुत मनसाराम जी की लेखमाला को आद्यन्त पढ़ा। 'कालिदास की निरंकुशता' पर जो कुछ द्विवेदी जी ने लिखा है वह भी मैंने ध्यान से पढ़ा है।

मेरे मत में जिन लोगों का यह तर्क है कि कालिदास की समालोचना ही नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकती तो यदि हो भी सकती है तो पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी उसके करने के उपयुक्त पात्र नहीं हैं, वे लोग बड़ी ही भूल करते हैं। उनके मत का कोई भी साहित्य-प्रणाली का अभिज्ञ समर्थन नहीं करेगा और मुझे यह देखकर हर्ष हुआ है कि मनसाराम जी की प्रौढ़ पाण्डित्यपूर्ण 'लेखमाला' में इस बात की सूचना नहीं है और न यही कहना ठीक है कि द्विवेदी जी ने कालिदास का अपमान करने की और अपनी सर्वज्ञता स्थापन करने को लेख लिखे हैं। महाकवि का मान, यदि कोई ऐसे यत्न भी करे तो, उनमें हिल नहीं सकता और न लोग इस बात के लिए तैयार हैं कि महाकवि की महिमा को उठाकर उस जगह द्विवेदी जी का अपने हाथों रंगा चित्र स्थापन कर दें। द्विवेदी जी ने कहीं भी ये दावे नहीं किये हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर अपनी शालीनता दिखायी है। महाकवि की ओर अपनी भक्ति प्रकट की है और बारंबार कहा है कि यह लेख वाग्विलास मात्र समझा जाए। इन लेखों को पढ़ने से लोगों को कालिदास की कृति के अनुशीलन की ओर रुचि हुई है, और नहीं तो श्रीयुत मनसाराम जी के लेखों के निमित्त कारण होने से ही द्विवेदी जी के इन लेखों को महत्त्व देना चाहिए।

कालिदास की कविता में जो दूषण द्विवेदी जी ने उद्भावन किए हैं वे सब दूषण ही हैं इस पर मतभेद हो सकता है। वे सब दूषण द्विवेदी जी की अपनी पूंजी हैं ही नहीं। मम्मट और क्षेमेन्द्र, दक्षिणावर्त और नन्दर्गीकर जिस मार्ग पर चले हैं उस पर चलने के लिए द्विवेदी जी को क्यों रोकना चाहिए और उसी पर चलने के लिए मनसाराम जी की ओर क्यों क्रोध करना चाहिए ? प्रत्येक साक्षर व्यक्ति को अधिकार है कि कवि के काव्य की आलोचना करे, प्रत्यालोचना करे। जिसका जैसा हृदय होता है वह वैसा ही भाव कवि की कविता में देखता है। कोई काव्य आज तक निर्दोष या पूरी तरह निर्गुण नहीं मिला। इन दोनों वाग्विलासों से मैं यह तात्पर्य निकालता हूँ कि महाकवि के कुछ लेखों में द्विवेदी जी ने प्राचीन लक्ष्यलक्षणकारकों की शैली पर चलकर उन दोषों का समाधान किया है और सिद्ध करने का यत्न किया है कि वे दोष द्विवेदी जी की दृष्टि में ही हैं, महाकवि की रचना में नहीं। न तो द्विवेदी जी को ही हम कुछ कह सकते हैं कि उन्होंने मम्मट, क्षेमेन्द्र आदि की प्रणाली पर क्यों पैर रखा और न द्विवेदी जी मनसाराम जी को कह सकते हैं कि आप मेरी लीक पर क्यों चले हैं। हाँ, यह मुझे सखेद कहना पड़ता है कि द्विवेदी जी के लेख में हास्य-परिहास की मात्रा कम होने पर भी मनसाराम जी की लेखमाला में ताने-तिश्ने की मात्रा अधिक है—व्यक्तिगत टिप्पणियों के छींटे भी हैं। यह भी देखा जाय तो, हिन्दी में गड्डलिका प्रवाह हो गया है। मनसाराम जी ने अवश्य ही बिहारी-बिहार के समालोचक और स्मर्तव्यशेष आत्माराम की परिपाटी का अनुगमन किया है। वही क्यों ? हिन्दी-कालिदास की आलोचना लिखते समय द्विवेदी जी ने जो चाल चली थी और सतसई-संहार में पद्मसिंह शर्म्मा ने जो प्रथा आश्रयण की थी उनके देखते मनसाराम जी की कृति कुछ विस्मयकारक नहीं है। समालोचना में कुछ छेड़छाड़, कुछ छींटे देना एक प्रकार की स्वीकृत चाल-सी हो गयी है। अमरु महाकवि के 'अमरुशतक' में किसी कवि ने थोड़े-से क्षेपक मिला दिए हैं। उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर टीकाकार ने खूब चोट उड़ायी है। एक पद्य में नायक अपनी नायिका के विषय में कहता है कि जब से प्रेम-पिपासित उसका अधर पिया तब से मेरी तृष्णा बढ़ती ही जाती है; क्यों न हो उसमें ऐसा ही लावण्य है। लावण्य का अर्थ सुन्दरता (नमकीनपन) भी है। लवण ज्यादा खाने से प्यास बढ़ती है यह इसका चोज है। टीकाकार इस पर कहता है कि खूब ! यह शायर शायद सांभर नमक की खान का खोदने वाला मजूर है, उसे नमक की प्यास ही सूझती है। अतएव यदि इन हास-परिहासों को छोड़ दें और उनकी उपेक्षा करें तो हम मनसाराम जी के लेखों में पाण्डित्य, गवेषणा, तलस्पर्श, कविता के भावाववोध की ज्योति और वादजन्य वितण्डा तीनों के करने की शक्ति पाते हैं जिससे उनकी लेखमाला बड़े महत्त्व की हो गयी है।

द्विवेदी जी ने कालिदास के कुछ काव्यों पर जो उट्टङ्कनाएँ की हैं उनकी भी गुंजाइश है और उन पर मनसाराम जी ने जो पुनरुट्टङ्कना की है उनकी भी गुंजाइश है। न द्विवेदी जी ही अदूरदर्शी हैं और न मनसाराम जी ही जले हुए बेसमझ हैं। द्विवेदी जी के कई आक्षेप मनसाराम जी की व्याख्या से कट गए हैं। (जैसे विटप और विटपि वाला) और कई पर उनके व्याख्यान से एक प्रकार का प्रकाश पड़ा है जो उनकी वास्तव अवस्था को स्पष्ट दिखाता है। द्विवेदी जी के बड़े-बड़े मित्र भी यह न कहेंगे कि सब आक्षेप यथार्थ हैं, वे ये कहेंगे कि आक्षेप करने का हक द्विवेदी जी को जरूर है। मनसाराम जी के मित्रों को भी यह कहने का साहस नहीं है कि आँधी के सामने मेघ की तरह द्विवेदी जी के सभी आक्षेप उड़ गये हैं। यही क्यों न दोनों पाण्डित्यधुरीणों के लेखों को पढ़कर प्रत्येक मनुष्य साहित्यवेत्ता सहृदय मनुष्य—महाकवि के लेख विशेषों पर भिन्न-भिन्न मतविशेष स्थापन करेगा। यदि मनसाराम जी की लेखमाला को पढ़कर कोई यह गमक निकाले कि द्विवेदी जी अनभिज्ञ और हठी हैं तो वह उतना ही दोषी है जितना द्विवेदी जी की लेखावली को पढ़कर कालिदास को अकवि समझने वाला। मैं दो उट्टङ्कनाओं पर अपना मत लिखता हूँ।

१. द्विवेदी जी ने काक के सीताजी के स्तनान्तर के नखों से विकरण करने के प्रसंग को जुगुप्सित कहा है और महाकवि की पौरोभाग्यवाली उत्प्रेक्षाओं को और भी जुगुप्सित कहा है। उन्होंने तुलसीदास के लेख से अंश उद्धृत किया है कि तुलसीदास ने चरणविदारण की चर्चा की है और 'वाल्मीकिरामायण से तो श्लोक देकर दिखाया है कि वहाँ भी स्तनविदारण की चर्चा नहीं है। अच्छा, मनसाराम जी ने काण्डान्तर के वाल्मीकि-श्लोक उद्धृत करके दिखाया है कि स्तनविदारण का प्रसंग वाल्मीकि का ही है, कालिदास की अपनी उपज का नहीं। ऐसा करने से कालिदास इस आक्षेप से तो बरी हो गये कि उन्होंने स्तनान्तर के विदारण की कल्पना की परन्तु इससे नहीं हुए कि उन्होंने काक पर पियोपभोग चिह्नों पर पौरोभाग्य करने की उपेक्षा की है। यह उत्प्रेक्षा कालिदास की अपनी है और इसके लिए महाकवि दोषी हैं। व्यास वाल्मीकि में जो क्षमा की जा सकती है यह बात कालिदास भवभूति में नहीं क्षमा की जा सकती। मनसाराम जी वाले श्लोक क्षेपक सिद्ध नहीं हैं, तो भी तत्त्व निकला कि वाल्मीकि ने स्तनान्तर विदारण का उल्लेख किया है। क्या उसको छिपाना महाकवि का धर्म न था ? महाकवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न केवल उस घाव को वहीं छिपाता है प्रत्युत उस पर पौरोभाग्य की उत्प्रेक्षा का नमक और छिड़कता है। 'ऐतरेयब्राह्मण' की श्रुतियों में एक जगह पुत्र की महिमा गाई जा रही है। उसकी स्तुति करता-करता सरलहृदय स्पष्टवादी वैदिक कवि यहाँ तक लिख गया है कि—

नापुत्रस्य लोकोस्तीति सर्वे पश्वो विदुः।
तस्माच्च पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति ॥

सीधे समय के उस सीधे कवि की मुँहफट उक्ति को लेकर यदि आजकल कोई कवि वही बात कहे तो कब हम उसका मर्षण करेंगे? खान के दरवाजे पर काम करने वालों के पास खुरदरी धातुयें यदि कुछ गन्धक कंकड़ मिला हो तो सहा जा सकता है परन्तु चतुर जौहरी के खरादखाने में यदि वह कंकड़ और दाग न मिटाया जाए तो अवश्य खटकता है। यह नहीं है कि महाकवि कालिदास ने और जगह व्यास-वाल्मीकि का मक्षिकास्थाने मक्षिका अनुसरण किया है। नहीं, उन खानों के अनगढ़ पत्थरों को लेकर महाकवि ने अपनी प्रतिभा की ओप में उन्हें सधे नगीने···बना दिया है। उदाहरण में शकुन्तला को लीजिए। महाभारत की शकुन्तला ने कण्व के आश्रम में ही बच्चा जन दिया है और वह पाँच वर्ष का हो गया है तब माता उसे अँगुली पकड़कर राजा के यहाँ ले जाती है। कालिदास से यह नहीं सहा गया कि विदग्ध धर्मात्मा राजा पत्नी को यों चिरकाल तक धोखा देकर छोड़ जाय और कण्व गंधर्व-विवाह से गर्भवती पुत्री को अपनी छाती पर रखे। उसने राजा से तो एक अँगूठी दिन गिनने को शकुन्तला को दिलवायी और कण्व से आते ही शकुन्तला को राजधानी भिजवाया। महाभारत के दुष्यन्त ने शकुन्तला को व्यभिचारिणी आदि की गाली दी है और 'निधृष्टा तव योनिश्च' आदि कहा है और शकुन्तला ने भी उसे खूब ऐंड-बैंड सुनाई हैं। पीछे जब राजा ने शकुन्तला को स्वीकार किया है तो राजा ने बेशरमपन से यह कहा है कि तेरी परीक्षा के लिए मैंने इतनी बातें बनायी थीं। इधर कालिदास ने अपनी शकुन्तला को इन कुवाच्यों से बचाने के लिए राजा को बहुत ही मृदुभाषी और धर्मभीरु बनाया है और राजा को जानबूझकर स्त्रीपरित्यागी होने के कलंक से बचाने के लिए दुर्वासा के शाप की और शक्रावतार तीर्थ में अँगूठी खो जाने की कथा गढ़ी है। यह कोई न कहे कि ये कथाएँ कालिदास के मस्तिष्क से प्रसूत नहीं हैं, उसने पद्मपुराण से ली हैं; सिद्धांत यह है कि पद्मपुराणकार ने ही कालिदास की रची-रचायी आख्यायिका को अपने यहाँ उतार लिया है।

अस्तु, जैसे कालिदास ने दुष्यन्त और शकुन्तला के उस ग्रामीणपने को दबाकर वह सुन्दर चित्र बना दिया, जिसकी प्रशंसा में जर्म्मन पण्डित मरता-मरता गीत गाता रहा वैसे ही हम उससे यह आशा करते हैं कि सीता जी के स्तनों पर काक के चिह्नों पर—यदि वे सच्चे भी होते—वह पर्दा डाल देता। परन्तु उसने यह नहीं किया; यही नहीं उलटी पौरोभाग्य वाली उत्प्रेक्षा लगा दी जो दुराचारी दुष्यन्त के भविष्यत् दण्ड के लिए उपयुक्त होने पर भी औचित्य से कोसों दूर है।

परन्तु यह मेरा मत है। औरों का मत यह हो सकता है कि इतना बड़ा पाप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना कराये जयन्त को इतना बड़ा दण्ड क्यों दिलाया जाता ?

२. अस्तु, अब 'प्रियोपतरसेऽधरोष्ठे' वाली बात को लीजिए। उस पर जो कुछ द्विवेदी जी ने लिखा है उससे मैं सहमत नहीं हूं। उसे मेरी तुच्छ मति में केवल शुष्क लक्कड़तोड़ प्रौढ़वाद कहना चाहिए। उसमें Puratan—पते की बातों को पढ़कर उस वृद्ध सामवेदी का स्मरण आ गया जिसने यह श्लोक कहा था कि—

सामगायन पूतं मे नोच्छिष्टमधरं कुरु।
उत्कण्ठितासि चेद् भद्रे वामं कर्णं दशस्व मे !!

और जहाँ गृह्यसूत्रों की और धर्म्मसूत्रों की दुहाई दिवेदी जी ने दी है वहाँ पर वात्स्यायन प्रणीत 'कामसूत्र' का यह खण्ड याद आया कि—

रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रमः।

संक्षेप में, मैं यह कह सकता हूँ कि मनसाराम जी की आलोचना योग्यता और गवेषणा को लिए हुए है और जगह-जगह पर पाण्डित्य दिखला रही है और महावीर-प्रसाद जी ने जो कालिदास की निरंकुशता पर कुछ लिखा है उस पर अब्रह्मण्यं अब्रह्मण्यं चिल्लाने की जरूरत नहीं।

[प्रथम प्रकाशन : भारतमित्र : ८ जुलाई, १९११ ई०]

सुमरनी के मनके

खोज की खाज

प्रतिभा-सम्पादक और प्रतिभा-समालोचक ने 'मनोरमा' के वह लत्ते किए हैं कि मेरा उसके लिए कुछ कहना शाहमदार[1] बनना होगा, तो भी एक-दो लेखों की बातें ऐसी अद्‌भुत हैं कि एक आध मनका उसके नाम पर फेरना चाहता हूं। दीक्षित जी की 'मनोरमा' के लिए, किसी दूसरे प्रसिद्ध दीक्षित जी की 'मनोरमा' की तरह जगन्नाथ पंडितराज बनने का यश 'प्रतिभा' के समालोचक ने लिया, साहित्याचार्य पं० शालिग्राम शास्त्री जी कहते होंगे कि यह पार्ट मैं लेता तो उचित होता, क्योंकि मैंने ही माघ बीतते न बीतते (= फाल्गुन आते न आते) रुचिरा का पीछा किया था ! खैर, समासोक्ति रहने दीजिए, आजकल खोजखाज का बजार बहुत गर्म है, इसकी धुन बहुतों को सवार है, जो चाहता है, इसमें छटा सवार बनता है, खोजखाज का अर्थ मैं षष्ठी तत्पुरुष समास से करता हूं, यह कोढ़ में खाज मनोरमा के 'भास' वाले लेख में दिखाई देती है, बानक तो ऐसा बनाया है कि मौलिक लेख है; पर 'पनिस्सरमा का संवाद रूपक' 'जालहंस' की तरह सारी कलई खोल देता है। 'ऋग्वेद' में पणि नामक असुर (जिन्हें कई सच्चे

१. मरे को मारे शाहमदार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोजी 'फिनिशियन व्यापारी' समझते हैं) और देवशुनी सरमा का संवाद है, पणि का अंग्रेजी बहुवचन (panis) पनिस् होता है, वही 'मनोरमा' में मनोमुकुट में प्रतिबिम्बित होकर 'तत्तु नत्रैव रमते हताः पाणिनाना वयम्' कहलवाता है। आगे इस लेख में वह गड़बड़झाला, लबड़धों धों या सिक्खाशाही मची है कि कुछ न पूछिए, भास, श्रीहर्ष, धावक धोबी, बड़ा विक्रमादित्य, बड़ा हर्ष, सबका, वैष्णवों का सकल पुंगल बन गया है, अलबिरूनी कहीं से एक हर्ष संवत् लिख गया है जो उसके सिवा किसी ने आज तक न सुना न माना। उस हर्ष संवत् का डूबते को तिनके का सहारा यहां मिला है।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : मई, १९२० ई०]

कलकत्ते का अशोकारिष्ट

'मनोरमा' में एक प्रार्थनाकार महाशय गजेन्द्र को ग्राह से नहीं, वराह से ग्रसाते हैं। यह भी नई पौराणिक खोज है जो ढूंढ़ने वाले का यश बढ़ावेगी, लाला सीताराम अवधवासी भूप, जिनकी रामायण के 'अस्थलों' की खोज और जगह बहुत प्रशंसनीय हुई है, 'मनोरमा' के भाग्य से 'शिशपाचोद्य' और 'अशोकवनिका न्याय' में उलझे हैं, गुह ने राम के लिए बिछौना शिंशिपा के वृक्ष के नीचे क्यों किया इस पर तर्क-वितर्क करने के लिए महावरा बन गया है—शिंशपाचोद्यमेतत्। ऐसे ही रावण ने सीता को 'अशोक वनिका' में क्यों रक्खा, इस पर खोज की खाज उठती है। उसे 'अशोक वनिका न्याय' का काँच दिखाया जाता है। यहां पर लाला सीताराम ने कलकत्ते से विज्ञापनी कविराजों के अशोकारिष्ट के भरोसे अशोक को दीपक या उत्तेजक कहकर रावण की सीता को यहां रखने की गूढ़ अभिसंधि खोज निकाली है। बड़ी दूर की सूझी! हम तो कहते हैं कि लंका में पानी की किल्लत थी, मानसून धोखा दे गया था, पेड़ों की सिंचाई मुश्किल हो रही थी या रावण के बागबानों ने तनख्वाह बढ़ाने के लिए हड़ताल कर दी थी, उसने अशोक वाटिका को सरसब्ज रखने के लिए सीता को वहाँ रखा कि सीता के पादाघात से वे पेड़ तो कम से कम फूलते रहेंगे। घंटामिश्र के 'रामायण' के अर्थों की हँसी हुआ करती थी, घंटामिश्र मर नहीं गये हैं, वह नए-नए रूप धारकर अपनी उसी व्याख्या योनि की चौरासी पूरी कर रहे हैं, खोज के नाम से घंटामिश्र जी ने नया कलेवर धारण किया है।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : मई, १९२० ई०]

अशोक शास्त्री

अशोक की बात चल गई, कवि संकेत है कि आप कांता के पादाघात से फूलते हैं, कवियों ने इस पर अच्छी-अच्छी कही हैं। एक कहता है कि वाह अशोक, क्या कह रहे हो कि मैंने कान्ता को देखा ही नहीं ? बिना उसकी लात खाये तुम यों फूल से लदपद कैसे हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गये ? दूसरा कहता है कि नायिका ने नीचे-नीचे के अशोक के फूल चुन लिये, अब ऊपर की डालियों से फूल लेने वह उसकी ओर नीचे की डाली पर पैर देने लगी, बस सारी मिहनत बच गई ! नीचे ही फुलवाड़ी खिल गई । एक पंडित जी किसी की बहुत खुशामद करते थे, वह उन्हें झिड़कता था, जितना वह झिड़कता था, उतना ही वे आगे-आगे बढ़ते थे; उनका नाम यार लोगों ने रख दिया था—अशोक शास्त्री ।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : मई, १९२० ई०]

धर्म में उपमा

उपमाओं के भरोसे हमारा बहुत सा काम निकलता है, धर्म में तो दृष्टान्त और उपमाओं के सहारे से बड़े-बड़े सिद्धान्त दृढ़ कर लिए जाते हैं, बटलर ने analogy पर एक पूरे का पूरा निबन्ध लिखकर बताया है कि धर्म के विषय में लौकिक उपमान कहां तक चल सकते हैं । हमारे धर्मोपदेशक उपमाओं की मर्यादा नहीं देखते, वे ये नहीं विचारते कि कहां तक उपमा घसीटकर ले जाई जा सकती है, जब आर्यसमाज ने यह कहना आरंभ किया कि 'पोपजी आपका पेट कोई लैटरबक्स थोड़ा ही है कि यहां खीर-पूरी डाल दी और वहां पितरों को मिल गई' तब सनातनधर्मियों के हाथ डाकखाने और मनीआर्डर की उपमा लगी । वे कहने लगे कि जैसे नाम-पता लिखकर यहां मनीआर्डर का रुपया देने जर्मनी में 'मार्क', इंगलैंड में 'पाउण्ड', और अमेरिका में 'डालर' तथा रूस में 'रूबल' मिल जाते हैं, वैसे यहां नाम-गोत्र कह देने से खीर-पूरी बैलपितर को घास, सिंहपितर को मांस और सर्पपितर को वायु बनकर मिल जाती है, सुननेवाले तालियां पीट देते हैं । जैसे धर्म-विषय में कोरे सभा में गये थे वैसे ही कोरे लौट आते हैं और एक परदेशी उपमा और पल्ले बांध लाते हैं ।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अक्तूबर : १९२० ई०]

लायलपुर के बछड़े

गौ का बच्छे से कैसा प्यार होता है, यह वेद-पुराण सभी गाते आये हैं—'हिंकृण्वती-वत्समिच्छन्ती'—गौओं का लौटना वेद की बड़ी सुन्दर वर्णना है, गृह्य-सूत्रों में पिता परदेश से आकर पुत्र का सिर सूंघता है, पशुओं का हिंकार बड़े प्रेम की निशानी जो ठहरी । गोसाइँ तुलसीदास जी क्या सीता की विदाई में, क्या राम के अयोध्या लौट आने में, "बाल बच्छ जनु धेनु लवाई" को प्रीति की पराकाष्ठा की उपमा में रखते हैं, किन्तु लायलपुर या मांटगोमरी के सरकारी गोष्ठों में देखिए तो न बच्छे मा को पहचानते हैं, न मा बच्छों को । गोवंशशास्त्री और दुग्धवैज्ञानिकों का मत है कि माता की वत्स से प्रीति होने से दूध पतला हो जाता है, मनुष्य के लिए जितना उपयोगी होना चाहिए नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता। इसलिए जनन होते ही बछड़े को अलग कर देते हैं, माता को उसे चाटने भी नहीं देते। इसका फल यह होता है कि स्नेह या ज्ञान बढ़ने नहीं पाता, या पैदा होते ही कुम्हला जाता है, पांच-चार दिन अलग रखकर बच्चा मा के पास आवे तो न मा उसकी ओर खिचती है, न वह मा की ओर दौड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं कि बच्चे भूखे मर जाते या दुबले रहते हैं। इसके विपरीत वहां के बछड़े, चूंघने वाले बछड़ों से ज्यादा दूध पाते हैं और मोटे होते हैं। सारा का सारा मा का दूध बछड़े को कुछ सप्ताह तक पिला दिया जाता है, किन्तु अलग बर्तन में, स्तनों से नहीं।

अब इस पुराने श्लोक की ओर आइए कि जैसे हज़ार गायों में बछड़ा अपनी मा को पहचान लेता है वैसे मनुष्य को अपना किया हुआ कर्म जन्मजन्मान्तर में मिल जाता है।" इसके रचयिता ने वैज्ञानिक गौशालाएं नहीं देखी थीं, नहीं तो दृष्टान्त की विषमता या अभिचार साफ नजर आ जाता।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अक्तूबर, १९२० ई०]

घड़ी के पुर्जे

धर्म के रहस्य जानने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य न करे, जो कहा जाय वही कान ढलकाकर सुन ले, इस सत्ययुगी मत के समर्थन में घड़ी का दृष्टान्त बहुत तालियां पिटवा कर दिया जाता है। घड़ी समय बतलाती है। किसी घड़ी देखना जाननेवाले से समय पूछ लो और काम चला लो। यदि अधिक करो तो घड़ी देखना स्वयं सीख लो, किन्तु तुम चाहते हो कि घड़ी का पीछा खोलकर देखें, पुर्जे गिन लें, उन्हें खोलकर फिर जमा दें, साफ करके फिर लगा लें—यह तुमसे नहीं होगा। तुम उसके अधिकारी नहीं। यह तो वेदशास्त्रज्ञ धर्माचार्यों का ही काम है कि घड़ी के पुर्जे जानें, तुम्हें इससे क्या? क्या इस उपमा से जिज्ञासा बंद हो जाती है? इसी दृष्टांत को बढ़ाया जाय तो जो उपदेशक जी कह रहे हैं उसके विरुद्ध कई बातें निकल आवें। घड़ी देखना तो सिखा दो, उसमें तो जन्म और कर्म की पख न लगाओ, फिर दूसरे से पूछने का टंटा क्यों? गिनती हम जानते हैं, अंक पहचानते हैं, सुइयों की चाल भी देख सकते हैं, फिर आंखें भी हैं, तो हमें ही न देखने दो, पड़ोस की घड़ियों में दोपहर के बारह बजे हैं। आपकी घड़ी में आधी रात है, जरा खोलकर देख न लेने दीजिए कि कौन-सा पेच बिगड़ रहा है, यदि पुर्जे ठीक हैं, और आधी रात ही है तो हम फिर सो जाएंगे, दूसरी घड़ियों को गलत न मान लेंगे, पर ज़रा देख तो लेने दीजिए। पुर्जे खोलकर फिर ठीक करना उतना कठिन काम नहीं है, लोग सीखते भी हैं, सिखाते भी हैं, अनाड़ी के हाथ में चाहे घड़ी मत दो पर जो घड़ीसाजी का इम्तहान पास कर आया है उसे तो देखने दो। साथ ही यह भी समझा दो कि आपको स्वयं घड़ी देखना, साफ करना और सुधारना आता है कि नहीं। हमें तो धोखा होता है कि पड़दादा की घड़ी जेब में डाले फिरते हो, वह बन्द हो गई है, तुम्हें न चाबी देना आता है न पुर्जे सुधारना, तो भी दूसरों को हाथ नहीं लगाने देते इत्यादि।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अक्तूबर, १९२० ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूध के पैगम्बर

एक महाशय बछड़ों के हिमायती, दूध के शत्रु, अति सनातनी मिले, अति सनातनी यों कि दूध पीना, घी खाना, घी होमना सनातन धर्म है, वे उसके भी पीछे युग में जाते हैं। कहते हैं कि मनुष्य जाति का गोवंश पर परम अन्याय है कि वे बछड़ों की विरासत को छीने जाते हैं। गाय का दूध बछड़े के लिए है, बिना सींग के बछड़ों के लिए, मनु के इस कहने को कि पशु यज्ञ के लिए बनाये गए हैं और एक थन का दूध बछड़े के लिए छोड़ देव, स्वार्थ की चरम सीमा कहते हैं। यदि मनुष्य से भी बलवती कोई योनि हो और वे स्त्रियों का दूध अपने बच्चों को पिलावें और हमारे बच्चों को घास पर सन्तुष्ट करना चाहें तो मनुष्य जाति को कैसा लगे ? सुधारक महाशय का कहना है कि बछड़ों के हक का दूध पीने से मनुष्य में बैल-बुद्धि आ गई है और 'तस्मई' के प्रेमी ऋषियों को वे उसी दृष्टि से देखते हैं जिससे घास पार्टी के समाजी गृह्यसूत्रों के शून्यगव का ठीक अनुवाद करनेवाले समाजी पंडितों को। बालशेविज्म मनुष्य जाति के आपस के अन्यायों की चर्चा करता है, यह अतिबालशेवक सुधारक मनुष्य और पशुओं के बराबरी के समय तक जाते हैं और वहां के अन्यायों की खोज निकालते हैं। इनके तर्क में कोई ननुनच की जगह नहीं है, सब ठीक है। बावन तोते (तोले) पाव रत्ती पूरा नाप-जोख करा न्याय है किन्तु इस तर्क को पीछे हटाकर मनुष्य जाति कहां पहुंचेगी ? परमेश्वर ने भूमि सर्पों के रहने के लिए बनाई है। उनका हक मार कर घर बनाना या खेती करना अनुचित है। फल पक्षियों के लिए बनाये हैं, उन्हें खाना तोते-मैनाओं को भूखा मारना है, ऊन भेड़ को शीत से बचाने के लिए है, उसे पहनना भेड़ को जाड़े में ठिठराना है, बलवान् या बुद्धिमान् दुर्बल या अबुद्धिमान् की चीज़ छीनता है, या सनातन धर्म यदि न माना जाय तो मनुष्य जाति न मालूम कहां पीछी (पीछे) चली जाय !!

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अक्तूबर, १९२० ई०]

नौरंगसाह के नौरंग

बादशाह औरंगजेब को हिन्दी-कवियों ने 'नौरंगशाह' कर दिया। जोधपुर के महाराज बड़ी संकटावस्था में थे, वहां समाचार मिला कि औरंगजेब मर गया, अपना दुःख भूल-कर बोल उठे—

आई खबर अचिंत की मिट गई तन की दाह।
कासीदां हम भाखियो, मर गयो नौरंगशाह ॥

भूषण कवि ने एक प्रसिद्ध कवित्त में शिवाजी की प्रशंसा में कहा है कि—

'सौ रंग है शिवराज बली जिन,
नौ रंग में रंग एक न राख्यो।'

कवि को 'नौरंग' में नौ की गिनती की स्फूर्ति हो आई, उसके साथ एक रंग न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहने देने और 'सौ रंग है' की वाह, वाह गूंथने का मौका मिल गया। किस दूसरे कवि को यह भूषण की बात खटकी कि नौ रंग में एक रंग का भी न रहने देना कवि ने कहां से कह दिया ? नौरंगशाह में नौरंग तो दरसाने चाहिए, उसी पोथियों के बंडल[1] में यह कवित्त मिला जो भूषण की इस कल्पित त्रुटि को पूरा करता है या उसके सूत्र के भाष्य का काम देता है। इसी के आगे दो समस्यापूर्तियां "नौरंग में रंग एक न राख्यो" पर और हैं। कविता जैसी लिखी है, वैसी ही नकल कर दी जाती है—

प्याजी गई देस दिल्ली लुटाय
गुलाबी गई देच (स) दक्खणी हांको।
लाली गई बरछान की चौंच सों
लाखी अंबीरी (अमीरी) गई सुनि साको।
आबी कपूरी नरंजी गई
जब केसरिया राजपूत को माख्यो।
साह के सूर सेवा के सपूत तैं
नौरंग में रंग एक न राख्यो॥

कमी एक ही रह जाती है कि सात रंग गिनाए, नौ नहीं।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : नवम्बर, १९२० ई०]

कस्तूरी मृग

हाँ, संस्कृत में 'रसगंगाधर' के कर्ता जगन्नाथ पण्डितराज शाहजहां के समय में हो गये हैं जिन्होंने घमंड से कहा है कि मैंने जो कुछ उदाहरण आदि रक्खे हैं वे स्वयं बनाकर रक्खे हैं किसी और के नहीं लिये, भला जिस मृग को कस्तूरी पैदा करने की सामर्थ्य है वह क्या मन से भी फूलों की सुगन्ध लेता है ? जैसा रसगंगाधरकार ने दावा किया है, वैसा निबाहा भी है, वह भी इन्हीं हिंदी-कवियों के समय का था। उस गंधमृग में तो कस्तूरी पैदा करने की शक्ति थी, उसने फूल न सूंघे तो नहीं सही, किन्तु हमारे हिंदी के मधुप सूरदास और तुलसीदास के चंपा के वृक्ष के पास ही नहीं गये और न किसी गुड़हल के फूल को (उन्होंने अपने हिए में गड़ाया। वे समझते रहे कि जैसे हममें नाद करने की शक्ति है, वैसे सुगन्ध उपजाने की भी शक्ति हमारे हिस्से आई है, फल यह हुआ कि जैसे भट्टिकाव्य पढ़ने से पाणिनी के सारे सूत्रों के उदाहरण मिल जाते हैं, पर संस्कृत भाषा तभी आती है जब 'मन्त्र', 'ब्राह्मण' और 'महाभारत' में स्थान-स्थान पर बिखरे हुए संस्कृत-प्रयोगों की पहचान की जाय, वैसे ही 'स्वाधीनपतिका' और 'भाविसुरतगोपना' के लक्षण और उदाहरण पढ़ लो किन्तु

१. देखें : गुलेरी विरचित : 'दो प्रश्नों का एक उत्तर' टिप्पणी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूरदास की गोपियों की भाव मधुरिमा इन कवियों के भरोसे नहीं समझी जाती। न इन्हें पढ़कर कोई कवि बन सका। बकौल ग्रिअर्सन के स्वयं कवि न थे और जनम भर माथा खपाते रहे, दूसरों को कवि बनाना सिखाने के लिए !

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : नवम्बर, १९२० ई०]

भारद्वाज गृह्यसूत्र

'भारद्वाज गृह्यसूत्र' में कई बातें बड़ी अद्भुत हैं। और गृह्यसूत्रों में वैसी चमत्कार की बातें नहीं मिलतीं। यह गृह्यसूत्र 'कृष्ण यजुर्वेद' का है। जान पड़ता है कि इस शाखा का प्रचार बहुत पहले ही उठ गया था, क्योंकि गृह्यसूत्र की न बहुत पोथियां मिलती हैं, न टीकाएं, न पद्धतियां। इसमें भी चार ढेलों की लाटरी की चर्चा है। पर विवाह के प्रसंग में दो-तीन रत्न छिपे पड़े हैं। उन अंशों का पूरा अनुवाद अर्थ समझाकर यहां दिया जाता है।[1] मूल को छापने की कोई ऐसी आवश्यकता नहीं। पोथी छप गई है इसलिए घड़न्त का दोष लेखक पर लग नहीं सकता।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल १९२० ई०]

अक्ल बनाम नस्ल

भारद्वाज कहते हैं—विवाह करने के लिए चार बातें देखनी चाहिएं। धन, रूप, बुद्धि और बंधुजन (कुल)। यदि कन्या में ये चारों चीज़ें इकट्ठी न मिलें तो धन को छोड़ दे, तीन ही देखे। फिर भी गुण न मिलें तो रूप को अलग करे। रहे दो। ये दो भी न मिलते हों तो इनमें से किसको छोड़े और किसको ढूंढ़े ? इस पर विवाद है। कुछ लोग कहते हैं कि बान्धवों को धत्ता बताओ क्योंकि साथ रहना है, प्रज्ञाहीन के साथ रहना कैसा ? इसलिए केवल प्रज्ञा देखे। दूसरे कहते हैं कि ब्याह किसी और अर्थ के लिए नहीं किया जाता। स्त्री किसी और मतलब के लिए नहीं ब्याही जाती, इसमें तो प्रजनन का काम ही प्रधान है इसलिए जो इस लक्षण के योग्य हो वही ब्याहनी चाहिए कि जिसमें प्रशस्त (सन्तान) उपजै। अर्थात् संवास—साथ बसना—गौण काम है जिसके लिए प्रज्ञा चाहिए, प्रजनन का काम प्रधान है जिसके लिए बांधव देखने चाहिए। अतएव पहले पक्ष का मत है कि बांधव न देखे, प्रज्ञा देखे, दूसरे कहते हैं प्रज्ञा हो न हो, कुल देखे।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, १९२० ई०]

---

१. देखें : गुलेरी रचित 'विवाह की लाटरी'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ

लक्षणे जायापत्योष्टक् (३।२।५२) जायाघ्नस्तिलकालकः। पतिघ्ना पाणिरेखा (पाणिनि और पतंजलि)। उस समय भी हाथ की रेखा और तिल देखकर भविष्य कहनेवाले लोगों की चलती थी। ये लक्षण देखे और परखे जाते थे।

कई गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों ने कन्या के लक्षण गिनाये हैं। ऐसे बाल हों, ऐसी आँखें हों, ऐसा रंग हो, यह रोग न हो, वह न हो जैसे भौरियाँ देखकर घोड़े लिए जाते हैं, या जैसे सुधाकर जी की रामकहानी में हाथियों की जातियां गिनाई गई हैं वैसे न गिनाकर भारद्वाज शाखा वाले कहते हैं—लक्षण तो बहुत सारे होते हैं। पर लक्षण-विद्या को जानने वाले एक श्लोक पढ़ा करते हैं वह यह है—

यस्यां मनोऽनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते।
तां विद्यात् पुण्यलक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यति ।।

[जिस्में मन रमै जाके जिसमें जा आंख भी लगै।
उसे सुलक्षणा जानो, ज्ञान में क्या धरा हुआ?]

वाह भारद्वाजो! किं ज्ञानेन करिष्यति! क्या कहने हैं!! उस समय ये स्वतंत्र विचार!!! दूसरी शाखा वालों ने तुम्हें 'नास्तिक' कहकर तुम्हारा हुक्का-पानी तो बन्द नहीं कर दिया था?

'भारद्वाज गृह्यसूत्र' की सम्पादिका श्रीमती हेनरिएट जे० डब्ल्यू० सालोमन्स, लिट्० डी० के हम गुण गाते हैं कि उन्होंने हालैंड के लीडन नगर में यह पुस्तक छपवाया। यदि एक बात में हम डाक्टरनी हैनरिएट से सहमत नहीं हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम कृतघ्न हैं, या दान के घोड़े के दाँत देखते हैं। श्रीमती कहती हैं कि दोनों प्रकरण पीछे से गढ़े हुए हैं। पहले में तो रचना का ढीलापन बताकर श्रीमती कहती हैं कि प्रजा (संतान) का 'प्रज्ञा' बन गया है और दूसरे पर फरमाती हैं कि किसी मसखरे ने पीछे से मिला दिया है। श्रीमती इस बात पर चौंक उठी होंगी कि असभ्य हिन्दुओं के यहां, धर्म के मारे हिन्दुओं के यहां—इतने पुराने समय में यह ख्याल कहां से आया कि साथ रहने के लिए प्रज्ञा जरूरी है, और यह आज़ादी कहां कि लक्षण ताक पर रखकर बीसवीं सदी की तरह जहां मन रम जाय और आँख लड़ जाय, वहीं ब्याह कर लो! उस समय भी मनुष्य थे, भला-बुरा समझते थे, सूझ और उपज भी रखते थे, पुरुषों को विचारों की स्वतंत्रता का अमर्ष हो तो हो, स्त्रियों को भी वह हो गया! बकौल 'मृच्छकटिक' के 'चारुदत्त' के—

यदि गर्जति वारिधरो, गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
अयि विद्युत! प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि?

[बादल गर्जें, गर्जो, होते हैं, पुरुष प्रकृति के निष्ठुर।
क्यों बिजली! तू भी क्या, नारी-संताप जान नहीं सकती?]

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, १९२० ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असूर्यंपश्या राजदारा

रानियों के लिए बहुत दिन से सुनते आए हैं कि वे 'असूर्यंपश्या' होती हैं। सूर्य को नहीं देखतीं। लक्षणा-व्यंजना का विचार करने वाले कहते हैं कि इसका यह आशय नहीं कि जनाने के भीतर खुले सहन नहीं होते और न खिड़कियां होती हैं जिनसे सूर्य भगवान् सूझ जायं, और न राजरानियां 'यथा उलूकहि तम पर नेहा' होती हैं। यह केवल कैमुतिक न्याय है कि सूर्य को भी नहीं देखतीं, और का क्या? पुरानी चालों के हिमायती जनाने की ऊँची दीवारों और ख्वाजासराओं की मजबूती में यह फिकरा पढ़ा करते हैं और पौराणिक तथा ऐतिहासिक रानियों के स्वतंत्र घूमने पर झेंपा करते हैं। भास के प्रतिमा नाटक का रामचन्द्र स्पष्ट कहता है कि—

निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो
याने विवाहे व्यसने रणे च॥

[यात्रा, विवाह, विपदा और युद्ध में जो।
स्त्री दृश्य होकर फिरें, नहिं दोष कोई॥]

'भारद्वाज गृह्यसूत्र' इस असूर्यंपश्या पर एक नया प्रकाश डालता है। भारद्वाजों की विवाह-पद्धति में—संस्कार विधि में—वर वधू के दाहिने कान में कहता है कि—

मां चैव पश्य सूर्यं च मा अन्येषु मनः कृथाः।
[मुझे औ' सूर्य को देख, दूसरों पर न मन् चला]

यह मंत्र है। पति स्त्री को आज्ञा देता है कि मुझे देख और सूर्य को देख, आगे बस कर। अधिक पतिव्रता स्त्री सूर्य को भी नहीं देखती, वह केवल पति को देखती है, सूर्य तक पर निगाह नहीं उठाती। असूर्यंपश्या का अर्थ पतिव्रता हुआ, न कि पिंजड़े की चिड़िया। इसलिए काशिकाकारों ने जो यह कहा है कि 'गुप्तिपरं चैतत्। एवं नाम गुप्तां यदपरिहार्यं दर्शनं सूर्यमपि न पश्यन्तीति।' यह उनके समय की चाल पर कहा है। पाणिनी के असूर्यंललाट योर्दृशितयोः (३।२।३६) में पर्दा-सिस्टम की हिमायत, भारद्वाजों की उद्धृत की श्रुति के ज़ोर से, नहीं निकल सकती।

[प्रथम प्रकाशन : **प्रतिभा** : अप्रैल, १९२० ई०]

ढेले चुन लो

शैक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' में पोर्शिया अपने वर को बड़ी सुन्दर रीति पर चुनती है। बबुआ हरिश्चन्द्र के 'दुर्लभ बन्धु' में पुरश्री के सामने तीन पेटियां हैं—एक सोने की, दूसरी चांदी की, तीसरी लोहे की। तीनों में (से) एक में उसकी प्रतिमूर्ति है। स्वयंवर के लिए जो आता है उसे कहा जाता है कि इनमें से एक को चुन ले। अकड़बाज सोने को चुनता है और उलटे पैरों लौटता है। लोभी को चांदी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिटारी अंखूठा दिखाती है। सच्चा प्रेमी लोहे को छूता है और घुड़दौड़ का पहिला इनाम पाता है। ठीक ऐसी ही लाटरी वैदिक काल में हिन्दुओं में चलती थी। इसमें नर पूछता था, नारी को बूझना पड़ता था। स्नातक विद्या पढ़कर, नहा-धोकर, माला पहन-कर, सेज पर जोग होकर किसी बेटी के बाप के यहां पहुंच जाता। वह उसे गौ भेंट करता। पीछे वह कन्या के सामने कुछ मट्टी के ढेले रख देता। उसे कहता कि इनमें से एक उठा ले। कहीं सात, कहीं कम, कहीं ज्यादा। नर जानता था कि ये ढेले कहां-कहां से लाया हूं और किस-किस जगह की मट्ठी (मट्टी) इनमें है। कन्या जानती न थी। यही तो लाटरी की बुझौवल ठहरी। वेदि की मट्टी, गौशाला की मट्टी, खेत की मट्टी, चौराहे की मट्टी, मसान की धूल—कई चीज़ें होती थीं। बूझो मेरी मुट्ठी में क्या है—चित्त या पट्ट? यदि वेदि का ढेला उठा ले तो संतान 'वैदिक पंडित' होगा। गोबर चुना तो 'पशुओं का धनी' होगा। खेत की मट्टी छू ली तो 'जमींदार पुत्र' होगा। मसान की मट्टी को हाथ लगाना बड़ा अशुभ था। यदि वह नारी ब्याही जाय तो घर मसान हो जाय—जनम भर जलाती रहेगी। यदि एक नर के सामने मसान की मट्टी छू ली तो उसका यह अर्थ नहीं है कि उस कन्या का कभी ब्याह न हो। किसी दूसरे नर के सामने वह वेदि का ढेला उठा ले और ब्याही जाय। बहुत से गृह्यसूत्रों में इस ढेलों की लाटरी का उल्लेख है—आश्वलायन, गोभिल, भारद्वाज सभी में है। जैसे राजपूतों की लड़कियां पिछले समय में रूप देखकर, जस सुनकर स्वयंवर करती थीं, वैसे वैदिककाल के हिन्दू ढेले छुआकर स्वयं पत्नीवरण करते थे। आप कह सकते हैं कि जन्म भर के साथी की चुनावट मट्टी के ढेलों पर छोड़ना कैसी बुद्धिमानी है! अपनी आँखों से जगह देखकर, अपने हाथ से चुने हुए मट्टी के डगलों पर भरोसा करना क्यों बुरा है और लाखों-करोड़ों कोस दूर बैठे बड़े-बड़े मट्टी और आग के ढेलों—मंगल और शनैश्चर और बृहस्पति—की कल्पित चाल के कल्पित हिसाब का भरोसा करना क्यों अच्छा है, यह मैं क्या कह सकता हूं? बकौल वात्स्यायन के, आज का कबूतर अच्छा है कल के मोर से, आज का पसा अच्छा है कल के मोहर से। आँखों देखा ढेला अच्छा ही होना चाहिए लाखों कोस के तेजःपिण्ड से! बकौल कबीर के—

पत्थर पूजे हर मिलें तो तू पूज'पहार।
इससे तो चक्की भली, पीस खाय संसार॥

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : अप्रैल, १९२० ई०]

ब्रह्मचारी को पान खिलाना

मेरे एक अनन्य मित्र हिन्दी के लेखक हैं। लेखक तो क्या हैं छठे सवार हैं, बुझी हुई ज्वालामुखी हैं, खून लगाकर शहीद बनते हैं, पर हैं कुछ ठठोल। 'ब्रह्मचारी' के सम्पादक ने उनसे लेख मांगा, सनातनियों के ऋषिकुल का सनातनी पत्र, कट्टर सनातनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक। मेरे मित्र को क्या सूझी कि स्मृति की दुहाई देकर लिख बैठे—"भाई 'ब्रह्मचारी' में लेख कैसे लिखूं—

यतये कांचनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे।
चौरेभ्योप्यभयं दत्वा दातापि नरकं ब्रजेत्॥

"संन्यासी को सोना, ब्रह्मचारी को पान, और चोरों को अभय देकर दाता नरक को जाता है"—आकर मुझसे कहा। मैंने कहा कि मित्र यह तुम्हारा अभिमान है कि तुम अपने लेख को 'पान-सा रंगीला' समझकर हिचकिचाते हो, कहीं वह 'सत्तू की मुट्ठी' ही न हो? ब्रह्मचारी को चाहिए कि जो उसका अपमान न करे—या चैनं नावमानयेत्। रही नरक जाने की बात सो यदि इस स्मृति के अक्षरों पर चलें तो हिन्दू आज सैंकड़ों बरस से वहां विराजते होते जहां कि मुन्शी चितर गुपत साहिब जाने का परमिट दिया करते हैं। हम यतियों को केवल कांचन ही नहीं देते परन्तु वे चीज़ें भी सौंप देते हैं जिन्हें कवि सोने की बेल के दो पहाड़ कहा करते हैं और जिन पर हथ्थ न पसारने वाले को तुलसी ने संसार में 'समरथ्थ' कहा है। बालकों का विवाह करते हैं, नाच-मुजरों में ले जाते हैं, 'रासपंचाध्यायी' सुनाते हैं तो पान न देने की बात कहां रही। रहे चोर तो उनके लिए अभय की क्या बात है, वे दिन-दहाड़े लेते हैं और हम उन्हें दक्षिणा ऊपर से देकर प्रार्थना करते हैं कि हमारी पीठ ठोक दो, सुफल बुला दो।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : दिसम्बर, १९२०]

यत्र तत्र सर्वत्र : सम्पादकीय

टिप्पणियां

गतवर्ष हिन्दी भाषा के लिए अच्छा नहीं बीता। दो प्रेसों के स्वामी, दो पत्रों के सम्पादक और दो पत्र अनन्त काल में लीन हुए। 'समालोचक' के ग्राहकों की संख्या भी अच्छी कहानी नहीं कहती। कई पत्र तथा काम सिसक रहे हैं तथापि 'हितवार्त्ता' का जन्म शुभ लक्षण है। हिन्दी-प्रेमी जान रक्खें कि उन्हें कितनी कड़ी मंजिल तै करना है।

□

आजकल एक और भी ऐसा विषय है जिस पर हिन्दी-प्रेमी टकटकी लगाए हैं। वह युक्तप्रदेश की सरकार का हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी बनाने का उद्योग है। शासनकर्त्ताओं के हाथ में भाषा बनाना इस ही देश में है। हम इस बात के पक्षपाती नहीं हैं कि व्यर्थ संस्कृत-शब्दों की भरती की जाय, किन्तु संस्कृत, आवश्यकता पर हिन्दी की (top root) प्रधान जड़ का काम दे, इसमें क्या आपत्ति है? सरकार के इन यत्नों के सामने सच्चे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी के प्रेमी याद रक्खें कि 'नार्मन' समय में अंगरेज़ी भाषा में 'फरांसीसी' शब्द बलात्कार से घुसेड़े गए थे किन्तु समय पाकर वे सब निकल गए और अब 'सैक्सन' ही की प्रधानता है।

□

बम्बई के मासिक पत्र 'भारतधर्म' ने मराठी, गुजराती और हिन्दी तीन भाषाओं से अपना कलेवर भूषित किया है। राष्ट्रभाषा के प्रचार का यह बहुत अच्छा उपाय है। क्या कई उत्साही बंगाली, गुजराती तथा मराठी पत्र अपने को हिन्दी से द्वैभाषिक करके सार्वजनिक भाषा प्रचार नहीं आरम्भ करेंगे?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक**: अगस्त, 1903 ई०]

जब प्रान्तिक सरकार ने भाषा के जटिल प्रश्न पर राय पूछी तो पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र फिसल गए और उर्दू मिश्र हिन्दी के पक्षपाती होकर सभापतिपने से इस्तीफा दे बैठे। यह बात उस समय 'ट्रिब्यून' में छपी थी और हम हिन्दी-पत्रों और 'सभा' को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने इस छिपाने लायक लज्जा की बात का हल्ला न मचाया। अभी हमारे देश में ऐसे कर्मवीर बहुत कम हैं जो सरकार के पूछने या किसी सम्बन्धी के स्वार्थ के आगे अपने सिद्धान्त पर खड़े रहें। इसी सम्बन्ध में हिन्दी-कालिदास, लाला सीताराम बी० ए० ने जो 'सभा' को विद्या-सम्बन्धी उत्कर्ष का आदर्श नहीं माना है, वहां हम भी सहस्रजिह्व होकर कहते हैं कि डिपुटी साहब का यह कहना असम्बद्ध, अनावश्यक और असत्य है। इस घरऊ लड़ाई और बाहरी उपेक्षा के रहते भी 'सभा' ने जो कुछ किया है, वह स्तुत्य है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३ ई०]

'भारतधर्म महामण्डल' के संस्थापक पण्डित दीनदयालु के ओजस्वी और सुधामधुर व्याख्यान मद्रास में हुए। वह दिन हिन्दी के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखने योग्य है जिस दिन फ्रेंच आफ इण्डिया के वक्ता पण्डित जी को मद्रास में दाक्षिणात्यों के बीच में, आनरेबल ला० गोविन्ददास ने एड्रेस दिया। यदि स्वामी दयानन्द की इसलिए स्तुति की जाए कि उन्होंने हिन्दी को अपनी धर्मभाषा बनाकर उसके साहित्य की पुष्टि कराई, की, तो पण्डित दीनदयालु को भी अटक से कटक तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के अन्यतम प्रधान उपाय व्याख्यान में वर्तने के लिए धन्यवाद देने चाहियें। जब उक्त पण्डितजी अमृतसर पिंजरापोल के लिए लाख रुपया इकट्ठा कर सकते हैं, तो क्या वह उदार महात्मा अपने पांच-सात व्याख्यान 'नागरी-प्रचारिणी सभा' को नहीं दे सकते जिससे सभा का सारा दारिद्र्य मिट जाय और हिन्दी की सर्वांग पुष्टि की नींव दृढ़ हो जाय?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार भाषाएं

प्रयाग की 'कायस्थ पाठशाला' के पृन्सिपल और 'प्रवासी' के सम्पादक रामानन्द चट्टोपाध्याय एक हिन्दी-बंगला-गुजराती-मराठी का पाक्षिक पत्र निकालेंगे। चारों भाषाएं देवनागरी अक्षरों में छपेंगी। हिन्दी अंश के सम्पादक बाबू राधाकृष्णदास चुने गए हैं। इस योजना से चारों भाषाओं की अङ्गपुष्टि ही नहीं, किन्तु राष्ट्रभाषा का प्रचार भी साधित होगा, इसीसे हम इसका अनुमोदन करते हैं और यथायोग्य सहायता के लिए उपस्थित हैं। 'नागरी प्रचारिणी सभा' से भी परामर्श ले लेना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

चतुर्भाषी

जिस पत्र की बात से हम पुलकित हुए थे, वह कदाचित् कथा शेष हो गया—

"दूर से आए थे साक़ी ! सुन के मैख़ाने की हम।
बस तरसते ही चले अफ़सोस ! पैमाने को हम॥"[1]

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

सहयोगिसाहित्य

[१]

'भारतमित्र' में 'विलायती पार्लेमेण्ट', 'उर्दू अखबार', 'अपनी कहानी' बहुत अच्छे लेख हैं, और 'भारतमित्र' को ऊँचा आसन दिलाते हैं। उपहार का उद्देश्य भी उसका उपहार ही पूरा करता है। 'हितवार्त्ता' की राजनैतिक हितवार्त्ता अच्छी भी कुछ काम की नहीं क्योंकि भाषा में सुधार नहीं और उपहार का उपहास है। 'हिदी बङ्गवासी' के जाग उठने के लक्षण हैं, किन्तु अभी आँख भी नहीं मली गई। 'श्री वेङ्कटेश्वर' में रामजीवन नागर के शिल्प सम्बन्धी लेखों के अभाव से हम दुःखी हुए। यह पत्र भी उत्तम कक्षा का है, और वहीं रहने का यत्न करता है। 'प्रयागसमाचार' कम्पोजिटरों की बीमारी और सम्पादक की बदल से बदल (या बिगड़ ?) गया। 'भारत जीवन' का ढंग सुधर रहा है, किन्तु 'मोहिनी' क्यों ऊंघती है ? 'राजस्थानसमाचार' में कोई-कोई लेख बहुत अच्छा निकलता है किन्तु टूटा टाइप सब कुछ बिगाड़ देता है। 'राजपूत' अलवर के उत्सव में रंग गया। 'चित्तौर-चातकी' का गंगाप्रवाह हो गया; बाकी पुस्तकों पर पञ्चों की

---

१. 'चार भाषाएं' टिप्पणी पर यह दुःख प्रकट किया गया है। —सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पञ्चायत हो रही है; इसी से 'भारतजीवन' का जीवन तङ्ग है। 'सरस्वती' की महिमा बढ़ती जाती है, आशा है कि योग्य सम्पादक उसकी कोटि सदा उच्च करते जायंगे। साहित्य-समाचाचारों को 'सरस्वती' न छोड़ै। इस वर्ष उसकी आर्थिक अवस्था भी दृढ़ हो जाय। 'सुदर्शन' फिर सो गया है, उसकी चोदना होनी चाहिए। 'आनन्दकादम्बिनी' के प्रबन्ध से हम सन्तुष्ट नहीं। काशी की सभा की कृपा से 'हिन्दी-मनोविज्ञान' और नन्ददास जी की 'रासपञ्चाध्यायी' पढ़ने को मिली। फरवरी के मध्य में सभा का गृह-प्रवेशोत्सव है। शुभचिन्तक ने लालमोहन घोष की जीवनी अच्छी लिखी है, किन्तु क्या छै तोले का नियम भी इसके जीर्ण दरिद्र कागज को न बदलेगा? काशी के उपन्यास उसी ढंग से चले जाते हैं। 'बिहार-बन्धु' कहीं 'सरयूपारी बन्धु' न हो जाय। देखें, 'सत्यवादी' क्या कहता है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

[२]

'नागरी प्रचारिणी सभा' के एक पुराने अधिवेशन में बाबू श्यामसुन्दर दास ने ठीक ही कहा था कि यूनिवर्सिटी बिल पर हिन्दी-सम्पादकों ने अपनी स्वतन्त्र राय यों न लिखी कि कदाचित् उनमें से किसी को भी विश्वविद्यालय में पैर रखने का सौभाग्य न मिला हो। ऐसे सम्पादकों के लिए रूस, जापान का युद्ध मानो ईश्वर ने भेजा है, क्योंकि इधर-उधर से पत्र को भर कर पुरानी रुखास को पूरा करने का अच्छा मौका मिलेगा। 'हितवार्ता का आकार बदला, किन्तु भाषा नहीं। महामण्डल का विवाद कुछ ढीला पड़ा है, और उसका स्थान, मिसज बेसन् के हिन्दू-कालेज की चर्चा ने ले लिया है। हर्ष की बात है कि 'वेङ्कटेश्वर' में एक तिब्बती परिव्राजक ने यात्रा लिखकर हमारे सिर का बोझ उतारा। 'सत्यवादी' का ढंग अच्छा है, यदि वह पायदारी करै और चटकै नहीं। डाक-विभाग का नया नियम रोचक, 'बिहार-बन्धु' को १६ पेज का क्यों नहीं कर देता?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

[३]

'प्रयाग समाचार' में 'अबला बाला' का 'खून' हो गया और चाहे सम्पादक का अनुभव काम चलावै, किन्तु पुरानी महिमा नहीं आई। 'भारतभगिनी' औरों के लेखों की नकल करके कब तक चलेगी? 'सरस्वती' की नई संख्या बहुत अच्छी आई है और उसमें दो लेख अच्छे होने के सिवाय मौके के भी हैं—कोरिया और तिलक महाशय के ग्रन्थ का वर्णन। सरकार की पाली नई भाषा को बहुत ठीक 'मुखन्नस भाषा' कहा है। हिन्दी वालों का सम्मिलित जीवन कितना है और कैसा है इसका पूरा पता उस लंगड़ी चाल से लगता है, जिससे, 'भारतमित्र' के सिवाय, हिन्दी-पत्रों ने काशी की 'सभा' के उत्सव का हाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखा है। हम नहीं समझते कि 'भारतमित्र' की नैपोलियन की जीवनी साप्ताहिक पत्र में छपने लायक है। 'हिन्दी बङ्गवासी' होली पर तो अपने पुराने रूप पर आ गया, किन्तु अभी कुछ ठीक नहीं बना। ष्टैंड साहब के आदर्श दैनिक पत्र के सृष्टि, स्थिति, विनाश को देख हिन्दी के आदर्श पत्र वालों को अधिक दृढ़ होना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

[४]

'आरा' की 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने एक बहुत अच्छा काम किया है। उसने प्रायः २४ महाराजाओं को नागरी-प्रचार के लिए मेमोरियल दिया है। भगवान् करैं इसका अच्छा फल हो और यह न हो कि जहां नागरी-अक्षरों की ओर उदासीनता ही है, वहां उनका प्रत्यक्ष विरोध ही खड़ा हो जाय। 'सत्यवादी' को जब यों बंद होना था, तो इतनी धूम से निकला ही क्यों ?'

'अपनी आंखों में कौंध गई बिजली-सी,
हम न समझे कि यह आना है या जाना तेरा।'

'मोहिनी' साप्ताहिक होने चली है, किन्तु आकार कैसा होगा ? यह कोई सिद्धान्त नहीं कि बड़े आकार ही के पत्र अच्छे होते हैं। 'श्री वेंकटेश्वर' में तिब्बत में 'मैं' की तो 'मैं' हो गई, किंतु शिल्प के लेख लगातार निकलते रहे, और अब एक अच्छा उपन्यास आरम्भ हुआ है। 'भारत मित्र' ने भी एक मनोविनोद का कालम गर्ग (महेन्दुलाल) महाशय को दिया है। यों experts को एक कालम देना नया प्रयोग है, और इसका फल अच्छा ही होगा। क्या हिन्दी के पत्रों के परिचायक कई विषयों के कई संपादक रखने का प्रबन्ध नहीं कर सकते ? अभी तक राजनीति पर लिखने वाले महाशय ही को धर्म की व्यवस्था देनी पड़ती है, और साहित्य का अग्रणी बनना पड़ता है। 'भारत जीवन' में गोरक्षा के लेख अच्छे हुए हैं। बड़े हर्ष की बात है कि 'प्रयाग समाचार' में दत्त (रमेशचन्द) महोदय के इतिहास पर लिखा जाने लगा है किन्तु उसकी परिपाटी निन्द्य है। जिन बातों में दस कालम खर्चे गए हैं वे दो कालम में लिखी जातीं तो अधिक बलवती होतीं। लेखक को यह तो मालूम है कि गाली देने का नाम युक्ति और तर्क नहीं है, फिर जगह-जगह पर रमेश बाबू और काशी की 'सभा' को अयुक्त वचनों का संपुट क्यों लगाया जाता है ? अंग्रेजी में उस ग्रन्थ के होने से धर्म भ्रष्ट नहीं हुआ, तो बेचारी हिंदी ने क्या पाप किया है ? 'सभा' की बहुत कुछ निन्दा हो रही है, उसे सम्हलना चाहिए। घर क्या बना, वह मानो घोड़े बेचकर सो गई है। 'काशी' के 'प्रसाद' से हमारी हिन्दी पर भी 'प्रयाग समाचार' ने आक्षेप किया है, जिसके लिए उसे अनेक धन्यवाद हैं—

"मुझे कोसें, बला से, गालियां दें,
मगर वह नाम लें हर बार मेरा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

'राजपूत' में दो लेख अच्छे हुए हैं। 'वैश्योपकारक' पत्र बहुत अच्छा होगा, हम

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी उन्नति चाहते हैं। 'चक्करदार चोरी' और 'हृदयहारिणी' पढ़ने योग्य हैं। 'गोस्वामी जी' के उपन्यास एक भद्दी लीक में पड़ते जाते हैं। वही दुःख में मिलन, परस्पर सहायता, प्रेम का उदय, छिपा प्रेम, पूरी कोर्टशिप, वियोग, मिलाप का आनन्द, विवाह और कोहबर की एक दिल्लगी वही बात, उसी ढांचे में! सबमें वही अधिकता से कर्णकटु एक तान! किंतु विवाह से पहिले का प्रणय और पूरी खुलावट फरांसीसी है, हिंदुस्थानी नहीं। 'समाजचित्र' में विवाहोत्तर के प्रणय का चित्र देना क्या असम्भव है? 'राजस्थान समाचार' के दैनिक रूप की आलोचना हम तब तक न करेंगे जब तक उसके स्वामी, लोगों के मुंह पर का रूमाल (कि अभी कुछ न कहिए) न हटा लें। जयपुर से 'संस्कृत रत्नाकर' पत्र अच्छा निकला है, किंतु उसमें नई बातें भी चाहिएं। काशी की मित्र-गोष्ठी पत्रिका' में संस्कृत के द्वारा नवीन-प्राचीन का मिलना शुभ है।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मई, १९०४ ई०]

[५]

जब ऋषि मरने लगे, तब मनुष्यों ने देवताओं से पूछा—"हमारा ऋषि कौन होगा?" देवताओं ने उनको 'तर्क' ऋषि दिया। —निरुक्त १३।१।१२

'बंग महिला' के तीव्र तथा सत्य लेखों पर जिन हिन्दी के पत्रों ने हल्ला मचाया है उनकी योग्यता का अच्छा परिचय मिल गया है। मनुष्यों के कामों के हिसाब में स्वार्थ का इतना हिस्सा होता है कि वही मनुष्य जो समालोचना का अगुआ बनता था, और समालोचना की चर्चा से आकाश-पाताल को एक करता था, वही, केवल इसलिए कि जैसे वह औरों को झूठ अपशब्द कहता था, वैसे कोई दूसरा भी उसे कुछ सच्ची बात सुना सकता है, कहता है कि समालोचना की अब हिन्दी में जरूरत ही नहीं। औरों की अवस्था पर कहने वाले स्वयं अपना मुंह तो दर्पण में देखें कि वे स्वयं भी जरद्गव नहीं हैं। जिनके हाथ कीच में सने हुए हैं उन्होंने अपने हाथों को शुद्ध बताने का दावा किया है, 'श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार' के-से निष्पक्षपात दर्शक ने अपना मत स्पष्ट और सत्य प्रकाश किया है। किन्तु उन हठी और सत्यभीरु लेखकों को हम क्या कहें, जिनने कदर्य, कुत्सित और जघन्य आक्रमणों से, 'बंग महिला' के पूज्य स्त्रीत्व पर गर्हित आक्रमण किए हैं और दाढ़ी में तिनके की कहावत को चरितार्थ किया है। कहां हैं वे पुराने लोग जो कहते हैं कि स्त्रियों का हमारे यहां आदर है? वे इन मर्यादारक्षक सम्पादकों की Chivalry देखकर प्रसन्न हों। इस दुःखदायक और उद्वेगजनक लेखप्रणाली से बड़ा खेद तो यह है कि अपने हृदय को खोजकर, अनुतापपूर्वक अपने अपराध स्वीकार करने के स्थान में वे गालियों के मुँह आए हैं किन्तु 'समालोचक' जब सत्य कह रहा है, तो वह कभी इन गालियों से डरनेवाला नहीं है। बंग-भाषा में चोरी की और अश्लील पुस्तकें हैं, तो किस तर्क से वे हिन्दी में भी होनी चाहिए? एक पीरे मुर्शद हमारा हाथ चूमने चले थे कि किसी ने उनकी आँख फोड़ दी। ऐसे मौके पर एक ग्रामीण उपाय है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि वे अढ़ाई कदम उलटे पैरों चलें और अपनी समिति से मिलें। हमें अपना मरीज़ कहने को कई आगे बढ़ते हैं, किन्तु 'समालोचक' की तपस्या यों नहीं च्युत होती। 'सरस्वती' अपनी रोचकता रखती है किन्तु धर्म के विषय में बेपेंदे के लोटे की शोभा पाती है। जब 'सरस्वती' में माइकेल मधुसूदन दत्त का जीवनचरित निकला था तब एक महाशय ने कहा था कि 'सरस्वती' कृस्तान बनने का उपदेश करती है। ठीक ऐसी ही उदारता और दूरदर्शिता 'प्रयाग समाचार' 'दत्त' के इतिहास की आलोचना में दिखा रहा है। 'हितवार्ता' के चित्र केवल श्याही के पुंज होते हैं और उसकी भाषा नहीं सुधरती। 'बंगवासी' अभी तक नहीं सुधरा। 'भारतमित्र' लोकप्रिय हो रहा है। 'वैश्योपकारक' और 'मित्र' ने अच्छी उन्नति की है। 'राजपूत' जी का जोश ठण्डा हो गया है। 'मोहिनी' नाम की भूखी है। 'सुदर्शन' के उठने की आशा नहीं। 'आनन्दकादम्बिनी' ने वर्ष पूरा किया, किन्तु पौने दो वर्ष में है। काशी संस्कृत यूनिवर्सिटी का काम उदारता से चलना चाहिए। इन्दौर और पञ्जाब में नागरी-प्रचार के लिए उपदेशक जाने के पहले 'कः कालः कानि मित्राणि' सोच लेना चाहिए। पत्र को समय पर न निकाल सकने की सज्जा को, हम अबके मिटाने का उद्योग करेंगे। केवल समालोचना साहित्य का पेट नहीं भरती, इससे और सर्वोत्तम लेखों को भी स्थान दिया जाता है। उच्च साहित्य की कमी से चाहे वहां समालोचना का अवकाश न हो, किन्तु उपन्यास Parasites के उच्चाटन की बड़ी आवश्यकता है। इस वर्ष इन लेखों के लिए लेखकों को इस प्रकार उपहार दिए गए—

सोहऽम्	एक सोने की अंगूठी
खेल भी शिक्षा है	एक बनारसी रेशमी थान
व्यय	लेख की १५० प्रति
लाखा फूलाणी	लेख की २० प्रति
हि	लेख की ३५ प्रति
हिन्दी के ग्रन्थकार	एक सांगानेरी साड़ी
भारतवर्ष के इतिहास की समालोचना	लेख की ७५ प्रति

'समालोचक' के ग्राहकों की संख्या कम है, बहुत ही कम है। उनके भरोसे और मनुष्य पत्र निकालने का साहस नहीं करता। पौने से अधिक ग्राहक जहां वी० पी० लौटावें वहां क्या आशा हो सकती है? तथापि मातृभाषा की सेवा के आग्रह से और विद्वानों के परितोष के लिए सम्पादक और प्रकाशक 'समालोचक' को यथावत् चलाने में उद्यत होते हैं। जगदीश्वर से प्रार्थना है कि आगामी वर्ष भी अपने गुरुकर्तव्य के योग्य शक्ति सम्पादकों को मिले और जान्सन साहब के पवित्र आसन को भूषित नहीं तो दूषित करने का मौका तो न मिले। अन्त में सहयोगियों और सुयोग्य लेखकों से निवेदन है कि वे इस नौका को मझधार छोड़कर प्रकाशक को दुःखित न करें। गत वर्ष कर्तव्य के आवेग में, सत्य के पक्ष में वा मनुष्य के स्वाभाविक रागद्वेष से, यदि किसी को ज्ञात वा अज्ञात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ अनुचित कहा गया हो, तो वे मनुष्य जानकर क्षमा करें और आगामी वर्ष के लिए 'समालोचक' को आशीर्वाद देवें—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसिनजायताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्त मेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समाने न वोहविषा जुहोमि ।।
समानी व अकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जून-जुलाई, १९०४ ई०]

[६]

आजकल समाचारपत्रों में रूस, जापान वा तिब्बत की लड़ाई के अतिरिक्त प्रायः गंभीर लेख बहुत कम होते हैं। 'भारतमित्र' में 'उर्दू मासिक पत्रों' पर अच्छा लेख लिखा गया है और इसके लेख तथा भाषा से सब मनुष्य प्रसन्न हैं। 'हितवार्ता' के लेख अच्छे राजनैतिक होने पर भी सरल भाषा में न होने के कारण सर्वोपयोगी नहीं हैं। 'हिन्दी बंगवासी' में अब गंभीर लेखों का प्रायः अभाव रहता है। आजकल हमारे मित्र 'राय साहब' एक कथा के रूप में मिसेज वेसेण्ट की स्तुति कर रहे हैं, ठीक ही है। 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' में, रामजीवन नागर के शिल्प और वाणिज्य के लेखों के स्थान में 'उपन्यास' छपने लगा था !!! 'वैश्योपकारक' तथा 'भारतजीवन', सम्पादकों की 'बदली' से कुछ अधिक उन्नति कर सके ! क्या 'मोहिनी' ऐसे बढ़िया (!) चित्र छापकर 'मोहिनी' होने का अभिमान कर सकती है ? 'प्रयाग समाचार' की वर्तमान अवस्था तथा प्राचीन अवस्था में रात-दिन का भेद मालूम होता है। 'सुदर्शन' के लिए भक्त जन 'माधव' से प्रार्थना करते-करते थक गए हैं !!! 'सरस्वती' में और लेखों के अतिरिक्त 'इंगलैण्ड की व्यापार नीति' लेख मि० सप्रे, बी० ए० का समयोपयोगी है। आनन्द है, मिस्टर सप्रे अब कुछ फिर लिखने लगे। 'राजपूत' जी क्या अब फिर 'जादूगर' आदि उपन्यासों के पीछे दोड़ेंगे ? 'आनन्दकादम्बिनी' का नया वर्ष प्रारम्भ हो गया है। चातक प्रसन्न हुए। अबके 'विवाह' पर उत्तम लेख लिखा गया है। 'जयपुर संस्कृत रत्नाकर' को 'मित्रगोष्ठी पत्रिका' का अनुकरण करना चाहिए,। बम्बई से 'जैन ग्रन्थरत्नाकर' अच्छा पत्र निकलने लगा है। 'जैनमित्र' ने अच्छी उन्नति की है। 'जैनगजट' को सावधान होना चाहिए। 'हिन्दी प्रदीप' का वह ही पुराना हाल है। लोग सहायता देने से मुँह मोड़ते हैं। आजकल लोग नया पत्र निकालने के लिए दौड़ते हैं किन्तु पुराने को सहायता करना 'पाप' समझते हैं। नागरी सभाओं को द्वेष से बचना चाहिए। काशी के उपन्यास एक ही धारा से बहे चले जाते हैं। 'भारतधर्म' मासिक से साप्ताहिक हो गया है। काशी की सभा का वार्षिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिवेशन हो गया। कुछ सभा के सभ्यों की कृपा से मिस्टर 'दत्त' का इतिहास पाठकों को पढ़ने को मिला होगा। आजकल आरा में 'पदक' बहुत मिल रहे हैं। इन्दौर में हिन्दी का प्रचार प्रायः हो गया है इसलिए 'हिन्दी-समाज' प्रसन्न हैं। अन्य देशों के लिए हिन्दी वालों को कुछ कठिन परिश्रम करना चाहिए। भगवान् ! एक दिन हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०४ ई०]

पाठ्यपुस्तकों का सुधार

हिन्दी के पत्रों ने उपन्यासों पर बहुत कुछ लिखा। उपन्यास साधारणतः प्रौढ़ अवस्था वालों के लिए होते हैं। ऐसे लोग समय काटने के लिए पढ़ते हैं और उन पर किसी विशेष पुस्तक के पढ़ने का बलात्कार नहीं होता। इससे यदि वे जानबूझकर भद्दे उपन्यास पढ़ें, तो भारतेन्दु के शब्दों में—'उन्हें कौन जगा सकता है?' किन्तु शिक्षा-विभाग की पुस्तकें भला-बुरा न जान सकने वाले कोमल बालकों को पढ़नी ही पड़ती हैं। उन्हें जो कुछ रटाया जाए, वह अशुद्ध भाषा में न हो और बुरा न हो इस बात की सम्हाल शिक्षा-विभाग के सिवाय संवादपत्रों को भी करनी चाहिए। मध्य प्रदेश की पाठ्य-पुस्तकें कदाचित् अच्छी हों, किन्तु बंग, बिहार, युक्तप्रान्त और पंजाब में पुस्तकों का रोना ही है। रसायनाचार्य पैडलर साहब के शासन में न मालूम किन रसायन प्रकारों से मैकमिलन कम्पनी पुस्तकें ढालती है और न मालूम किस कीमिया के बल से वे 'स्विकृत' हो ही जाती हैं। प्रयाग के 'इण्डियन पीपल' ने मैकमिलन की जुगराफिया और 'सिटीजन आफ इण्डिया' के उर्दू अनुवाद की अच्छी क़लई खोली है। 'लखनऊ एडवोकेट' के सम्पादक गंगाप्रसाद वर्मा 'नागरी प्रचारिणी सभा' के आनरेरी मेम्बर चुने गए हैं, उन्हें युक्तप्रान्त की हिन्दी पाठ्यपुस्तकों पर कुछ लिखना चाहिए। मैकमिलन की वैज्ञानिक रीडरों की समालोचना 'नागरीप्रचारिणी सभा' करने वाली है। 'बिहार बन्धु' और 'प्रयाग समाचार' वृथा की बातों में न पड़कर इस आवश्यक विषय पर लिखें। मैकमिलन के इतिहास पर हमने एक प्राप्त लेख छापा था। लेखक ने अपने सिद्धांतों के विरुद्ध बातों पर बहुत जोर दिया है। जो हो, हमने उस पुस्तक में एक भी पृष्ठ निर्दोष न पाया और हमें पण्डित पाण्डेय की समालोचना पर कुछ नोट जोड़ने पड़े। मैकमिलन कम्पनी की ऐसी ही वैज्ञानिक और साधारण पुस्तकों के लिए युक्तप्रदेश का शिक्षा-विभाग भी स्वच्छन्द विहार-क्षेत्र बनने वाला है। विद्यार्थियों और उनकी भाषा का ईश्वर ही रक्षक है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिटीज़न ऑफ़ इण्डिया

लीवार्नर साहब की यह पुस्तक बलात्कार से, सभी यूनिवर्सिटियों में कहीं मिडिल, कहीं एन्ट्रेन्स और कहीं एफ० ए० में घुसेड़ी गई। प्रयाग सीनेट में इसके विरुद्ध बड़े-बड़े विवाद हुए, सर्वसाधारण ने भी पत्रों में, सभाओं में, इस पुस्तक के मतों का विरोध किया। किन्तु पुस्तक है कि जोंक, हटती ही नहीं !! इसमें भारतवासियों की निन्दा है। पुस्तक बड़ी कठिन है, और Imperialism हठवाद का खासा नमूना है। उसके हिन्दी-अनुवाद का नाम सुनकर हमने समझा था कि इसकी कीर्ति भी मैकमिलन की अन्य पुस्तकों से काहे को कम होगी, किन्तु यह जानकर सन्तोष हुआ कि यह अनुवाद लाला सीताराम बी० ए० ने किया है। सन्देह यही है कि इस अनुवाद में 'भूप' लेखिनी का कौनसा स्वरूप है ? कुछ हिन्दी का स्वरूप है वा उस खिचड़ी उर्दूमय हिन्दी का स्वरूप है जिसकी हिमायत करती बार भूप साहब ने आत्मश्लाघा करते-करते 'नागरी-प्रचारिणी सभा' की निन्दा की थी ?

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

यूनिवर्सिटीज़ बिल

पंडित बालगंगाधर तिलक ने, अपने नए ग्रंथ की भूमिका में, भट्ट मोक्षमूलर के ये वाक्य उद्धृत किए हैं—"मनुष्यों के ज्ञान के प्रत्येक विभाग का शाखा और प्रशाखाओं में दिन दिन बटते जाना, किसी विशेष विषय के शास्त्री को, चाहे वह चाहे, वा नहीं, अन्य शास्त्रों के सेवकों की बुद्धि और सहायता के अधिक-अधिक अधीन करता जाता है। आजकल के भूतत्ववेत्ताओं को उन प्रश्नों का निर्णय करना पड़ता है जिनका कि सम्बन्ध धातुवेत्ता, रसायनवेत्ता, पुरातत्त्ववेत्ता, व्याकरणवेत्ता और ज्योतिषवेत्ता लोगों से सूखे भूतत्त्ववेत्ताओं की अपेक्षा अधिक है। जीवन बहुत थोड़ा होता है इससे उसे अपने साथियों की सहायता और सलाह लेने के सिवाय कोई उपाय नहीं रहता। विश्वविद्यालय-जीवन का यह बड़ा भारी लाभ है कि यदि किसी को अपने विषय से बाहर की किसी बात का निर्णय करना हो तो वह अपने सहयोगियों से सबसे अच्छी मीमांसा पा सकता है। पेचीले प्रश्नों के सबसे अच्छे विचार और अत्युत्तम समाधान, इस स्वतन्त्र सहवास से, हमारे विद्याकेन्द्रों के इस 'लेन देन' से उत्पन्न हुए हैं। यदि खोजी इन सब विषयों पर जाने हुए अधिकारियों की सहायता न ले, तो वह अपनी समझ में बड़ी खोज कर बैठता है जो विषय को जानने वाले के फूत्कार मात्र से उड़ जाती है, और कई बातों को छोड़ जाता है जो विशेषज्ञ के हाथ में पड़कर दूर व्यापी लाभों को पैदा करती हैं। हमारे विश्वविद्यालयों में, जहां हर कोई अपने सहयोगियों से सबसे अच्छी सम्मति पा सकता है (चाहे वे उसे असम्भव कल्पनाओं से सावधान करें और चाहे ऐसे ग्रन्थ की ओर उसका ध्यान खैंचें जिसमें उसकी जिज्ञासा की बात पूरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तौर से वर्णित है) प्रत्येक विज्ञान को, विचारों के स्वतन्त्र 'लेन देन' से कितना लाभ होता है, इस बात को सर्वसाधारण नहीं जानते।" यह लिखकर तिलक महाशय कहते हैं—"किन्तु हा ! ऐसी आबहवा में रहना हमारे भाग्य में नहीं है, और इसमें आश्चर्य नहीं कि भारतवासी ग्रेजुएट परीक्षा देने के सिवाय और किसी काम के नहीं होते। भारतवर्ष में एक भी ऐसी संस्था नहीं है, और यूनिवर्सिटी कमीशन के होने पर भी ऐसे संस्थान के होने की आशा भी नहीं है, जहां योरोप की तरह किसी विषय का पूरा ज्ञान प्राप्त हो सके।"

यूनिवर्सिटीज़ बिल से उच्च शिक्षा के विस्तार की आशा नहीं होती। सीनेटों के सभ्यों की संख्या कम कर दी गई है, प्राइवेट कालिजों की स्वतन्त्रता कई जटिल नियमों से बद्ध हो गई है, किन्तु पढ़ाने वाली यूनिवर्सिटियों के बारे में कोई विशेष चेष्टा नहीं की गई। विज्ञान की उच्च शिक्षा के प्रस्ताव नहीं हैं, देशी भाषाओं की पढ़ाई में गिनती की बात भी नहीं है। और सरकार केवल चार लाख रुपया वार्षिक ही शिक्षा-विस्तार में देना चाहती है। पाठकों को सर लालयर के व्याख्यान से स्मरण होगा कि शिक्षा-विस्तार सेना से कम आवश्यक नहीं है और सर लालयर कई सौ करोड़ रुपया इंगलेंड के विश्वविद्यालयों के बढ़ाने के लिए चाहते हैं। इस बिल में विलायत से योग्य अध्यापकों को बुलाने की भी चर्चा नहीं है। ग्रेजुएटों को फेलो चुनने का अधिकार दिया गया है, किन्तु प्रयाग और पंजाब के ग्रेजुएटों को नहीं। सम्वादपत्र, कांग्रेस, और सभी विश्वविद्यालयों ने इस बिल का पूरा विरोध किया है। इस बिल के विचार के लिए जो नये मेम्बर, वरिष्ठ कौन्सिल में चुने गए हैं उनमें हिन्दुस्तानी एक ही हैं—और वे 'वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां' की अवस्था को पहुंचे हुए, बम्बई यूनिवर्सिटी के भूतपूर्व वायस चैन्सलर डाक्टर भाण्डारकर हैं। कोई नवयुवक स्वदेशी होते, तो क्या कहना था। वृद्ध रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर को अपनी उस पुरानी करेर को काम में लेना चाहिए; जिससे उसने पतञ्जलि के समय-निर्णय के रिप्लाई लिखे थे, और वियाना कांग्रेस में बेण्डाल का खंडन किया था। उनका यह समय प्राचीन शिलालेख पढ़ने का नहीं है; और न डाक्टर मुखोपाध्याय के लिए प्रघातमापकों की माप का है। दोनों को 'यथा निर्दिष्टोस्मि तथा करोमि' से बचना चाहिए। गोपालकृष्ण गोखले ने अपनी महाराष्ट्र वीरता काम में ली है और इसी से वरिष्ठ कौंसिल के अधिवेशन रोचक बन गए हैं। जो होना है वह तो आक्सफोर्ड में कृतविद्य कर्जन महोदय ने सोच ही रक्खा है; तथापि देशी मेम्बरों का विरोध 'दंतभंगोपिनागानां श्लाघ्यो गिरिबिदारणे' तो होगा ही।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

हिन्दी प्रदीप

बड़े खेद का विषय है कि स्नेह के अभाव से हिन्दी प्रदीप बुझा ही चाहता है। पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने धनाभाव की आंधी से और बंगला बू के नए तेल से इसको बचाया भी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु कृतघ्न हिन्दी भाषा वाले जब इसके प्रकाश में काम ही न लें तो यह अनन्तता के अन्धकार में लीन न हो, तो क्या हो ? 'समालोचक' के स्वामी को इस दुःसम्वाद को सुनकर बड़ा शोक हुआ है और वे एक प्रस्ताव उपस्थित करते हैं जिसे हिन्दी के प्रेमी और भट्टजी अपनी सम्मति से उपकृत करें। भट्टजी जितना लिख सकें या लिखना चाहें (प्रति मास २० या ३० पृष्ठ) उतना लिखकर हमें दे दिया करें। हम अपने पत्र का नाम 'समालोचक और हिन्दी प्रदीप' रख देंगे और 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक भट्टजी ही कहलाएंगे। यों भट्ट जी के लेखों को हम छाप देंगे, और भट्टजी का और उनके पत्र का नाम जीवित रह जाएगा। अवश्य ही हानि-लाभ के हम किसी और को दायी नहीं हैं। भट्टजी को यही सन्तोष रहेगा कि उनकी मातृभाषा की सेवा चल रही है, और यदि उन्हें लाभ नहीं है, तो प्रतिवर्ष जो हानि होती थी, वह तो अब नहीं होगी।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

महर्षियों की वृष्टि

आजकल बरसाती मेंढकों की तरह सब ओर महर्षि, महात्मा, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, ग्रेजुएटर्षि, वैश्य ऋषि की भरमार है। कहीं इन पदों की मान-रक्षा की बहस में 'राजर्षि भारतेन्दु', 'ब्रह्मर्षि अयोध्यानाथ' भी न लिखा जाने लगे। सचमुच भारतवर्ष इनकी कृपा से ऐसा आश्रम न बन जाए जहां, द्वन्द्व, शोक, द्वेष दूर से ही किनारा कसें। एक बार दो बंगाली सज्जन सेकण्ड क्लास में कश्मीर जा रहे थे। एक के चरणों में गेरुआ बूट, देह में रेशमी कम्बल और मुंह पर चिकनी दाढ़ी देख, एक यात्री ने पूछा—"आपका नाम क्या है ?" पास के धार्मिक मुसाहब ने तपाक से उत्तर दिया, "महर्षि अमुकानन्द सरस्वती" और पूछने वाले का नाम पूछा। उससे गम्भीरता से कहा, "अर्शी" तमुक। "अर्शी का क्या अर्थ है ?" यह पूछने पर उत्तर मिला कि मुझे अर्श रोग है, अतएव मैं अर्शी हुआ; तीन-चार मास में रोग बढ़ जाने पर 'महर्शी' कहलाऊंगा !!!"

यही नहीं, आजकल उपाधियों की बड़ी छीछालेदर हो रही है। ऐसे समय में, जब कि एक ओर 'जन्मना जायते शास्त्री' वाले दाक्षिणात्यों की, और दूसरी ओर चाहे संस्कृत में चार पंक्ति भी लिखना न आवे, व्याकरण वा काव्य के चार-पाँच ग्रन्थ पढ़-कर 'शास्त्री' और 'आचार्य' कहलाने का दावा रखने वाले कालेज-कूष्माण्डों की भरमार है, हम लोगों को अपनी उपाधियां लिखते भी लज्जा आनी चाहिए ! यही नहीं, पांच-सात समस्यापूर्ति करने से आप साहित्य-ज़मींकन्द, साहित्य-राजा, साहित्य-शम्बूक, और न मालूम क्या-क्या बन सकते हैं; भारत के भास्कर बनकर अपने कुकाव्य किरणों से उसे जला सकते हैं ! ! और पांच-छै रटे हुए व्याख्यान देकर मारवाड़भूषण, अवधभूषण, और न जाने किस-किस अश्रुत विद्या के वारिधि बन सकते हैं !!! 'आनन्दकादम्बिनी' ने विज्ञानाचार्य जगदीश वसु को 'भारतमार्तण्ड' पद देने का प्रस्ताव किया है, वास्तव में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पद के देने से भारत की प्रतिष्ठा है, न कि वसु महाशय की; किन्तु इस सब बात का क्या प्रमाण है कि कल ही कोई घरऊ-मुरऊ सभा जिसे-तिसे यह उपाधि देकर इस उपाधि की अप्रतिष्ठा न कर दे ? अपनी तरफ से हम तो डाक्टर वसु को सदा इसी पद से लिखेंगे।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

पण्डित-मण्डली का पत्र

इस भूगोल में, किसकी शंकुच्छिन्न रूप-छाया चन्द्रमा को भी उलांघ जाती है और 'रात्रि' कहलाती है, ऐसी घटना कभी नहीं देखी गई थी, जैसी इन पत्रों में झलकती है। भला, पण्डित-मण्डली किसी से शुद्ध हिन्दी तो लिखवा लिया करे।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

काशी के पण्डित-१

'प्रयाग विश्वविद्यालय' के कन्वोकेशन में (जिसके बारे में 'प्रयाग समाचार' में एक पंक्ति न निकली और 'राजस्थान समाचार' ने कई कालम रंगे) छोटे लाट लाटूश साहब ने 'काशी संस्कृत कालेज' के पण्डितों की स्तुति की। उनका-सा सच्चा विद्या का प्रेम और जोश कहीं नहीं मिला। आजकल जब ब्राह्मणों को गालियां दी जाती हैं, भला यह बात जानी तो गई कि इनने पूछ न होने पर भी भीख मांग-मांगकर संस्कृत पढ़ाना न छोड़ा। आजकल उत्तर भारतवर्ष में उच्च संस्कृत शिक्षा की दुर्दशा ही है। काश्मीर तो कई दिनों से विद्यापीठ नहीं रहा है। पंजाब में पण्डित जैसरामजी के पीछे चर्चा ही घट गई, और अब जो कुछ पण्डित और पाठशालाएं हैं वे ओरिएन्टल कालेज, धर्मसभा और आर्यसमाज की कृपा से हैं। रामगढ़ में कुछ काशी के पण्डित जमे थे, किन्तु 'रुद्री' और 'शीघ्रबोध' में ही उनके यत्न पूरे हो जाते हैं। जयपुर में काशी और मिथिला के पण्डितों की अच्छी कलम लगाई गई थी, किन्तु उनके पुत्रों के सिवाय वहां की मरुभूमि में कलम टिकना ही मुश्किल है। पण्डित हरजसरायजी के स्वर्गवास से युक्तप्रान्त में काशी के सिवाय कहीं पण्डित न रहे। मैथिल पण्डितों की दीनता बढ़ती जाती है और बंगदेश की न्यायमय टोलों के आचार्य पण्डितों को अब छात्रों को रखने लायक 'बिदाया' नहीं मिलती। नए रत्नों की खोज में 'काशी-संस्कृत कालेज' पढ़ाता और उपाधियां देता है, कलकत्ता और लाहौर के कालेज भी ऐसा करते हैं। किन्तु कलकत्ता-परीक्षाओं से ही लोगों को प्रेम है। बिहार संस्कृत सञ्जीवन पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के काल में काम करके शिथिल हो गया है, और उड़ीसा में टोल ही बहुत कम है।

प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान में दुभाषिएपने का काम पंजाब और प्रयाग के एम०ए० करते हैं। कलकत्ते में नदिया की प्रसिद्धि, प्रेमचन्द रायचन्द वृत्ति प्रभृति कई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारणों से कई एम०ए० संस्कृत के पूर्ण पण्डित हैं। स्वर्गीय वालन्टाइन साहब को पण्डितों को नई शिक्षा देनी इष्ट थी, उन्होंने काशी में एङ्गलो क्लास खोला और मिल, बेकन के ग्रन्थों को सूत्र, वृत्ति के रूप में लिखा। बर्कले प्रभृति के ग्रंथों का संस्कृतानुवाद कराया, किया। नैयायिकों के परमाणुवाद का खण्डन संस्कृत में लिखा। किन्तु उन्हें कुसंस्कार था कि पण्डितों का ज्ञान पश्चिमी ज्ञान से हीन कक्षा का है। पण्डितों की उदारता देखिए कि उनने बाइबल के सिद्धांतों को सुनने और नए विज्ञानों को संस्कृत में लिखवाने में कोई आपत्ति न की। इनने और बङ्गदेश के एडमस साहब ने पण्डितों से विज्ञान संस्कृत में लिखवाने की व्यवस्था भी ले ली थी। इनमें से एक पर बड़े गुरुजी (पण्डित काकारामजी) के भी हस्ताक्षर हैं। संस्कृत के लिए वर्तमान सरकारी सहायता बहुत कम है, और अब ग्रेजुएटों को संस्कृत पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति देने का जो प्रस्ताव है उसका हम स्वागत करते हैं; क्योंकि बड़े-बड़े पण्डित अपने पुत्रों को शास्त्र न पढ़ाकर ग्रेजुएट बनाना चाहते हैं। जो सात समुद्र पार की भाषा को 'चुलुकित' कर चुके हैं उनसे न केवल संस्कृत का उद्धार होगा, किन्तु कूपमण्डूकता का जो कलंक संस्कृत जानने वालों पर है, वह भी हट जाएगा।

'कश्मीरपाठशाला' हिन्दुओं के हाथ से निकल गई है, 'दर्भङ्गापाठशाला' भी बदली जाने वाली है, किन्तु काशी में अब भी 'संस्कृत यूनिवर्सिटी' का सामान विद्यमान है। प्रत्येक पण्डित के घर से टीचिंग यूनिवर्सिटी और प्रत्येक धर्मशाला बोर्डिंग हाउस, प्रत्येक सत्र में छात्रवृत्ति और प्रत्येक सभा में इनाम, सब कुछ है, केवल काम नहीं, प्रबन्ध नहीं। सरकार को षट्शास्त्री ग्रेजुएटों को यजमानों पर ही न छोड़ना चाहिए, उन्हें भी डिप्टी कलेक्टरी मिलना उचित है। मथुरामण्डल का विद्याप्रचार-स्कीम कागजों में ही है, दर्भङ्गेश्वर संस्कृत यूनिवर्सिटी की प्रतिज्ञा भूल गए। अब यदि हिन्दू यत्न करें तो जो शक्ति अवच्छेदकता प्रकारता की चक्की में वा फर्माइशी व्यस्था गढ़ने में, वा कागजी महामंडलों में, वृत्त रूप से खर्च होती है वही 'हिन्दू संस्कृत यूनिवर्सिटी' के रूप में, सरल रेखा में चलकर पहाड़ भी फोड़ सकती है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०]

काशी के पण्डित-२

काशी में कितना अनुपयुक्त और दुरुपयुक्त सामान है, इसका जानना बहुत सहज है। आजकल जब सरकार और कृत विद्य देशियों की दृष्टि इस ओर है, तो 'हिन्दी-हिन्दू-संस्कृत यूनिवर्सिटी' का प्रस्ताव उतना असम्भव नहीं मालूम पड़ता। सभाभवन खोलने के समय लाटूश साहब ने मध्यम परीक्षा पास करके आचार्य के लिए पढ़नेवाले अंग्रेजी जानने वाले छात्रों को २५) मासिक देना प्रतिश्रुत किया है। आचार्य-निपुण छात्रों को भी पांच वा तीन वर्ष विद्याभ्यास के लिए १००) वा १५०) प्रतिमास देने की आशा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिलाई है। साथ ही एक अच्छे बोर्डिङ्ग की आवश्यकता भी जतलाई है। काशी में कई राजाओं के विशाल मकान खाली पड़े हैं जिनमें प्रत्येक में ५०।६० छात्र रह सकते हैं और जिनमें नेपाल, दीघापटिया, दरभङ्गा, ग्वालियर, इन्दौर, मेवाड़ और जयपुर के भवन मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक को आक्सफोर्ड के होस्टलों के समान छात्रावास बनाकर एक धार्मिक ग्रेजुएट और एक षट्शास्त्री को उसका अध्यक्ष बनाया जाय। उन सत्रों को भी, जिनमें सहस्राधीश भी मुफ्त की खीर उड़ाते हैं, इनके अधीन किया जाय। विद्यार्थियों को लट्ठ चलाना और कुश्ती करना आवश्यक हो। अवश्य ही यात्रिय के हल्ले और 'रांड सांड सीड़ी संन्यासी' से इनमें रहने वाले छात्रों को विक्षेप पड़ेंगे, किन्तु जब तक विपुल धन-सम्पत्ति से गङ्गातट में हिन्दू यूनिवर्सिटी का शान्ताश्रम स्थापन न हो, तब तक इन स्थानों को भी कब्जे में लेना चाहिए। ये सब होस्टल आक्सफोर्ड के कालेजों की तरह काशी की पाठशालाओं को अन्तर्भूत करके पढ़ावें भी, और संस्कृत कालेज से पढ़ें और पदवियां भी पावें। काशी की पण्डित मण्डली भी अब नई बातों से उतनी घृणा नहीं करती और प्रवन्ध से नहीं चिढ़ती। उनके द्वारा ही पूर्व-पश्चिम का सम्मिलन होना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९४० ई०]

नागरी भवन का उत्सव

अभी हिन्दी की कान्फरैन्स का समय नहीं आया है तथापि सभा के उत्सव में जो सहानुभूति और प्रेम दिखाई दे रहा था, उससे भविष्यत् के लिए अच्छी आशाएं होती हैं। बड़े खेद की बात है कि सामयिक पत्रों ने उचित सहानुभूति नहीं दिखाई। सभा के कल्पित दोषों पर चटकने वाले पत्रों के प्रतिनिधि नहीं आए थे। पण्डित बद्रीनारायण चौधरी की सांवली सूरत और घुंघराले केशों में भक्तों को आलेख्य शेष हरिश्चन्द्रजी का दर्शन होता था। सभा के वार्षिक सम्मिलन का विचार किया गया है, और परिश्रमी 'गोरे श्याम सांवरी राधे' की युगल मूर्ति ने इस उत्सव को अपने और हिन्दी के स्वरूप के योग्य बनाया।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

विश्वविद्यालय बिल

कलकत्ता यूनिवर्सिटी के अध्यक्ष के भाषण में लाट साहब ने 'अन्तिम विश्वविद्यालय के अन्तिम अध्यक्ष' बनकर विश्वविद्यालयों के मुँह में गंगाजल और तुलसी डाल ही दी है। कहा भी जाता है कि विश्वविद्यालयों ने काम किया है, तो भी उनके बदलने की जरूरत समझी जाती है। उनमें अभी प्राचीनता न होने से मिलित जीवन नहीं है, तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी क्यों उन्हें और भी नवीन किया जाता है। उसी दिन रेल साहब ने स्पेन्सर की समालोचना करके वेलियल कालेज वालों के उथलेपन का प्रमाण दिया और कदाचित् कर्जनी यूनिवर्सिटियों के नए और बिरले ग्रेजुएट ऐसी ही अनभिज्ञ स्वयं संतुष्टता बतलावेंगे। सरकार ने अपनी शिक्षा-पालिसी पर भी बहुत कुछ लिखा है जिसकी बात आगे कहेंगे। गोपन विधि का-सा विरोध इसका होना ही नहीं और भाण्डारकर के भाण्डार की मोहर बन्द है, इससे आश्चर्य नहीं कि यह बिल अपने स्वरूप में इन टिप्पणियों के प्रकाश होने के पहले ही वज्रलेप हो जाय और बृटिश राज्य की सर्वप्रधान नियामत शिक्षा का मार्ग सकड़ा करने लगे।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

डिनामिनेशनल कालेज

यों तो हम लोग सभाओं और सम्वादपत्रों में जातीय भाव, सहानुभूति और योग्यता की डींग हांककर सरकार से अधिकार तक मांगने दौड़ते हैं, पर हम कापुरुष, कूपमण्डूक किसी लायक नहीं हैं। भारतवर्ष एक राष्ट्र नहीं है, भूगोल की पुस्तकों के सिवा भारतवर्ष कहीं कोई चीज़ ही नहीं है, और यह महाद्वीप एक दूसरे को काटने दौड़ती हुई बिल्लियों का पिटारा वा एक दूसरे से रगड़कर सुलगती आग जलाने वाले बांसों का सूखा वन है, और बृटिश सरकार का छत्र न होने से यहां दावाग्नि भड़क उठना असम्भव नहीं। मुहर्रम, बकरीद और गोरक्षा की गदरें इस बात की प्रभूत प्रमाण हैं। सारे 'इण्डिया' ने नेशनल कांग्रेस की, किन्तु मुसलमान उसे छोड़ बैठे, पंजाब उसे छोड़ बैठा, और प्रत्येक उपजाति, शाखा, बिरादरी को अपनी-अपनी कानफरन्स करने का शौक चर्राया। इस मेंडकी के जुकाम के अन्दर भी जुकाम चले, क्योंकि वैश्य महासभा के भीतर खण्डेलवाल महासभा मौजूद है। जिस कुल्हिया में गुड़ फोड़ने की मूर्खता ने हमें पृथक् कर रक्खा है उसे हम दृढ़ करने लगे, अपनी बेड़ियां अपने चौतरफ जकड़ने लगे, और सनाढ्य महासभा, सरयूपारी महासभा प्रभृति का काम इसी में पूरा होने लगा कि उसी शाखा के लोग काम करें और सरकार से निवेदन किया जाय कि कुछ नौकरियां खास उन्हीं के लिए रक्खी जायं। यह कहने वाले किस मुँह से सरकार को कहते हैं कि यूरोपियन और एंग्लोइण्डियनों को अर्धचन्द्र दे दो? जिस दफ्तर में दस कायस्थ हैं वहां एक ब्राह्मण को देखकर नाक चढ़ाया जाता है; जहां पांच मुसलमान हैं वहां एक हिन्दू नहीं खटाता, जिस रियासत में दस बंगाली हैं वहां एक देसी का निबाह नहीं; और दस दक्षिणियों में एक रांगड़े-देसवासी की नहीं चलेगी। किन्तु इन भद्दे भेदों को दृढ़ करने के लिए, इन्हें वज्रलेप करने के लिए प्रजाति कालेज वा डिनामिनेशनल कालेजों की सृष्टि है।

संसार में यदि कोई स्थान संकीर्णता को मिटाकर भाई-भाई को मिलाने का है, तो वह विद्यापीठ कालेज है। किन्तु यह तड़ेबन्दी वहां पहुंची है, और फर्गुसन् पचयप्पा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू आदि कालेजों के दृष्टान्त को छोड़कर जाति विशेष के दानी अपनी जाति के लिए देने चले। यदि गंगाधर शास्त्री आगरा कालेज दक्षिणियों के लिए ही करते, यदि विद्यासागर का मेट्रोपोलिटन ब्राह्मणों ही के लिए होता, यदि प्रेमचन्द रायचन्द की बादशाही उदारता श्वेताम्बर जैनियों के लिए और टैगोर ला लेकचर की सम्पत्ति निराली बंगालियों के लिए ही होती, तो हमें करम ठोकने के सिवाय क्या बस रहता। पढ़ने से उपेक्षा करनेवालों को लासा लगाकर खेंचने के लिए अपने कालेज काम देते हैं किंतु उनसे हानि बड़ी है। मुहमडन एंग्लो कालेज को यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं। वह बना कि इस मसख़रों के देश में बिरादरी-बिरादरी की यूनिवर्सिटी बनी। एक फिरके की यूनिवर्सिटी भी क्या मज़ाक है! क्या मुसलमानों के लिए और सायंस है और राजपूतों के लिए और? क्या केमिस्ट्री के जो भाग वे पढ़ेंगे उन्हें ये न पढ़ेंगे?

अमृतसर में कोई अच्छा कालेज नहीं था तो सिक्खों की दानवीरता ने एक बढ़िया कालेज खोला तो सही पर सिक्खों ही के लिए! मारवाड़ियों को कलकत्ते में हिन्दी की पढ़ाई न होने से कालेज की जरूरत थी, किन्तु क्या किसी कालेज में हिन्दी की चेयर एण्डाउ (प्रदान) से काम न चलता? दो लाख रुपये में जो कालेज बनेगा, वह कलकत्ते के कालेजों के सामने अयोग्य न होगा? इधर **'राजपूत'** एक 'जातीय (!) कालेज की दुहाई दे रहा है, और दस हज़ार रुपया (!) इकट्ठा कर चुका है! राजपूतों में पढ़ने की उपेक्षा नहीं है, जो अधिक धनवान् हैं, वा जो बिल्कुल बुभुक्षित हैं उन्हें छोड़ और सब पढ़ सकते हैं और पढ़ते हैं। उपदेश और छात्रवृत्तियों से यह काम हो जाता। राजपूतों के निवास-स्थानों के आसपास दो दिल्ली में, अढ़ाई आगरे में, एक जयपुर में, एक जोधपुर में, एक अजमेर में, एक ग्वालियर में, एक इन्दौर में, इतने बढ़िया कालेज हैं। यदि इनके समान वा इनसे अच्छा कालेज राजपूत लोग बनावें (जिसकी राजपूतजी क्षमा करें हमें आशा नहीं है) तो उनका कालेज किसी काम का भी होगा, नहीं तो अधकचरा कालेज उनकी शिक्षा को रोकैगा। क्या यह भी नियम होगा कि उसी जाति के मनुष्य जाति मात्र से नौकर रक्खे जायं? जातीय कालेज इस वास्ते भी किया जाता है कि उनमें धर्मशिक्षा हुआ करेगी। किन्तु धर्मशिक्षा भी एक भकौआ है। यह बात साफ कहना अच्छा है कि जो धर्म बलात्कार से कराया जाय वह धर्म नहीं है, अधर्म है।

अलीगढ़ में पञ्जगाना नमाज़ में न शरीक होने से दस आना जुर्माना देना पड़ता है इससे चाहे सभी मस्जिद में जायं, किन्तु नए मुसलमानों का धर्म उससे दृढ़ नहीं होता। देखा चाहिए, जबरदस्ती नाक पकड़कर सन्ध्या करानेवाले सेन्ट्रल कालेज के हिन्दू कैसे धर्मात्मा होंगे। केवल धर्म की लीक पीटना और सदाचार को भूलना, केवल चालों पर ज़ोर देना कदापि हित नहीं है। जब बालक चलने लगे, तो उसकी टांगें बांधनी नहीं चाहिएं। इस प्रक्रिया से ऐसे लोग पैदा होंगे, जो यन्त्रालय में बैठकर ग्रहण का गणित सिखाएंगे, किन्तु ग्रहण में दानव सूर्य को न खाय इससे दान करेंगे। जो शीतला के टीके का सिद्धान्त जान कर भी चैत्र कृष्ण अष्टमी को गधे की पूजा करेंगे! आजकल वह उदार धर्म चाहिए जो हिन्दू, सिक्ख, जैन, पारसी, मुसलमान, कृस्तान, सबको एक भाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चलावैं, और इनमें बिरादरी का भाव पैदा करैं, किन्तु संकीर्ण धर्मशिक्षा और 'जातीय' कालेज (जैसे पन्द्रह जैनी विद्यार्थियों का मथुरा में एक जैन महाविद्यालय है) हमारी बीच की खाई को और भी चौड़ी बनाएंगे। अभी भारतवर्ष को बहुत दिन पश्चिम की शागिर्दी करना आवश्यक है, क्योंकि कितने आदमी ऐसे हैं जिन्हें यह देखकर लज्जा आती हो कि टाटा महाशय अपनी सारी सम्पत्ति भारतवर्ष को देते हैं, और इधर 'गली गली में' जातीयता फूट रही है। जितनी डफली उतने तान !!

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मई, १९०४ ई०]

विचार-स्वातन्त्र्य

"यदि एक मनुष्य को छोड़कर सारे जगत् के मनुष्यों का एक मत हो और उस एक ही मनुष्य का मत जगत् से विरुद्ध हो, तो मनुष्य जाति को उसे चुप करने का उतना ही अधिकार नहीं है जितना उसे सामर्थ्य हो, तो मनुष्य जाति को चुप करने का। यदि मत किसी मनुष्य की घरू चीज़ हो तो उसे उसे रोकना या दबाना व्यक्तिगत हानि है जो थोड़े या अधिक मनुष्यों को पहुंचाए जाने से हानिकारक हुई। किन्तु किसी मत को प्रकाश न होने देने का परम पाप तो यह है कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति को ऐसा करने से हानि पहुंचती है; वर्तमान सृष्टि और भावी सृष्टि को, उस मत के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों को, हानि हुई। यदि वह मत सच्चा है, तो भूल छोड़कर सत्य को पकड़ने का उनका अवसर छीना जाता है। यदि वह झूठ हो तो भूल से संघर्ष होने से सत्य को जो प्रबलता प्राप्त होती है वह खोई गई।"

यह मत जान स्टुअर्ट मिल का है। धर्म, राजनीति, प्राचीनता का पक्ष, सब इसके विरुद्ध हैं। विशेषत: भारतवर्ष में।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०४ ई०]

भिक्षा के कण

मान्यवर राय निहालचन्द ने युक्त प्रान्त की व्यवस्थापक सभा में गौरक्षा के कुछ विफल प्रश्न किए थे, किन्तु अब उनने भिक्षा-व्यवसायियों पर दृष्टि डाली है। दीन भारतवर्ष दुरुपयुक्त भिक्षा पर प्राय: ५२ लाख हृष्टपुष्टों का निर्वाह होता है जिनमें से तीन चौथाई युक्त प्रान्त और पंजाब के वासी हैं। उनकी संख्या बढ़ती जाती है, वे उत्पादक नहीं हैं, भक्षक है और हिन्दू धर्म में अपात्र को दान देने का निषेध है। इन अठारह करोड़ रुपया प्रतिवर्ष स्वाहा कर जानेवालों पर अपनी धर्म-नीति से सरकार कुछ न कह सकैं, किन्तु हानिकारक धर्म-कलंकों को सरकार मिटाती रही है, इससे नाबालिगों को, माता-पिता की आज्ञा से, या उसके बिना, साधु बनानेवालों को दण्ड देने का बिल पास कराना राय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहब का इष्ट है। जब देश इतना गरीब हो गया है कि भिक्षा के कणों पर बड़े-बड़े आदमियों की दृष्टि पड़ने लगी है, और जब भिक्षा कामों में लगाने का उपाय न होकर मुफ्तखोरों की जननी हो गई है, तो राय बहादुर का प्रस्ताव ठीक है। किन्तु जो माता-पिता बच्चा पालने के बोझ से, या दीनता से, या भ्रमात्मक धर्म से, सिखाए या बिना सिखाए, साधुओं को अपने बालक बेच या सौंप देते हैं, उन्हें भी दण्ड मिलना चाहिए। इस भिक्षुक समुद्र की वेला उल्लंघित हो चुकी है और कई परिश्रमी ब्राह्मणों के घर इसने बहाए हैं; क्योंकि प्राय: प्रत्येक सम्प्रदाय के साधुओं को दीन और परमुखप्रेक्षक ब्राह्मणों में ही नई शिकार मिलती है; यों ब्रह्मकुल का नाश हो रहा है और साधुओं के नाम मात्र के ब्रह्मचर्य से देश का सदाचार धूल में मिल रहा है!!!

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०४ ई०]

लासा के लासा लग गया

वहां तिब्बत मिशन का महारास हो गया और हो रहा है। किन्तु कुछ आशा पूरी नहीं हुई। जिस नगर के मन्दिर का सोने का चूड़ा आठ-आठ मील से दिखाई देता था, और सूर्य के प्रकाश को प्रतिविम्बित करता वर्णन किया जाता था, वहां मणिकुट्टिम नहीं पाए गए; किन्तु गन्दी गलियों में सूअर और कुत्ते बिचरते मिलें। वहां कोई थीबा का महल नहीं; और न पीरू की पुरानी निधि मिली। यह सभ्यता और प्राचीनता का संघर्ष पूरा हुआ। प्रश्न है कि तिब्बत मिशन के साथ-ही-साथ 'एशियाटिक सोसाइटी' के दूत क्यों न गए जो कवच पहने-पहने प्राचीन पुस्तकों को नोटिस कर लाते, और असभ्य लामाओं को रिवाल्वर के दर्शन भी करा आते। और थियासोफ़िस्टो के पृष्ठपोषक महात्मा अब कहां जायंगे? वे भी क्या दलायलामा की तरह अस्पृश्य सभ्यता से नहीं भागेंगे? क्या यह सम्भव नहीं कि वहां ब्रिटिश रेजिडेन्ट जल्दी जम जाय? हम तो जी-जान से यही चाहते हैं कि वहां रेजीडन्टी लगै, क्योंकि कुछ भारतवासियों की नौकरियां तो लगेंगी! चाहे बंगाली बाबुओं से अन्त को घृणा हो जाय, किन्तु पहले तो डाक, तार और शासन में कुछ देशियों की रोटी चलै। लड़ाई के व्यय के बदले भारतवर्ष को कुछ नौकरियां मिलें सही। मिशन के दूत तिब्बतियों की उदासीनता पर दुःखी हैं। तिब्बती उनकी उपेक्षा करते हैं मानो इंग्लैंड की सेना को रोज़ ही देखते हों। जब मिशन गया तो सड़कों में कोई न था। एक स्त्री ने आटा गूंधते सिर उठाकर देखा, एक ने खिड़की में से झांका, फिर सिर नीचा किया। बस! औरों को कुछ पर्वाह ही नहीं। यह पुरानी असभ्यता है। भला क्यों नहीं वे मधुपर्क और पाद्य लेकर इन अतिथियों का आदर करने आए? अतिथियों को यह पता नहीं कि उनके चरणारविन्द वहां से कब तक लौट सकेंगे। तिब्बत बाई को हम बधाई देते हैं कि प्राचीन पड़दे को तुड़ाकर वह यंग हजबैण्ड (युवा पति) से मिली। अब यंग हजबैण्ड की 'मुरादें' पूरी होनी चाहिएं। उसे अपने शीघ्र लौटनेवाले गुरुजन को अपनी नव वधू से प्रणाम कराने का मौका शीघ्र ही मिलै।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०४ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनमेल

जिसे अंग्रेजी में Anamoly 'अनामली' कहते हैं उसे हम 'अनमेल' कहें तो कुछ ठीक ही है। समय के परिवर्तन से जब पुरानी बोतलों में नया सुवास भरना पड़ता है, जब पुराने कपड़े नए अंगों पर ठीक फिट नहीं करते, किन्तु अंग सिकोड़कर या पेवंद लगाकर लोगों को दिखाना चाहा जाता है कि वे ठीक आते हैं; जब वास्तव शरीर कपड़ों को छोड़ जाता है और दूर जाकर अपने लिए नए कपड़े बनाने बैठ जाता है और लोग पुराने कपड़े को ही सदेह वस्त्र माने रहते हैं या माने रहते हुए होने का मिस करते हैं उस समय कई अनमेल बातें हो जाती हैं। इंगलेण्ड के बादशाहों के राज्याभिषेक में एक ऐसी ही घटना धर्मपूर्वक की जाती है। इंगलेण्ड के राजा का हिमायती (Champion) शस्त्रों और कवचों से लदा हुआ, उठाया जाकर घोड़े पर बिठाया जाता है और वहां से भाला हिलाकर चारों दिशाओं से प्रश्न करता है कि कोई व्यक्ति इस राजा के अभिषेक का विरोधी होवे तो मेरे सामने आवै। चारों दिशाएं प्रतिध्वनि के मिस से हँसने के सिवा इसका उत्तर नहीं देतीं। जब हिमायती जी स्वयं उठाये जाकर घोड़े पर चढ़ाए जाते हैं, तो वे उस समय की अनमेल छाया मात्र हैं तब राजा को लड़-झगड़कर अपना ऊँचा आसन पाना पड़ता था। कार्लाइल ने रोम के पोपों के विषय में एक ऐसी अनमेल घटना का बहुत रोचक वर्णन दिया है—

किसी पवित्र दिवस को क्रस्तान धर्माचार्य 'पोप' का कर्त्तव्य था कि गाड़ी में घुटनों के बल खड़े हो, प्रार्थना करते हुए, नगर की प्रदक्षिणा करें। एक विलासी 'पोप' के मोटे शरीर में पीड़ा होती थी। उस वातग्रस्त पोप ने लकड़ी, कपड़े, पत्थर से अपनी एक मूर्ति बनवाई, जो अवनितल विन्यस्त जानुमण्डल, कमल मुकुल की-सी अञ्जलि को सिर पर रक्खे, पीछे एक कुर्सी पर छिपे पोप देव को बैठाए, नगर की प्रदक्षिणा कर आई। मानो पोप का काम ऐसा रह गया था जिसे निर्जीव लकड़ी की मूर्ति भी कर सकती थी।

"मेरे पास ठाकुरजी नृत्य करते हैं" ऐसा कहकर एक धूर्त ने, चूहों के पैर में घुंघरू बांधकर, उन्हीं से देवदेव का काम निकाल लिया था। ऐसे समय में, जब कि केवल देह मात्र को छोड़कर आत्मा चला गया है और लोग देह में इत्र मल-मलकर उसे उजला दिखाना चाहते हैं, परस्पर कई विरोध हो जाते हैं, जो शोचनीय हैं, दुःखदायी हैं और कष्टमय हैं। सनातनधर्मी लोग आर्यसमाजियों को वेद-मन्त्रों के उलटे अर्थ करने को बुरा कहते हैं किन्तु "अश्मा भवतु ते तनूः" का स्वयं अण्ड-बण्ड अर्थ करते हैं। थिया-सोफ़िस्टों को हेतुवादी कहकर 'पतित' कहते हैं। किन्तु स्वयं वैश्यों के 'गुप्त' उपनाम का हेतु यह बताते हैं कि वे अपने सिद्धान्त गुप्त रखते हैं। क्या इस तर्क से मन्त्रों के गोप्ता और राजनीति के गोप्ता भी वैश्य नहीं कहला सकते? और छिपाने ही से व्यापार बढ़ता तो अमेरिका का प्रगट वाणिज्य क्यों जगत् को व्याप्त कर रहा है? मि० रमेशदत्त की ऋग्वेद-गवेषणा को 'अल्पश्रुत' का काम बताते हैं किन्तु अपनी फूटी आँख के शहतीर 'विद्यासागरों' को कुछ नहीं कहते जो गुरु से वेद न पढ़कर भी पुराने भाष्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारों से टक्कर मारना चाहते हैं। इससे अधिक अनमेल क्या हो सकता है कि राजा के ईश्वरत्व का मण्डन करते भी कांग्रेस और प्रजातन्त्र का पक्षपात दिखाते हैं और श्रीवेंकटेश्वर का-सा धार्मिक पत्र भी एक ऐसा वाक्य लिख सकता है जो हिन्दू राजाओं के राज्य में ईश्वर-द्रोह के तुल्य माना जाता—"कितने ही राजा प्रजा के सेवक, प्रजा के रक्षक बनने के बदले, अपने आपको राज्य का, प्रजा का मालिक समझकर, प्रजोपकार के बदले, अपने आनन्द के कामों में मनमाना खर्च करते हैं?" वही पत्र राजनैतिक मिष्टर तिलक की स्तुति करता हुआ उस पण्डित के जातिबहिष्कृत होने पर हर्ष करता है और उनके वैदिक प्राचीनता साधक ग्रन्थों को अर्वाचीनता-साधक कहकर उनके खण्डन की आशा रखता है। अवश्य ही वह यह सुनकर प्रसन्न न होगा कि डाक्टर थीबो उसका खण्डन करके वेदों को १२०० ख्रिष्ट पूर्वाब्द पर लाना चाहते हैं।

यदि हमें पाप न लगे तो हम कह सकते हैं कि 'जगद्गुरु' का वर्तमान अभिनय भी इसी 'अनमेलपन' से खाली नहीं है। जो गद्दी विद्याबल से और धर्मवीरता से भगवान् शंकरावतार की है, उसकी मर्यादा का, सोने-चाँदी के सिंहासन, दिन में जलती मशालों और बड़ी-बड़ी भेंटों से क्या सम्बन्ध है सो समझा नहीं जाता। और दिन में जलती मशालें बिजली की रोशनी के सामने! मानो जगद्गुरु गद्दी के स्वामी शताब्दियों तक अचेत सोकर अब जाग पड़े हैं, और उन शताब्दियों की अपरिच्छेद्य भेंटों का डकार लेते हुए, आँखें मलते-मलते, अब उस शैव-वैष्णवों के झगड़ों को बुझाना चाहते हैं जो स्वयं बुझ चुका है और जिसे उनके आसन्न अदूरदर्शी पूर्वजों ने चमकाया था। इतने सैकड़ों वर्षों के दान का प्रतिफल सौ प्रथम श्रेणी के कालेज, दसों अनाथालयों और बीसों प्रशस्त पुस्तकालय होने चाहिए जिनमें भक्तों का एक पैसा न लगकर सब धन गद्दी से ही मिले। क्या सैकड़ों 'ताताओं' का धन इन गद्दियों पर नहीं चढ़ाया जा चुका है? और अब जगद्गुरु का काम कौन करता है? जो लड़का आठ आने कालम पाकर आधे पेट, बारह बजे तक, आँखों का तेल जलाकर, झुकी कमर से समाचारपत्र के कार्यालय की गन्दी काल-कोठड़ी में लिखता है, क्या वह जगद्गुरु का कायम मुकाम नहीं है? क्या यह कथा बाँचने वा बेचनेवालों का उत्तराधिकारी नहीं है? अथवा जो महोपदेशक व्याख्यान के पीछे थाली फेरते हैं उनका काम वह नहीं करता?

प्राचीन नवीन की संसृष्टि और अनमेल का अनमेलतम दृश्य जो शताब्दियों ने न देखा होगा वह जगद्गुरु का 'गुजराती' पत्र के सम्पादक को रुद्राक्ष माला देना और लेडी नार्थकोट अनाथालय में २५) बाँटना है। जैसे कोई सुपने से उठकर चिल्लावे—"भगवन्, क्या यह मेरा काम था?" और काम, अपनी आँखों से उसके हृदय को चीरता हुआ बोले—"क्यों जी, मैं तो तुमारा काम था न?"

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०४ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा का सुधार कैसे होगा ?

जैसे भारतवर्ष के सब प्रतिनिधियों के विरोध पर यूनिवर्सिटी एक्ट चल गया है, वैसे वेल्स के विरोध पर भी वहां की शिक्षा उस देश से अनभिज्ञ थोड़े से पादरी और लाटों के अधीन करने वाला एजुकेशन एक्ट हो गया है। वेल्स के निवासी इस पर क्या करना चाहते हैं इसका आभास मिस्टर लीयड जार्ज एम० पी० ने विलियम स्टैड को एक भाषण में यों दिया है—"सरकार इस बिल से जगत् को और हम को सूचित करती है कि हम शिक्षा के प्रबन्ध के काम में विश्वास के पात्र नहीं हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है कि देश के मनुष्य शिक्षा के प्रत्येक काम से अपने को अयोग्य समझकर पृथक् हो जावें ? यों अपनी अयोग्यता के विषय में सरकारी आज्ञा का राजभक्तिपूर्वक पालन करते हुए सारा बोझ हम अफसरों और सरकारी मनुष्यों पर डाल देंगे। किन्तु उनके पास प्रत्येक काम को राई-रत्ती करने के लिए न मनुष्य हैं न धन है। उसने समझा था कि हम उनकी रागों के लिए रुपया देते जायंगे, और कुछ लोग जैसा हमारे रुपये को लुटाएंगे, और भला-बुरा जैसा हमें पढ़ाएंगे, वैसा हम सह लेंगे। किन्तु यह एक्ट हमारे यहां चलेगा नहीं। तीन महीने में सब अध्यापक, स्कूल और कमेटियां तोड़ दी जाएंगी और प्रत्येक गिरजाघर में एक स्कूल खोलकर पढ़ाई का काम जारी रखा जायगा। इससे यदि बालक पढ़ने वालों को किसी पढ़ाई में कमी भी होगी तो भी न्याय, स्वतन्त्रता और जातीयता के साथ शिक्षा पाने से वे लाभ ही उठाएंगे।"

यह प्रक्रिया ध्यान देने योग्य है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०]

रंग की दुरंगी

रंग की दुरंगी नए-नए रूप दिखाती जाती है। ट्रान्सवाल गवर्न्मेंट में भारतवासियों को दुःख मिलता है इसलिए बुड्ढे क्रूगर के विरुद्ध युद्ध किया गया था, किन्तु क्रूगर के उत्तराधिकारियों ने स्टेड साहब के शब्दों में—"वहां भारतवासियों को बिछुओं से मारना आरम्भ किया है जहां क्रूगर कोड़े मारता था।" मिस्टर लिटनटन और भावनगरी की दीन और दबी प्रार्थना पर केप गवर्न्मेंट ने अच्छा अंगूठा दिखाया है। उधर अमेरिका फिलीपाइन टापुओं के निवासियों को पूरी स्वाधीनता देकर इस वर्ष में वह बात कर दिखाएगी जो इंगलेण्ड ने दो सौ सालों में नहीं की, ऐसा प्रवाद उड़ा था, किन्तु इस रमणीय चित्र का एक दूसरा पृष्ठ भी है। कुछ अमेरिकावासी पत्र कह रहे हैं कि फिलीपाइन को कुछ भी अधिकार देना स्वाधीनता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। उधर एक नव-जलधर श्याम काले हबशी ने अमेरिका के एक पत्र में 'अमेरिका के श्यामों का भविष्य' नामक लेख में बड़ी दूर की तुरही बजाई है। वह कहता है कि श्वेतों की सबसे बड़ी भूल अमेरिका में हमें स्वतन्त्रता का देना ही हुआ। हम बीस वर्ष की स्वतन्त्रता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयोग से उनसे अच्छे हो गए हैं। योग्यता में और वंश-परम्परा में हम उनसे सदा अच्छे हैं और धर्म-विचार भी हमारे उनके विचारों से बढ़े हुए हैं। वे घटते जाते हैं और हम बढ़ते जाते हैं। एक दिन अमेरिका हमारा हो जाएगा। लायोयांग की लड़ाई से भीषण संग्राम संसार के इतिहास में कभी नहीं हुआ, और कई पौराणिक संग्राम भी इसकी भीषणता से दब गए। तो भी योरोप और विशेषत: इंगलेण्ड के प्रजामत ने जापान के विजय को तुच्छ ठहराना चाहा है। सत्रह दिन तक तीन मील के चक्रव्यूह में लगातार लड़कर यदि वे कुरुपेटकिन को कैद कर सके, तो तीन दिन भोजन न करने से उनकी योग्यता पर यह कलंक लगाना चाहिए कि वे सेन्टपीटर्सबर्ग तक जाकर जारपुत्र को ही न कैद कर लाएं! इस युद्ध को पाश्चात्य मत ने बहुत लघु बना दिया है। किन्तु आस्ट्रेलिया ने जापानी विद्यार्थी और व्यापारियों के लिए अपना द्वार खोल दिया है। इधर 'एशिया के सीमोल्लंघन' पर एशिया वासी मग्नमना हो रहे हैं। कहीं इस रंग का भंग न हो जाय।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०]

कानपुरी राय

सरकार ने कुछ देशी ग्रेजुएटों को छात्रवृत्ति देकर विलायत में शिल्प-शिक्षा के लिए भेजने का जो विचार किया था, कानपुर की 'अपर इण्डिया चेम्बर आफ कामर्स' उसके विरुद्ध है। "वे छात्र उच्च पदों के पाने की आशा करेंगे, अपने प्रवास में उन्हें विषयों में पल्लवग्राहि पाण्डित्य मात्र होगा, और इससे वे यूरोपियन निपुणों के स्थान में काम नहीं दे सकते। सरकार से वे चुने गए हैं; इस घमण्ड से वे हलका काम न करेंगे। हस्त-शिल्प की शिक्षा भारतवर्ष की मिलों में ही अच्छी हो सकती है, किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य काम करना नहीं चाहते। कानपुर में शिल्प-विद्यालय के स्थापन की भी जरूरत नहीं है क्योंकि यदि परिश्रम और नियम से चलना चाहें तो वे फेक्टरियों में ही सीख सकते हैं। अतएव प्राइमरी शिक्षा मात्र में कुछ शिल्प की ओर गति करा दी जाय और शिक्षित लोगों को नीचे के काम कराने के लिए आसाम के कुली आईन की तरह बद्ध किया जाय क्योंकि कानपुर में काम करने वाले नहीं मिलते।" क्या इस विचार में यह नहीं झलकता कि भारतवासी हलके कामों के करने के लिए ही हैं? किसी विषय का वर्णमालावेत्ता भी यहाँ आकर एक्सपर्ट कहलावै और यहाँ वाले वहां वर्षों रहकर भी स्थूल तत्व तक न सीखें? यदि स्वामी सेवकों को सन्तुष्ट कर सकते हैं, तो ऐतिहासिक कष्टों के देने वाले कुली आईन की क्या जरूरत है? भारतवासी बात-बात में सरकार का मुंह न तकें, शिल्प-शिक्षा के लिए स्वयं उद्योग करके जापान, अमेरिका वा इङ्गलेण्ड में स्वच्छन्द जावें।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्वेतकृष्ण

वर्णभेद का यह झगड़ा बढ़ता जाता है। आस्ट्रेलिया का बड़ा आग्रह है कि उस देश में श्याम पदार्पण न करने पावें। किन्तु उत्तरी आस्ट्रेलिया के उष्ण प्रान्तों में श्वेत काम नहीं कर सकते और शीतवातातपक्षम श्यामों को वहां काम नहीं करने देते, तो, वह भूमि वृथा पड़ी-पड़ी "घास में कुत्ते" का स्मरण दिलाती है। सारा इङ्गलेण्ड और उसकी कलोनियाँ जापान के विजय से तुष्ट हैं, किन्तु आस्ट्रेलिया को भय है कि जापान के विजय से उसका व्यापार जाएगा, और वहां पीतों का उपप्लव होगा, इससे वह रूस के पक्ष में है।

जिज्ञासा यह है कि यदि फ्रान्स या जर्मनी रूस की ओर हो तो इङ्गलेण्ड को अवश्य जापान का पक्ष लेना पड़ेगा, तो आस्ट्रेलिया क्या इङ्गलेण्ड में अपना सम्बन्ध तोड़ेगी! भारतवासी भी यह कब तक सहेंगे कि इङ्गलेण्ड एक ओर तो स्वतन्त्र कलोनियां बसा रहा है, और दूसरी ओर एक रंग के दूसरे पर प्रभुत्व के आधार पर साम्राज्य स्थापन करता है? निपुण अंग्रेज भी होशियार होते ही भारतवासियों को अधिकार देने की चिन्ता में हैं। भारतवर्ष तो अपनी रक्षा के व्यय के अतिरिक्त दूर-दूर के युद्धों का व्यय देता है, किन्तु इङ्गलेण्ड के शान्त करदाता कब तक ऐसी कलोनी का व्यय भरेंगे जो उसके सिद्धान्तों को मानती ही नहीं किन्तु उसके ताज के प्रधान रत्न के वासियों को घृणा करती है? ट्रान्सवाल में भारतवासियों का सूची-प्रवेश भी नहीं है और इस 'श्वेतकृष्ण' के जाति-भेद के परमार्थ का हम श्वेतकृष्ण कुछ नहीं जानते।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

एकतन्त्र

समय की अनमेल घटनाओं में प्रधान, रूस में अब भी, इस स्वतन्त्रता के समय में एकतन्त्र रहना है। एकतन्त्र प्रजा में या प्रधान वंश में जो कुछ अच्छे गुण होते हैं उन्हें खा जाता है, और उसका परिणाम पूर्णाधिकारों का फल पागलपन है। शासन के लिए सदा 'चुना हुआ' मनुष्य चाहिए, किन्तु मनुष्यों के बदले का काम प्रकृति नहीं कर सकती और किसी वंश में जन्म लेने वाला ज्येष्ठ पुत्र सदा ही प्रजा में सबसे अच्छा हो, इसकी सम्भावना वृथा है। और जब पूरे सर्वाधिकार किसी वंश के अग्रज के मत्थे रख दिए जाते हैं, तो एक समय ऐसा आता है कि वह ईश्वरावतार स्वयं अयोग्य होकर अपने पास योग्य मनुष्यों को इकट्ठा करने की शक्ति और समझ नहीं रखता। अमेरिका में प्रेसिडेन्ट सदा अच्छे मिलेंगे, क्योंकि खेत से सभापति के आसन तक आने में योग्यता की परीक्षा होती है, इङ्गलेण्ड का नियत तन्त्र भी सदा चल सकता है क्योंकि राजा की अयोग्यता को प्रजा डांटती है, किन्तु एकतन्त्र भयानक है, अस्थायी है, नश्वर है, चाहे अयोग्य एकतन्त्र शासकों की मूर्खताओं से भी काम चल जाए, किन्तु सदा नहीं चल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता, वर्तमान प्राच्यप्रतीच्य संग्राम में रूस के जार का कोई दोष नहीं है। न तो उनने परमेश्वर से प्रार्थना की थी कि हमें पृथ्वी के षष्ठांश का ईश्वर बना, और न उनमें सहायकों ने योग्यता के बीज बोए हैं।

जिसे जन्म से सिखाया जाय कि तुम ईश्वर हो, सबसे अधिक बुद्धि तुम्हारी है, तुम्हारी सलाह को कोई काट नहीं सकता, उसका विचार दुर्बल न हो और सिर न फिर जाए तो क्या हो? रूस के शासक पर दया आती है, वैसी ही जैसे छै महीने के बच्चे के हाथ में चक्कू देखकर। उन्हें अपनी योग्यता का अभिमान है, वे अच्छे सलाहकार नहीं चुन सकते और सेनापतियों की झूठी रिपोर्ट और भ्रमात्मक धर्म से वे जापान और यहूदियों का वैर लेने में पड़े। वे दुर्बल एशिया से पराजित होने की लाञ्छना भोग सकते हैं, प्रजा उनके युद्ध की तरफ नहीं है और निराशता, 'दिशःशून्यता' मन्त्रियों का अभाव उन्हें उदास और दया-पात्र बना रहे हैं इसका कारण एकतन्त्र का नशा ही है। कभी-कभी भारतवर्ष में भी एकतन्त्रता के नशे की मात्रा बढ़ जाती है, इसी से वायसरायों की अवधि नियत है। लार्ड कर्जन महादेव की तरह इस विष को पीकर भी अमर हैं इसीलिए उन्हें यहां फिर आना शुभ हो।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

मान्यवर गोखले

मान्यवर गोखले ने कांग्रेस के लिए मद्रास में व्याख्यान देते, ये शब्द कहे थे—

"महाशयो! स्मरण रक्खो कि जो हमारे विरुद्ध हैं और जिनके हाथ में शक्ति का ठेका है, उनके पीछे सरकार की सारी प्रबलता है, और देश के शासकों का नीति-धर्म बल तो उनके पीछे है ही। यह स्वीकार करना न्याय ही है कि वे चुने हुए मनुष्य हैं और मनुष्य मनुष्य की तुलना में, वे हमसे अच्छे मनुष्य हैं, इनमें कर्त्तव्य का उच्चतर आदर्श है, देशभक्ति के उच्चतर भाव हैं, परस्पर भक्ति के उच्चतर ज्ञान हैं, नियमबद्ध काम की उच्चतर कल्पना है।"

ये अपनी दुर्बलता के सूचक हैं। जब हम अपनी समानता सिद्ध करते हैं तो इतना क्लैव्य क्यों? सुना है गायकवाड़ गोखले को भी अपने यहां रखना चाहते हैं। बड़ोदा प्रान्त के लाभ के लिए भारत इस हानि को नहीं सह सकता और पूनावासियों को गोखले को कभी न जाने देना चाहिए।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

'भारतधर्म महामण्डल' का उत्सव

प्रयाग के उत्सव के पीछे समझ में आया, क्यों पण्डित गोपीनाथ खास तौर से 'भारतधर्म महामण्डल' में लाये गए थे। पुराने मण्डल के जानकार और प्रबन्धकर्त्ताओं में यद्यपि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कई प्रबन्ध विषयों में पण्डित दीनदयालु के विरोधी रहे हों, तो भी वे सर्वसाधारण अधिवेशन में उनकी कूटनिन्दा करने पर कभी राजी न होते, जो कुछ लोगों को इष्ट था। पण्डित गोपीनाथ की भी पण्डित दीनदयालु ने ऐसी कोई हानि नहीं की थी जिससे वे इस मित्रद्रोह को धर्म समझकर दौड़े आते। हां, पण्डित दीनदयालु का यह अपराध तो अवश्य था कि जिस समय एक लाहोरी पत्र के सम्पादक के विरुद्ध दिशा प्रदिशाएं भी खड़ी हो रही थीं उस समय सारा पञ्जाब दाँतों तले अंगुली काटकर कहता था कि दीनदयालु इसके चरित्र की रक्षा करना चाहते हैं, आश्चर्य की बात है। अस्तु, पण्डित गोपीनाथ आकर 'मण्डल-रहस्य' और 'रिपोर्ट' के लिखने में केवल बिल्ली के पञ्जे ही बने, या 'यस्तित्याज सचिविदं सखायं' बने, इसका निर्णय मण्डल के पर्दे के भीतर रहने वाले ही कर सकते हैं। काशी के अधिवेशनों में बन्दरिया के बच्चे की तरह उस पुण्यपाठ के पत्रों को छाती से लगाये पंडित महाशय खड़े रहा करते थे और रोज़ पब्लिक को उसके सुनाने की धमकी दिया करते थे। या तो आकाश के चंदुए और घास की फर्श पर थोड़े से आदमियों को देखकर वे सहम जाते या जिन्हें वे उसे सुनाना चाहते थे उनके न आने से कार्यकर्त्ताओं का जी खट्टा पड़ गया, काशी में वह पारायण नहीं हुआ।

प्रयाग में मौका मिला। महाराज दर्भङ्गा भी थे। पण्डित दीनदयालु और पण्डित मदनमोहन भी थे। सनातनधर्म सभा के साथ सन्धि होने से व्याख्यानलोलुप पब्लिक भी आ गई थी। आज वर्षों के 'चिन्दे' पूरे हुए। आज्ञानुसार पण्डित गोपीनाथ ने खड़े होकर जम्हाइयां लेती पब्लिक की पर्वाह न करके वह धर्मकथा सुना ही तो दी। सुनने वाले निश्चेष्ट निस्पन्द हो गए। दर्भङ्गा-नरेश ने जो सभापति होने का फख़्र करते हैं, वे बातें नहीं सुनी थीं! उनने अपने को इस बारे में बिलकुल अन्धेरे में बताया, और जिस समय मण्डल अपनी 'सफलता' पर प्रसन्न हो रहा था, पण्डित मालवीय ने यह कहकर कि 'रिपोर्ट पास नहीं समझी जाय,' रङ्ग में भङ्ग कर दिया। इस बाज़ाब्ता कार्रवाई के सदके जाना चाहिए कि सभापति को बिना दिखाए रिपोर्ट छपा भी ली गई और पब्लिक को विराट् अधिवेशन में सुना भी दी गई! क्या कोई धर्मावतार शरीरों से पूछेगा भी कि उनके मुँह में कै दाँत हैं? अच्छा गोपीनाथजी का मिशन पूरा हुआ। उनके पीछे बोलने का सौभाग्य पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र को मिला। उनके व्याख्यान को अधूरा छोड़कर थकी और विरक्त पब्लिक भाग गई, भाग जाय, विराट् धर्म पुरुषार्थ का फल मिल गया! हमने गताङ्क में जो पण्डित गोपीनाथ पर लिखा था उसे 'दिष्टहत मुद्गराघात' कहने वालों से हम पूछते हैं कि इस अश्लील शीघ्रता से इस जघन्य 'नियमबद्ध' कार्रवाई की क्या ज़रूरत थी? क्यों पण्डित गोपीनाथ का एकान्तवास के पीछे रङ्गभूमि में प्रथम प्रवेश इसी भूमिका में कराया गया? अस्तु, जब भी महामण्डल-कम्बल उन्हें छोड़ दे, तो वे अपनी चिरप्रार्थित विस्मृति के मङ्गलमय मार्ग को पकड़ें।

●

'पञ्चों का कहना सिर माथे पर, पर यारों की मोरी तो इधर ही गिरेगी' — इस कहावत मे सूचित वज्रलेप टर्र का दृष्टान्त अबके प्रयाग में देखा गया है। जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मालवीयजी के प्रस्ताव पर, सर्वसाधारण के विरोध पर और सभापति के अनजान होने पर धर्मपुरुषार्थी शरीरों की रिपोर्ट दूषित ठहराई गई तो, 'राघवेन्द्र में' छपी रिपोर्ट के अनुसार, राय वरदाकान्त लाहिड़ी से कहलवाया गया कि 'न ब्रूयात्सत्यमप्रियं' को मानकर यह रिपोर्ट छटाई-कटाई जाएगी। इन लोगों के सामने चाहै ढोल बजाकर कहा जाए कि आपने अनुचित किया है, और यह अप्रिय सत्य ही नहीं कुछ लोगों का प्रिय असत्य है, तो भी यारों की टर्र नहीं मिटैंगी। यह संशोधन पण्डित माधवप्रसाद मिश्र करेंगे। क्या प्रयाग में रिपोर्ट सुनाए जाने पीछे ही पण्डित मिश्र ने इस काम को अपनी शोधक लेखिनी के योग्य समझा या मण्डल को इसके पहले पण्डित माधव मिश्र के महामण्डल की प्राचीन अवस्था से अभिज्ञ होने का ज्ञान न था? या वे पहले मण्डल के लिए दुर्भेद्य थे? आगे एक और मज़ेदार प्राविजो है—"यदि दो महीने तक पण्डित माधवप्रसाद मिश्र इस रिपोर्ट को ठीक न कर दें तो यही रिपोर्ट सही मानी जाए।" बलिहारी! दो महीने पीछे वह 'असत्य' 'अप्रिय' नहीं रहेगा और दरभङ्गानरेश भी अपने न पूछे जाने के विस्मय को संवरण कर लेंगे!! इस विलक्षण प्राविजो के रहते क्या यह असम्भव है कि चतुरचूड़ामणि पण्डित माधव मिश्र को शोधन का अवकाश ही न दें और यही रिपोर्ट पत्थर की लकीर हो जाए! अब यह देखना है कि पं० माधव मिश्र अपनी चाल चलते हैं वा 'सबको प्रसन्न' करने की कथा के अनुसार रिपोर्ट की टांगें लट्ठ से बांध अपने कन्धे पर धरते हैं।

दूसरा दृष्टान्त लीजिए। जब 'मण्डल' और 'महासभा' में सन्धि हुई तो इस बात पर बारम्बार जोर दिया गया था कि महासभा नैमित्तिक और आनुषङ्गिक मानी जाय, नित्य और स्थावर नहीं। मानो मण्डल मारे भय के कांप रहा था कि महासभा कहीं उसके स्वाधीन नरपतिगणों के पट्टे न छीन लेवे। जब 'महासभा' के शान्तिप्रिय नेता ने माण्डलिकों की इच्छानुसार विश्वविद्यालय और धर्मसंग्रह के काम को अपने हाथ में रखकर शेष काम अनैमित्तिक महामण्डल को दे दिए, तो एक वक्ता ने खड़े होकर उसी टर्र का नमूना दिखाया। उसने कहा कि ये सब उद्देश्य (और सारा माया-कल्पित जगत्) कमण्डलु के महोदर में पहले से ही हैं (उद्देश्य ही हैं, कर्म नहीं)। कोई यह न समझे कि महासभा ने मण्डल को नए सुझाए हैं (नहीं महाराज! सूझ के ठेकेदार तो आप लोग हैं। सच कहना प्रयाग-अधिवेशन किसने सुझाया?) केवल पण्डित मालवीयजी ने 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये' किया है। इस निरर्थक, अरुन्तुद और दम्भपूर्ण वाक्य से वक्ता ने महासभा के सन्धिपत्र पर अच्छी मोहर लगा दी है और सबको स्पष्ट दिखा दिया है कि मण्डल का यत्न महासभा का साहाय्य करने का न था, उसे निगल जाने का था!

•

कुछ मास पहिले, जब राव महावीरप्रसाद नारायण सिंह बहादुर के पौत्र युगल का जन्म हुआ था तब 'राघवेन्द्र' (मासिक पत्र) ने उस जन्म को राघवेन्द्र (श्री रामचन्द्र ही अर्थ होना चाहिए) की कृपा का फल बतलाया था। परन्तु अब के महामण्डल के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विराट् अधिवेशन में जिस 'भारत भूषण' की उपाधि से बरांवाधिपति शोभित किए गए हैं उसे 'राघवेन्द्र' मासिक पत्र की ही कृपा का फल मानना चाहिए। धन्य राघवेन्द्र! लार्ड कर्जन के दिल्ली-दरबार की पृष्ठ पोषकता करके 'टाइम्स आफ इण्डिया' तो अपने स्वामी को ही सी० आइ० ई० दिला सका था, परन्तु तू 'महामण्डल' का एडवोकेट और लोगों का प्रतिपक्ष बनकर अपने स्वामी और सम्पादक दोनों को सुशोभित करा सका है!! त्रिवार धन्य! इसका मुकाबला तब ठीक होता यदि मण्डल की उपाधि-वर्षा में अमृतलाल चक्रवर्ती भी पुजते और सेठ खेमराज भी, पण्डित गोपीनाथ भी अलंकृत होते और उनके पत्र के स्वामी भी! अवश्य ही हम राव बहादुर की धार्मिकता, धनिता वा योग्यता से उन लोगों की तुलना नहीं कर रहे हैं, तुलना केवल महामण्डल के सम्बन्ध में इन तीन पत्रों के वर्तमान मत पक्ष से है।

●

मण्डल में उपाधि वितरण भी हुआ। बड़े शामयाने का छत्र भङ्ग हो जाने पर एक छोटे तम्बू में सौ डेढ़ सौ मनुष्य एकत्र हुए और यह अनभ्रा वृष्टि टूट पड़ी। उपाधियां किस-किसको और कितनी दी गईं, इसका पूरा पता नहीं चलता। न तो वे समाचार-पत्रों में छपी हैं और न मण्डल अपनी 'नामुकम्मिल' सूची किसी को भेजता है। केवल इतना पता गणित से लगा लीजिए कि जल्दी बोलने वाला पण्डित डेढ़ घण्टे में जितने नाम पढ़ सकता है, उतनों को उपाधि मिली। सुना है, बम्बई और मद्रास के लोगों की उपाधियां पीछे प्रकाशित होंगी। क्यों? कदाचित् इसलिए कि वहां के लोगों से मण्डल अभी तक उतना ही अपरिचित है जितना पुराना मण्डल था जिसे ये नये मसीहा बात-बात में 'एकदेशी' कहा करते हैं।

हमारा प्रश्न है कि उपाधि सुनाने का काम पण्डित मधुसूदन ओझा को क्यों दिया गया। जबकि महामण्डल के आधे दर्जन मन्त्री विद्यमान थे—शिवपुरीजी थे, पण्डित गोपीनाथ थे, जनरल सुपरिन्टेण्डेण्ट लाहिड़ी बाबू और बाबू तुलापति सिंह थे, तो एक ऐसे विद्वान् को जो तीन सप्ताह पहले ही मण्डल से अपरिचित थे, यह काम क्यों दिया? क्या इसलिए कि वे मैथिल हैं और जयपुराधीश के अन्यतम पण्डित हैं और इसलिए लोग धोखे में आ जायं कि ये उपाधियां मिथिलेश और आमेरपति दे रहे हैं! और पण्डितजी ने इस उपाधिपारायण में क्या महत्त्व माना? जिन लोगों के उनने नाम पढ़े उनके दशमांश को भी क्या वे जानते हैं? यदि वे उनका नाम भर भी जानते होते, और उनके पीछे उठकर कोई उपाधियों का समर्थन करता, तो हम इसे उनका 'प्रस्ताव' मानकर समाधान कर सकते थे।

●

काशी में कई उपदेशक उपाधियों के लिए लालायित पाए गए थे। उन्हें समझाया जा रहा था कि मण्डल की उपाधि केवल विद्वानों के लिए नहीं है। उपाधियों में श्रीमान् काश्मीर नरेश को भारतधर्म-मार्तण्ड' या ऐसी ही कोई उपाधि दी गई है। यदि यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञात सत्य हो तो जिज्ञासा है, मण्डल की क्या सत्ता है और क्या अस्तित्व है जिससे वह एक प्रायः स्वाधीन नृपति को उपाधि देता है। और काश्मीरेश्वर इस उपाधि को क्या कुछ समझकर बर्तेंगे या रद्दी की टोकरी में डाल देंगे ! कल्याण है, काशी में जो मण्डल की उदयपुराधीश्वर को उपाधि देने की अफवाह थी, वह उड़ गई, नहीं तो मण्डल की हिमाकत, धृष्टता और दिल्लगी का कोई पार न रहता जब 'यावदार्यकुलकमल-दिवाकर हिन्दुआ सूरज' को मण्डल की उपाधि अपने साथ चिपकानी पड़ती ! पण्डित दीनदयालु अपनी आस्तीन में हँसते होंगे कि जो उपाधि उनने निर्धन ब्राह्मण और विद्वान्, गट्टूलालजी और अम्बिकादत्तजी को दी थी उसी उपाधि से आज मण्डल धनकुबेर काश्मीरेश की खुशामद करता है।

बड़ों की बड़ी बड़ाई पूछना ठीक नहीं, परन्तु हम पूछते हैं कि 'रणवीर धर्म-संग्रह' के कारयिता के वंशरत्न को किस कार्य के लिए मण्डल ने यह उपाधि दी ? अवश्य ही म्लेच्छभावापन्न देश में जो राजा दो घण्टे आसन पर बैठकर धर्मानुष्ठान कर सकने की हिम्मत रखता है यह पूजनीय है, परन्तु क्या मण्डल की एकमात्र आधार मासिक सहायता के भेजने का यह पारितोषिक है ? या रणवीर पाठशाला और सदाव्रत को 'एनीबेसेन्टसात्' कर देने का है ? या वर्ष-भर में तीन दफ़ा—लार्ड एम्पथिल, लार्ड कर्जन, और युवराज-राजप्रतिनिधि का स्वागत करने का ? सैलाना नरेश अवश्य ही अपने सदाचार के कारण मध्य भारत के अन्धकार में 'भारत धर्मेन्दु' होने के लायक हैं, परन्तु यों राजाओं को उपाधि देने में मण्डल ही की क्या, उसके सभापति स्वामी दर्भङ्गापति की भी धृष्टता है। उपाधियों में एक रमणी को 'धर्मलक्ष्मी' की पदवी मिली है। हम माण्डलिक पण्डितों से पूछते हैं (क्योंकि उनमें बहुत से विद्यायादम्पति हैं) कि इसमें 'यूपाय दारु' की तरह चतुर्थी तत्पुरुष ही है या और कुछ ? क्या मण्डल के चन्दे में श्रीमती लक्ष्मीत्व दिखा चुकी है ?

●

जिनके पास धन है, वे धन देंगे, जिनके पास विद्याबुद्धि है वे उससे ही सेवा करते हैं। मण्डल ने पण्डित दीनदयालु जी को कोई उपाधि क्यों न दी ? अब वे मण्डल का काम न करेंगे, और अब तक उनने भला-बुरा बहुत कुछ मण्डल का हित किया है। अब मण्डल से पृथक् होने के समय उन्हें क्या कुछ भी स्मरणार्थ कहना मण्डल को नहीं भाया ? "मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरुघातिनः। चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं न नुशुश्रुस।" बाबू तुलापति सिंह 'मिथिलाराजकुलभूषण' बनाये गए सुने जाते हैं। यदि वह सत्य हो, तो दर्भङ्गेश्वर भी राजकुल में शरीक माने जायं, तो मण्डल ने अपने सभापति का खासा अपमान कर दिया है ! मज़ा होता यदि मण्डल स्वयं सभापति को उपाधि देता ! पण्डित माधवप्रसाद मिश्र को भी कोई उपाधि देकर उनसे निषेध करा लेना चाहिए था, क्योंकि वे उपाधि की व्याधि में नहीं फंसते। पण्डित गोपीनाथजी को भी उनके आत्मसमर्पण के लिए कोई पद दिया गया या नहीं ? राव महावीरप्रसाद नारायण सिंह बहादुर को 'भारतभूषण' की उपाधि मिली है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राव बहादुर की किसी प्रकार की अप्रतिष्ठा न करने का वचन देकर और क्षमा मांगकर, जिज्ञासा है कि मालवीयजी की सभा के 'कल्पित' उपसभापतित्व को छोड़कर मण्डल की महा अकल्पित स्वागतकारिणी सभा के सभापतित्व का ही क्या यह पारितोषक है ? या 'राघवेन्द्र' सदृश पत्र के स्वामी होने का इनाम है जो मण्डल की इतनी सेवा कर गया ? या 'स्मार्त-धर्म' नामक पुस्तक के प्रकाशन का व्यय उठाने का इनाम है। राघवेन्द्र साहब अकबरी धर्म के बड़े विरोधी हैं। अकबरी धर्म से उनका अभिप्राय सब सम्प्रदायों के सौमनस्य से है। ऐसे मेल-मिलाप को अच्छा कहने वालों को वे साम्प्रदायिक रहस्यों से अनभिज्ञ कहा करते हैं। साम्प्रदायिक रहस्यों से मुराद शायद उन पवित्र सत्यों से है जो स्मार्त-धर्म में उनके एक लेखक ने लिखे हैं और उनके स्वामी ने छपवाये हैं ! परन्तु वैसी पुस्तक महामण्डल के भी उद्देश्यों की विघातक है। हुआ करें, अट्ठारह वर्ष से मण्डल के साथ कभी जिनका नाम न सुना गया था, वे अबके मण्डल से 'भारत-भूषण' बन गए !

बाकी जो उपाधियाँ हैं वे 'मृदङ्गो मुखलेपेन' के सदृश हैं। सुना गया है, मण्डल में एक महाशय ने पूछा था कि उपाधिधारियों का हमसे परिचय तो करा दीजिए ! छोटे-छोटे बालक, खड़े होकर व्याख्यान, अनुमोदन और प्रस्ताव कर रहे थे ! पण्डित मधुसूदन ओझा को 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि मिली है। चाहे पण्डित जी की योग्यता से अनभिज्ञ लोग इस पर आँखें फाड़ें और चाहे उन्हें अपनी श्रेणी में घसीटना चाहने वाले उपदेशक इस पद की ईर्षा करें, हमें तो यह उपाधि पढ़कर दुःख हुआ और हताशता आ गई। काशी में पचासों दफा—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुधावति।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥

पण्डित गोपीनाथ उन्हें 'महामहोपाध्याय' कह चुके थे। 'रामो द्विर्नाभिभाषते' वाला 'राघवेन्द्र' भी उन्हें एक दफा 'महामहोपाध्याय' छाप चुका था। शायद मण्डल को पीछे जान पड़ा कि उसे जैसे कल्पित एम० ए० और कल्पित राव बहादुर बनाना सहज है वैसे 'महामहोपाध्याय' पद देना उसके हाथ नहीं है। यदि यह जागृति हुई तो मण्डल को उचित था कि डेढ़ दर्जन स्वाधीन नरपतिगण में से किसी से सरकार के यहां पण्डित जी की महामहोपाध्यायता के लिए सिफारिश करवाती। उनमें न केवल पण्डित जी का मान होता, प्रत्युत उस उपाधि की भी शोभा होती। विद्यावाचस्पति से मिलती-जुलती उपाधियां नवद्वीप के विद्वान् और को भी दे दिया करते हैं, और पुराना और नया मण्डल विद्वत्ता के लिए नहीं, सेवा और गुप्त कार्यवाही के लिए कई लोगों को इससे मिलती उपाधियां दे चुका है—ऐसों को जिनकी विद्वत्ता पण्डित मधुसूदन जी की पण्डिताई के पासंग में भी नहीं चढ़ती। अतएव पण्डित ओझा को यह उपाधि भूषण नहीं माननी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब हमें और विद्या सम्बन्धी उपाधियों पर कुछ कहना पड़ता है। पहले वृन्दावन के महामण्डल में केवल चार उपदेशकों को उपाधि दी गई थी, उनमें कुछ 'देशभूषण' के ढंग की थीं, और कुछ विद्या सम्बन्धी। इस पर उपदेशकों में बहुत कुछ दिलजली हुई। यहां विद्या की गणना नहीं है, यहां गणना है—'मुखमस्तीति वक्तव्यं' की और येनकेन प्रकारेण धर्मसभाओं को उलटे छुरे से मूंडने की ! उस कलकल से डरकर दिल्ली के महामण्डल में इस फ़ैयाज़ी से उपाधियां बांटी गईं कि 'लघुकौमुदी' न पढ़ सकने वाले महोदधि बन बैठे। परन्तु पण्डित दीनदयालु ऐसा करने पर भी सबको सन्तुष्ट न कर सके, और उसी ईर्षाग्नि ने मण्डल के भविष्यत् 'दुःखशंकु' पैदा कर दिए, जिनका उपद्रव आज तक नहीं हटा। फिर यह कहा गया कि ये उपाधियां इनकी व्याख्यान-शक्ति की सूचिका हैं, विद्या की नहीं। अब फिर वही झमेला आ पड़ा है। विद्वानों को कौन उपाधियां दे रहा है ? कार्यालय। वह विद्वानों के विषय में श्वेत कृष्ण क्या जान सकता है ? वह एक परीक्षक विद्वानों की कमेटी बना दे जो विद्या का विद्या सम्बन्धी काम देख कर उपाधि दिया करे। उपदेश या मण्डल की सेवा के लिए विद्या सम्बन्धी उपाधि कभी न दी जानी चाहिए। परन्तु एक उपदेशक ने अबके दुहाई तिहाई देकर विद्या सम्बन्धी उपाधि गिड़गिड़ाकर ले ही तो ली। उसने यह कहा कि जब मण्डल से सब उपदेशक किनारा कसते थे तो मेरा 'अयं भुजः' ही असहाय मण्डल का एकमात्र कर्णधार था। यदि मुझे विद्या सम्बन्धी उपाधि न मिलेगी तो मेरा राजदरबार में अपमान है। मान लीजिए 'तुष्यतु दुर्जन न्याय' से मण्डल ने इस उपाधि-लोलुपता को 'विद्यानिधि' की उपाधि दी। यही उपाधि मण्डल के किसी प्रधान कार्यकर्त्ता ने अपनी प्राइवेट सेवा के लिए किसी को दिलवा दी। यही मण्डल ने किसी सम्भावित विद्वान् को गुण देखकर दी। यही किसी विद्वान् ने नवद्वीप की परीक्षा देकर बंगीय स्वनामधन्य विद्वानों से पाई। यही किसी को जगद्गुरु शंकराचार्यजी ने दी। अब कहिए इनमें उन तीनों विद्वानों का शुक्रवत् उपदेशकों से क्या भेदक रहा ? क्या इसमें उनका अपमान नहीं है ? क्या उन्हें 'मुबारक' कहने वाले उन्हें चिढ़ाते नहीं हैं ? क्या यह दिल्लगी नहीं है ?

एक मुरादाबाद का भाषा-लेखक भी विद्यावारिधि और एक जयपुर का षट्-शास्त्री पण्डित भी विद्यावारिधि ! अहो न्यायः ! मण्डल अपनी सेवा करने वालों की उपाधियां नियत कर ले और उन्हें विद्वान् होने का फ़तवा न दे। विद्या की उपाधियां वह ऐसी नियत कर ले जो नवद्वीप आदि के पदों से न टकरावें। और यदि कोई उसका अभागा उपदेशक नवद्वीप से या विद्वानों से पद पा लेवै तो उस पद को चुलकयामास न करै, प्रत्युत उससे प्रसन्न हो। उसकी विशेष कृपा होगी यदि वह पुराने विद्वानों को अपने उपाधि के वडिश में न बांधे और कोकिलकण्ठ उपदेशकों पर ही उसे चरितार्थ करै। पुराने पण्डितों ने मण्डल की उपाधि के बिना ही राजसम्मान भी पाया, हजारों विद्यार्थी भी पढ़ाये, भरसक संस्कृत-शास्त्रों की सेवा में जन्म बिताया। मण्डल उन्हें माफ करै। वे यही नहीं सह सकते कि उनके स्वनामधन्य महामहोपाध्याय शिष्य प्रशिष्य-मण्डल की कूटनीति में पड़कर रामायण की चौपाई गाने और थाली फेरने वाले उपदेशकों से, उपाधि की व्याधि के कारण, अभिन्न हो गये। इस पर मण्डल अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चापल करके उन्हें उपाधि दान की धृष्टता न दिखावे। उसकी उपाधियां उसे और उसके 'मुखे पिण्डेन पूरितः' उपदेशकों को मुबारक रहें! हम इतना कदापि न लिखते परन्तु परमेश्वरवत् पूजनीय एक पदवाक्यप्रमाणपारावारीण विद्वान् के इस वाक्य पर हमें इतना कहना पड़ा कि—"जिह्मीमोनेनोपाधिना न नन्दामः। पत्रमवकरेऽक्षेपि।"

क्या महामण्डल की दृष्टि में वर्तमान आर्यसमाज में कोई विद्वान् है या नहीं? यदि है तो यतिप्रवर स्वामी दयानन्दजी के अनुयायी को मण्डल ने उपाधि दी है या नहीं? उपाधि पाने वालों में कोई थियासोफिस्ट हैं या नहीं। ब्राह्मो हैं या नहीं? यह प्रश्न हम इस द्विविधा में करते हैं कि महामण्डल सम्प्रदाय-भेद को नहीं मानता और उसका पिट्ठू 'राघवेन्द्र' अकबरी धर्म को साम्प्रदायिक रहस्यों से अनभिज्ञों को बतलाता है। महामण्डल ने सोश्यल कान्फरेंस पर कान तक नहीं हिलाया था और 'राघवेन्द्र' ने आकाश-पाताल मिलाकर भले सज्जनों की निन्दा तक कर डाली! इसी से पूछते हैं कि ब्रह्म सत्य है या माया?

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

युवराज की पहुनई

जिस १६ अक्टूबर को मुगलसम्राट् अकबर को हिन्दू-मुसलमानों को मिलाने वाली अनुकूल नीति का देहान्त हुआ था उसी १६ अक्टूबर को मान्यवर लार्ड कर्जन की प्रतिकूल नीति ने 'बन्देमातरं' और 'वन्देएमादरं' को ही नहीं, सम्पूर्ण भारतवर्ष को सहानुभूति की राखी में बांध दिया है। बंग-विभाग की वास्तव जलन एकदेशी होने पर भी इसका सर्वदेशी उपयोग इन प्रश्नों से प्रकट होता है। क्या और प्रान्तों का अप्रकट प्रजामत इससे भी बुरी तरह न कुचला जाएगा? क्या उनके भावों की ऐसी ही अवहेलना नहीं होती है? राजनैतिक आन्दोलन ने इस बार अपनी सफलता दिखा दी है। राजनैतिक क्रोध और व्यावसायिक स्वदेशी आन्दोलन का संकर बहिष्कार योग (बायकाट) अपने कोलाहल के रूप को उलांघ चुका है। अब बंगदेश के नेताओं के समक्ष स्वदेशी पदार्थों के जुटाने का प्रश्न है। स्वदेशी आन्दोलन पर वृथा ही कुछ शासक बौखला उठे हैं।

सबसे अधिक स्वदेशी मत के प्रचारक लार्ड कर्जन हैं जिनने दिल्ली दरबार में टाटनहाम कोर्ट के फर्नीचर का परिहास किया था, जिसने सेना में स्वदेशी वस्त्र, चाह, और देशी शस्त्रागारों का प्रचार किया। मैंचेस्टर की लकी डे की कृपा से रीती जेब, प्रजा का परमेश्वर की सहायता से विरोध करने का प्रोक्रेमेशन और भारतव्यापी स्वदेशी आन्दोलन—मान्यवर लार्ड कर्जन का पुण्य है। अब शिक्षा संशोधन के पुराने साथियों का अन्तिम व्याख्यान सुना—"नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः?" कहते हुए श्रीमान्, काश्मीर और इन्दौर का 'उपकृतं बहु नाम किं मुच्यते' सुनकर, आयुष्मान् युवराज और युवराज्ञी का स्वागत मात्र करके 'परिमीलिताक्षमिच्छाविलास वनवास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महोत्सवानां स्मरण करते हुए, स्वदेश को पधार जायंगे । अब स्वदेशी आन्दोलन को, विलायती जुलाहों की फटी जेब की पुकार से सहायता की आशा को गौण फल ही मानकर, देशी शिल्पों का पुनर्जीवन ही प्रधान फल लेना चाहिए। भारतवर्ष को भी विषाद और क्रोध की यमुना और सरस्वती को राजभक्ति की गंगा में छिपाकर, एक रीती और एक हँसती आँख से, दुर्भिक्ष से भूखे पेट और प्लेग से व्रणित गले को छिपाकर युवराज की पहुनई करनी होगी ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर, १९०५ ई०]

सरलादेवी घोषाल का विवाह

बंग-देश की सुप्रसिद्ध राजनैतिक और सामाजिक नेत्री, भारती-सम्पादिका विदुषी श्रीमती सरलादेवी घोषाल का विवाह लाहौर के कृती चौधरी रामभज दत्त से होना बहुत ही अच्छा हुआ । 'ऋते कृशानोर्नहि मंत्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम्' और नवीन बंगाली वसन्त की सर्वोत्तम मंजरी का प्रौढ़ पंजाब के प्रतिनिधि से योग, तडित्तोयदयोरिव, सदा मंगलदायक और अभिमान—कारक हो । पंजाब में स्त्री-शिक्षा का कार्य कुछ अग्रसर हो रहा है। 'पाञ्चाल पण्डिता' के कार्य को 'हिन्दी भारती' अग्रसर करे ! पंजाब के सुप्त वीरोचित गुणों को स्वदेशी व्यायाम जगावें ! कांग्रेस की सुलगती आग को यह दम्पति उत्साह के हवि से दीप्त करें ! नवयुवक पंजाब अपनी इस कुलप्रतिष्ठा को विस्मित किन्तु प्रसन्न होकर स्वीकृत करें, और वृद्ध पंजाब के सठियाए कानों में भी ललित मञ्जीरों के झणत्कार का स्वर पहुंचें !

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर, १९०५ ई०]

स्वदेशी वस्त्र

'राजस्थान समाचार' के सम्पादक बहुत काल से स्वयं विदेशी वस्तुओं को बरतते आते हैं। 'समालोचक' के सम्पादक और प्रकाशक भी इस काम में यत्नवान् हैं और पत्र-सम्पादकों से वा स्वदेशी वस्त्रों के व्यापारियों से निवेदन करते हैं कि स्वदेशी पदार्थों की सूची और मिलने के पते भेजकर समालोचक-कार्यालय को उपकृत करें। यह भी विचार है कि समालोचक-कार्यालय से सर्वसाधारण को स्वदेशी वस्त्रों के मिलने का पता बताकर इस काम में उत्तेजना दी जाय। और सभी संवादपत्रों के सम्पादकों से निवेदन है कि इन बातों का उपदेश बातों से नहीं, काम से करें ।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'समालोचक' का प्रथम वर्ष

आज 'समालोचक' अपने जीवन के प्रथम वर्ष को पूरा करके द्वितीय वर्ष में पग धरता है। जगदीश्वर के धन्यवाद के उत्तर उन सहायक और हितैषियों का भी धन्यवाद है जिनने अपना कर्त्तव्य-पालन किया। भगवान् हमें भविष्यत् में अपने कर्त्तव्य के योग्य काम करने की शक्ति दें।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, १९०३ ई०]

'समालोचक' का तीसरा वर्ष

तीनों वेद जिसके विश्वास हैं, तीनों काण्ड जिसकी छाया को छूने का उद्योग करते हैं, तीनों लोक जिसकी लीला हैं, तीनों गुण जिसके नचाए नाचते हैं, तीन वर्ण, तीनों मनोराग, तीनों विशेषण और तीनों तरह की तल्लीनता जिसके जानने में लोटन कबूतर हो रहे हैं, ऐसा होने पर भी जो किसी का तीसरा नहीं है उस 'तत्सत्' परात्पर अनन्त शक्ति का भक्तिपूर्वक स्मरण करके, 'समालोचक' अपने तीसरे वर्ष में पैर रखता है। उसके अतिरिक्त कौन है जिसे हमारी चिन्ता है? उसके अतिरिक्त कौन है जो अशरणों का शरण, निराधारों का आधार, निरावलम्बों का अवलम्ब, अवनाथों का नाथ और असहायों का सहाय है? चाहे हमारे पापों की अधिकाई और दम्भ की मात्रा बढ़ने से, वह हमें—अपने प्यारे भारतवासियों को न भूल गया हो, किन्तु यदि वह क्षण भर भी किसी को भूलने की कल्पना करे तो उसका कहां पता ठिकाना रहै? उस अनन्त मन की अनन्त लीला के, जो अनन्त विश्व की अनन्त चालों के अनन्त परिवर्तनों को, अनन्त नेत्रों से, देखती है, सामने हम अपने किन गुणों के भरोसे दया के पात्र हैं? उसके नाम पर, उसके रूप-धर्म के नाम पर, हमने क्या-क्या अत्याचार न किए, क्या-क्या अधर्म न किए, क्या-क्या दुराचार न किए, और किस-किस के साथ, अपने स्वार्थ के लिए उसको न लपेटा?

प्रभो! गत पन्द्रह शताब्दियों में हमने जो दुःख, क्लेश, मोह, शोक पाए हैं, वे हमारे पापों की तुलना में समुद्र में छींटे के समान भी नहीं हैं; यदि आप सूखा दण्ड देते, तो हमारा पता भी न रहता, किन्तु आपने हमारे बड़ों के गुणों की ओर या हमारे भविष्यत् की ओर, या अपनी दयालुता की ओर देखकर, न्याय की कड़ी दवाई में दया का मधु लपेटकर, अब लौं बचाया, इसके लिए क्या कृतज्ञ न हों? भगवन्! हमारी परीक्षा बहुत हो चुकी, हमने पूरी तरह पहचान लिया कि तुझे ताक में रखकर, तेरे नाम से पण्डिताई के घमंड में सच्चे ग्रन्थों के झूंठे अर्थ करके, या कल कांटे की कलकल में काले बनकर हम सुखी नहीं हो सकते। हम जान गए कि हमारे भीतर एक अनन्त है जो सान्त से नहीं ढक सकता, एक जीव है जो पेट से नहीं ढक सकता। उसके लिए दया दिखा। उस अनन्त के आगे हम चाहे अण्डे को ऊपर के छोर से तोड़ें या नीचे से, कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेद नहीं पड़ता, चाहे एकादशी दशमी विद्धा करें, चाहे द्वादशी को भूखे रहैं, कुछ अन्तर नहीं आता। उस अनन्त सच्चिदानन्दमय ज्योति की लौ की एक झलक इस झुलसे देश पर भी डाल दो, जिससे श्वेत श्याम का भेद मिट जाय और सभी के मुंह से निकलै— "तत्र को मोहः कः शोक एकत्व मनुपश्यतः ?" हिन्द, हिन्दू, हिन्दी इस पवित्र त्रयी की सेवा की योग्यता और सामर्थ्य सबको दे, और 'समालोचक' को दे, जिससे यह तीसरा वर्ष इन तीनों—हिन्द, हिन्दू, हिन्दी—के गौरव को जागरूक और वर्द्धमान देखै—

"व्रज की तोहि लाज मुकुटवारे !"

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, १९०४ ई०]

'समालोचक' का चौथा वर्ष

चारों वेदों के वेद्य, चारों वर्णों के भरण करने वाले, चारों आश्रमों के आश्रय, चारों दिशाओं में अदृष्ट होकर भी व्याप्त, चतुर्वर्ग के देने वाले, चारों युगों के रूप से सारे काल में व्याप्त, चतुर्वदन, तथापि चतुरवदन, चतुरात्मा, चतुर्व्यूह, चतुर्दंष्ट्र, चतुर्भुज, मन और वाणी, बुद्धि, और इन्द्रियों से दूर, दिक्, काल, कार्यकारण भाव और अनुमानों से परे, परात्पर परमात्मा का परम कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करके आज 'समालोचक' अपने जीवन के चतुर्थ वर्ष में प्रवेश करता है। उसी की परम कृपा का यह फल है कि नाना विघ्न-बाधाओं, विलम्बों और विपर्ययों को अपनी बाल्यावस्था में सहकर भी यह पत्र यथाचित् अपने चतुर्थ वर्ष तक आ लगा है। क्या उस जगन्नाटक सूत्रधार का यह अभिप्राय तो नहीं है कि वह इस पत्र के बाल्य अंकों को दुःख में रंगाकर ज्यों-ज्यों नाटक की प्रौढ़ता होती जाए त्यों-त्यों इसे सुखमय और सुखान्त बना देवे, क्योंकि प्रत्येक कुत्ते का भी दिन आता है, और शिशिर के शीत से ठिठरे हुए कमलों पर अन्त को वसन्त का सूर्य चमकता है ? जन्म ही से दुर्बलेन्द्रिय इस पत्र को यथासमय निकालने के यत्नों में स्वामी और सम्पादक सफल नहीं हो सके हैं, तथापि, 'अपत कटीली डार' में 'वे फूल' की आशा में उरझकर वे इस वर्ष पहिले वर्षों की हतसफलता से शिक्षा लेकर भरपूर यत्न करेंगे कि अपनी दीर्घसूत्रता के कलंक को धोकर यह पत्र न केवल मातृभाषा हिन्दी की सेवा में अग्रसर हो, प्रत्युत उसके गौरव को अक्षुण्ण रखने में किसी प्रकार की कमी न रखकर अपने लिए हिन्दी के सर्वप्रधान मासिक पुस्तक का आसन पावे। परन्तु इस सम्पूर्ण आशा समुदाय पर तुषारपात न हो, और कार्यक्षेत्र में इसको लाने पर अदृष्टश्रुत विघ्न न आ जायं, इसलिए शिष्ट सम्प्रदायानुमोदित मंगलाचरण करने में उस परम मंगलमय की निष्काम भाव से स्मृति करते हैं। यदि कुछ हो सकता है, तो उसी की कृपा के लेश से क्योंकि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमैवेष वृणुते तेन लभ्य
स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।

तथापि, जब हृदय में यह विचार उठता है कि क्या हम इस योग्य हैं कि वह हमें 'वृणुते तनूं स्वां' का पात्र समझे, तब हृदय में शून्यता आ जाती है, सिर में चक्कर आता है और चारों दिशाओं में अन्धकार छा जाता है। जिस देश का आदर्श यह है कि मनुष्य का बड़प्पन इससे नहीं नापा जाता कि उसने इतने सच्चे काम इतने सच्चे आदमियों के सामने किए, प्रत्युत इससे कि कितने आदमियों को सफलतापूर्वक उसने धोखा दिया, कितने आदमी उसके बड़प्पन के घूंघट के भीतर दुराचार की भद्दी सूरत को न देख सकने में छले गए—जहां का कर्मकाण्ड कटोरी मांजना और घण्टा बजाना, जहां की भक्ति अगले दोनों पैर रस्सी से बांधकर विचरने वाले शीतलावाहनों की तरह चैत्र की चाँदनियों में रेंकना और बनारसी दुपट्टों के भीतर अपने दुराचारजनित कुष्ठों को छिपाना है, जहां का ज्ञान दिन-रात भूंकते रहना और बेसमझी से मनुष्य मनुष्य के पवित्र सम्बन्धों का नाश करना है वहां के मनुष्य, वहां के वे मनुष्य, जिनके हाथ अपात्र-प्रतिग्रह से, मन परस्त्री-चिन्तन से, मुख परान्न से, और सम्पूर्ण वंश और भविष्यत् आशा अशिक्षित दासीकृत और जीवन्मृत स्त्रियों की हाय से जलकर राख हो चुके हैं, किस प्रकार उस दैवी ज्योति के अलौकिक और शान्तिदायक प्रकाश की पवित्रता में अपने पापों को धो-छिपाने की आशा कर सकते हैं? यही स्फिक्स की पहेली है, जिसका समाधान 'समय' करे तो करे, हम तुम नहीं कर सकते।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०५ ई०]

'समालोचक' का नया वर्ष

अस्तु, 'समालोचक' का नया वर्ष प्रारम्भ होता है। इस समय पिछले वर्ष की घटनाओं की ओर दृष्टिपात करना उचित है। इसके पहले कि हम उन बातों पर से भूत का पर्दा उठावें जो कुछ ही काल पहले वर्तमान थीं हमें एक प्रश्न पूछना चाहिए। क्या गतवर्ष में हिन्दुस्थानी राष्ट्र हिन्दी भाषा और हिन्दू धर्म अपनी 'पङ्क्ते गौरिव' अवस्था से एक पद भी आगे बढ़े हैं? क्या धर्मसंस्कार, जो वास्तव में मनुष्यमात्र के जीवन का संस्कार होगा, एक पद भी अग्रसर हुआ है? क्या समाज-सरोवर की दुराचाररूपिणी दुर्गन्धिमय काई हाथ, दो हाथ भी अलग की गई है? क्या भाषा का पवित्र जल लाने वाली नहरों का मार्ग कुछ सरल बनाया गया है? एक बात में क्या भारतवर्ष और भारतवासी, सर्वतोमुख उन्नति में, चारों ओर से बढ़कर शुभ परिणाम की ओर एक इंच भी बढ़ सके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में किसी प्रकार की 'ननुनच' करके अपने आत्मा को धोखा नहीं देना चाहिए क्योंकि सबसे बड़ा पाप जो मनुष्य कभी कर सकता है अपने अन्तरात्मा को धोखा देकर उसकी संशोधक और मार्गदर्शक उपदेशवाणी का गला घोटना ही है।

यद्यपि क्लैव्य एक बुरी चीज़ है परन्तु अपनी वास्तव दशा को न जानकर सदा सब्जी-ही-सब्जी देखते रहना या देखते रहने का बहाना करना शुतुर्मुर्ग की-सी पण्डिताई है जो पीछे शिकारी को आता देखकर अपना सिर बालू में छिपा लेता है और समझता है कि मेरा सारा देह ही छिप गया। अतएव हमारी समझ में उस प्रश्न का उत्तर नाक छिपाकर यही देना पड़ता है कि गत वर्ष में भारत और भारतवासी अपने पद से कुछ भी आगे न बढ़े। सन्देह यही है कि वे कुछ पीछे ही हट गए हैं। शताब्दियों के नासूरी अज्ञान और स्थितिस्थापक भाव की कृपा से आगे बढ़ना तो कठिन ही था, परन्तु राजकीय परिवर्तनशालिनी नीति ने यदि हमें पीछे न ढकेल दिया हो, तो ही हमें परमेश्वर की असीम कृपा का आभार मानना चाहिए। स्पष्ट कहना उचित है कि गतवर्ष कार्य्य का वर्ष न था, और न चिन्ता का वर्ष था, वह केवल 'कोलाहल का संवत्सर' था। दीपमालिका के रात्रि शेष में हिन्दू एक रीति निबाहा करते हैं। रातभर दरवाज़े खुले छोड़कर, हम लोग सवेरे सब जगह बुहारी देते हैं, और सूप या चलनी पर लकड़ी के आघात से विलक्षण बाजा बजाते हुए 'अलक्ष्मी' को अपने घर से निकाल दिया करते हैं।

मालूम होता है, भारतवर्ष के सभी हितैषी—हम इस शब्द को चाहे किसी अर्थ में लें—इस प्रकार अलक्ष्मी के निकालने के कोलाहल में वर्षभर बिता देते हैं, क्योंकि अलक्ष्मी की मौरूसी जायदाद और पूर्ण अधिकार यदि कहीं पर हैं तो भारतवर्ष में। कोलाहल का आरम्भ, मान्यवर वायसराय लार्ड कर्जन के छुट्टी जाने के समय से लेना चाहिए। भारतवासी कभी भी श्रीमान् का इस देश में फिर पधारना नहीं चाहते थे, और स्पष्ट रूप से उन्हें कह चुके थे—

अपाः सौम मस्तमिन्द्र प्रयाहि
कल्याणीर्जायाः सुरणं गृहं ते।
यत्रा रथस्य बृहतो निदानं
निवेशनं वाजिनो दक्षिणावत्॥

और, श्रीमान् को भी उचित था कि उस समय अपनी सर्वतोभद्र प्रबल शक्तियों को विश्राम देते। परन्तु भारतवर्ष का राजभोग सदेह स्वर्ग में रहने के समान है जिसके लिए कमजोर हृदय के मनुष्य तो यह प्रार्थना तक करने को तैयार हो सकते हैं—"मेरे पीछे भूत बनें तो भी भारतवर्ष में।" इधर भारतवर्ष में लार्ड एम्पथिल अपने पूर्वज के दिए हुए भारतवर्ष की फटी जेब को फाड़ने वाले वीतराग लामाओं के शिकार के निबाहने में लगे हुए थे, और उधर विलायत में मान्यवर महोदय भारतवर्ष के सूर्य की स्तुति, अपने चरणारविन्दों के पधारने को वृष्टि का कारण, और इटन कालेज के भारतवर्ष के वायसरायपने के ठेके की चर्चा कर रहे थे, इतने में जगदीश्वर की शक्ति ने सहृदया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेडी कर्जन को भयंकर कष्ट में भूतलशायिनी बना दिया। 'यदनेन तरुनं पातितः शमिता तट्विटपाश्रिता लताः।' परम प्रबल वायसराय पर भी इस तरह कोई बलवती शक्ति प्रभाव डालकर उनके समागम को रोक सकती है, इस ज्ञान के साथ देशदेशान्तरों की सहानुभूति का कोलाहल हो ही रहा था, इतने में श्रीमान् की वापसी पर स्वागत करने का व्यवहार साधना बम्बई के सामने आया। श्रीमान् की इस अनुपस्थित में भारतवर्ष की दशा प्रोषितभर्तृका की-सी बिल्कुल न थी, जो 'मीलयित्वा दृशौ' वियोग के दिनों को गिना करती है, प्रत्युत समस्त देश भयंकर स्वप्न में छाती पर चढ़े पत्थर तोड़ने वाले को देख, जागे मनुष्य के समान शान्ति के साथ विश्राम का श्वास ले रहा था। कलकत्ते जैसे जमीन्दार बहुल शहर में श्रीमान् का 'त्वमर्कस्त्व सोमः' स्वागत होना कठिन न था, परन्तु बम्बई में, अध्यवसायी पारसी और स्वतन्त्रचेता महाराष्ट्रों की बम्बई में ऐसा होना एक प्रकार असम्भव था।

बम्बई के बिना मुकुट के राजा सर फिरोजशाह मेहता के काम और भाषणों के कोलाहल ने श्रीमान् को सबसे न्यून अधिक सम्मति से सूखा सन्मानपत्र दिलाया, और स्वागत के दिन राजभक्तों और सेवकों का स्वागत था, प्रजा का और देश का नहीं। यही दिखाने को कि बम्बई नीरस नहीं है, और स्वागत कर सकती है, और जिनका वह आदर करना चाहती है उन्हें अपना हृदय अर्पण कर सकती है, कुछ ही सप्ताह पीछे 'बम्बई और उसकी स्त्री' अपने मेले के वेश में वासकसज्जा बनकर अपनी पिछली उदासीनता को भुलाने लगी। पाठक, जानते हैं यह स्वागत किसके लिए था? यह किसी पत्थरफोड़ शासक के लिए बलात्कार से मुस्कुराते हुए होठों का स्वागत न था, परन्तु एक ओर शिक्षित भारतवर्ष के स्वार्थशून्य कर्मवीर प्रतिनिधियों का स्वागत था और दूसरी ओर 'तवैव वाहास्तव नृत्यगीते' कहकर स्वर्गीय सिविल सर्विस से पृथक् होने वाले, दुर्बलों के बल, सर हैनरी काटन का स्वागत था। इधर प्राचीन विद्वानों का पञ्चाङ्ग-संशोधन का कोलाहल था, और उधर नवीन राजनैतिकों का षाड्गुण्य राजनीति के सुधारने का कोलाहल था। उस समय को स्मरण करके, देशभर के भिन्नभाषी, भिन्नाचारी और भिन्नकर्मा सज्जनों के एक विचार और उद्देश्य से व्रती होना, अनमेल में, मेल का एक अपूर्व निदर्शन था। महाराष्ट्र और मद्रासी सज्जनों के व्याख्यानों का गम्भीर और विषय-गुरु स्वर, बंगाली वक्ताओं के चपल और वचनशूर भाषणों की तुलना में अच्छा जंचता था। सर हैनरी काटन—अहा! 'न त्वां कामा बहवो लोलुपन्तः नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः।'

इस समस्त कोलाहल से यह बात अवश्य सिद्ध हो गई कि बम्बई, और बम्बई के माने सर फिरोजशाह, जिस काम को हाथ में लेंगे उसमें सफलता अवश्य होगी, यदि अधिकारी बीच में पड़कर भांजी न डाल दें। इस सिद्धांत के उत्तरार्ध को सिद्ध करने का मौका भी इस कोलाहल के कुछ ही पीछे एक दूसरे कोलाहल के रूप में आ पहुंचा। इसी कोलाहल में विलायत में जाकर आन्दोलन मचाने की कोलाहल-परम्परा का बीज बोया गया। बम्बई विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालयों को सरकारी कठपुतली बनाने के नियम से भी कुछ बातें बढ़कर की गई थीं, और जब भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना समझे ही इस नियमविरोध को पी गये थे, बम्बई के सदा जागरूक कांग्रेस नाइट की दृष्टि से वह न बच सका। इसके पीछे कैसे सर फिरोज़शाह की सूचना की अवहेलना हुई, कैसे मामला हाईकोर्ट में पहुंचा और कैसे भारतव्यापी मुकद्दमों में सरकार की बरकारी बेआइनी कार्रवाई का पराजय होने के भय से झटपट कृतरक्षक बिल घुसेड़ी गई, ये सब बातें इतिहास में दुःख के साथ पढ़ी जायंगी। क्योंकि नियमों के पालन के बिना कर्तृपक्ष की उच्छृंखलता को कोई नहीं रोक सकता, और यदि कर्तृपक्ष के प्रत्येक स्वेच्छाचार पर एक कृतरक्षक नियम पास कर दिया जाया करेगा तो कार्यकर्त्ताओं की शक्ति ईश्वर के समान हुई या नहीं? यद्यपि पीछे इस विषय में और प्रान्त भी जागे थे तथापि बम्बई की ओर से मि० गोखले ने इस समय कौन्सिल में जो स्पष्टवादिता और विरोधकुशलता दिखाई उसे देखकर और कोई होता तो कह उठता—'त्वादृङ् नो भूयान्न-चिकेतः प्रष्टा!' परन्तु क्या कालिय पर नाचने वाले भगवान् कालिय का शिर उठाना पसन्द करते? कर्जन महोदय ने गोखले के कथनों पर कटाक्ष किये, उनके मित्रों के विद्या-प्रेम पर संशय किये और 'सरकार के शत्रुओं' की इन कार्य्यवाहियों पर न मालूम किस पिशाच के प्रभाव से असत् आक्षेप किये।

मालूम होता है, भारतवासियों का भूत उन्हें रात भर सताता रहा और दूसरे दिन कलिकाता विश्वविद्यालय में उनने भारतवासियों के सत्य के आदर्श, धर्म के आदर्श, खुशामद, परनिन्दा आदि की ऐसी बुरी टीका की कि देश भर मर्माहत हो गया। सारे देश में आग लग गई। लोग कोरिया में प्रचारित परम सत्य का स्मरण करके विस्मय करने लगे। इसके पीछे जो कोलाहल हुआ, प्रत्येक प्रधान नगर में और लण्डन में गम्भीर-चेता शान्त-दान्तवृद्ध पुरुषों की अध्यक्षता में किस प्रकार बिना कोलाहल के कोलाहल से भारतवर्ष के सत्य की मान-रक्षा करके राजनैतिक आन्दोलन में एक पद आगे उठाया गया वह भारतवासियों का दोष नहीं है, क्योंकि अत्यन्त घर्षण से चन्दन से भी अग्नि उत्पन्न हो जाया करती है। इस आलर्क विष से मत्त होकर, और अपने प्रिय पुत्रों की इस कलङ्कपङ्कलेपना को न सहकर, भगवती भूतधात्री क्षमा से न रह गया और उस पवित्र देश में जहां पाणिनि ने विपाशा के उत्तर के कूप तक गिनकर अपने सूत्रों द्वारा उनका उल्लेख किया था, और जहां सत्य के मार्गों को बताने वाले स्मृति और सूत्रों की रचना हुई थी, इस असत्य के भय से भगवती कांप उठी और अपने ऊपर कांगड़े के गजनवी के मान का गंजन करने वाले किले को गिराकर मानो उसने छाती पर मुक्का मारा। कई शताब्दियों से बकरों को काटने वाले पुजारी 'इष्टिपशुमार' मारे गये। अग्नि की सातों जिह्वाओं में से 'मनोजवा' ज्वालामुखी 'कराली' बनकर अपने भक्तों ही को खा गई। कन्वोकेशन व्याख्यान की इस पृथ्वी की प्रोटेस्ट के साथ कोलाहल भूगर्भ में भी पहुंच गया। प्रोटेस्ट मीटिङ्ग के सम्बन्ध में एक बात और हो गई है जिस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया है। युक्त प्रान्त की नियम बनाने वाली कौन्सिल के सबसे युवा मेम्बर ने, जिन्हें, पायोनियर के शब्दों में—"वह भयंकर भाषण की शक्ति है जिससे वे सदा अपने को डिबेटिङ् सोसाइटी में ही समझते हैं।"

बजट के भाषण के दिन 'महाभारत' प्रभृति के श्लोकों को उद्धृत करके भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सत्य का मण्डन और विरुद्ध पक्ष का खंडन शासकों के नाक के नीचे ही कर दिखाया। इधर पोर्ट आर्थर के पतन और सुशीमा के घोर पराजय से, जिनमें, घायल रूसियों के मिस से यूरोप की विजयलक्ष्मी के अश्रुबिन्दु पड़ गये, एक अद्भुत कोलाहल उत्पन्न हो गया जो रूस के आभ्यन्तर गदर और बखेड़ों से अपने रंग को बढ़ाता गया। इधर यह समझकर कि इतने कोलाहल से भारतवर्ष घबड़ाया नहीं है, युद्ध-विभाग से निकम्मे समझकर निकाले मि० ब्राडरिक ने सेना-संशोधन के विषय में लार्ड किचनर को कोरा कार्ड दे दिया, और कर्जन और उनके सहयोगियों के तर्कों का कर्तन करके उन्हें किचनर के बिल चुकाने मात्र का काम दिया।

इस समय लार्ड कर्जन भारतवर्ष के धन के व्यय के पक्ष में थे और जब उनने जान लिया था कि विलायत वालों का प्रेम उनकी प्रतिमा के मिट्टी के चरणों को छोड़कर किचनर पर लग गया है, तब उन्हें उचित था कि 'अति दीर्घ जीविते को रमेत' कहकर पृथक् हो जाते। परन्तु 'अयं लोको नास्ति पर इतिमानी' चेपाचेपी से 'रामाय स्वस्तिरावणाय स्वस्ति' करके किसी प्रकार उनने अपने समय को पूरा करना ही विचारा है। इसमें श्रीमान् का जो अपमान हुआ उसके प्रायश्चित्त की तरह बंगाल के अङ्गभङ्ग का विषय श्रीमान् की मधुर मन्शा पर छोड़ दिया गया। और, श्रीमान् ने अब तक के बंगदेशियों के कोलाहल और विलाप को पर्याप्त न समझकर उन पर यह वज्रपात कर ही दिया! यद्यपि बंगाल का अङ्गच्छेद एक निरपराध प्रबन्ध सम्बन्धी काम दिखाई देता है तो भी उपचीयमान बंगाली जाति और एकता पर नए पेड़ को चीरने के समान, इसका अन्तिम परिणाम बहुत बुरा होगा। यह आवश्यक बात नहीं है कि जब भारतवर्ष भी एक राष्ट्र हो जाएगा तब उसका शासन भी एक प्रान्त की तरह से होगा परन्तु पृथक् होना चाहने वाले बिहार को पृथक् न करके चाहने वाले बंगालियों के दो खण्ड करना उसी पालिसी का अंग है जो भारतवर्ष को शताब्दियों पीछे ढकेल रही है। यह मानो नए कोलाहल की साई है, क्योंकि वह बला हैं कि चुपचाप इस 'कटु औषधि को आँख मूंदकर' नहीं पिएंगे।

अब हमारे कथन की फिर आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं कि यह वर्ष कोलाहल का वर्ष ही रहा है। जब यह धूम हट जाएगा, तब क्या वास्तव में नीचे कुछ अग्नि बच जाएगी या केवल वर्तमानों की आंख फोड़ने ही को यह धुआँ है, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु राक्षसी वाणी ने भारत का बड़ा अपकार किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं—

ऋषयो राक्षसी माहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निर्ऋतिः॥
कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
कीर्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां
धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः॥

भगवान् करे, द्वितीय प्रकार की वाणी का उपयोग करने वाले शासक और शासित इस देश में हों। [प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, १९०५ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समालोचक : कुछ टिप्पणियां

'समालोचक' के बदले में जो सहयोगी दर्शन देते रहे हैं, उन्हें सम्पादक और प्रकाशक हृदय से धन्यवाद देते हैं। सच तो यह है कि इनकी कृपा के बिना हम अपना कर्त्तव्य नहीं कर सकते और सहयोगियों से भी निवेदन है कि 'समालोचक' को अपने बदले में स्वीकार कर उसका गौरव बढ़ाएं।

●

कई मित्रों की राय है कि 'समालोचक' में केवल समालोचना ही न निकला करे किन्तु साहित्य के भिन्न-भिन्न लेख भी छपा करें। गए ४।५ महीनों से 'समालोचक' तो वैसा ही निकालता है और यह संख्या भी वैसी ही प्रकाशित की जाती है। इस विषय में हम सहयोगियों, पाठकों तथा हिन्दी के प्रेमियों की सम्मति चाहते हैं, यदि वह चाहें तो समालोचना लिखी जाय; यदि वे चाहें तो साधारण उच्च कोटि के मासिक पत्र का काम लिया जाय। अवश्य ही समालोचना की प्रधानता (अति भी) रहा करेगी।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अगस्त, १९०३ ई०]

'समालोचक' भला या बुरा, हिन्दी-साहित्य में नई चीज़ है। 'सभा' को उचित था कि उस पर सलाह देती, दोषों को सुधारती और (यदि कुछ गुण हैं तो) उनका उल्लेख करती। किन्तु, शायद भूल से 'समालोचक' के विषय में एक शब्द भी नहीं लिखा गया है। यहां तक कि इसका 'आनन्दकादम्बिनी' का (जिसका फिर निकलना हिन्दी के गौरव की बात है) प्राप्ति स्वीकार भी नहीं किया गया!! क्या यह पत्र सभा को नहीं मिलते थे?

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३ ई०]

आज के 'समालोचक' से डिपटीकलेक्टर पण्डित श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० और पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए० का एक बड़ा लेख, 'व्यय' नामक प्रकाशित होता है। इस लेख को हम मिश्रबन्धुओं के बड़े आग्रह से स्थान देते हैं, और पहले ही कह देना चाहते हैं कि इसके सभी अंश हमारे मत के अनुकूल हों, सो बात नहीं है। कहीं-कहीं भाषा की तीव्रता होने पर भी जिन भावों से वह लेख लिखा गया है वे शुद्ध हैं, ईर्ष्या वा परनिन्दा से प्रसूत नहीं हैं। तथापि लेख को पढ़कर एक बेर तो कहना ही पड़ता है—

O Hamlet, speak no more,
Thou turnest my eyes into my very soul
And there I see such grained and black spots
As will not leave their tincts.

किन्तु क्या करें this damned custom has brass'd it so that it is a proof and bulwork against sense.

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरी प्रचारिणी सभा : टिप्पणियां

इस वर्ष 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' का काम कुछ ढीला ही दिखाई देता है। काशी के कई सज्जन सभा के कार्य को संशयित कहते हैं, भगवान् करें, यह झूठ हो, किन्तु यदि सत्य हो तो हम सबको बड़ी लज्जा की बात है। आशा है कि इस वर्ष की रिपोर्ट उन चिन्ताओं को मिटा देगी, किन्तु सभा के नाक के नीचे रामनगर राज्य उर्दू का अड्डा बना हुआ है, यह कैसी लज्जा की बात है ?

●

नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट आई है, अच्छी आई है और अच्छे मौके पर आई है। सभा में ४५८ मेंबर हैं, १७ कार्यकर्त्ता हैं, २९७७ पुस्तकें हैं। सभा ने ३४२ पुस्तकों की खोज की है, जिनमें एक १२८७ का किया हुआ श्रीमद्भागवत का अनुवाद है (चलो वोपदेव की बात तो उड़ी)। पत्रिका तथा ग्रन्थमाला छपती रही, रामायण प्रकाशित हुआ ही चाहता है, देहाती स्कूलों की परीक्षा और इनाम बांटे गये, दत्त के इतिहास का प्रथम भाग बन गया, वैज्ञानिक कोश ता० २१ सितम्बर से दोहराया जाएगा, रासा के ग्राहक बहुत कम हैं तथापि वह छप रहा है, मनोविज्ञान के लेख के लिए पण्डित गणपत दुबे को पदक और अपने नगर के इतिहास के लिए लखनऊ के एक विद्यार्थी को एक मोहर दिए गए। सरकार और 'टैक्स्ट बुक कमेटी' के हिन्दी के वास्तव रूप को बिगाड़ने के विचार के विरुद्ध सभा कमर कसकर लड़ रही है। काशी की कचहरी में अपने व्यय से सभा ने एक अर्ज़ीनवीस रक्खा है।

●

एक विदेशी पादरी की सहायता से हिन्दी भाषियों की रायल सोसाइटी **नागरी प्रचारिणी सभा** का भवन काशी के बीच में बन रहा है। किन्तु उसमें प्रायः ७००० रुपये की जरूरत है। यदि सभा-भवन का काम यहां रुक जाय, तो हमारी आरम्भशूरता और कृतघ्नता का काला बिन्दा काशीजी पर खूब लगेगा। 'समालोचक' के ग्राहक यदि इसमें कुछ यत्न करें तो हम चिर कृतज्ञ होंगे। यदि १०० आदमी स्वय १००) दें वा अपने मित्रों से दिलवायें तो १०,०००) रुपया बात की बात में हो सकता है। और, एक आदमी को १०० रुपया इकट्ठा करना मुश्किल नहीं है।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : सितम्बर, १९०३ ई०]

●

दो बातें बहुत ही सन्तोषजनक हुई हैं। एक तो विलायत के सिविल सर्विस रूपी अग्नि में तप्तकाञ्चनावत् उज्ज्वल महर्षिकुमार पाण्डुरङ्गराव का द्वितीय पद पाना और दूसरे 'नागरी प्रचारिणी सभा' के विज्ञानकोश का दोहराया जाना। दाक्षिणात्य सारस्वत कुल-मणि पाण्डुरङ्ग ने इस देश का मुख उज्ज्वल किया है। "वारशतानि बहो" में गुणातिरेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाने वाले प्रांजपे, चटर्जी, पाण्डुरङ्ग, बोस प्रभृति से इस हतभाग्य देश की नाक बची हुई है। भूसुर पाण्डुरङ्ग ने गौराङ्गों का शासन करना न चाहकर अपने भाइयों का ही शासन चाहा है। 'नागरी-प्रचारिणी सभा' के विज्ञानकोश को मध्य प्रदेश से २, काशी के ५, पंजाब और बिहार के एक-एक, सज्जनों की कमेटी ने दोहराया। ज्योतिष और भूगोल की परिभाषाएं पूरी दोहरा ली गई हैं। अर्थशास्त्र और दर्शन के लिए सब कमेटियां बनी हैं। बड़े दिन की छुट्टियों में प्रो० गज्जर, बोस और प्रफुल्लराय काशी आकर शेष कोशों को दोहराने में सहायता देंगे। युक्त प्रान्त की सरकार ने भी अपना प्रतिनिधि नहीं भेजा है और कोश-शोधन में सहायता देने वालों की इस सूची से युक्तप्रान्त वालों की भाषारसिकता का अच्छा परिचय मिलता है। धन्यवाद है—

बङ्गाली ८, पञ्जाबी ३, बिहारी १, राजपूताना (पञ्जाब-प्रवासी) १, दक्षिण और दाक्षिणात्य ८, मध्यप्रदेशवासी ७, युक्तप्रान्त वासी ६ (काशी ६, लखनऊ १, आगरा १, झांसी १)।

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

निवेदन

'नागरीप्रचारिणी सभा' के विशेष अधिवेशन में पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने चढ़ी ब्रजभाषा की एक कविता पढ़ी थी, जिसके अन्त में यह था—

यहै राष्ट्रलिपि भारत की नागरी नवेली।
जाकि प्रभुवर म्यकडानल रोपी पर वेली॥
करि पल्लवित कलित[1] कुसुमित पुनि फलित भाव सों।
आदरनीय विलोचनते इहि लखहु चाव सों॥
लिखिहै सदा नागरी प्रेमी नाम तुह्मारो।
स्वर्णाक्षिर ते अरु करिहै जगमांहि उँजारो॥

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने सरल और ठेठ हिन्दी में बड़ी ही भावमय कविता पढ़ सुनाई थी। किन्तु इन दोनों से रोचक और विलक्षण 'एक प्रवासिनी बङ्ग-महिला' की 'निवेदन' नामक बङ्गला-कविता थी, जो देवनागरी अक्षरों में छापकर बांटी गई थी। मानो इस ऐतिहासिक अवसर पर बङ्गभाषा की सौभाग्यलक्ष्मी ने 'बङ्गमहिला' के रूप में अपनी बहन हिन्दी का पद स्वीकार किया और "भारतेर श्रेष्ठ भाषा दुःखिनी नागरी हाय !" की आह सुनकर देवनागरी अक्षरों को स्वीकार किया। यह शुभ मिलाप नया होने पर भी, हम आशा करते हैं, चिरस्थायी होगा। 'निवेदन' कविता इतनी

1. क्या 'कलियों वाली' से मतलब है ? तो इस अर्ध जरती शब्द को मानने वाली कविता की निरंकुशता धन्य है !!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोचक थी कि उसमें से कुछ हम यहां उद्धृत करते हैं। मिर्ज़ापुर के बाबू काशीप्रसाद ने एक इण्डियन प्रेस की 'रामायण', और मि० जैनवैद्य ने एक सांगानेरी साड़ी 'बङ्गमहिला' के लिए अर्पण की, और सबने इस कविता का साधुवाद किया—

पूर्व प्रभु म्यकडानल
सिंचिया उत्साह जल
करिलेन जे लतिका स्नेहभरे अंकुरित।
तुमी तारे करो प्रभु फल फूल सुशोभित ।।
× × ×
सकलंक शशि नय, अकलं 'सुधाकर'।
युगल मूर्तिद्वय 'श्याम' आर 'श्रीराधा'र ।।
आर देव गण कतो
होवे छेन एकत्रित
करिवारे स्वभाषार मलिनता विमोचन।
गाना रत्ने ओ वरांग करिवेन सुशोभन ।।
× × ×
विजाति साहित्योद्याने सुगंधि प्रसून तूले।
गांथि परावेन माला निज मातृभाषा गले ।।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

अपनी बात

सहयोगियों ने हमारे नए सन्दर्भ की जिस उदारता से समालोचना की है उसके लिए हम उन्हें अनेक धन्यवाद देते हैं। 'समालोचक' के जो उद्देश्य हमने प्रकाशित किए हैं, या जो हमने सोच रक्खे हैं, उन्हें पूरे कराना हमारे सहयोगियों के ही हाथ है। यह इज्जत उन्हीं की दी है, और उसका निभाना भी उन्हीं का कर्त्तव्य है। 'भारत मित्र' ने सम्पादक को कविता में कोरा कहा है। यदि 'मालती' को पढ़कर यह राय दी गई है तो रसिकता का अन्त है! एसोसिएशन वाली कविता में कोई छन्दोभंग वा रसभंग बतावैं तो हम 'कोरे' कहलाएंगे किन्तु 'भारत मित्र' के लौटाए लेख को छापने वाले किस तर्क से कोरे कहे गए? आजकल 'सुदर्शन सम्पादक' 'हिन्दी बंगवासी' में जो लिख रहे हैं, उससे 'एसोसिएशन' ऐसा निर्दोष नहीं जान पड़ता कि भरतियाजी की कविता निकम्मी कही जाय। 'सरस्वती' ने अपने सिंहावलोकन से बहुत अच्छी तरह आक्षेपों का उत्तर दिया है। हम बड़े खेद से प्रकाश करते हैं कि हमें पांचवें हाथ वाले श्लोक पर कुछ कहना पड़ा था। 'सरस्वती' जैसी सर्वांगसुन्दर पत्रिका में इस कालिमा को हम न सह सके। द्विवेदी जी का संस्कृत-साहित्य पर बड़ा अधिकार है, वे स्थूलदृष्टि से भी ५०० । ६०० श्लोक निकाल लेंगे जिनमें पांचवें हाथ की-सी ग्लानि न उत्पन्न हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुना है कि इण्डियन प्रेस के स्वामी वैसे श्लोकों को 'सरस्वती' में न छापेंगे। अस्तु, अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ।

●

सहयोगियों से हमारा एक और निवेदन है कि 'समालोचक' के स्वामी और सम्पादक हिन्दी भाषा के सभी लेखकों के मित्र हैं, और उनके सेवक होने का नाम पाना चाहते हैं। 'समालोचक' में जो कुछ लिखा जाय, वह द्वेषमूलक और कुतर्कमय न समझा जाय; यही हमारी हाथ जोड़कर प्रार्थना है। 'मेहरबान' मिस्टर जैन वैद्यजी और 'समालोचक' का सम्पादक (चाहे वह जयपुर का कोकशास्त्र बेचने वाला हो चाहे तिब्बत का लामा) जो कहते हैं उससे उन पर विद्वेष, वा अरुचि न हो। इसी से वे सब मित्रों से क्षमा मांगते हैं और अपना व्यवहार यथावत् रखने का निवेदन करते हैं।

आगामि संख्याओं से लेखों में, रंगरूप में, 'समालोचक' को हिन्दी का सर्वप्रधान मासिक पत्र बनाने की चेष्टा की जायगी। इसमें ऐसे-ऐसे महापुरुष लेख देंगे जिनके लिखने से हिन्दी भाषा का गौरव होगा। 'व्यय' के छप जाने पर विचार है कि एक फार्म सदा किसी ग्रन्थ का दिया जाया करै जिससे हमारे साहित्य में ग्रन्थों की भी पूर्ति होती जाय। ग्राहकों से भी निवेदन है कि आगामि मूल्य, वा वी० पी० भेजने की आज्ञा दे दें, क्योंकि जनवरी का अंक कल्पित ग्राहकों को नहीं भेजा जायगा।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : दिसम्बर, १९०३ ई०]

□

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्र-साहित्य

खुली चिट्ठियां

१. खरे सज्जनों को खरी चिट्ठियां

[श्रीमान् आनरेबल पण्डित मदनमोहन मालवीय
बी० ए०, एल-एल० बी०]

मान्यवर महोदय,

आप बड़े हैं। बड़ों को पुरानी बातें याद होती हैं। हमारे एक दयालु मित्र खो गए हैं। वे हमारे कृपालु थे, हमारी हिन्दी के बड़े भारी सेवक और लेखक थे। उनका आपको कुछ पता है? कहां हैं? क्यों एकान्तवास करते हैं? उनकी बोलती क्यों बन्द हो गई है, इसका आपको पता है? हमारे वे सौम्यदर्शन ब्राह्मण मित्र 'पण्डित मदनमोहन बी० ए०' इस नाम को भूषित करते थे और 'दैनिक हिन्दुस्तान' के वे चिराग थे। क्या आपने कभी उन्हें देखा है? क्या मालूम वे कहा हैं? अथवा क्या आपको उनका स्मरण भी नहीं? कुछ लोग तो कहते हैं कि वे ही महाशय शैलूप की तरह नई भूमिका में 'आनरेबल मालवीय' के नाम से आ गए हैं। क्या यह भी सच है? युक्तप्रान्त की कचहरियों में नागरी का चंचुप्रवेश करने वाला जो प्रसिद्ध है, वह और जो किसी काल में हिन्दी का लेखक था, क्या एक ही व्यक्ति की सविधि (=चित्र, यह शब्द हुजूर ही की तसीनफ़) है? तो क्या वह महाशय धूपछाया के रंग का है? वा 'अनेक 'रूपरूपाय' का भक्त होने से 'रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव' हो गया है? या लोगों के चश्मे का रंग बदल गया? या उसे हिन्दी लिखने में लज्जा मालूम होती है? या इसमें यश नहीं मिलैगा? क्या कारण है कि उसके हाथ में नड़ की ग्रामीण कलम न देखकर सभ्य फाउन्टेन पेन देखते हैं!

क्या उसने और बातों में भी अपनी चाल बदल ली है? अंग्रेजी में एक कहावत है, जो कथा के रूप में आपने सुनी होगी।

महाराज! एक शिक्षक को अपने इन्सपेक्टर के दौरे का भय हुआ और वह क्लास को भूगोल रटाने लगा। कहने लगा कि पृथ्वी गोल है। यदि इन्सपेक्टर पूछे कि पृथ्वी का आकार कैसा है, और तुम्हें याद न हो, तो मैं सूंघनी की डिबिया दिखाऊंगा, उसे देखकर उत्तर देना। गुरुजी की डिबिया गोल थी। इन्सपेक्टर ने आकर वही प्रश्न एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यार्थी से किया और उसने बड़ी उत्कंठा से गुरु की ओर देखा। गुरु ने जेब में से चौकोर डिबिया निकाली (भूल से दूसरी डिबिया आ गई थी)। लड़का बोला—"बुधवार को पृथ्वी चौकोर होती है, और सब दिन गोल।" वैसे ही जिन लोगों ने मालवीय जी की देखादेखी हिन्दी का पक्ष लिया था, जो मालवीय जी की हिन्दी को हिन्दी मानते थे, वे आज मालवीय जी की दूसरी डिबिया को देखकर, चकराते हुए कह रहे हैं—'सरल हिन्दी, उर्दू मिश्रित हिन्दी।' जिज्ञासा यह है कि यह डिबिया जेब में कहां से आ गई? पहले ही से थी, या अब इसकी जरूरत पड़ी है? और क्या पालसी में हिन्दी भी बुधवार को चौकोर, सप्ताह में छै दिन गोल हो जायगी?

क्या यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि आपके-से कट्टर और पुराने कांग्रेस-मैन के रहते भी युक्तप्रान्त में तीसरी कांग्रेस का नम्बर न आवे? बम्बई तो पांच-पांच कांग्रेस कर डाले, और अयोध्यानाथ का देश तीसरी कांग्रेस का मुंह न देखे? जस्टिस चन्द्रावर्कर जिस सप्ताह में कांग्रेस के सभापति चुने गए थे, उसी सप्ताह वे हाईकोर्ट के जज नियत हुए। इस पर एक मसखरे ने कहा था कि वे एक दिन तो भारत वर्ष के बिना मुकुट के राजा थे और दूसरे दिन विदेशी सरकार के तुच्छ (puny) दास हो गए। भगवान् आपके मनोरथ सुफल करें, आपके भी प्यूनि(puisne) होने का मौका आवै, तो हम लोग तो बधाइया देंगे ही, किन्तु आपकी तो मन में रह जायगी? समय रहते कर लीजिए नहीं तो फिर स्मृति की दूरबीन उस प्रशस्त पण्डाल में विराजमान मालवीय को देखैगी, और स्मर्ता का मन 'तिरश्चीन-मलातशल्यं' भोगेगा।

इधर आपकी संस्कृत यूनिवर्सिटी दोहद लक्षणों को धारण करेगी। किन्तु इस काम में आपको दो बातों से बचना चाहिए। एक तो उस भिड़ों के छत्ते से, जो अपने हितकारियों को शत्रु कहा करता है, और दूसरे स्वयं काम न करके औरों के यन्त्रों में में मीन-मेष करने वालों से। वे लोग आपको 'अन्त:शाक्ता बहिःशैवाः' कहें तो भी निडर होकर काम करते जायं। किन्तु बिचारी हिन्दी में आप अवश्य कुछ लिखें। भक्तवत्सल मदनमोहन ने एक बलवान् भक्त की प्रतिज्ञा के लिए अपना हठ छोड़ दिया था, आप तो चीज ही क्या हैं? तथापि सुन छोड़िए—

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतांश्चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृंकेपुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥

और—

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुं मांगन जांहि।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नांहि॥

आप शतायु हों। दिन-दिन आपका यश बढ़े।
आवदंस्त्व शकुने भद्रमावद, तूष्णी मासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः।

—चिट्ठीवाला

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, १९०४ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. 'कुछ लोगों' के नाम

महाशयो,

एक राजधानी में, जिसका नाम लेना उचित नहीं, एक पण्डित हैं। उनका नाम बहुत बड़ा है। उनकी उपाधियां कोसों तक लटकती हैं। किसी पण्डित को एक उपाधि, शास्त्री, या विद्यावागीश, मिली तो क्या, पण्डितजी की उपाधियों में सबकी उपाधियों का तीर्थ है। प्रतिक्षण वे उपाधियां बढ़ती जाती हैं। एक दृष्टान्त लीजिए। राह चलते मुझसे उन्होंने कुशल-प्रश्न पूछा। मैंने उत्तर दिया। घर जाकर उनकी नाम की बही में (उनका नाम किसी की जिह्वा पर नहीं है, और न ही उन्हें ही याद है, वह है उनकी बही पर) यह नाम जोड़ा गया—"विद्वानों से पूजित, अमुक-अमुक ग्रंथों के वेत्ता, अंग्रेजी में इतनी योग्यता रखने वाले, 'समालोचक' के लेखक, हिन्दी के फलाने, अमुकजी महाराज, राजमान्य से सम्भाषण करके शास्त्रार्थ के सभी प्राचीन नवीन नियमों से उनके मन को रंजित करने वाले, उनको पराजित करने वाले वा अपने शिष्य प्रशिष्य के द्वारा उनसे वाङ्मिश्रण करने वाले—" यह विशेषण चट उनकी बही में जुड़ गया। कहां उनने खांसा, किसे देखकर उन्हें हँसी आई, कहां उन्हें लघुशंका की बाधा हुई, ये बातें उनकी सदा उपचीयमान विशेषण प्रचारिणी माला में जुड़कर उसे सकल करेंगी या नहीं, यह निश्चय नहीं किन्तु हिन्दी के कितने सेवक और भारतवर्ष के 'कुछ लोग' ऐसी ही चेष्टा किया करते हैं। वे समझते हैं, अब तक जिनने कुछ काम किया है, वे सभी मूर्ख हैं, काम हम करेंगे। अपनी कुल्हिया में गुड़ वे फोड़ने भी लग जाते हैं। किसी परिषद् ने किसी दोष को सुधारने का यत्न किया, कि एक चिट्ठी 'इंजानिब' की भी पहुंच गई और यदि वह दोष सुधर गया तो सब मेहनत यारों की, और काम करने वालों ने यारों की नकल की। घर ही में सब दफ्तर, जोर अपना, कुछ मिल गए, ऐसे जो कहें सो लिख दें, छाप दें, बड़ों को उपदेश दें ये कि 'व्यायतनामधेय' जो करते हैं वैसा करो! किसी ग्रंथ को छपवाने की समाज को जरूरत पड़ी या सूझी। यारों को पता लगा। बस, अखबारों में यह तो निकला कि 'कुछ लोग' उसे छपवाने का यत्न कर रहे हैं। दो-तीन आदमियों को चिट्ठियां लिखी गईं कि हमारा यह प्रस्ताव है, और इसका यह फाइल-नम्बर है। उसने उत्तर न दिया तो उसकी मूर्खता! नहीं तो उसकी चिट्ठी, खूब सफ़ाई से छाप दी जाती है, चाहै उसमें इन्हें सूखा बूरा ही खिलाया गया हो। इत्तिफ़ाक से इनने एक ऐसे को चिट्ठी लिखी जो पहले से उस किताब को छाप रहा था। बस, यह भी छाप दिया गया। पूछें कि इसमें आपका 'क्रेडिट्' क्या? आपके सजेश्चन और धूम से क्या हुआ?

कुछ लोगो! तुम ध्यान धरो। काम से प्रेम है, काम करना है, तो स्वयं कुछ करो। दुनिया भर में ढोल पीट मारा कि जो यह करैगा, वह करैगा, उसे हम मैडल देंगे, किन्तु काम करने के नाम से भागते हैं। स्वयं क्यों नहीं काम करके रुपया ले लेते? औरों के काम का न्याय कर सकते हो, स्वयं क्यों नहीं कुछ बनाते? जिन कामों में और लगे हुए हैं उनमें क्यों भांजी मारते हो? और कुछ काम नहीं हैं? या अपने नाम का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतना विचार है ? मेरा लेख अच्छा हो तो चाहे अपने को मैं 'सी० आई० ई०' कहूं, चाहे 'क, ख, ग,' से चिट्ठी दूं, उसका आदर होगा। फिर यह चिन्ता क्यों कि कोरे 'घधड़ातामट' नाम से बहुत कुछ अगाड़ी-पिछाड़ी के बिना लगाए हम लिखें नहीं।

कुछ लोगो ! तुम्हारे घर में जानते हो कितना कूड़ा भरा पड़ा है ? उसे क्यों नहीं साफ़ करते ? तुमारा हिस्सा कितना 'अनकूथ' है, दूर-दूर क्यों झांकते हो ? मुहल्ले के म्युनिसिपलिटी ठीक न करके देश के सुधार को क्यों दौड़ते हो ? और उस चन्द्रमा के किरणों की कृपा पाए पण्डित की तरह कैसे नाम बढ़ाते हो ?

इन्हीं कामों का परिणाम तुम में एक और है, जिससे हम Carlyle के शब्दों में तुम्हें Pruinent windbag कह दें। जब तक तुम्हारे लिए हम अखबारों में न लिखें, तब तक तुम्हें अन्न न पचै। अखबारों में लीडर लिखो, हमारी तारीफ़ करो, भगवान् दुहाई, हमें कुछ मानो, बिना उसे पढ़े हमें नींद नहीं आती, हमारे खाँसने तक की रिपोर्ट करो, यह क्या बौखलपन है ? भले मानसो, कुछ ठोस काम करो, पराए धन पर व्यापार मत चलाओ। बड़ों की नकल न करो, उनके दोषों को सुधारो, पर स्वयं करके। जगत् में तुम्हीं कोरे वैयाकरण नहीं हो। तुम में ही सब काव्य नहीं आ गए हैं। तुम समझते हो, कि हम यों कहकर बड़ा पाप करते हैं। क्योंकि तुमने यह व्यापार छोड़े कि जगत् के घूमने की कीली में जंग लगा। पहिए रुके। ऐसी चिन्ता मत करो। जगत् ने बड़े-बड़े बिछोहे सहे हैं। वह इसे भी सह लेगा. और कल सवेरे पृथ्वी अपनी धुरी पर ऐसे ही घूमती मिलैगी जैसी कि आज आपके साकल्य की बदौलत।

अच्छा ! तुम अपने रूप को जान गए ? अब यही निवेदन है कि यह टोपी तुम्हारे सिर पर आती है तो ओढ़ लो।

—वही चिट्ठीवाला

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०४ ई०]

३. 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के कार्यकर्त्ता !

प्रिय महाशयो !

भारतवर्ष के दो विप्रकृष्ट प्रान्तों में, गत मास, घटनाएं ऐसी हो गई हैं जिनका परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं दिखाई देता, परन्तु उन दोनों को मिलाकर आप लोगों की और सर्वसाधारण के मत की अवस्था पर दो-तीन बातें कहने का मन करता है।

भारतवासियों में पुरातत्त्व की खोज के लिए जो नाम राजा राजेन्द्रलाल मित्र ने पाया था, उससे कहीं अधिक यश डाक्टर भाण्डारकर के भाग्य में था। उनका वाक्य योरोप और अमेरिका के पुरातत्त्ववेत्ता आदर से मानते हैं। उनकी खोज में निष्पक्षपात विवेक है। गोत्राङ्गण की यूनिवर्सिटी में उन्हें डाक्टर की पदवी बहुमान के साथ मिली थी। सरकार की ओर पुरातत्त्ववेत्ताओं की कांग्रेस में प्रतिनिधि बनाए गए, और शुष्क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पण्डिताई के लिए उनका सम्मान कई बार किया गया। इतना होने पर भी वे प्रजा से पृथक् रहे। कुछ तो पुरातत्त्व के सच्चे या झूंठे, परन्तु देश के माने सिद्धान्तों के विरुद्ध विचारों को मानने से कुछ वास्तव समाज-संशोधन के नेता होने से, और कुछ बात-बात में राजकर्मचारियों को 'जो आज्ञा' कहने के सन्देह में लिपटे जाने से वे प्रजाप्रिय न हो सके। गत वर्ष सरकार की एक नीति में सत्यवचन कहने वाले बनकर उनने एक ऐसे काम का मण्डन किया जिसके सारा देश विरुद्ध था, और यों 'बिल्ली का पञ्जा' बनने के कारण उनकी सारी पण्डिताई और एन्टिक्वेरी उनकी ओर की प्रजा की उदासीनता को घटा न सकी। बम्बई यूनिवर्सिटी ने उन्हें, यल०यल०डी० की उपाधि से विभूषित करना विचारा जो उनकी विद्वत्ता के योग्य होने पर भी, सार्वजनिक मत की वर्तमान अवस्था में, जो भाण्डारकर के नए उल्वण कर्तव्य को न भूल सका था, उलटे अपमानसूचक हुई। चाहे चान्सलर ने अपने भाषण में उनकी स्तुति की, किन्तु श्मशान की तरह शून्य विश्वविद्यालय के हाल में लोगों ने भाण्डारकर को लपूटा के टापू में रहने वाले उस पण्डित से तुलना दी जो प्रजा के रोष की कमचियां खाकर भी नहीं चेतता। इससे आप समझ जायं कि कोरी रिपोर्ट लिखने से लोकप्रियता पाने की आशा भ्रम है, और सरकार से कुछ रुपया सहायता पा लेना ही अपनी उपयोगिता और प्रजाप्रियता की जांच नहीं है।

दूसरी शोकदायक घटना पंजाब में हुई है। वह लाला मुन्शीराम एम० ए० का यावत् आर्यसमाजिक प्रबन्धों से पृथक् होना है। चाहे कोई संकीर्ण हृदय सनातन धर्मी इस घटना पर दर्प करें और इसका उल्लेख हर्ष से करें परन्तु हमें इस पर वास्तव में शोक हुआ है। चाहे लाला महात्माजी ने अपने साथियों की कार्रवाइयों से तङ्ग आकर यह लौकिक नीति चली हो, चाहे उनका आर्यसमाजीय प्रबन्ध उपकारिता से विश्वास हट गया हो, एक बात निश्चय है; वह यह कि भारतवासी समाज की जड़ में बड़ा बुरा कीड़ा लग गया हुआ है जो सच्चे हितकारियों को काम नहीं करने देता। अवश्य ही लाला जी ने अपने धर्मसिद्धान्त नहीं बदले हैं और न इनका छोड़ना उनका-सा है जो आर्यसमाज का हलुआ पूरा करके सनातनधर्मियों की खीर के लिए मतवाले बनते हैं। जहां तक सुना गया है, लालाजी ने अपनी अच्छी चलती वकालत में बट्टा डालकर, अपना और अपने मित्रों का हज़ारों रुपया एक अपनी समझ में देशोपकारी कार्य के लिए इकट्ठा किया और लगाया है। उस समय उनका बोझ बहुत कम लोगों ने बांटा। जब उनका काम पूरा हो गया तब उसमें दोष दिखानेवाले, छिद्र निकालने वाले, समाचार-पत्रों के कालम और पढ़ने वालों के मस्तिष्क को खाने वाले कई मिल गए, और अन्त को मुन्शीजी को यह 'स्टेप' लेना पड़ा। यह ही इस देश के मनुष्यों में गुण हैं। वे कन्स्टीट्यूशन से, नियम से, क्रम से, किसी काम को चलने देना नहीं चाहते। यह देश-वासियों के मन और देश की मट्टी की दुर्बलता का सूचक है कि यहां प्रबन्ध से कोई कार्य टिक नहीं सकता। पहले तो लीडर नहीं मिलते। यदि कोई लीडर मिला भी, तो उसका कहना मानने वाले नहीं। यदि लीडर वास्तव में योग्य हो तो उससे कोई भय नहीं, किन्तु कई मनुष्य लीडर न बनके लीडर बनने की हवा बांधा करते हैं। यह सत्य है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेनापति अपने संग्राम के प्लेन को दीनता के साथ प्रत्येक सिपाही को नहीं दिखाता और न अपने हृदय को अपनी आस्तीन पर बाँधे फिरता है जिससे कौए भी उस पर चोंच मारते जायं, प्रत्युत यदि उसके हाथ में मुट्ठी भर सत्य है, तो समय पर वह अपनी चिट्ठी अंगुली ही खोलता है। किन्तु यदि कल्पित सेनापति इन सब अधिकारों को काम में ले तो ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त यदि पन्द्रह मनुष्यों में एक का मन चौदह से न मिला, तो वह अपने चतुर्मुख विधाता का ताऊ मानता है। और कभी अपने विचारों को सुधारने का स्वप्न भी नहीं करता। वह, यदि उसके मत पर लोग न चलें तो त्रिवेणी में कूदने की धमकी देता है, मानो वैसा करने से सारी मण्डली डूब जायगी।

'सभा' समझ जाय, उसको यदि कभी खतरा है तो कल्पित नेताओं से, और उन्हें दिक करने वाले और उनका धैर्य नष्ट करने वाले त्रिवेणी में कूदने वाले से। वे स्वयं न कुछ न करते हैं न कुछ कर सकते हैं। नेता नहीं बन सकते, पर पीछे भी नहीं चलना चाहते, और सिवाय त्रिवेणी में कूदने की धमकी के, वे परमेश्वर ने किसी काम के लिए नहीं रचे। उनके इस चिढ़ाने पर काम करने वाले यदि पतवार छोड़ बैठते हैं तो जगत्-हँसाई होती है। और, वे महाशय भी मूसा पैगम्बर के प्यारे मित्रों की तरह मुंह चिढ़ाया करते हैं।

मुसलमान धर्म्म में एक कथा बड़ी विलक्षण, सत्य और रोचक है—प्रेत समुद्र के पास किसी नगर के वासी बड़े विलासी और आलसी थे, और परमेश्वर ने उन्हें धर्म्मोपदेश करने को, हज़रत मूसा को भेजा। मूसा ने बड़ी गम्भीरता से उन्हें अपने सिद्धान्त समझाए और धर्मोपदेश दिया। उन महाशयों ने मूसा की ओर मुंह चिढ़ाया, और उसके भाषण को सुनकर जंभाइयां लीं। और दाँत निकालकर मूसा को स्पष्ट सुना दिया कि हमें तुम्हारी जरूरत नहीं है। मूसा ने अपना रास्ता लिया। और कथा कहती है कि वे सब मनुष्य बन्दर हो गए। अब वे जगत् की ओर मज़े में मुंह चिढ़ाते हैं और चिढ़ाते ही रहेंगे।—क्यों मित्रो! कभी आपने भी ऐसे मनुष्यों को देखा है? उनकी दृष्टि में सारा जगत् ही 'हम्बग्' है और आप लोग और भी ज्यादा। मालूम होता है, मूसा के वैसे मित्र आजकल बढ़ गए हैं। वे अपने काम, काम पर काम करने वालों को धैर्यच्युत करना चाहते हैं।

गत दो वर्षों में 'भारतधर्म महामण्डल' के नाम से जो तमाशे हुए हैं, उनसे कम-से-कम पच्चीस वर्ष तक कोई मनुष्य जिसे चावल भर भी आत्मगौरव होगा, कभी महामण्डल या धर्मसभाओं से अपना सम्बन्ध रखना नहीं चाहेगा। यदि लाला मुन्शीराम जी का मामला बढ़ा तो आर्यसमाज में रहना उतने चाव की बात न रहेगी। अभी तक आप लोगों में गिना जाना प्रतिष्ठा समझी जाती है। आप लोग इसी बात का यत्न करें कि परस्पर की खेंचाखेंच से वह समय कभी न आवे, जब आपके साथी कहलाना प्रतिष्ठा न मानी जाय। बस अपना काम करो और बकबक को और त्रिवेणी में कूदने वालों को पीछे रहने दो।

—वही चिट्ठीवाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनश्च :

सभा के 'गृहप्रवेशोत्सव' पर सर जेम्स लाटूश ने जो संस्कृत-शिक्षा विस्तार का चित्रपट खेंचा था, उसके विषय में अबके कन्वोकेशन में उनने जो शब्द कहे थे, आप लोगों को कैसे लगे ? अलीगढ़ ने तो कथनानुसार एक अंग्रेज प्रोफेसर और एक सहकारी रख लिया। किन्तु "जो सलाह देने योग्य थे" उनने क्या किया ? यदि काशी के पवित्र संस्कृतपीठ में भी किसी विदेशी आचार्य ही का जमना इष्ट हो, तो संस्कृत की वह उन्नति नहीं चाहिए किन्तु क्या सर जेम्स को नहीं मालूम है कि उनके सलाहकार या तो काशी से एनीबेसेन्ट के कालेज को अपदस्थ करने के विचार में हैं और या उनके मन्तव्य हमारी संस्कृत यूनिवर्सिटी की चार मील की परिधि के भीतर शूद्र न आने पावें, इसी में समाप्त होते हैं ? और सभा के उद्देश्यों में संस्कृत की उन्नति कदाचित् नियमावली की ही शोभा के लिए है।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १६०४ ई०]

४. हिन्दी भाषा के उपन्यास-लेखकों के नाम

प्रिय महाशयो,

आप लोग दो प्रकार की रचना करते हैं। एक तो उन विलक्षण और असंभव ऐयारियों और तिलिस्मों में गोते खिलाना है जो कभी न थीं और जो विज्ञान की चाहे कितनी ही उन्नति हो जाय, कभी भी सम्भव न होंगी। दूसरा गार्हस्थ्य और समाज के उन आदर्श चित्रों को दिखाना है जो वर्तमान समय में नहीं हैं, या तो प्राचीन समय में थे, या उस समय भी कल्पना ही में थे। उन्हीं के रंगने में दोनों प्रकार के सज्जन अपना समय और पढ़ने वालों का सब्र व्यय करते हैं। दोनों ढंगों में नायक सब गुणों का पुतला होता है, प्रतिनायक सब दोषों की खान बताया जाता है। नायिकायों के रूप में अनन्वया-लंकार ही चलता है, उनके रूप में कोई भी कमी नहीं। ग्रन्थकार के प्यारों में गुण-ही-गुण है, और उसके विरोधियों में दोष-ही-दोष। स्वतंत्र रमा में दोषों का एटलान्टिक है और परतंत्र लक्ष्मी में सद्‌गुणों का पैसिफ़िक। धर्मात्मा सुख-ही-सुख पाता है, और व्यावहारिक मनुष्य दुःख-ही-दुःख। उनके नायक ब्राह्मण तोते की तरह धर्मशास्त्र को स्वप्न में भी जपा करते हैं, क्षत्रिय शौचकाल में तरवार बांधे फिरते हैं, नायिकायें नदी में डूबते भी पति का जूता उठाना ही बर्ताती हैं, और सिटल्लू ऐयार भी अपने बटुए से नहीं चूकता। परन्तु क्या आपने कभी खयाल किया है कि जगत् में क्या ऐसी सृष्टि है ? आप मुझ से कहेंगे—"क्यों ? चरित्रों को गोशमाली और छिद्रान्वेषण क्यों करें ? क्या ब्राह्मण के मुख से 'पीत्वा, पीत्वा' कहलवा दें ? क्यों दिव्य की प्राचीन प्रथा को छोड़कर नवीन वकीलों की कल-कल मचावें ? क्या यह सुन्दर नहीं मालूम देता कि सद्‌गुणों

गु-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का और पाठकों के प्रेम का एक पात्र बीसों बिस्त्रे तैयार कर दिखावें ? यदि तुम भी उपन्यास-लेखक हो तो किसी गद्दीधारी महन्त के मुख से शतरंज या मदिरा की बात न कहलवाकर धर्मोपदेश करा देते जो उसके मुंह से कार्तिक-माहात्म्य की तरह सुनाई देता ?"

यदि मेरे मत में उपन्यास-लेखक का सबसे ऊंचा व्यवसाय चरित्रों को, जैसे वे कभी न थे और न होंगे वैसे बनाना ही होता, तो मैं अवश्य ऐसा ही करता। तब तो जीवन और चरित्र को बिलकुल अपनी ही रुचि के अनुसार मैं गढ़ सकता था, मैं धर्मोपदेशक का सर्वोत्तम नमूना चुन लेता और सभी मौकों पर मेरे रुचिर उपदेश उसके मुंह में रख देता। किन्तु आश्चर्य है कि मेरा (अर्थात् सच्चे उपन्यास-लेखक का) सब से प्रबल यत्न यही होता है कि ऐसे उच्छृङ्खल और इकतरफा चित्र से किनारा कसूं और मनुष्य और वस्तुओं का वैसा सच्चा चरित्र दूं जैसे कि वे मेरे हृदय-कांच में अंकित हुए हैं। अवश्य ही कांच में दोष हैं; चरित्र कभी-कभी बिगड़ गए हैं, छाया भी धुंधली या बिगड़ी हुई है, किन्तु मैं आप लोगों को अपने विचारों को ठीक-ठीक समझाने में वैसा ही बाधित हूं जैसाकि हलफ़ उठाकर ठीक गवाही देने में। यदि वास्तव चरित्र को आपने देख और समझकर कलम पकड़ी है, तो मैं प्रतिज्ञापूर्वक कह सकता हूं, कि जिसकी स्तुति में आपने पृष्ठों पर पृष्ठ रंगे हैं, वह कदाचित् नीरस, अयोग्य और अनुपादेय चरित्र था। कदाचित् आप कहेंगे—"यह बहुत ही बिरला संयोग होता है जब कि वास्तव दशा उस सुन्दर चित्र पर पहुंच जाय जो हमारे उन्नत विचार और शुद्ध रसों के अनुकूल है। तो वास्तव दशा पर कुछ उन्नति ही न कर दो, उन्हें उन शुद्ध विचारों से अधिक मिलती हुई बना दो जिनके रखने का हमारा अधिकार है। ठीक जैसा हम चाहते हैं, वैसा तो यह जगत् है ही नहीं; कुछ इसको रसमयी पैन्सिल से रंग दो, और विश्वास करा दो कि यह इतना उलझा हुआ मामला नहीं है। जिन मनुष्यों के विचार निर्दोष हैं उनसे निर्दोष ही काम कराना। अपने अपराधी चरित्रों को भ्रम के मार्ग पर रहने दो और धर्मात्मा चरित्रों को सरल मार्ग पर। तो हम एक दृष्टि से ही देख सकेंगे कि किसी को सराहें, और किसको कोसें। यदि ऐसा करोगे तो हम अपने पुराने विचारों को कुछ भी हिलाए बिना चरित्रों की स्तुति कर सकेंगे, उस परम असन्देह विश्वास उत्पन्न जुगाली के स्वाद के साथ कुछ चरित्रों को घृणा भी कर सकेंगे।"

मेरे प्यारे मित्र ! कहो तो उस अपने ही गाँव के मित्र का तुम क्या करोगे जिसने तुम्हारे भाई से थानेदारी छीन ली ? उन नए पाठशाला के अध्यापक को क्या करोगे जो 'सुद्ध्युपास्यः' भी स्लेट पर लिखकर साधता है और जिनके पढ़ाने की ढाल उसके पूर्वज से बुरी होने से दुःखदायक है ? उस योग्य नौकर को क्या करोगे जो अपने एक दोष से आपका सिर खपाता है ? अपने पड़ोसी रामसेवक का क्या करोगे जिसने बीमारी में आपकी इतनी सेवा की परन्तु जब से आप अच्छे हुए आपके विषय की अनुचित बातें गाँव में फैलाईं ? और भला अपनी उस प्राणप्यारी कमलनयनी का क्या करोगे जिसका चिढ़ाने वाला स्वभाव उस समय कांच की चूड़ियों की चर्चा छेड़ता है जिस समय आप उसे रूस-जापान के युद्ध का कारण समझते हों या अपने अटल प्रेम के अनुमोदन में हवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हाथ हिलाकर व्याख्यान दे रहे हों ? इन साथी मर्त्यों में प्रत्येक जैसा है उसको वैसा ही लेना और समझना पड़ेगा; तुम न उनके नाक सीधे कर सकते हो, न उनकी हँसी को चमका सकते हो, न उनके स्वभावों को ठीक कर सकते हो, और इन लोगों को ही जिनमें आपको अपना जीवन बिताना पड़ेगा, सहना, सम्हालना और प्यार करना तुम्हें आवश्यक है। ये ही न्यूनाधिक कुरूप, मूर्ख और असम्बद्ध मनुष्य वे हैं जिनकी भलाई की बड़ाई करने को तुम्हें समर्थ होना चाहिए और जिनके लिए तुम्हें यथासम्भव आशा और यथा-सम्भव सन्तोष काम में लाना पड़ेगा। यदि मुझमें सामर्थ्य भी हो तो भी मैं वह चतुर उपन्यास-लेखक नहीं होना चाहता जो इस जगत् से ऐसा अच्छा जगत् बना देता है कि जिस जगत् में हम प्रत्येक प्रातःकाल अपना काम करने को उठते हैं, उसको छोड़कर, मेरे ग्रंथ को पढ़ लेने पर रेतली सड़कों और साधारण हरे खेतों पर तुम उपेक्षा की निर्दय दृष्टि डालो,—सच्चे स्वास लेते हुए मनुष्यों पर तुच्छता लगाओ जो तुम्हारी उदासीनता से ठिठर सकते हैं, या तुम्हारे कोप से नष्ट हो सकते हैं, जिन्हें तुम्हारी सहानुभूति, दया, और स्पष्टवादी वीरन्याय से भरोसा और काम में सहायता मिल सकती है। मैं नहीं चाहता कि तुम सच्चे मनुष्यों को भूलकर ऐयारों के लिए आह भरते फिरो।

इसीसे चीज़ें जैसी हैं उससे वे अच्छी दिखाई दें, ऐसा यत्न किए बिना अपनी सीधी कथा कहने में ही मैं सन्तुष्ट हूं। सिवा झूंठ के मैं किसी से नहीं डरता। अपनी सबसे अच्छी सम्हाल करने पर भी उससे डरने का कारण है। झूंठ इतना सीधा है, सत्य इतना कठिन है। जब लेखिनी किसी राक्षस का चित्र बनाती है तो हमें प्रसन्नता और सरलता मालूम होती है, दाँत जितने बड़े हों, और पंख जितने फैले हों उतना ही अच्छा; किन्तु यदि हम सच्चा मनुष्य का चित्र खैंचना चाहते हैं तो वह अद्‌भुत आसानी जिसे हम अपनी प्रतिभा का फल मानते थे, न मालूम कहां भाग जाती है। यदि अपने शब्दों को ठीक तोलकर देखें तो जान पड़ेगा कि यदि झूंठ बोलने का कोई प्रयोजन न भी हो, तो भी ठीक सत्य कहना कठिन है।

सत्य के इस अद्‌भुत और अमूल्य गुण के कारण हमें वे सादे चित्र अच्छे मालूम देते हैं जिन्हें आपके-से उच्च विचारों के मनुष्य घृणा करते हैं। साधारण गार्हस्थ्य जीवन के सच्चे चित्रों में इसीलिए आनन्ददायक सहानुभूति मिलती है, क्योंकि फूलों की सेज, या परमधर्म, वियोगान्त जीवन या जगत् को अकचकान वाले तिलिस्म की अपेक्षा वह अधिक भाइयों के हिस्से में आता है। बिना शंका के, विमान पर चढ़े हुए देव, वनकन्या, परमहंस और जादूगरनी से हम मुंह फेर लेते हैं, और प्रेम से अपने फूलों को सींचती, या पत्ते पर भोजन करती बुढ़िया की ओर देखते हैं, जब कि मध्याह्न का प्रकाश, पत्तों के पड़दे में से झरता हुआ उसके चरखे को छू रहा है और उसके ताम्बे के लोटे अथवा किसी ऐसी सस्ती 'जीवन जड़ी' को चमका रहा है। 'छिः' हमारे आदर्श के प्यारे मित्र बोल उठेंगे—"कैसी ग्रामीण बातें हैं। इस विराट परिश्रम उठाने से क्या लाभ है कि बुढ़िया का या गंवारों का ठीक-ठीक चित्र उतारा जाय ? जीवन का कितना हलका चित्र है ! कैसे भद्दे और जंगली मनुष्यों की चर्चा है !"

परन्तु, क्या नायक सदा ही गुलाबजल में डूबा हुआ और सोने की मूठ की तरवार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से खेलता होना चाहिए ? जो चीज़ बिलकुल सुन्दर नहीं है वह भी तो प्रेम के लायक हो सकती है ? क्या यह नहीं जानते कि मनुष्यजाति के अधिक सज्जन कुरूप ही हैं, और सबसे सुन्दर जातियों में भी टेढ़े नाक और बैठे गाल बहुत कम नहीं मिलते। तो भी क्या उनमें परस्पर प्रेम नहीं होता ! हमारे एक मित्र ऐसे हैं जिनका मुखारविन्द भिड़ों के छत्ते का-सा है, कुछ ऐसे हैं जिनके चेहरों पर पेशानी का मोड़ देखकर क्रोध आता है, किन्तु यह निश्चय है कि उनके हृदय है, और मित्रों के हृदय उनके लिए तड़फते हैं। उनके चित्र (चाहे वे सुन्दर न हों) एकान्त में चूमे जाते हैं। कई माताएं ऐसी हैं जो अपनी युवावस्था में भी सुन्दरी न थीं, परन्तु अपने पति के युवावस्था के प्रेम को वे सपुलक स्मरण करती हैं, और तुतलाते बच्चे प्रेम से उनके पीले चेहरे से अपना नाक रगड़ते हैं। और मुझे विश्वास है कई महाशय—ओछे कद और दुबली मूंछों के—ऐसे भी होंगे जिनने एन्ट्रेन्स पास करते ही प्रतिज्ञा की थी कि "डाना काटा परी" या इन्द्र की परी से न्यून किसी से प्रेम न करेंगे, परन्तु कुछ अवस्था बढ़ने पर उनने प्रसन्नतापूर्वक भेंडी पत्नियों के साथ जीवन बिताया है। इन सब बातों के लिए परमेश्वर का धन्यवाद है। मनुष्य का भाव उन विशाल नदियों की तरह से है जो पृथ्वी को शोभित करती हैं। यह सुन्दरता के लिए प्रतीक्षा नहीं करता परन्तु अरुद्ध वेग से दौड़ता है और अपने साथ सुन्दरता लाता है।

स्वरूप की देवी सुन्दरता को उचित सम्मान के साथ प्रणाम है। मनुष्यों में, स्त्रियों में, बागों में, घरों में, यह सबसे अधिक विराजै। परन्तु हमको उस दूसरी सुन्दरता को भी प्यार करना चाहिए जिसका रहस्य देह की गठन नहीं है परन्तु गम्भीर मनुष्य सहानुभूति है। यदि सामर्थ्य है तो ऐसे देवता का चित्र खेंच दो जिसके आसमानी वस्त्र हों और चेहरे पर दैवी प्रकाश की आभा का मण्डल हो, ऐसी राधा का चित्र खेंच दो जो दैव भगवान् की प्रतीक्षा में हाथ धरे अपने सुकुमार मुख को सुखा रही है, परन्तु हम पर उन कल्पित नियमों को मत चलाओ जो उपन्यास या सुकुमार शिल्प के राज्य में से अपने काम से घसे हाथों से आलू उबालती हुई बुढ़ियाओं को, उन गोल पीठों और सब ऋतुओं को सहने वाले चेहरों को जिनने हल और कुदाली पर झुक-झुककर काम किया है, होली में थोड़ी-सी भांग पर मस्त गंवारों को, उन पीतल के बरतनों वाले घरों, मट्टी की हंडियों, लेंडीं कुत्तों, और प्याज के छिलकों को निकाल दें। इस जगत् में ऐसे सीधे-सादे भोंटे आदमी इतने अधिक हैं, जिनमें कृत्रिम उपन्यासों के लायक सहानुभूति नहीं है। उनके यहां होने को हम स्मरणी रक्खें यह अत्यन्त आवश्यक है। नहीं तो हम अपने धर्म और दर्शन में उनकी चर्चा बिलकुल छोड़ जाएंगे, और उच्च कल्पनाएं बना लेंगे जो केवल असम्भव जगत् में ही घटेंगी। इसलिए कल्पनामय उपन्यासों को चाहिए कि हमें सदा उनका स्मरण कराते रहें, इसलिए हमें ऐसे उपन्यास-लेखक चाहिए जो प्रेममय परिश्रम से इन साधारण वस्तुओं के सच्चे चित्रांकन करें, ऐसे मनुष्य जो इनमें सुन्दरता देखते हैं और जिनको यह दिखाने में आनन्द आता है कि स्वर्गीय प्रकाश इन सीधी वस्तुओं पर किसी तरह पड़ता है। संसार में बहुत कम महापुरुष होते हैं, बहुत कम परम सुन्दरी स्त्रियां होती हैं, बहुत कम वीर होते हैं। इन विरले असम्भवों को मैं अपना सम्पूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम और सम्पूर्ण सहानुभूति नहीं दे सकता, मेरे प्रेम के भाव का अधिकांश मुझे अपने प्रतिदिन के साथियों के लिए चाहिए, विशेषतः उनके लिए जो सदा मेरे पास हैं, जिनके चेहरे मैं जानता हूं, जिनके हाथ मैं छूता हूं और जिनके लिए अदब के साथ मुझे मार्ग छोड़ना पड़ता है। चमत्कारी ऐयार और अद्भुत हत्यारे अपनी रोटी आप खाने वाले स्वतन्त्र मजदूर से अधिक मिलते भी नहीं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि मुझ में स्नेह की एक तन्तु तो बचे जो मुझे उस मैले कपड़ों वाले भाई से मिलावे जो मेरी शक्कर तोलता है इसकी अपेक्षा कि मैं अपने स्नेह को ज़री की टोपी पहनने वाले कल्पित दगाबाज़ पर अपने भावों को 'भस्मनिहुतम्' करूं। यह आवश्यक है, मुझे पड़ोसियों के सुख-दुःख से सहानुभूति हो, और न उन कल्पित नायकों से जो कहासुनी में ही हैं अथवा जो आदर्श उपन्यास-लेखक के आदर्श ही हैं।[1] समझे ?

—वही चिट्ठी वाला

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक :** जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०]

प्रेरित पत्र

१. 'राजपूत महासभा' और 'राजपूत' के नाम पत्र

अखण्ड ऐश्वर्यं भूयात्—

यद्यपि हम ब्राह्मणों को स्वार्थी कहने में संसार की सब जातियां कम्पिटीशन कर रही हैं, तथापि लोग जानते हैं कि हमारी-सी निःस्वार्थ, नहीं नहीं, स्वार्थद्विट् जाति संसार में कोई नहीं है। और जगह तो aristocracy of talent विद्वानों की रईसी स्थापन करके पण्डित लोग सब से अधिक शक्ति और आराम के हकदार बनते हैं, किन्तु हमारा वेद जानना और महत्व इसी में समाप्त होता है कि संन्यासी हो जायं वा घास-पात खायं, किन्तु जगत् को अपने ज्ञान-भाण्डार का वारिस बनाएं। श्राद्ध में सब लोग पितरों से मांगते हैं कि हम किसी से भी न मांगें किन्तु हमने वह घृणित पेशा उदारता से अपने ऊपर ओढ़ लिया है। स्वार्थ से नहीं, किन्तु इस बुद्धि से कि संसार से कम-से-कम वेतन लेकर उसे अधिक-से-अधिक माल दें। जगत् में जो कुछ ज्ञान-भण्डार है वह हमारा ही दिया है। अब भी इस बुझी हुई ब्राह्मणाग्नि में से वह चिनगारियां निकलकर देशोपकार कर रही हैं जो और जातियों में सात जन्म से भी न हो।

किन्तु हमारा यह महत्व क्षत्रियों के भरोसे है। ममल है कि खूंटे के बल बछड़ा नाचे। हमारी चोटी-बेटी-रोटी-लंगोटी के बचाने वाले आप हैं, और हमारा-आपका सदा से सद्भाव रहा है। आप के राजर्षि जनक की हमने तास्सुब से जात बाहर नहीं किया

१. श्रीमती जार्ज इलियट की छाया, एडम बीड से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु उनसे ज्ञानोपदेश लिया। आपके भीष्म को हमने पितामह माना और आपके बड़ों को हमने अवतार मानकर पूजा और पुजाया। आपने भी धर्मसंकट में हमारी सहायता की है। आपके अर्जुन ने दीन ब्राह्मण की कुटी की रक्षा के लिए १२ वर्ष का वनवास सहा और भगवान् रामचन्द्र ब्राह्मणकुमार को अकाल मृत्यु के बचाने के लिए स्वयं तपस्वी को मार आये थे, आपके कोदण्ड के भरोसे हमारा वैणव-दण्ड है, आपके तरकस के भरोसे हमारे वेद हैं, और आपके अभय के भरोसे हमारी वाक्सिद्धि है। "विद्या ह वै ब्राह्मण-माजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेहमस्मि" किन्तु हमने वह प्रसाद सबको बांट दिया है। यद्यपि आप में से कई सज्जन धर्मभ्रष्ट हो गए हैं तथापि हम उन अन्नदाताओं को देखकर भी यही कहते हैं कि—

यही आस उरझयो रहै, अलि गुलाब के मूल।
ह्वै है बहुरि बसन्त पुनि, इन डारन के फूल।।

किन्तु धर्मावतार! 'स्वार्थान्धप्रकाशिका' नामक भ्रष्ट पुस्तक ने हमें बेतहाशा गालियां दी हैं, और आपके गुरुओं को हज़ारों पदों से भूषित किया है। कुछ लोग कहते हैं कि वह ग्रन्थ राजपूत महासभा ने बटवाया है, एक राजा ने छपवाया है। क्यों? आप मरों को मारने की बहादुरी लेते हैं? अपनी गौवों पर……? स्मरण रहे, ब्राह्मणों को जो आपने दिया है, वह अति तुच्छ है, उसे ब्राह्मण तैत्तिरीय संहिता की भांति आज ही फेंक सकते हैं, किन्तु ब्राह्मणों ने आपको जो दिया है उसीके बल आप आप हैं और उससे आप अलग नहीं हो सकते जब तक कि आप (मनुष्य जाति) मनुष्यत्व से इस्तीफा न दें। आपका जनेऊ, आप की वर्णमाला, आपके वेद सब हमारे दिये हैं। हमारी बपौती का हिस्सा तो ले चुके हैं, और अब हमें गालियां दिवाते हैं?

किन्तु नहीं, धर्मावतार! यह सब झूंठ है। आपका उस ग्रन्थ से सम्बन्ध नहीं है। हमारी जाति तो ऐसी आत्मविस्मृत हो गई है कि एक रुपये के लिए उसी पुस्तक पर संमति करती है और गालियां और धक्के खाती है! किन्तु इतने क्षत्रियों के जीते-जागते उनके गुरु ब्राह्मण यों गालियां खायं, यह क्या आपकी मूंछों को शोभा देता है। आपका कुठार आजकल हिन्दी-साहित्य पर चल रहा है, आप अपने कई बड़े आदमियों की निन्दा के ग्रन्थ जलवा चुके हैं, कृपा करके अपने गुरुओं के, अपने गुरु-पुत्रों के इस निन्दा-ग्रन्थ को भी जलवा दें, बहा दें, मिटा दें। संसार जाने तो कि क्षत्रिय अब भी गो-ब्राह्मण की रक्षा के लिए जीभ हिला सकते हैं, अब भी उनमें पुराना क्षत्रियत्व शेष है। इस कलंक-कथा का नाश करना क्षत्रियों का धर्म्म है। वही इस ग्रंथ पर जो उचित समझें सो करें नहीं तो, हम ब्राह्मणों का तो कौल ही है—"मज्जी मौलिरयं पतन्तु विपदस्तासां कृतं स्वागतम्।" जय श्रीकृष्ण!

आशीर्वादक
एक बी० ए० ब्राह्मण

कृपा करके सब समाचार-पत्र ब्राह्मणों की इस गुहार की नकल करें।

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०३]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. 'सरस्वती'-सम्पादक के नाम

सम्पादक महाशय !

सितम्बर की 'सरस्वती' में जो 'पृथ्वी' का लेख छपा है उसके विषय में आप इन पंक्तियों को स्थान दीजिए। यह लेख विवादग्रस्त विषय पर है। अभी तक कई धर्म संसार में विद्यमान हैं जो पृथ्वी को चपटी और स्थिर मानते हैं। विशेषतः आधुनिक सिद्धान्त हमारे जैन धर्म के बिलकुल विरुद्ध है। अतएव ऐसे विवादग्रस्त विषयों पर लेख नहीं छपने चाहिएं।

भवदीय—एक जैन

जैन महाशय के इस मत से हम सम्मत नहीं हैं। यही नहीं उनके मत के हम बिलकुल विरुद्ध हैं। यदि वे, या और कोई हिन्दी जानने वाले जैन 'दो चन्दा दुए सुज्जा' का वर्णन 'सरस्वती' में लिख भेजें तो हम कह सकते हैं कि उसके छापने में सम्पादक को कोई आपत्ति न होगी। विज्ञान की विराट् उन्नति में किसी धर्म का इज़ारा नहीं है तथा प्राचीन बातों को सिद्ध करने वा बचाने का उपाय उनका प्रकाशन है, न कि उनके विरुद्ध लेखों को रोकना। यों ही कई लोग 'नागरीप्रचारिणी सभा' को 'रमेशदत्त' के इतिहास का अनुवाद छपाने से रोकते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है। यदि रमेश बाबू का इतिहास दूषित है तो सच्चा इतिहास कहां है और कौन है? वह क्या दोषदर्शियों के सन्दूक में बन्द है? दूषित ग्रंथ के छपने पर तो उसका खण्डन भी हो सकता है, किन्तु उस ग्रंथ को छपने से रोकना बड़ी भारी भूल है। यदि वेवर साहब के ग्रंथ का भाषानुवाद न छपा होता तो पं० माधवप्रसाद उसका खण्डन कहां से करते? रमेश बाबू के इतिहास के विरोधी इस बात को भूलते हैं कि रमेश बाबू स्वदेशी हैं, उनके लेख को दूषित कहना भी जरा काम रखता है। ना० प्र० सभा को कोई आपत्ति न होगी यदि दत्त के इतिहास का खण्डन कोई छपा देता किन्तु इसलिए कि कुछ हठी लोग किसी ग्रंथ को बुरा समझें, उसे छापना ही नहीं वा उस विषय पर लिखना ही नहीं, यह कोई बात नहीं। विज्ञान हठधर्मी से नहीं चलता, चलता है खोज से, अध्यवसाय से।

समालोचक-सम्पादक

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक :** अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. 'समालोचक'-सम्पादक के नाम

[१]

सम्पादक महाशय,

सरकार गवर्मेन्ट प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध, देशोपकारी लोगों के मकानों पर स्मारक लगाना चाहती है। जयपुर के एक मेम्बर के प्रस्ताव पर 'नागरी प्रचारिणी-सभा' ने भारतेन्दु जी के स्थान पर स्मारक लगाने का यत्न करना विचारा है। काशी के विद्वानों से निवेदन है कि घरू लड़ाई छोड़ इस मौके पर १. श्री १०८ पंडित काका रामजी २. श्री १०८ गौड़स्वामी जी और श्री १०८ विशुद्धानन्दजी और ३. श्री १०८ बालशास्त्री जी के स्थानों पर स्मारक लगवावें। महामहोपाध्यायों की गुरुदक्षिणा का यह अच्छा अवसर है। उत्तर भारत के सभी विद्वान इनकी कृपा हैं, और उनका काशी में सरकार से स्मारक होना किसे इष्ट नहीं है ? क्या 'सुदर्शन' के सम्पादक इस काम में अग्रसर न होंगे ?

—काशी का एक हिन्दू

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

[२]

प्रिय सम्पादक महाशय, नमस्कार,

'श्री वेंकटेश्वर समाचार' कहता है कि डाक्टर गणेशप्रसाद को जाति से च्युत करना, कायस्थों की सच्ची जातीयता का, सच्चे स्वधर्म प्रेम का काम है। सम्पादक की जातीयता और धर्मनिष्ठा की परिभाषा जैसी श्लाघ्य है उससे मालूम होता है कि यदि कायस्थ लोग (कुछ पत्र-सम्पादकों के साथ) बम्बई में जहाज से उतरते ही डाक्टर साहब को समुद्र में ढकेल देते तो उनके लिए भगवान बैकुण्ठनाथ अपना आसन छोड़कर भाग जाते।

ब्रह्महत्या वा भ्रूणहत्या करके, गुरुपत्नी वा विधवागमन कर और न मालूम क्या-क्या पैशाचिक दुराचार करके मनुष्य जाति में रह सकता है। काले पानी में अपराधी हो, रहकर, लौटकर भी जाति से मिलता है। इसके सिवाय दुराचारी दाम्भिकों के रोब के रौरव में डूबा समाज यह नहीं पूछता कि, "उनके मुँह में कै दाँत हैं ?" डाक्टर गणेश प्रसाद ने क्या पाप किया है ? उनका कोई दोष है तो यही है कि उनने इस कृतघ्न देश में जन्म लिया, और जर्मन-पण्डितों में काली कायस्थ जाति का नाम किया। इस पाप पर पाप यह है कि उसे अभी अपने को 'भारतवासी' कहने की लत है वह इस दुष्ट जाति और नीच देश को 'तं देशं परिवर्जयेत्' नहीं कहता। इस पाप का यह प्रति-फल है।

जिस कायस्थ जाति में कोई मजलिस और भोज खुल्लमखुल्ला मद्यपान वा मांस-भोजन के बिना प्रायः नहीं होता सुना जाता, जो सुधारकों में आगे बढ़ती थी उसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बुढ़ियापुराण के रस्मों से लिपटना कैसा मालूम देता है। या वे भी इन वेतुके सम्पादकों की तरह आनन्द से गद्गद हो रहे हैं ?

मैं सिंह गर्जन से कहता हूं कि जिस दैवी वा पैशाचिक अधिकार से छपरे की सभा वाले डाक्टर गणेशप्रसाद को जाति से पृथक् करते हैं उस ही दैवी या पैशाचिक अधिकार से डाक्टर गणेशप्रसाद निर्दोष हैं, वे अपने गणित-ज्ञानाग्नि में उलटे उन धर्म-कीटों तक के पापों को भस्म कर सकते हैं।

—एक कायस्थ

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : जून-जुलाई, १९०४ ई०]

[३]

प्रिय महाशय,

बहुत दिनों से नीचे लिखे कवित्त को सुनता हूं परन्तु न मालूम अर्थ में क्या पेच है साफ-साफ नहीं खुलता। सम्भव है कि कहीं पर छन्द अशुद्ध हो या पाठ बदल गया हो। आपके पाठकों में से किसी की दृष्टि में यदि वह आया हो तो वे इसके कवि का नाम मूल पाठ और अर्थ कृपापूर्वक लिख भेजें जिससे मेरा सन्देह हटै।

कुम्भ से वदन बैन **मीन** से हमारे नैन,
देखत ही लेख **मेख** मन भटकायो है।
वृष हूके जरे पात, **मिथुन** हू जरायो गात,
करक और **नाहर** ने हार छिटकायो है।।
कन्या और **तुल** **वृश्चिक** में मिले जाय,
निर्धन हूको दान **धन** **मकर** मटकायो है।
होत जो निखालिस आवते हजार बार,
बैरन बसन्त नेरो कन्त अटकायो है।।

राजपूताना में बहुत लोगों के मुंह से यह टुकड़ा सुना गया है—

चित्त **चन्देरी** मन **मालवे** हिय **हाड़ौती** मांहि।[1]

परन्तु इसका दूसरा अर्ध कहीं नहीं मिला। क्या कोई आपके लोकोक्ति-प्रेमी पाठक इसे पूरा कर देंगे ?

आपका—भ्रमर

[प्रथम प्रकाशक : **समालोचक** : जनवरी-मार्च, १९०६ ई०]

---

१. पुराना तो कहीं सुना नहीं, परन्तु इसका यह नया अर्थ शायद 'भ्रमर' साहब को पसन्द आवै—

'पूंगल' प्रान सनेह 'सर' जीव 'जाबरे' जांहि।

—समा० सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. मिस्टर जैन वैद्य के नाम

प्रिय मिस्टर जैन वैद्य,

'वैश्योपकारक' ने और उसके आधार से 'भारत जीवन' ने मुझे 'समालोचक' का सम्पादक बतलाया है। अब, जब मैंने परतंत्र जीवन आरम्भ कर दिया है, ऐसे अन्यथा-वाद, चाहे वे 'समालोचक' के हितकारक ही क्यों न हों, नहीं चलने देने चाहिए। और यह भरम अधिक दिन नहीं रहते देना चाहिए। मैंने अपने नाम से, या बिना नाम से आपके सम्पादकों को, केवल दो-तीन लेख दिये थे। कृपा करके आप मेरे इस पत्र को प्रकाशित कर दें, जिससे लोग वास्तविक स्थिति को जान जायं और टक्करें न मारें।

भवदीय

श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी

४-११-०४[१]

[प्रथम प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सितम्बर, १९०४ ई०]

सम्पादकों के नाम

सम्पादक 'भारत मित्र' के नाम

(हिन्दी में ऋग्वेद)

श्रीयुत सम्पादक 'भारत मित्र', कलकत्ता।

आप क्या मुझे यह आज्ञा देंगे कि मैं आपके प्रतिष्ठ पत्र के द्वारा हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान 'ऋग्वेद' के एक बहुत अच्छे अनुवाद की ओर खींचूं।

पंजाब, मुलतानवी राय शिवनाथ साहब 'अहिताग्नि ऋग्वेद संहिता' का एक अति उत्तम संस्करण निकाल रहे हैं। इसे निकलते प्रायः तीन वर्ष से ऊपर हो गये। पहिले, महीने में मात्र एक संख्या निकलती थी, अब दो महीने में निकलती है। इसमें पहले प्रत्येक श्रुति का देवता और छन्द लिखकर मंत्र छपा होता है। उसके नीचे पद-पाठ, प्रत्येक शब्द का अर्थ और व्याकरण की विशेषता रहती है। उसके नीचे सरल संस्कृत में अर्थ देकर सरल हिन्दी में अनुवाद और व्याख्यान और कठिन विषयों पर टिप्पणियां दी जाती हैं। कर्म, विनियोग, इतिहास और तत्वों का विचार भी यथास्थान रहता है।

अब तक इसके ३८ अंक (१६६६ पृष्ठ) निकले हैं जिनमें 'ऋग्वेद' के प्रथम मण्डल के सूत्रों का व्याख्यान छप चुका है। वार्षिक मूल्य केवल दो रुपये है। प्रति वर्ष

१. लगता है 'समालोचक' का यह अंक 'नवम्बर' में छपा है। —सम्पा०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतनी थोड़ी रकम देने से साधारण लोग इस भाष्य के ग्राहक बहुत अच्छी तरह बन सकते हैं जिससे एक साथ बड़ी रकम देने का भार उन पर नहीं पड़े।

मेरे मत में ऐसा सरल और ऐसा विशद भाषानुवाद और कोई नहीं हुआ। इसमें किसी सम्प्रदाय-समाज की खेंच-खांच नहीं है, केवल शब्दार्थ और तत्वार्थ लिखा जाता है। हिन्दी के प्रेमियों को, संस्कृत के अनुरागियों को, हिन्दू-धर्म के अनुयायियों को, और भारतवर्ष के प्राचीन गौरव के भावुकों को, सबको ही आहिताग्नि शिवनाथ जी के इस पुरुषार्थ की सहायता करनी चाहिए। शंकर पण्डित तक के मराठी 'वेदार्थ यत्न' रमेशचन्द्र दत्त के 'ऋग्वेद' के बंगला अनुवाद के जोड़ का यह कार्य है। भेद इतना ही है कि इसमें साथ में नाद-पदार्थ संस्कृत में भी है जिससे इसकी उपयोगिता कई गुनी बढ़ गई है। यदि सर्वसाधारण सहायता करें और उत्तेजना दें तो वह 'वैदिक जीवन' भाष्य इतना धीरे न छपे।

इसमें सन्देह नहीं कि आहिताग्नि शिवनाथ जी और उनके सहायक न केवल हिन्दी भाषा के एक बड़े भारी अभाव को पूरा कर रहे हैं प्रत्युत हिन्दी भाषा के गौरव की ऊंचा कर रहे हैं इसके लिए सबको उनका कृतज्ञ होना चाहिए और कृतज्ञता का इससे अच्छा प्रमाण नहीं हो सकता कि सभी यथाशक्ति ग्राहक बनें जिससे उनको स्वयं भी स्वाध्याय का पुण्य हो और यह संस्करण भी प्रकाशित होता चला जाय। पत्र-व्यवहार—आवागमन वाली कोठी, मुलनान, पंजाब—के पते से किया जाना चाहिए।

श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी
अजमेर

[प्रथम प्रकाशन : भारत मित्र : शनिवार, माघ सुदी सं० १९६६]

२. सम्पादक 'अभ्युदय' के नाम

श्रीयुत सम्पादक 'अभ्युदय', प्रयाग

क्या आप मुझे कृपा करके यह आज्ञा देंगे कि मैं आपके प्रसिद्ध पत्र के द्वारा, मेरे उन कृपालु मित्रों को हृदय से धन्यवाद दूं कि जिनने अपने हृदय की उदारता से मेरे पितृ-वियोग के कारण दुःखावसर पर अपनी सहानुभूति प्रतिनिधि पत्र द्वारा प्रकाशित की। मेरे जीवन के इस परम दुःखमय अवसर में उनकी इस समवेदना का मैं बहुत ही उपकृत हूं, उनके आश्वासन-पत्रों ही ने मुझे मानो शोक-समुद्र से बांह पकड़कर उबारा है। मैं सबको पृथक्-पृथक् पत्र लिख रहा हूँ परन्तु सबके पास मेरे उत्तर भेजने में समय लगेगा।

श्री १०८ श्रीतात-चरणों के ब्रह्मलीन होने से मैं और मेरा परिवार ही छत्र रहित होने से दुखी हैं, ऐसा नहीं, प्रत्युत संस्कृतज्ञ और धर्मप्राण समाज-मात्र को उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभाव, अभाव जान पड़ता है। यह मेरी मन्द अवस्था में मेरे ऊपर होने वाली सहानुभूति की वर्षा से प्रतीत होता है। अतएव मुझे 'महाभारत' के एक श्लोकार्द्ध के अनुसार आश्वासन है कि—

'नं जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।'

हिन्दी सम्वाद-पत्रों के सम्पादकों को मैं कितना धन्यवाद दे दूं जिनने मेरी तुच्छ नगण्य सेवाओं के नाते मेरी इस विपद को अपना लिया और मुझे सान्त्वन किया। मैं सदा उनका कृतज्ञ रहूंगा। हाथ जोड़कर सबसे यही प्रार्थना है कि मुझ और मेरों पर सदा कृपा रक्खें और मुझे यह आशीर्वाद दें कि श्री १०८ श्री महाराज-सी पद्धति पर चलता रहकर उनका पुत्र कहलाने का पात्र बना रहूं।

—श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी

[प्रथम प्रकाशन : अभ्युदय : १९ फरवरी, १९११ ई०]

व्यक्तिगत पत्र

गुलेरी जी के पत्र

राजमाता श्रीमती चाँद कुँवर के नाम

[१]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर की कोठी,
मेयो कालेज, अजमेर
८.७.११

स्वस्ति। सर्वोपमा लायक परम कल्याण-भाजन राजश्री १०८ श्रीयुत बाईजी लाल राजश्री १०८ श्री चंद्रकुमारी जी की सेवा में शुभचिंतक चंद्रधर के अनेकों आशीर्वाद मालूम होवें।

अपरंच आपका कृपा-पत्र पंडितों की सूची के साथ मिला था। मैंने उसका उत्तर देना चाहा और जयपुर उस पत्र को अपने साथ ले गया परन्तु उसमें छोटे भंवरलाल जी के समाचार को पढ़कर चित्त इतना व्याकुल होता था कि कुछ उत्तर नहीं लिखा गया। परमेश्वर जले पर नमक छिड़कता है। हरि इच्छा। अब आपका दूसरा पत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी मिला और रुपये भी पहुंचे जिसके लिए विपुल धन्यवाद। यह मेरी अच्छी किस्मत है कि जिल्दें आपको पसंद आईं। मैंने यह एक नई चाल निकाली है। मैंने संस्कृत-महाभारत और महाभाष्य ऐसे ही बंधवाए हैं।

मैं अपने शरीर से प्रसन्न हूं। आपको सदा आशीर्वाद दिया करता हूं। मेरे कुटुम्ब का हाल भी कृपा करके सुन लीजिए। गतवर्ष मार्गशीर्ष वदि १४ को मेरे पूज्यपाद श्री १०८ श्री पिता जी महाराज का स्वर्गवास हो गया। जिस पर्वत की छाया में इतने वर्ष हम लोग बेखटके रहे थे वह मेरे सिर पर गिर गया। इसका शोक वजन में भारी था किंतु तीक्ष्णता में उतना नहीं था जितना मैं आठ महीने पहले भोग चुका था। पहला दुःख तो मानो लाखों बिच्छुओं और करोड़ों भालों के हृदय में चुभने का था जिसकी पीड़ा आज तक ताजा है और दूसरा दुःख सिर पर सिला के पड़ने का था जो घना होने पर भी धीरे-धीरे भूला जा रहा है। उसके पीछे मेरा एक, दो महीने का बालक जाता रहा जिस कारण उसकी माता की बहुत दुर्दशा हो गई। जीर्ण ज्वर और हड्डी का बुखार हो गया और प्रायः आशा छोड़ ही दी थी। परम मित्र वैद्य जी की कृपा से रोग तो हटा परन्तु उसके मन का हाल बहुत ही बुरा है। मैं दो महीने जयपुर रहा और उसे रोता ही देखा। आपकी कृपा से परमेश्वर का दिया एक बालक दो वर्ष का है परन्तु उसको धैर्य होता ही नहीं। श्री १०८ श्री पिताजी के वैकुण्ठवास के पीछे मेरी पूज्य श्री १०८ श्री माता को न मालूम क्या हो गया कि बैठे-बैठे सोये-सोये मूर्छा आ जाती है। अस्तु। जो कर्म-भोग है, भोगना पड़ेगा। मेरे व्यक्तिगत दुखों को आपने पूछा, इसके लिए मेरे आशीर्वाद और धन्यवाद। यह दुःख सब सहे जाते हैं और सहे जाएंगे।—जीते रहना है तो सब कुछ सहना है परन्तु वह दुःख जब स्मरण हो आता है तब चित्त अधीर होता है। उस दिन कैंडटकोर जाते हुए ठाकुर चिरंजीव दलपति सिंह जी ठाकुर बिसाऊ को लेकर मेरे घर जयपुर आये तो मैं उनके आने की ओर गाफिल हो गया। मेरा ध्यान उस जोड़ी की ओर गया जिसे मैंने अपने हाथों बड़ा किया।[1] दलपति जी के उत्तर में 'हाँ-हूँ' ही करता गया, उनसे बात न कर सका। परमेश्वर इच्छा...[2]

[२]

ॐ नमः शिवाय

श्री १०८ श्रीमती सौभाग्यवती परमं कल्याण भाजन बाई जी—

लाल श्री श्री श्री श्री श्री चाँद कंवर योग्य आशीर्वाद

आपका पत्र जो बारहठ मुरारीदान जी लाए, वह मैंने कैसे हृदय से पढ़ा यह लिख नहीं सकता। परमेश्वर की गति है कि आज यह समय आया कि इस विषय पर आप मुझे लिखें और मैं पत्थर का बनकर उसे सुनूं और पढ़ूं। किए हुए कर्मों का भोग

१. खेतड़ी-नरेश जयसिंह तथा उनकी बहिन सूर्यकुमारी

२. अगला भाग खण्डित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस समय आपका पत्र पढ़कर मैं इतना व्यग्र हूँ, कि ठीक-ठीक सोच नहीं सकता। रुपया मैंने अपने पास रख लिया है। इसको किस प्रकार पुण्य करना चाहिए यह मैं कल बारहठ मुरारीदान जी के हाथ लिखकर आपकी सेवा में भेज दूँगा जैसी आज्ञा होगी वैसे प्रबन्ध कर दूँगा। साथ ही एक संकल्प भी लिख भेजूँगा जिसे पढ़कर आप वार्षिक के दिन छोड़ कर संकल्प कर दें, जिससे दान शास्त्रीय रीति से हो जाय।

मेरे हृदय पर उस घटना का जिसकी आपने चर्चा की है क्या प्रभाव पड़ा हुआ है यह परमेश्वर जानता है और मेरी आत्मा जानती है। परमेश्वर आप दोनों बहिनों को सदा चिरंजीवी तथा प्रसन्न रखे जिससे मुझे शांति मिलती रहे।

आपका शुभचिन्तक और नम्र सेवक
श्रीचन्द्रधर

[३]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन, मेयो कालेज,
अजमेर
मार्च १५, १९१६

···महाराजकुमार साहब शाहपुरा से मैं स्वामी विवेकानन्द जी के ग्रन्थों के छपवाने के विषय में बहुत आग्रह शीघ्रता के लिए कर रहा हूँ। उनने जो विचार मुझसे प्रकट किये हैं उनसे जान पड़ता है कि, वे भी इस विषय में उदासीन नहीं हैं, अब जो प्रबन्ध मैंने किया है, उसमें दो वर्ष में यह सारा काम पूरा हो जायगा और संभव है कि एक जिल्द इसी वर्ष के भीतर प्रकाशित हो जाय। मैं इस विषय में उदासीन नहीं हूँ और महाराजकुमार भी मेरे परामर्श पर चल रहे हैं, इसलिए विलंब तो हुआ, पर कोई चिन्ता की बात नहीं है।

···मेरा परिवार ठीक ठीक चल रहा है। फाल्गुन शुदि ३ सोमवार को मैंने बालक[१] का यज्ञोपवीत संस्कार कर लिया है, सामयिक संकोच के कारण मैंने केवल शास्त्रीय संस्कार कर लिया है, कुछ विस्तार नहीं किया। इसीलिए देश में या जयपुर में न जाकर अजमेर ही में कर लिया है, तो भी प्रायः २५०) व्यय हुआ है।

मार्गशीर्ष में कन्या का विवाह करने का विचार है जिसका प्रबंध कर रहा हूँ, परमेश्वर करे कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाय।

श्रीचन्द्रधर शर्मा

---

१. ज्येष्ठ पुत्र योगा (योगेश्वर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं० दीनदयालु जी शर्मा के नाम

ॐ नमः शिवाय

अजमेर
३.१२.०६

प्रणाम,

श्रीमान् का कृपापत्र ता० ११ नवम्बर का मिला। प्रसन्नता हुई। आशा है अब चिरंजीव हरिहरस्वरूप जी सुप्रसन्न होंगे।

विद्यासागर जी को पंजाब शिक्षा-विभाग ने फिर अमृतसर बुला लिया है। परमेश्वर करे वे शीघ्र पक्की तौर पर यहाँ आवें। उनके बिना अंधकार है।

आप कलकत्ते पधारेंगे ?

मेरे ऊपर जो कृपा है, बनी रहै। सदा अपना जन समझें और जो सेवा उचित जान पड़े, आज्ञा करें।

श्रीमान् ने मेरे नाम के आगे 'एम०ए०' और 'शास्त्री' लगा दिया है। पहले पद को मैं आशीर्वाद मानता हूं, जो परीक्षा से पाँच-छै मास पूर्व ही आपके मुख से निकल गया। दूसरे में···आशीर्वाद से कुछ अधिकता है, क्योंकि आपके···विद्यापारा बना दिया, तब केनगण्यो गणेशः ?"

गुप्त जी मिलें तो मेरा शुभाशीर्वाद कह दें। कभी-कभी उनकी दिल्लगी गजब कर जाती है। दशहरे पर उनने (द)रभङ्गे में श्रीचरणों का मछलियों पर व्याख्यान होना लिखा था। अभी उस दिन मुजफ्फरपुर निवासी एक सज्जन मुझसे···उस घटना को अक्षरशः सत्य···

कृपा पात्र
श्रीचंद्रधर शर्म्मा

विद्याभूषण पं० हरिनारायण पुरोहित के नाम

[१]

ॐ नमः शिवाय

खेतड़ी भवन, आबू
१९.६.०६

माननीय प्रिय सुहृद्वर और विद्वद्रत्न, प्रणाम।

आपका कृपापत्र मुझको यहाँ मिला। पढ़कर मुझे बड़ा हर्ष हुआ। वह पुरुष नितांत अभागा है जिसे कुमार्ग से बचाने और सुमार्ग पर चलानेवाले "पापेन्निवारयति योजयते हिताय" मित्र न हों, और वह पुरुष उससे भी अधिक अभागा है जो हित-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिंतक मित्रों के उपदेश को बुरा मानकर चिढ़ूँ। आपको उस पत्र के अमृतमय उपदेशों के लिए इष्ट धन्यवाद यदि मैं दूँ तो वह लोकाचार माना जाय, इससे "अहं वेद्मि महात्मनं रामं सत्यपराक्रमम्" और 'संति संतः कियन्तः" कहकर ही चुप होता हूँ।

मेरे पास न वह वचनचातुरी है, और न वह लेखमाधुरी है जिससे आपकी अनुकरणीय शैली का पथिक बन सकूँ। तो भी जो वक्तव्य है वह सरल भाषा में उपस्थित किया जाता है।

"राक्षसी अक्षरों" वाली बात का मैं कायल हूँ।[1] परंतु उस पत्र के वाहक सुलतान खाँ जी 'पाए रकाब' थे जब कि वह पत्र लिखा जा रहा था। मैंने हरिश्चंद्र का अनुकरण करके यह घसीट नहीं पकड़ी। यह दुरुपाय वे लोग करते हैं जो जिनके वर्ण सुरूप नहीं होते और जो इस मिस पंडितमन्य बनते हैं और आपके से सुडौल अक्षरों को देखकर मन ही मन कुढ़ते हैं। परंतु यह आपकी शिक्षा 'शिरसा गृहीत' और अनुसरणीय है।

आपने जो मेरे को महत्वपूर्ण बातों से फुलाना चाहा है उसका मैं कृतज्ञ ही नहीं प्रत्युत विस्मित होकर शाकी हूँ। यदि आप अति स्नेह के चश्मे से मुझे न देखते तो मैं इतना अच्छा नहीं दीखता। परंतु यह तो आपके पत्र को पढ़कर "भिद्यते हृदयग्रंथिः" हुआ कि "काचमूल्येन विक्रीतो हंत चिंतामणिर्मया"। पश्चात्ताप भी होता है, विस्मय भी होता है, परंतु—

"करो कोउ लाखँ करैया कोउ और है"

न मालूम उस जगन्नाटक सूत्राधार को क्यों मेरे को इस प्रपंच में डालकर मार्गच्युत करना था? अब मेरा यह तो दृढ़ विचार है कि एम० ए० की उपाधि अवश्य पाऊँ, परमेश्वर ने चाहा तो आपके आशीर्वाद से १९०७ में सफल हो जाऊँगा। सिविल सर्विस के लिए व्यय पास नहीं और सात वर्ष विलायत निवास की सब्र नहीं; रुड़की इंजीनियरी के लिये पाँच वर्ष व्यतीत करने की ताब नहीं और न मालूम जगदीश्वर को क्या इष्ट है? रजवाड़े में जन्म और एक झाड़शाही कालेज में (God save the monk) पढ़ने का फल है कि गवर्नमेंट की नौकरी नहीं मिल सकती। अतएव यथा कथंचित् चांस लेते हुए इधर ही टक्करें मारना पड़ती हैं।

जिस देश और जिस राज्य में गुण नहीं, किंतु पश्चाद् द्वार ही उन्नति के उपाय की पहचान की चुनावट है, जहाँ मस्तिष्क और मन से संपन्न होना बड़ा भारी दोष है, और उनसे शून्य होना जहाँ के संसार की दृष्टि में योग्यता का पास है, जिस शासन में उच्च विचार और सद्भाव बट्टे से चलते हैं और जहाँ स्वाधीनता और स्वयंसिद्धता दुद्कारी जाती है, वहाँ रहकर उच्च पद की आशा में हिंदी की या देश की सेवा को "बालाय ताक" यह सोचकर रख देना कि फिर 'घणी ही हो जाशी'—मेरे मत में पानी बह जाने के पीछे बंध बाँधने की आशा के समान है। "देवाल्लब्धं यदेकेन तन्ममापि भविष्यति"। मैं समझता हूँ कि आशापिशाचिका की प्रवंचना से (जब) हिंदी भाषा की

१. 'बेसिर की हिंदी' शीर्षक लेख : देखें प्रस्तुत ग्रंथ, पृ० १८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवा की उत्कट ज्वाला और स्वदेशहितैषिता के प्रबला (नल) की ज्योति, जिनको आपकी कृपा से यह शार्ट साइटेड नेत्र कुछ कुछ देख सकते हैं, कुछ दिनों में दूर हो जायँगी और The light that failed फिर इन नेत्रों के पथ से 'यतो वाचो निवर्तन्ते' हो जायगी और मुझे पंचतंत्र के गोमायु की तरह कहना पड़ेगा—

शिथिलौ च सुबुद्धौ च पततरः पततो न वा ।
निरीक्षितौ मया भद्रे ! दश वर्षाणि पंच च ।।

फिर कहीं अधिक भस्म में रहने से अग्नि बुझ ही जाय, या मैं लक्ष्यभ्रष्ट हो जाऊँ।

अतएव लगे हाथों जो हो जाय वही गनीमत है, नहीं तो पीछे "मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयं" और बणजारे के बैल की तरह गंगा या गढ़ गिरनार न जाने का पश्चात्ताप रह सकता है। अवश्य आपकी आज्ञा शिरोधार्य है कि संपादक उपपादक के जलबुद्बुदोपम यश के लिए लक्ष्य और सांसारिक विजयाशा नहीं भूलनी चाहिए। मैं भी यह मानता रहूँगा। परंतु मैं आशा करता हूँ कि आप मुझे यह आज्ञा देंगे कि नरकोपम राजसेवा और Put not your trust in princes (Bible) के अंधकार में जो यह क्षण भर का अमृतमय दिलबहलाव का, स्वर्गीय आमोद का सुखमय प्रकाश है, उसे मैं यथावकाश सेता रहूँ जिससे जमीन के नीचे खोदनेवाले mole की तरह आँखें न फूट जायँ।

"जब लग साँसा काय में, तब लग बीन बजाय।
बीन बिचारी क्या करै, (जब) चलै बजावनहार ?"

चंद्रधर

आज्ञा और उपदेश लिखें

[२]

Mayo College, Ajmer
The २.३.१९१९

प्रणाम,

१. बिहारी का कुछ समाचार मिला कि नहीं ? अब तो जल्दी ही कुछ भेजिए। बहुत समय गया।
२. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में 'बिहारी बिहार' पढ़ा होगा, कहिए, आपकी राय क्या है ?
३. मिर्ज़ा राजा जयसिंहजी की जन्म, गद्दी बैठने और मृत्यु की तिथि, संवत् आदि ठीक-ठीक लिख भेजिए।
४. शिवप्रसाद जी के लिए क्या किया ?
५. ओझाजी अलवर से लौट आए हैं।

आपका
श्रीचन्द्रधर शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[३]

Jaipur House Mayo College,
Ajmer
Jan 8/91

My dear Purohit ji Maharj,

I arrived here safe and sound.

Pandit Gourishankarji Ojha will soon send you a copy of his Prachin-lipimala with compliments. He will also send to Chaube Bishweshwarnath ji. Please imform him also

Ojha ji is will leave for Alwar this weak and will return by the end of Feburary. In his way back he will stop for a day or two with you at Jaipur.

Please remember about my request about for information ragarding Behari. I have just heard that Behari worte a book named Behari Behar in dohas in which he gives an account of his waderings etc. in the first person. Could you please trace it out? Also please try to get the complete जयसिंह प्रकाश of which I have got the first 19 Cantos.

With best regards,

Yours Sincerely,
Chandradhar Guleri
C.G.

My प्रार्थना about Shiva-prsadji स्मर्तव्या

[४]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन, मेयो कालेज, अजमेर
१७-१-२०

प्रियवर, प्रणाम।

पहला अंक प्रेस में जाने को ही है। आप कुछ भेजिए न। लगातार लिखते रहिए। मेरे पास आपके २.लेख तथा ४ नोट रिजर्व फण्ड चाहिए। अब टालमटोल नहीं।

आपका
श्रीचन्द्रधर शर्मा

[५]

प्रिय मित्रवर, प्रणाम।

यह लीजिए। अब तो लिखिए। प्रथम अंक के लिए बोहनी कराइए। किसी राजा या कवि का समय निर्णय, किसी दादू के शिष्य का अज्ञात समाचार, कुछ तो भेजिए। कोई बात नई दीजिए। पत्र को बिलकुल ओरिजिनल करना चाहते हैं। आपका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक लेख प्रति अंक में चाहते हैं। मासिर उल उमरा की क्या ठानी। अकबर कब तक ? अब रुण्डमाला नहीं है।

आपका कृपापात्र
श्री चन्द्रधर शर्मा
२७-७-२०

[६]

नमस्कार।

इसका पूरा पता लगाकर दीजिए। पत्रिका की पहली संख्या मिली होगी। कुछ मन भाई ? लेख कब तक ?

दूसरा अंक प्रेस में गया। तीसरे में नाम अनाम आपका लेख न आया तो अच्छा न होगा। आप खूब हैं पहले तो वे बातें और अब यों ?

आपका
श्रीचन्द्रधर

[७]

ॐ नमः शिवाय

अजमेर
३०-७-२०

नमस्कार।

इतना सा पता देकर पिंड न छूटेगा। हर की पैड़ी तथा उसके कर्ताओं का पूरा-पूरा वृत्तान्त, संवत्, कुर्सीनामा, व्यय का ब्यौरा सब भेजिए जिससे पूरा नोट बन जाय। और जल्दी दीजिए।

पत्रिका आ गई होगी या आती होगी। ३) वालों को मिलती है। जी हां। जेठ ही के भरोसे बेटी जाई है। जेठ जी की नीयत में अब फ़र्क हो जाय तो बात दूसरी है।

चूर्मा तो आप उड़ाते हैं यहां तो उबले हुए आलू और दलिया खानेवालों का राज है। पाँचों घी में जहां होती हैं वहां सिर कढ़ाही में हो जाता है। इससे ही तो मैं खांड गलने और कढ़ाही चढ़ने के देश से किनारा कसे रहता हूं। बजा फरमाया। गोड़े छातियों को ही नँवते हैं। भला क्या कहने—

अमीषां मण्डला भोगः स्तनानामिव राजते। आसमुद्रकर ग्राही राजा व्यत्र करप्रदः। ऐसे 'समथ्थ' हम कहां कि कंचन और इस आपकी चीज पर 'हथ्थ' न पसारें। मजाक दूर, यदि ४५०) दिलवा दें तथा Loan पर ले लें तो छातियों की सेवा के लिए हाज़िर हैं। बुला लीजिए।

लेख बखशिए, बहुत तरसाते हो।

विनत
श्रीचन्द्रधर शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[८]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन, मेयो कालेज, अजमेर
५-६-२०

नमस्कार।

अब तो तेल देख लिया, तेल की धार देख ली। याने पत्रिका का अंक मिल गया होगा। अब तो पसीजिए।

कसहु न दीन पर द्रबहु उमावर।

लिखो, भेजो।

आपका
श्रीचन्द्रधर शर्मा

[९]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन, मेयो कालेज
अजमेर
२५.११.२०

मित्रवर विद्याभूषण जी, प्रणाम।

कृपा कार्ड मिला। सभा तथा पाठशाला के वार्षिकोत्सव का हाल सुन लिया था। कंवर साहब को बधाई। आपको भी। दो प्रति चिट्ठे की मिलीं। सलाह यही है कि बड़ा अच्छा काम है। किए जाइए। हाई स्कूल हो गया।[1] बड़ा अच्छा हुआ। आवश्यकता थी, रटाई के साथ कुछ कवायद भी कराते जाइए। पार पड़ेगी। सरकारी सहायता अवश्य लीजिए और लड़कर लीजिए। चारण महाशय[2] के बारे में हम पहले ही फरमा चुके हैं। रुपए दस हजार दिलवाइए। पत्रिका के बारे में आप केवल कहकर टालना चाहते हैं। ऐसी लफ्फाजी की दमपट्टी में मैं नहीं आनेवाला हूँ। ये वो नशे नहीं हैं जिन्हें तुर्शी उतार दे। जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले, जबरदस्त मारे और हाय न करने दे। भला कोई बात है? शिकार के बखत दुम दबाते हो? सैल्फ गवर्नमेंट के वक्त नान-कोआपरेशन करते हो। अब खीसा फटने के दिन गए फिर कहता हूँ कि मान जाओ, रास्ते पर आओ। सीधी बातें करो। हमें फंसाकर तमाशा मत देखो। नहीं तो गुस्ताखी माफ, हम गोद में बैठकर दाढ़ी खेंचनेवाले हैं, इतनी कंजूसी अच्छी नहीं। कुछ दे दो, मेलाखर्ची दे दिया करो। हम कोरी प्रशंसा और बातों में भूलनेवाले नहीं हैं। लेकर छोड़ेंगे। फिर कहता हूँ, मान जाओ, लाओ अंटी ढीली करो। सीधी उँगलियों से ही घी निकल गया तो ठीक, बासनी का मुँह खोलो और अकबरी मोहरें गिन दो।

१. जयपुर कीपारीक पाठशाला हाई स्कूल।

२. हणूतिया के बालाबख्श जी चारण जिनकी दी हुई धनराशि से ना०प्र० सभा द्वारा 'बालाबख्श राजपूत चारण ग्रंथमाला' शुरू की गई। सं०—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाँ, साँगानेर वाले पुरोहित जी के महजरनामे और नए पंचायती समझौते को पढ़ने की इच्छा है। कँवर साहिब से कह दीजिए कि बिना वी० पी० के भेज देवें।

अब सीधी बातें कीजिएगा, लेख लाइए—सीधे हाथ से।

आपका
चंद्रधर शर्मा

[१०]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन,
मेयो कालेज,
अजमेर
३.१२.२०

सविनय नमस्कार।

पत्र मिला। सारस्वत के लिए धन्यवाद। अच्छा सम्पादन किया। यदि असली मिल जाय तो फोटो छपवाइएगा। नव्वे करोड़ वाली गप को छोड़कर बड़े मजे की चीज है।

गोत्रावली और पारीखों का इतिहास जल्दी बनाइए। शास्त्रीय प्रमाण कुछ पिछले पुराणों में हो सकते हैं। गोत्रों के नाम जो आपके यहाँ ख्यातों में हों वे गोत्र प्रवर निबंध से 'चेक' किए जा सकते हैं। ज्यादा इतिहास तो आधुनिक ही होगा। आपके राव और भाटों के संग्रह को छानकर एक खाका बना लीजिए फिर शास्त्रीय प्रमाणों से खाका भरिएगा।

जितना समय ऐसे लच्छेदार पत्रों में जाता है उसमें लेख लिखे जा सकते हैं।

आपका
'जे कहुँ माँगन जाहिं'
श्रीचंद्रधर शर्मा

[११]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन, मेयो कालेज
अजमेर
१.३.२१

नमस्कार।

बातें तो मुझसे तथा ओझा जी महाराज से बहुत बनाईं किंतु अभी चूहा भी नहीं पैदा किया—

"रात भर चिल्लाई और जना एक भी नहीं।"

× × ×

"दाता से सूम भला जो तुरन्त दे जवाब।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितनी कहावतें कहता जाऊँ? 'नंगे के सामने से हटी, वह कहता है मुझसे डरी।' 'बच्चे गोदी में बैठकर दाढ़ी खेंचा करते हैं और बिना मेलाखर्ची लिए टलते नहीं।' 'वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।' उत्तरार्द्ध इसका है ही नहीं। खैर, 'लात खाय पुचकारिए होय दुधारू धेनु।' 'माजी हो गए तो क्या हुआ, अभी हैं तो पन्द्रह ही बरस के न'। इससे माफी दी जाय। हिस्टॉरिकल सोसाइटी क्या खोलोगे जो खुली हुई है उसी को चला लो। Accounts में यह मि० रामगोपाल कौन गए हैं?

चारण महाशय का क्या हुआ?

श्रीचन्द्रधर शर्मा

[१२]

जयपुर भवन, मेयो कालेज
अजमेर
जनवरी ७/२१

प्रियवर, प्रणाम।

नए वर्ष की शुभकांक्षाओं के लिए धन्यवाद आपको चक्रवृद्धि ब्याज सहित। आपके पत्र का उत्तर क्या लिखूँ, मन के लड्डुओं की मिठाई का शास्त्रार्थ क्यों! यह नहीं और वह नहीं, यों नहीं और त्यों नहीं—खुदा के लिए एक कर डालो न! 'वंशभास्कर' ऐतिहासिक महत्व की वस्तु नहीं है। भवतु जयपुर आकर बहस करूँगा। जो कुछ लिखना है खुदा के लिए लिखकर भिखारी की झोली में डाल दो, तब पूछना कि कैसा है, और चाहिए, वगैरह वगैरह। चारण महाशय के आते ही नकदुल्ला उसके पास से निकलवा लीजिए।

आपका क्षमापात्र
श्रीचन्द्रधर शर्मा

कामताप्रसाद 'गुरु' के नाम

[१]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन, मेयो कालेज
अजमेर
१३.११.२०

प्रियवर कामताप्रसादजी, नमस्कार,

कृपा-पत्र यथासमय आया था। घर में प्रकृति अधिक अस्वस्थ होने से उत्तर न दे सका। क्षमा कीजियेगा।

(१) प्राकृत तथा अपभ्रंश की विभक्तियों का विवेचन लिख भेजा है।

(२) संस्कृतं प्राकृतं चैव शू (शौ) रसनी तदुद्भवा।
ततोऽपि मागधी तद्वत् पैशाची देशजेति यत्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह श्लोक पुराना है। कहीं-कहीं पाठान्तर भी है। मैं इसे काश्मीरी कवि यङ्ख के 'श्रीकंठचरित' की जोनराजकृत टीका से उद्धृत करता हूँ (काव्यमाला संस्करण पृष्ठ ३४०)। 'षड्भाषा चन्द्रिका' नामक एक व्याकरण प्रसिद्ध है। षड्भाषा का तमाशा देखना हो, तो सन् १९१९ के सितम्बर से दिसम्बर तक के किसी 'प्रतिभा' के अंक में "जलहंस का जाल" नामक लेख पढ़ लीजियेगा।

संस्कृत		प्राकृत	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
नरः	नराः	नरो	नरा
एषः	एते	एसो एए	एए
अग्निः	अग्नयः	अग्गी, अग्गि	अग्गउ, अग्गओ अगिणो अग्गी
साधुः	साधवः	साहू, साहुं	साहवो, साहओ साहउ, साहू, साहुणो
पिता	पितरः	पिआ, पिअरो,	पिअरा
भर्ता	भर्तारः	भत्ता, भत्तारो,	भत्तू, भत्तुणो, भत्तउ, भत्तओ, भत्तारा, भत्तारो
राजा	राजानः	राया, रायाणो	राया, रायाणो, राइणो
सर्वः	सर्वे	सव्वो	सव्वे
माला	मालाः	माला	माला, मालाओ, मालाउ
बुद्धिः	बुद्धयः	बुद्धो	बुद्धी, बुद्धीओ, बुद्धीउ
धेनुः	धेनवः	धेणू	धेणू, धेणूओ, धेणूउ
गौरी	गौर्यः	गोरी	गोरीआ, गोरी, गोरीओ, गोरीउ,
माता	मातरः	माआ, माअरा	मामाउ, माआओ, माअराउ, माअराओ
पंकजं	पंकजानि	पंकअं	पंकयाइं, पंकयाणि, पंकयाइँ
दधि	दधीनि	दहि, दहिं	दहीइं दहीणी
मधु	मधूनि	महु, महुं	महूइं, महूणि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकृत		मागधी	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
पुरुषः	पुरुषाः	पुलिशे	
एषः	एते	ऐशे	

अपभ्रंश

ढोल्ला (प्राकृत ढोल्लो होता)
दहमुहु (प्राकृत दहमुहो होता)
रेह (प्राकृत रेहा—रेखा होता)
अंगु (प्राकृत अंगं होता)
कमलइँ (प्राकृत कमलाइं या कमलाणि होता)
खग्ग (प्राकृत खग्गा—खङ्गः होता)

(१) अपभ्रंश में प्रथमा के अंत में "उ" का प्रयोग बढ़कर "अ" का ही चल पड़ा। प्रथमा द्वितीया में भेद पीछे नहीं रह गया।

एकवचन बहुवचन का भेद भी नहीं रह गया।

(२) अपभ्रंश के उदाहरण

एकवचन	बहुवचन (कहीं कहीं)	
माण, नर, संजम	पावभर, पाणि (पापभराः) प्राणिनः	पु.
	रिउ बहुअ (रिपवः बहवः)	
जीह, जीहा, लहरि	अंगुलिउ जज्जरिआओ (अंगुल्यः) (जर्ज्जरिताः)	स्त्री.
दमणु, दुवारु, चरित्तु, जम्मु इन्दिय, नयण लोअणइं पञ्चई		नपुंसक

(३) रामो का सहज छंद जो संभव है कि प्रक्षिप्त न हो—

(क) किसनदीप दीपायनह कही रिषी सब बत्त।
जु कछु सरापसु उद्धर्यो परनराज गुरु गत्त॥
(पृ. ३१)

(ख) बग्ग-मग्ग गोपिक गमन कंध अरोहन मग्न।
द्रुम द्रुम बल्लिन अलिन अलि हरि पुच्छन अछि लग्ग।
(पृ. २२६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अअभ्रंश कविता—

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण से—

(क)

(i) अङ्गहिं अंगु न मिलिउ हलि अहरे अह रु न पत्तु
पिअ जो अन्ति हे मुह कमलु एम्वइ सुरउ समन्तु ।।

(ii) ब्रास (व्यास) महारिसि एऊ भराई ज्इ सुइसन्थु पमाणु ।
मायहं चलण नवन्ताहं दिवि दिवि गङ्गाण्हाणु ।।

(iii) अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु बाएँ सीअलु तेवं ।
जो पण अग्गिं सीअला तसु उण्हत्तणु केव ?

(ख) प्रबन्ध चिन्तामणि से जो सं. १३६१ में बन चुकी थी—

(i) सायर खाई लङ्कगढ़ गढ़वई दस सिर राउ ।
भाग्गक्खय सो भञ्जि गउ मुँजम करि बिसाउ ।।

(ii) जा मति पाछे उपज्जइ सा मति पहिली होइ ।
मुञ्ज भणइ मुणाल वह विघन न वेढई कोई ।।

(iii) झाली तुट्टी किं न मुअउ किं न भयउ छारपुञ्ज ।
हिंडई डोगे बंधियउ जिमि मक्कड तिमि मुञ्ज ।।

(ग) महेश्वरसूरि की 'संजममंजरी' से जो सम्भवतः सम्वत् १३६५ में जीवित था प्रति सं. १३६१ की लिखी है—

(i) पर रमणी जे रूपभरि पिक्खिवि जे बिहसंति ।
रागनिबन्धण ते नयण जिण जम्मवि न हु हुंति ।।

(ii) इक्किनि इंदिय मुक्विलिण लब्भइ दुःख सहस्स ।
जसु पुण पंचइ मुक्कला कह कुसलत्तणु तस्स ।।

(४) यावनी शब्द एक तो नीच अर्थ में आता है, दूसरे यावनी का अर्थ ग्रीक है, तुर्की, फारसी, अरबी है ही नहीं अतएव मैं तो यही कहूंगा कि यह काम में न लाया जाय ।

विलंब के लिए क्षमा माँगता हूँ ।

आपका
श्रीचन्द्रधर शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[२]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन
मेयो कालेज, अजमेर

प्रिय कामताप्रसादजी,

नमस्कार।

कृपा-पत्र यथा-समय आया था। घर में प्रकृति अस्वस्थ होने से उत्तर न दे सका। क्षमा कीजिएगा।

१. प्राकृत तथा अपभ्रंश की विभक्तियों का विवेचन लिख भेजा है।

२. संस्कृतं प्राकृतं चैव शू (शौ)रसेनी तदुद्भवा।
ततोऽपि मागधी तद्वत् पैशाची देशजेति यत्॥

यह श्लोक पुराना है। कहीं-कहीं पाठान्तर भी है। मैं इसे काश्मीरी कवि मंख के 'श्रीकंठचरित' की जोनराज कृत टीका से उद्धृत करता हूँ (काव्यमाला-संस्करण, पृ० ३४०)। 'षड्भाषाचन्द्रिका' नामक एक व्याकरण प्रसिद्ध है। षड्भाषा का तमाशा देखना हो, तो सन् १९१९ ई० के नवम्बर की 'प्रतिभा' पत्रिका के अंक में 'जल्हण का जाल' नामक मेरा लेख पढ़ लीजिएगा। संस्कृत, प्राकृत, मागधी और अपभ्रंश में प्रथमा के भेद-प्रभेद पृथक् से हैं। अपभ्रंश में प्रथमा के अंत में 'उ' का प्रयोग बढ़कर 'अ' का ही चल पड़ा। एकवचन-बहुवचन का भेद नहीं रह गया।

३. रासो का सहज छंद, जो सम्भव है कि प्रक्षिप्त न हो :

(क) किसन दीप दीपायनह, कही रिषी सब बत्त।
जु कुछ सरायसु उद्धर्यो परनराज गुरु गत्त॥
(पृष्ठ ३१ + २२६)

(ख) अपभ्रंश-कविता हेमचंद्र के प्राकृत-व्याकरण से तीन श्लोकों में स्पष्ट है और 'प्रबंध चिंतामणि' में भी, जो सं० १३६१ वि० में बन चुकी थी।

(ग) महेश्वर सूरी के भी दो उदाहरण हैं (जो सम्भवतः संवत् १३६५ में जीवित था। 'संजयमंजरी' में। प्रति संवत् १३६१ की लिखी है।

(घ) 'यावनी' शब्द एक तो नीच अर्थ में आता है, दूसरे यावनी का अर्थ ग्रीक है, तुर्की, फारसी, अरबी है ही नहीं। अतएव, मैं तो यही कहूँगा कि यह काम में न लाया जाय।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरस्वती-सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम

[१]

"My dear Sir,

I am sending back the article today. I have given the names to the illustrations and given a brief letter press for each of them. I have indicated their place by the paging of my M. S.

I would never have said anything on the verbal and other changes of expression you have made, but as I chance to see that whole pages of my M. S. have been struck off, I cannot but sigh deeply. My dear Sir, the ommission which you were to do in two or three places will spoil the whole article. As far as I see, they are relevant, true and intelligible and I cannot find any reason why you should omit these parts. I am deeply concerned that you will please see your way to publish my essay intact. The passages in page 2, 36, 39, 40, 41, 44, 45 should never be expunged. The remaining extracts without them seem not clear and out of the place. Infact I would insist upon, my article not being shearing-off its parts. The request, I hope, would not go unheeded.

I think I wrote to you for about 40 prints of my essay, did I not ? Mr. Jain Vaidya wrote to me the othar day that he would take more, and if the Press would have no objection, I would have 100 copies of the reprint. Would the Press let me know of the estimated cost ?

I sent you a short note on घण्टाघर the other day to your village address. Let me know what you think of it ?

When may I hear that the Royal Ukose (Russian decrce) for shearing of my article has been recalled ? How long are you to remain in Cawnpur ?

Reply please.

Sd—
Chandradhar Guleri."

[मान्यवर,

मैं आज लेख लौटा रहा हूं। मैंने चित्रों के नाम लिख दिए गए हैं। साथ ही हर चित्र के विषय में संक्षिप्त चित्र-टीका भी दे दी है। मैंने अपनी पाण्डुलिपि पर पृष्ठांकन करके इन चित्रों के स्थानों का निर्देश भी कर दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपने क्रिया तथा अभिव्यंजना विषयक जो परिवर्तन किए हैं, मैं उनके विषय में कुछ नहीं कहता परन्तु जब मुझे अनायास ही पाण्डुलिपि के कुछ पूरे-के-पूरे पृष्ठ काटे हुए दिखाई दिए तब मैं मात्र निःश्वास भरकर ही रह गया। प्रिय श्रीमान् जी आप दो या तीन स्थलों पर जिस विषयवस्तु को निकाल देना चाहते हैं, उसके बिना तो सारा ही लेख नष्ट हो जाएगा। जहां तक मेरी समझ काम करती है, ये अंश सर्वथा संगत, सटीक तथा बोधगम्य हैं। मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि आप इन अंशों को क्यों हटा देना चाहते हैं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप मेरे निबंध को अखण्ड रूप में प्रकाशित करने का कोई तरीका निकाल लें। पृ० २, ३६, ४०, ४१, ४४, ४५ के अवतरण कतई न निकाले जाएं। रही शेष उद्धरणों की बात, उनके अभाव में तो विषय अस्पष्ट और व्यर्थ लगेगा। सच तो यह है कि मेरा आपसे यही अनुरोध है कि मेरे लेख का अंग-भंग न किया जाए। आशा है, आप मेरी इस प्रार्थना को अनदेखी नहीं करेंगे।

मेरा विचार है, मैंने आपको अपने इस निबंध की ४० मुद्रित प्रतियों के लिए लिखा था, क्या ऐसा नहीं लिखा था? मुझे जैन वैद्य का पत्र कल ही मिला। उन्होंने इस पत्र में और अधिक प्रतियों की इच्छा जाहिर की है। यदि प्रेस को कोई आपत्ति न हो तो मैं इसकी एक सौ प्रतियां लेना चाहूंगा। क्या प्रेस मुझे इनकी अनुमानित लागत बताएगा।

पिछले कल मैंने आपके गाँव के पते पर 'घण्टाघर' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी भेजी थी, इस पर आपकी प्रतिक्रिया जानना चाहता हूं।

मुझे कब यह ज्ञात होगा कि मेरे निबंध का अंग-भंग करने का रूसी निर्णय वापस ले लिया गया है। आप अभी कानपुर कब तक हैं?

कृपया उत्तर दीजिएगा।

चंद्रधर गुलेरी[1]]

---

१. गुलेरी जी ने यह पत्र 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ प्रेषित अपने 'आँख' निबंध को महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित कर दिए जाने के संदर्भ में लिखा था। गुलेरी जी विरचित यह निबंध बहुत बड़ा था, अतः द्विवेदी जी ने इसका कुछ अंश काट दिया था। इस पर सम्मति के लिए द्विवेदी जी ने इसे सम्पादित करके गुलेरी जी के पास भेज दिया। गुलेरी जी ने द्विवेदी जी के सम्पादकत्व को चुनौती दी और उन्हें यह निबंध 'सरस्वती' में ज्यों का त्यों, (देखें : सरस्वती : फरवरी, मार्च, मई, जून, अगस्त तथा सितम्बर, १९०५ ई०) छापना पड़ा। 'सरस्वती' की पाण्डुलिपि में गुलेरी जी का मूल निबंध सुरक्षित है। वहां इस निबंध की पृष्ठ संख्या ४६ पर द्विवेदी जी ने अपने हस्तलेख में 'Recall decree, तथा आगे 'on, on, on' और 'Set all this stand' लिखा है।

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[२]

१०. ९. ०४

प्रिय महाशय,

आपका कार्ड पाया। (आँख) चित्रों को ठीक करके भेज चुका हूँ।

आपके कार्ड से मालूम होता है कि आपको मेरी भाषा, मेरा तर्ज वगैरह पसन्द नहीं है, किन्तु कुछ-कुछ उस लेख के लिए आपको 'Lingering fondness' है। वह लेख कार्लाइल (Carlyle) का अनुवाद नहीं है। वह उसके अनुकरण पर स्वतन्त्र लेख है। मैंने कुछ-कुछ कार्लाइल के stayle का भी अनुकरण किया है। आप शायद जानते होंगे कि कार्लाइल का कितना कुढंगा है।

तथापि आप एक अलग कागज़ पर अपने (Amendments) भेजें तो मैं उपकृत हूँगा।

भवदीय
श्रीचन्द्रधर शर्मा

[३]

जयपुर,
मेयो कालेज, अजमेर
२५. १०. ०६.

प्रणाम,

अक्टोबर की 'सरस्वती' आज मिली। उसमें गुमानी कवि के तीन श्लोक छपे हैं। दस-बारह वर्ष हुए गुमानी कवि के कुछ और भी श्लोक थे। ऐसा स्मरण आता है कि डाक्टर ग्रियंसन ने गुमानी के उद्भट श्लोक या तो काशी के 'पण्डित' पत्र के पुराने संदर्भ में और या 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' में छपवाये थे, परन्तु निश्चयपूर्वक स्मरण नहीं।

गुमानी कवि के जो श्लोक मुझे याद हैं वे यहां पर लिखे जाते हैं :—

१. दुष्कृतिनां प्रकृतिः किल घोरा,
मानस बुद्धिरतीव कठोरा।
वाक् सुधया सदृषी रस पुरा,
'मुख में राम बगल में छुरा।'

२. प्रिया लोकनाथस्य लंकेश्वरस्य।
···प्रसूमेघनादस्य, कन्या मयस्य।
रता देवते हन्त मन्दोदरी सा,
'भई रांड नारी गई लाज सारी।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. येन पूर्वं मसुप्पत खट्क्या ह्वाटकमय्या ।
तेन नलेन प्राप्ता क्वापि वने न तृण-शय्या ।।
वक्ति गुमानिर्दैवेशक्ति रिहन्न मजय्या ।
जिस विधि राखैं राम उस विधि रहना भय्या ।।

४. ···रचयति फणी न धाम ।
···सबके दाता राम ।

सुना है गुमानी कवि कुमायूं प्रान्त के रहने वाले थे ।

जयपुर के जिन वैद्यराज जी के तीन श्लोक उद्धृत हैं, उनका नाम रामकृष्ण जी नहीं, किन्तु श्रीकृष्ण अथवा श्रीकृष्णराम जी था। उनकी इस प्रकार की कविता बहुत हैं। एक आधा नमूना सुन लीजिए :—

"प्राय: परद्विट परतापकारी
परायवादी परदारहर्ता
बभंश राज्यासनतो दशास्यो"
"नीयत नहीं तो बरकत कहाँ से ?"
श्रवौ विकार क्षतये भिषभिर
"वृथा कहे हैं नुसखे हजारां ।"
सषूल पूय स्तुति भाजि कर्णे
"देना ज़रा सा रस गुल हजारा ।"

भवदीय
श्रीचन्द्रधर शर्मा

बाबू श्यामसुंदर दास के नाम

[१]

३. ३. १३

प्रिय बा० श्यामसुंदरदास जी

'खुमान रासो' के बारे में एक अप्रत्याशित परिवर्धन हुआ है। यदि आप निम्न-लिखित अवतरणों के विषय में उत्तर देने की कृपा करेंगे तो अनुगृहीत होऊंगा और फिर इस विषय में पुन: लिख सकूंगा।

ओझा जी के लौटने पर मैं शीघ्र ही उनसे आप द्वारा अपेक्षित कागज-पत्र प्राप्त कर लूंगा।

आज 'छूतवाले रोग' की पांच प्रतियां मिलीं, तदर्थ बहुत-बहुत धन्यवाद। सुनने में आया है कि पं० हरप्रसाद शास्त्री भी इस तथाकथित रासो के कुछ उद्धरण सुनाया करते हैं लेकिन मुझे तो यह प्रस्तुत प्रति जैसा ही लगता है।

अजमेर
३. ३. १३

आपका
श्रीचंद्रधर गुलेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

["My dear B. Shyam Sunderdas ji,

There is an unexpected development about the Khuman Raso. If you could kindly reply to the undersigned passages. I shall be obliged, for then I can write again.

As soon as Ojhaji comes back I shall get the papers you refer to.

Many thanks for the five copies of "Chhut wale Rog" which I got today. I also heard Pandit Hara Prasada Sastri recites some pieces of the so called genuine Raso, but it looked like the present one.

Yours sincerely,
Sd—
Chandradhar Guleri

Ajmer, 3. 3. 13

बाबू श्यामसुंदर दास ने उक्त पत्र का उत्तर यों दिया—

Benaras
10. 3. 13

My dear Guleri ji,

The M. S. of the Khuman Raso was sent to me by Pandit Gauri Sankar Hira Chand Ojha in the middle of 1909 and it was returned to him in November, 1910. He wiil be able to give you further information about it.

Yours sincerely
Sd—
Syam Sunder Das]

[२]

काशी १३. ५. २२

प्रिय बाबू साहब,

शुक्लजी के 'बुद्धचरित' के पुरस्कार के विषय में आपने मेरा मत पूछा था। मैंने इस विषय का विचार किया किन्तु निश्चय स्थिर करने में कुछ कठिनता पाई क्योंकि कविता है, कोरा अनुवाद नहीं है और लगभग मौलिक ग्रंथ है। मूल के पृष्ठ २३८ का हिंदी-अनुवाद १३० पृष्ठों में हुआ है। भूमिका के लगभग ५० पेज हैं—मोटे भाव से २८० हुए। हुएनसांग के अनुवाद का आपने १५ फार्म तथा सुलैमान का १) प्रति पृष्ठ दिया है। कविता के मानसिक श्रम का अनुवाद स्थिर नहीं किया जा सकता—साधारण प्रकाशक के लिए तो अनुवाद और मौलिक ग्रंथ एक ही हैं, किंतु 'सभा' के-से विवेकशाली लोगों की सब धान बाईस पसेरी नहीं तोलना चाहिए। मेरी सम्मति में ५००) कुल पुरस्कार देना ठीक होगा—भूमिका भी मौलिक है, उसे पृथक् करने की आवश्यकता नहीं, यह सब २) पेज से कम पड़ा।

आपका
श्रीचन्द्रधर शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

म० म० गिरिधर शर्मा के नाम

विजयनगरम् महल, भेलूपुर
काशी
१०.५ १९२२ ई०

आपके कृपा-पत्र यथासमय आये। मार्गश्रम, वियोग, क्षेत्र-परिवर्तन आदि से मुझे यहाँ आते ही ज्वर, यकृतविकार तथा पीलिया हो गया। बहुत अशक्ति हुई। यह काशी की पहिली 'बोहनी' है या भैरव जी डंडे लगाकर परीक्षा कर रहे हैं, या अजमेर छोड़ने के दुःसाहस का फलयोग है। राम जाने, या श्रेयांसि बहुविघ्नानि है। विश्व-विद्यालय, काशी का बड़ा यंत्र है, किंतु कोई धुरा नहीं है जो उसे चलावै। कोई अपने सिर पर काम नहीं ओढ़ता। कागजबाजी और टालमटोल बढ़ती है। हमारे महकमे की न पूछिए। 'मुदगरानन्दजी' उसे ऐसा कर गये हैं कि पण्डित नयेपन की हवा नहीं चाहते। जो नयापन यहां छुआया गया था, वह मुरझाकर गिर गया है।···मुझे सभा के काम करने के ढंग को देखते हुए इस 'सब कुछ हो जाएगा' पर धोखा होता है। यहां बातें बहुत होती हैं, पर काम बहुत ढिलाई से होते हैं। एक तो काशी की बस्ती ऐसी है कि कोई किसी के समीप नहीं। बड़ी लम्बाइयों में मिलना कठिन बात है। यहां आये एक पंक्ति भी लिखी नहीं गई है। स्वास्थ्य अच्छा नहीं।···

रायकृष्णदास के नाम

ॐ नमः शिवाय

[१]

जयपुर भवन,
मेयो कालेज
अजमेर
२. १२. ११

धीर मान्यवर राय साहब, आशीर्वाद।

आपका कृपापत्र पाकर चिंता और धन्यवाद की संसृष्टि हुई। आपने शारीरिक कष्ट पाया इससे प्रथम भाव और आप अब नीरोगता के मार्ग पर चल रहे हैं इससे परमेश्वर की ओर दूसरा। परमेश्वर आपको चिरायु करे!

आपकी 'तकल्लुफपूर्ण' बातों का उचित उत्तर यह वैदिक ग्रामीण ब्राह्मण दे नहीं सकता उसके लिए क्षमा की जाए। 'नसूहत का कौआ' यह मुहाविरा हो चला है, गत मास की 'मर्यादा' देखिए। आशा है कि आप शीघ्र पूर्ण आरोग्य-लाभ करेंगे। लेख को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब हिंदी-आर्नल्ड पसंद करे तब बात है—

गाँव बसाया बाणिये
बस जाये जद जाणिये।

अब 'सरोज' के मिलने के मार्ग में कठिनाइयां न रही होंगी। अब उसके 'प्रकाशक' को ही 'मुद्रक' कहना पड़ता है। प्रिंटर का अनुवाद 'विकासक' कीजिए, 'मुद्रक' नहीं।

मुझे गौरीशंकर प्रसाद जी से कुछ लिल्लाही बुग़ज़ नहीं है। वे प्रसन्नता से काम करें। परन्तु फिर परस्पर वैमनस्यकारिणी पार्टी न खड़ी होनी चाहिए। मेरे प्रस्ताव जैसे निरपराध विषय पर विवाद क्यों हुआ? पाठक जी[1] लिखें तो जान पड़े।

ओझा जी दिल्ली गए हैं और श्रीमती मेरी[2] महारानी के अजमेर ता० २१ को आने के कारण वे व्यग्र हैं। उस पीछे उनसे पूछकर उत्तर लिखूंगा।

'कलकत्ते आरंग'—इस प्रश्न का क्या अर्थ है? यदि राजराजेश्वर के वहाँ रहने पर, तो 'नहीं,' और यदि अग्रिम साहित्य सम्मेलन पर तो 'आपके साथ'।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

पुन: श्री शुक्ल जी और बाबू साहब[3] को 'स्मरण'—पाठक जी को विशेषत:। श्रीमती बंग महिला का लेख-संग्रह नहीं मिला, वाचस्पत्य तो कहाँ?

[२]

डाकखाना गुलेर, पंजाब
२०. ११. १४

प्रियवर राय साहब, आशीर्वाद।

कृपापत्र मिला, ओझा जी के १२५ रुपए का चैक भी। धन्यवाद।

मैं पूज्य पिता जी का चातुर्वार्षिक श्राद्ध करने यहाँ आया था। सब हो गया। अब दिसंबर के प्रथम सप्ताह में अजमेर पहुँचूंगा, लखनऊ यहीं से जाने का विचार था, अब नहीं रहा। घर के जंजाल बहुत ही हैं।

मैं प्रसन्न हूँ, आपका सदा स्मरण रहता है, चुप्पी का कारण कुछ नहीं है। आपका एक पत्र एक शतग्रंथी माला के विषय में नैनीताल से मिला था। मैं अवाक् रह गया था कि हर महीने आप एक ग्रंथ कैसे लिखवाकर छाप डालेंगे। धीरे-धीरे काम करना अच्छा होता है। जर्मनी की तरह लंबी जकन्द भरना ठीक नहीं। आप वर्ष में दो ही ग्रंथ निकालिए, पर काम कीजिए, खपुष्पों का बाग मत लगाइए। 'विमल' साहब की ग्रंथमाला चल तो पड़ी! अभी कोर्ट को हटवा लीजिए। जोश को पद्म होने

---

१. स्व० श्री केदारनाथ पाठक
२. सम्राज्ञी मेरी
३. बाबू श्यामसुन्दरदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीजिए। परमेश्वर आपकी उम्र और अभिलाषाओं को बरकत दे, आप सब कुछ कर सकेंगे, 'धीरे-धीरे ठाकराँ धीरे सब कुछ होय।'

ता० २७ २८ को जयपुर होऊँगा, तब वहाँ खोज करूँगा, संभव हुआ तो आपका काम कर सकूँगा। पत्र आपका साथ ही है। वहाँ पता चलने पर लिखूँगा।

आपकी कृपा का सदा स्मरण रहता है, दर्शन की अभिलाषा रहती है। सफर में ऐसी ही स्टेशनरी साथ है।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

[३]

ॐ नमः शिवाय

कलकत्ता
१२. १०. १५

माननीय राय साहब,

आपका तार मिला। हाथ जोड़ कर क्षमा चाहता हूँ—आपसे और राष्ट्रकवि जी से भी। क्षमा कीजिए मैं काशी नहीं आ सकता। मेरा दुर्भाग्य !

बात यह है···कालेज ता० १८ को खुलेगा। मुझे १७ की रात को अजमेर पहुंचना है। १७ को सवेरे जयपुर होना है। उधर यों समयबद्ध है। इधर ता० १४ की रात्रि को पंजाब मेल से चलूंगा। सुबह नौ बजे मुगलसराय होऊँगा। ११.४३ पर प्रयाग में भाई चिरंजीव जगद्धर से मिलना है, सायं तीन बजे कानपुर पहुँचूंगा। 'विमल' महाशय से मिलना अत्यावश्यक है। विनोद नहीं, काम है। वहाँ से दुपहर को चलूंगा। यदि ६ घंटे मेरे पास होते तो आपसे अवश्य मिलता।

स्वामी लक्ष्मीरामजी मेरे साथ ही यहां से चलेंगे, मुगलसराय पर उनका साथ छोड़ूंगा···वहाँ से वे काशी जाएँगे, अब तार न भेजूंगा क्योंकि यह पत्र आपको कल मिल जाएगा। आप उनकी स्थिति का प्रबन्ध राजघाट वाले···पर कर दीजिए, उन्हें गंगास्नान करना है। वे मुगलसराय तक अस्नात ही होंगे और वहां स्नान न कर सकेंगे। एक दिन वे रहेंगे। साथ में 'संस्कृत-रत्नाकर' के सम्पादक पं० मथुरानाथ भी, मेरे मित्र, हैं और ८/७ आदमी हैं।

आपके दर्शन से वंचित रह जाऊँगा। यह तो धृष्टता होगी कि आपको यह लिखूँ कि मुगलसराय आ जाइए। यदि ऐसा होता तो क्या कहना था। स्वामी जी के लिए प्रबन्ध कर दीजिएगा।

आपका स्नेही,
श्रीचंद्रधर शर्मा

राष्ट्रकवि जी को आशीर्वाद। उनके दर्शन तो अभी हुए ही नहीं, पर साहित्य दर्शन होते ही रहे हैं, अभी 'भारत-भारती' की समालोचना भी न लिख सका।···यह रद्दी कागज क्षमा किया जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[४]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन
मेयो कालेज, अजमेर
२४.१.१५

प्रियवर राय कृष्णदास साहब और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण साहब आशीर्वाद।

कृपापत्र मुगलसराय पर प्रिय पाठक जी ने दिया मुझे, निश्चय जानिए, अनुताप रहा कि आपसे न मिल पाया वह पढ़ा जब कि कानपुर में द्विवेदी जी भी न मिले, परंतु विमल बी०ए० के सौम्य शील ने मेरी शांति कर दी, मैं यहाँ ता० १८ को आ पहुँचा था।

'सरोज' को निकालिए, 'माडर्न रिव्यू' की तरह उसका यह नियम कर दीजिए कि प्रति मास की पहली तिथि को निकल जाय। विलंब का दोष हिंदी का कोई भी पत्र अभी नहीं हटा सका। मैं भी कभी-कभी लिखूंगा। समय बिलकुल नहीं मिलता, आप दोनों जब नायक हैं तब पत्र के अच्छे होने में क्या संदेह है। 'शिवा वां संतु पंथानः'।

ओझा जी दौरे पर गए हैं मार्च के मध्य में लौटेंगे। स्वामी लक्ष्मीराम जी ने आपके आतिथ्य की बहुत प्रशंसा की और मेरे द्वारा आपके तथा प्रिय पाठक जी के विपुल श्रम के लिए अनेक धन्यवाद लिखते हैं।

पाठक जी को नमस्कार।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

पुनः—जयपुर के मकान के बारे में जो मैंने लिखा वही जान सका हूँ, कुछ नए Facts मिलें हों तो लिखिए उनकी जाँच करूँ कि कहाँ तक सत्य हैं।

चं०

[५]

जयपुर हाउस
मेयो कालेज, अजमेर
१६ अप्रैल, १६१६

माननीय राय साहिब, आशीर्वाद।

कृपा कार्ड मिला, धन्यवाद। जो बात आप लिखा नहीं चाहते चाहे उसे आपके परिचयदाता लिखें या न लिखें, हम तो अभेद समझते हैं और हम लोग तो उपास्य देवताओं का ही अभेद जानना बड़ी बात समझते थे, यहाँ इतने बढ़ गए हैं कि राधा (कृष्ण) दास और मैथिली (राम) शरण का अभेद सूझ पड़ने लगा।

एक काम के लिए परिश्रम देता हूँ, मेरी कन्या का विवाह वै० शु० १२ का है। उस समय वर को देने के लिए मुझे एक बनारसी साफा चाहिए, सूती जमीन। करेप पर नहीं। काम बढ़िया तथा सफाई का हो। नौ गज लम्बा हो, रंग लाल या गुलाबी हो, मूल्य २०) तक या आपकी पसंद पर २४) तक, चीज अच्छी और काशी में का मुनाफा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न देकर खास बनानेवाले से ली जाय जिससे माल के दाम हों, माल नकली न हो, किनार, जाली, सब अच्छी हों। आप पसंद करके दो रजिस्टर्ड पार्सल से भेज देवें। मैं एक रखकर दूसरा लौटा दूंगा और एक का मूल्य भेज दूंगा। आपको परिश्रम देने का यही लक्ष्य है कि चीज अच्छी जाँचकर आवे। यहाँ जो काशी में १२) का है वह २०) में आता है। अवधि २४) तक दे दी है, चुनाव आपके जिम्मे है।

इतना लिख चुकने पर एक बात याद आई, अपने मित्र 'साहित्य मुटिया' पं० केदारनाथ पाठक महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी जी की एक कहानी कहा करते थे··· (परमेश्वर पाठक जी को प्रसन्न रखें। उनके 'मान गुमान भंजन' का तथा कथाओं का स्मरण आया करता है)। सुधाकर जी जब बदरीनाथ की यात्रा को चले, मित्रों से कहते फिरे कि एक-दो कम्बल तो हमारे यहाँ भेज देना। किसी से कहा हमारे यहाँ दो कद्दू भेज देना इत्यादि। संभव है कि इस पत्र की प्रार्थना का समाचार जानकर पाठक जी इसका भी वही अर्थ लगावें। अतएव यह स्पष्ट कर देता हूँ कि यह बात जैसी मुझे खटकी है, वही न हो।

हाँ, यह कहना आवश्यक है कि ता० ३० अप्रैल तक यह साफे २, मेरे पास पहुँच जायँ, विलम्ब न हो। समय अधिक नहीं है। उत्तर शीघ्र।

आपका कृपाभिलाषी तथा दर्शनाभिलाषी
श्रीचन्द्रधर शर्मा

[६]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर हाउस
मेयो कालेज अजमेर,
३. १०. १९१९

प्रिय मान्यवर राय साहिब, आशीर्वाद।

मैं देहरादून गया था। मेरे सम्बंधी जी का नालापानी में देहावसान हो गया। इसलिए उनकी धर्मपत्नी तथा अपने जामाता को आश्वासन देने गया। इच्छा थी काशी का 'भरत मिलाप' देखूं। आपके नाम एक पत्र काशी भेजा था कि हस्तिांग भवन में मेरा अनाहुत आना स्वीकृत हो तो हरिद्वार के स्टेशन मास्टर के नाम उत्तर भेज दें। उत्तर न आने से इधर ही लौट आया और अष्टमी की पूजा घर पर ही की।

इधर मेरी अनुपस्थिति में सियारामशरण जी ने पत्रावली और वैतालिक की पुस्तकें भेजकर लिखा कि भाई साहिब मसूरी हैं। इससे यह सम्भव है कि आप भी वहीं होंगे। इससे बड़ा खेद होता है कि मैं मसूरी से 'हाफ वे हाउस' तक झाड़ीपानी में फेयर लान पैलेस में अपने शिष्य नेपालियों तक चढ़ गया और चार मील आगे न गया कि आपका मिलाप होता और 'चिरग्रामीण' कविराज का। मेरा भाग्य! यह किस करामात से जान सकता कि आप दोनों वहीं हैं? यह पत्र आप दोनों के नाम है। क्षमा करें।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[७]

ॐ नमः सिवाय

मिति : १/२०
जयपुर भवन
मेयो कालेज, अजमेर

माननीय राय साहब, आशीर्वाद

आपके कवि मित्र मैथिलीशरण जी ने 'पुस्तक' का तकाजा किया है। मैं अवश्य कह आया था और लिखूँगा किन्तु अभी समय न पा सका। झंझट इतने अधिक हैं कि क्या कहूं? जो समय मिलता है वह काशी की ही सेवा में बिताता हूं, आप जानते ही हैं।

एक अनधिकारी ने 'रूपम्' की दूसरी संख्या में मोलाराम के एक चित्र के बारे में कुछ 'अनधिकार चर्चा' की है। आप उस पर हँसे होंगे कि चित्रारी के विषय में कोरे वैयाकरण का यह साहस! अधिक विनोद के लिए ही वह लिखा गया था।

नवरात्रों में काशी आ रहा हूं। 'हिन्दी व्याकरण संशोधन समिति' में बिठाने को कहते हैं। 'सभा' के वार्षिकोत्सव में भी आने को कहते हैं। आपके दर्शन होंगे ही तथा सदालाप भी। एक बात की क्षमा मांगना चाहता हूं। आपका हस्तिांग भवन बहुत दूर है। गुरुगृह भी दूर है तथा सभा भी। प्रतिदिन कमिटी में आना-जाना है। सुभीता चाहता हूं कि कहीं सभा के समीप रहूं, आपकी तीन लोक से निराली मथुरा में नहीं। आप कुछ अन्यथा न समझिएगा। एक आध दिन तो आपके यहां आ धमकूंगा ही, मिलना भी प्रायः होगा। रहने के लिए कुण्डा, साफी और एक घर ही डाले लूंगा। क्यों, आज्ञा है न?

पाठक जी को नमस्कार। साहित्य मुटिया साहब गाइड बनने को तैयार रहें। गाड़ी आदि मिल जाएगी, मोटर तो अभी आपने न ली होगी।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा
मेयो कालेज अजमेर
८-७-१९२१

[८]

Mayo College
Ajmer
The. ८. of ७. १९२१

प्रियवर राय साहब, आशीर्वाद

साहित्य के उदय की सूचना मिली। आप दोनों हमारे कृपालु हैं। जब आप दोनों साहित्य को पोषित करते हैं, तब मैं भला कैसे किनारा कर सकता हूं? मैं सहर्ष और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकण्ठ उपस्थित हूं। जैसा हूं भला-बुरा, साहित्य-संगीत-शिल्प-विहीन, शुष्क वैयाकरण जिसके महफ़िल में पहुंचते ही ठुमरी बंद होकर रामायण चल पड़े—तैयार हूं। हाँ, आपके साहित्य की मिसरी में इस बाँस की फाँस को घुसेड़ने का उत्तरदायित्व आपका है कि अप्सराओं में दिगम्बर को बैठा देखकर लोगों को अरुचि या रसभंग/रसाभास न हो जाय।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

[६]

मेयो कालेज,
अजमेर
१८.७.१९२१

माननीय राय साहब,

अब परवल न भेजिएगा। अब तो आप वहीं खिलाइएगा, अब हम वहीं आपके 'परबल' हुए—आप 'स्वबल' रहे। मैं, आपने सुना ही होगा कि, काशी आता हूँ। ता० २७ को यहाँ से यात्रा का मुहूर्त है, अब सारा भार आप पर है, नये विदेशी की सब समस्याएँ हल करना—घर, नौकर, पलंग, फर्नीचर, कभी पहिये के पैर, सलाह आदि सब देना होगा। एक दिन तो गुरुगृह जाऊँगा, पीछे। बाबू साहब कहते हैं कि हमने लाहोरी टोले में बड़ा मकान लिया है उसी में रहो। मैं विश्वविद्यालय के पास रहना चाहता हूँ। आपके यहाँ देसाई वाला बँगला यदि खाली हो तो सर्वोत्तम था—आपका साथ और स्वास्थ्य। किंतु बहुत दूर है, कामाख्या में कोई बँगला या घर दिला दीजिए, या पुराने हिन्दू विश्वविद्यालय के जितना पास कोई घर मिल सके, खुला तथा अच्छा, खोज करवा रखिए। संभव है कि आप ही का कोई हो, या किसी परिचित मित्र का हो। साम से मिले तो साम से (याने यों ही) दाम से मिले तो वैसे। सुना है कि वहाँ विजयनगरम् वालों की छोटी कोठी है। बाग है, कुआँ है। विजयनगरम् के राजकुमार को लिखा है। आप भी टोह लगाइए। वहाँ उनका एजेन्ट होगा। इस विषय में आपकी सलाह, सहायता सब कुछ चाहिए—आप ही के यहाँ रह जाता यदि इतनी दूर न होता, तथा सकुटुम्ब न आता। अस्तु, मिलने पर सब बातें तय होंगी। मैं यहाँ से तो २७ को यात्रा करना चाहता हूँ। पहुँचते ही सूचना दे दूंगा जिससे पाठक जी गाड़ी आदि माँग सकें। अब ईश्वर ने आपके समीप रहने का अवसर दिया है। कुछ Fine Art भी सीख लूंगा। क्यों?

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[१०]

ॐ

जयपुर भवन, मेयो कालेज,
अजमेर
२५.१०.२१

प्रियवर राय साहब, चिरंजीव।

आपका एक कृपापत्र आया। दूसरे की प्रतीक्षा रही।

मैं बड़े हर्ष के साथ 'सरोज' के लिए लेख भेजूंगा। मैं सोचता ही था कि क्या भेजूं, क्योंकि आजकल कुछ तैयार नहीं है। 'फाउण्ड्री' में एक तैयार है सही, परन्तु वह श्रीमती नेहरु[1] के लिए है, इससे लाचारी है। फिर आपके लिए कोई चीज ऐसी वैसी तो नहीं भेजनी चाहिए; बढ़िया चीज चाहिए। नहीं तो सर एडिवन आर्नल्ड के हिन्दी अवतार को कैसे पसन्द आवे?

पाठक जी तथा शुक्ल जी को मेरा यथायोग्य प्रेम-नमस्कार कहें, आपके लिए मेरे शुभ आशीर्वाद-कलाप स्वीकार करें।

आपका
श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी

पुनः—शुक्ल जी की शिकायत है। उनने 'मेडल' विषयक मेरे पत्र का उत्तर नहीं भेजा!

लेख एक सप्ताह में भेज दूंगा।

पं० झाबरमल्ल शर्मा के नाम

[१]

Mayo College
Ajmer
The. १५ of १२. १९१७

प्रिय झाबरमल जी,

नमस्कार

आप सकुशल कलकत्ता पहुंच गए होंगे। अबके आपकी जयपुर यात्रा इतनी बहुकाल व्यापिनी होने पर भी तथा इतने यत्न करने पर भी सफल न हो सकी इसका बहुत दुःख है। नीति और राज्य के मजे चखे—यह आपके अनुभव को बड़ा लाभ हुआ।

—सम्पादक

१. 'स्त्री दर्पण' की सम्पादिका श्रीमती उमा नेहरू।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब क्या करना विचारा है ?

हमारी छुट्टियाँ क्रिसमस की ता० २१ दिसम्बर से ता० १२ जनवरी तक हैं। कालिज शनि ता० २१ को बंद हो जाएगा। अब आप दो बातों के उत्तर शीघ्र लिखें।

१. मिश्र जी कहां हैं ? कलकत्ते पहुंच गए या पहुंचने वाले हैं ?
२. क्या यह समय मेरे कलकत्ते आने के लिए उपयुक्त है। मैं इन छुट्टियों में घूमना तथा जाना चाहता हूं। यदि मिश्र जी आने वाले हों तो मार्ग ही में हम मिल जायं और साथ आवें।
३. आप कहीं दिल्ली-फिल्ली तो नहीं आवेंगे ?
४. आपको यह समय मेरे आने के लिए अनुकूल है या नहीं कि मैं वहां घूम-फिर कर स्थान देखूं और मनुष्यों से भी मिलूं। यदि आप कहें तो आने का प्रोग्राम तथा विचार करूं। यह तभी हो सकता है कि आप स्वस्थ तथा सानंद हों और मिश्र जी वहां पहुंचे या पहुंचने वाले हों—वहां पर कार्य यह है कि जो पहिले बारह वर्ष दिल्ली में रहकर भी न देखा वह देखना, मित्रों से मिलना, कलकत्ता विश्वविद्यालय आदि का यत्न करना, और समय आनंद से बिताना। यदि आजकल उचित न हो तो कोई चिंता नहीं May या जून में किया जाय।

आपके साहित्य सम्बन्धी कार्य अब होते जायंगे। अपना पूरा पता आदि लिखें।

रूढ़मल जी की 'शांकर ग्रंथमाला' का यत्न कीजिए।

पूर्ण पत्र भेजें।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

[२]

ॐ नमः शिवाय

मेयो कालेज
अजमेर
५.१.१९१८

प्रिय झाबरमल्ल जी, नमस्कार।

जगद्धर का पत्र आया और आपका भी। हाथ जोड़कर धन्यवाद। आपने उसे बड़ा सहारा दिया। नं० ५ और ६ कौन थे यह स्मरण नहीं रहा—शायद चौबे जी और बाजपेयी जी हों। इतना 'सापन्न' भाव बढ़ गया है क्या ? हमने तो तस्करोद्यान का मार्ग ही आपके कुंज की गलियों के पीछे छोड़ दिया। तो भी एकाधिष्ठान से आप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों में फूलर साहब की दोनों प्रियाओं की तरह अब तो मेल हो जाना चाहिए।

क्या मेरा जी नहीं जल रहा है कि इस समय मैं न आ सका? क्या करूं। बाल-बच्चों की बीमारी, यह शीत और एक पर एक चिन्ता। खैर फिर कभी सैर होगी।

अब सुनिए। आप जयपुर कह गए थे कि थोड़े दिन गांव रहकर कलकत्ते पहुंचूंगा। मैंने अगस्त ४ को कुछ संस्कृत-श्लोक बनाए थे। यह समझकर कि आप कलकत्त आ पहुंचे होंगे वे श्लोक 'समाचार' में छपने के लिए आपको भेजे थे। साथ ही 'भास' तथा कांगड़ा चित्रों के लिए लिखा था। फिर आपका वहां न होना' श्लोक न छपने तथा मध्यम के पत्र से जाना। मैलेरिया का हमला भी सुना। पीछे आपका आर्याछन्द का एक पत्र मिला जिसमें 'अभिनव कल्हण' के जन्म की बधाई तथा उपालम्भ था। उसमें आपने लिखा था कि 'बुध' तक सोमदेव के पास पहुंच जाऊंगा। उसका उत्तर 'बुध' तक सोमदेव के पास ही भेजा था। वह भी आर्याछन्द में था और नाक के बाल के उत्पादन का उपदेश उसमें था।

अच्छा अब सुन लीजिए।

१. वे श्लोक फिर भेजता हूं। कल ता० ६ सर्व-प्रार्थना का दिन है। इसी उपलक्ष्य से छाप दीजिए। पत्र की प्रति ५/६ भेज दीजिएगा, या १०/१५। कविता मिश्र जी को दिखाइए। इसमें कुछ चमत्कार वे पावेंगे। कोरी लायल्टी नहीं है।
२. कांगड़ा शैली के कुछ चित्र मध्यम ने आपको बेचने के लिए दिए थे। उनके सम्बन्ध में एक लेख मुझे लिखना है। उनमें से एक की पृष्ठ पर कुछ हिसाब है, जो लेख में काम आवेगा। अतएव मुझे आप उन चित्रों को लौटा दें। लेख में भी एक आध चित्र छपवाना है। फिर बाकी, यदि हुआ तो आपको लौटा दूंगा।
३. भास के नाटकों का अनुवाद आप छापने को कहते थे न? उस विचार पर दृढ़ हैं न? मैंने आरंभ कर दिया है। एक-एक नाटक लेंगे या सब साथ। कैसे छापेंगे? क्या आपकी समिति रंग लाई कि नहीं। इस विषय का 'आकार-प्रकार' का स्कीम बनाइए। कापी राइट का क्या करेंगे? यह सब निर्णय कर लीजिए।
४. शक्तीश्वर के जन्म पर बधाई के लिए धन्यवाद। "मुनीनां च मतिभ्रमः" कभी-कभी हो जाता है। उर्ध्वरेताओं को भी हुआ है। मुझे ही उपालम्भ क्यों?
५. दूषित घृत के विषय में तथा ब्राह्मणों की वैश्यों पर ज्यादती में आपने भी कुछ भाग लिया था?
६. गौ-कान्फरेंस खूब हो गई। मिश्र जी से पूछना कि यह षष्ठी तत्पुरुष है क्या? 'गौर्वाहीकः' बंकिम की शमलाधारिणी गौ स्मरण आती है।
७. हमारे पर कृपा रहे पर ध्यान न दिया जाए आप ही से 'ताम्बूलद्वय' सहारा है और आठ आने फर्मा मिलने की आशा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८. कलकत्ते में आप इस जन का इतना मान-स्मरण करते हैं यह कृपा बड़ी भारी है।

९. यह जो नवोपाधिधारी नगेन्द्रनाथ वसु हैं वे क्या विश्वकोष के प्राच्य-महाविद्यार्नव हैं।

१०. परीक्षकता का कुछ यत्न किया ?

१०अ. योगेश्वर प्रसन्न है। दवा खाता है। कोई चिंता की बात नहीं।

११. मिश्रर्षभ को प्रणाम-सप्रेम प्रणाम।

११अ. एक प्रार्थना और क्या करना है। कहिए।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

[३]

MAYO COLLEGE
AJMER
२.४.१९

प्रिय झाबरमल जी नमस्कार

आपके दो पत्र रखे हुए हैं। उनका उत्तर शीघ्र ही भेजूंगा। मैं पिछले दिनों कुछ न कुछ अस्वस्थ रहा। इसका विवरण मिलने पर। मेरा पूर्ण पत्र पांच-चार दिन पीछे अवश्य मिल जावेगा।

आपके यहां मारवाड़ी विशुद्धानन्द औषधालय के लिए एक वैद्य की आवश्यकता है। अजमेर के वैद्यवर हिन्दू औषधालय या कल्याण औषधालय के स्वामी महाशय कल्याणसिंह जी ने मुझे आग्रहपूर्वक कहा है कि आपको लिखूं कि उनके जमाता 'चतुरसेन' जी के वहां नियत होने का आप उद्योग करें। चतुरसेन जी जयपुर के आयुर्वेदशास्त्री पास हैं, आयुर्वेद विद्यापीठ के आयुर्वेदाचार्य हैं, आठ-सात वर्ष से अजमेर, दिल्ली, लाहौर में चिकित्सा करते रहे हैं। हिन्दू औषधालय में प्रायः ४० हजार रोगी प्रतिवर्ष उन्होंने सम्हाले हैं। लाहौर डी० ए० वी० कालेज में आयुर्वेद के अध्यापक भी रह चुके हैं, वहां पर धर्मार्थ औषधालय में काम किया है। प्रयोजन यह कि अनुभवी हैं। यह मैं स्वयं जानता हूं कि देशहित उनमें भरा हुआ है। हिन्दी अच्छी लिख लेते हैं। 'हृदय की परख' नामक मौलिक उपन्यास लिख चुके हैं। वे सर्वथा योग्य हैं। आप मारवाड़ी समाज के पुंगव हैं। इसका उद्योग कीजिए कि कलकत्ते में रख लिए जायं।

मेरा पूर्ण पत्र आने पर इतने दिन चुप रहने का उपालम्भ देना, पहिले मत।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[४]

Jaipur House
Mayo College
Ajmer
२८.४.१९

प्रियवर झावरमल्ल जी नमस्कार

आपके सब पत्र यथासमय मिले। विजया का विवाह वै० शु० १२ का है अर्थात् ११ मई का। इस कर ज़ाबते का निमन्त्रण पत्र आपको तथा मिश्र जी को दोनों को भेज चुका हूं। अब वेज़ाबते का यह निवेदन है कि आप दोनों पधार जाइए जैसा कि प्रतिज्ञा और सलाह थी। 'ननुनच' की जरूरत नहीं।

ओझा जी की अवश्य शिकायत है कि अभी कलकत्ते में एक भी पुस्तक न बिकी, न किसी पत्र में 'रिव्यू' हुई। यह उपालम्भ आपको मिटाना चाहिए, न आपके चोर-बागान के साथी ने रिव्यू की है, न चक्रवर्ती जी ने। इस मष्ट मारने का कारण है—यह जबानी बात होगी।

कलकत्ते का उपाख्यान भी जबानी ही सुनने तथा विचारने का है। इधर जगद्धर लायलपुर की कहानी लेकर आवेगा। तब दोनों का मिलान करेंगे—

चतुरसेन जी यहीं पर १५०) से कम नहीं कमाते। कलकत्ते में व्यय अधिक है। सुना है कि मारवाड़ी 'प्राइवेट प्रेकटिस' नहीं करने देते सो ऊपर की आय कुछ है नहीं। यहां तो अपने भाग्य की परीक्षा है, कोई ऐसा आंख का और गांठ का आ जाय तो निहाल कर दे। आपको २००) से कम पर कोई टिककर रहने वाला अनुभवी वैद्य नहीं मिलेगा। नौसिखिया मिल जाय। इसीलिए यत्न हो सके तो पूरे वेतन पर ही कीजिए। यहां पर आप उनसे मिल लेंगे तो रूबरू उनके लिए जो राय हो सकेगी साथ ले जाएंगे।

रूढमल जी की शांकर ग्रंथावली आ पहुंची और बड़ी शान से आई। रेल में उसने कई दिन लगा दिए। ता० १८ की चली २१ को पहुंची खैर, देर आयद दुरुस्त आयद। मैंने रूढमल जी को धन्यवाद और तकादे के लिए क्षमा प्रार्थना भेज दी है। आप भी मेरी ओर से धन्यवाद दे देवें।

आपके गोधन के लिए बहुत लज्जित हूं। काम पर काम आता गया। पिछले दो मास से बीमार हूं। स्वस्थ निद्रा नहीं आती। सिर चकराता है। अब विवाह तथा परीक्षाओं के बखेड़े सिर पर हैं। अवश्य कर दूंगा। दीमक अधिक दिन नहीं चाटेगी। संभव है कि यहीं दे दूं। यहां पर आपको पं० लक्ष्मीनारायण जी मिलेंगे और उनके पिता के जीवन-चरित्र के चित्र भी। मई बीतने पर उस पुस्तक के छपने लग्गा लगाना है।

१. आप एक तो थर्मामीटर मोल लेते आइए।

२. एक चिट्ठियों के कागज व पोस्टकार्ड यदि छपे हों तो ले आइए।

३. खड़े कंघे जनाने विलायती हड्डी के······जैसे कि चोटी के पीछे खोंसे जाते हैं (बाल बाहने के काम के नहीं जूड़े में खोंसने के) ६ लेते आवें। एक की ऊपर की पीठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चांदी की हो, बाकी मामूली।

४. काले रंग की 'बंगला कुरतियां' दो अपनी पसन्द पर लेते आवें। साधारण दुर्बल शरीर की। काली अल्पका की या ऐसी ही कुछ होती हैं।

५. धोती जोड़े नग १० यथा रुचि दस गजे नं० २२९० के या वैसे ही, न बहुत महीन न मोटे, चलाऊ किनार अच्छी (हरी नहीं जो धोखा दे जाती है काली या लाल) यह आपकी पसंद पर छोड़ा जाता है। यदि आपकी पसंद में और कोई नम्बर इससे अच्छा टिकाऊ तथा देखने में अच्छा हो तो वह सही। मूल्य का औचित्य आप विचार लें।

६. धोती जोड़े ५ इनमें बढ़िया बारीक तथा किनार भी नज़ाकत की। मर्दाना काम भी दें जनाना भी।

७. थान मलमल नं० १२६, १९ गज वाला इंच ४२ के पहनने का जो प्रायः ८) ९) का होता होगा वैसे २ नं० ७७१ का जो कुछ घटिया ७) का होता है वैसे ४ से ६ थान।

८. लट्ठा अर्थात् खासा यहीं पर ठीक कर लिया है। बम्बई से सस्ता आया है। ये सब चीजें आप साथ लेते आवें।

आपका यहां पहुंचना ता० ८ को प्रार्थनीय है। चीज़ों का भी साथ आना। यदि आप न आए तो चित्त में बहुत व्यग्रता रहेगी।

[५]

JAIPUR HOUSE,
MAYO COLLEGE
AJMER
The···1991

साहित्य सम्मेलन वाला यत्न अभी तक भूलकर भी मत कीजिएगा। मुकद्दमा आपका जीतकर भी फिर गड़बड़ हो गया। हरिर्हरि: का मामला अद्भुत है। अजब दुष्ट से पाला पड़ गया है। आना भले का भला होगा। मैं तो समझा था जयपुर में ठीक हुआ तो गंगा नहाए पर अभी यह क्या पिंडा छोड़ता है।

डाई बन गई होगी। न बनी हो तो ऊपर जयपुर हाउस और जोड़ दीजिए, जैसा कि इस पर है।

भास का विषय दुख का रहा। हम बुरी तरह जंजाल में फंसे हैं। राष्ट्रीय कवि ने अभी किए नहीं। हमारी भी करने की इच्छा कभी हटी नहीं, देखें क्या हो।

वज्जालग्ग वहीं पर है, हमारी 'लून तेल लकड़ी' कुछ करने दे तब न?

यदि जे० सी० चटर्जी···हुए हैं तो उनकी कृपा। हिन्दू आइडियल निकला या विचार ही में रह गया। यदि जे० सी० चटर्जी कश्मीर-ग्रन्थमाला की सेट भेंट करवा दें तो उनका हिन्दू आइडियल वास्तव में आइडियल कहलावे नहीं तो आइडियल।

किसी बुभुक्षित बंगाली पण्डित से वाचस्पत्य मिला हो तो लावें, मिल सके तो लावें। न मिल सके तो याद रक्खें। ... कभी दांव लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं गोधन के लिए फिर कहता हूँ कि लज्जित हूं पर अब लज्जा मिटाऊंगा।

मिश्र जी से राजतरंगिणी के विषय में वार्तालाप करना है।

मेरे पत्र भेजने में विलम्ब हुआ—बहुत विलम्ब हुआ। आपके पधारने तथा कार्य में विलम्ब न होना चाहिए।

आपका
श्रीचन्द्रधर शर्मा

[६]

ॐ नमः शिवाय

मेयोकालिज, अजमेर
११.५.१९

नमः कलिकथासंवाद-व्याख्यानपरायण।
पौराणिक समज्ञान प्रियवर झाबरमल्ल जी ॥
पत्र आया, हर्ष हुआ, वृत्त जाना सभी भला,
मिश्र जी को प्रणति भी पहुंचा आप ही सकें
सप्तमी भृगु को देश जाता हूं सकुटुम्ब मैं
ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया को व्याह मध्यम का स्थिर
आपके से मधुकर बङ्गचंपक से फंसे।
भला कैसे सराहेंगे गुढ़हल के-से गुलेर को ?
हमारा ग्राम है सीधा पै प्यारी मातृभूमि है
वहां के खंडहर भी महलों से अमूल्य हैं
जो सुवास वहां आती आड़ू के झाड़ में खरी
तुलना क्या करें उसकी केवड़े ढूंढ-आर के ?
विजया के लिए स्थान एक है स्थिर सा हुआ।
अभी जाते पता पूरा होगा उसका मुझे स्थिर
हुआ यदि भला तो मैं माघ फाल्गुन में यहीं।
कर पीले कर कन्या के धारूंगा कृतकृत्यता।
बुलाना आपको मेरा काम उस मह पै नहीं
आप ही काम करने को आ जावें फ़र्ज मान कर
राजा जी स्वर्गवासी का चित्र गोविन्दराम के
एक है जिसमें मैं भी पास में हूं उपस्थित
उसकी प्रति चौबेजी श्री विश्वेश्वरनाथ जी
आप जयपुर आवें तो बनवा के दिलवायंगे।
उन्हें इसलिए मैंने लिखा है, बन जाएगा
आप गोधन-उत्सर्ग राजाजी के लिए करें।

× × ×

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृषस्यन्ती विषय की बात सच्ची कही, भला
नहीं तो पालना बच्चा उन्हें क्या निज अङ्क में
आप ऐसी ढूंढिये जो रंग में उसको रंगे
बिना पिए बिना छाने रहै भंग चढ़ी हुई
बंगालियों के बचन बड़ा आनन्द दे रहे
बौराया जग ही सारा, बौराएं वे न क्यों कहो ?

× × ×

नाक के बाल······
अध:केश उसे मानें···था आज्ञा का उल्लंघन ?
राजा के पास होगा ही आपका न्याय औ' जय
लिखा मैंने उन्हें और लक्ष्मीनारायण को अभी
'जो है शो' तो बरातों को जेल में हैं टिका रहे
कई नंगे वैश्यवृष गालीचों पै पड़े रहे
देख जयपुर पुर से आया यह लीला महाद्भुत !
कुचामन् के एक सेठ गोरे जैन दिगम्बर
हज़ारीबाग का रोना रोते-रोते मुझे मिले
उपन्यास समा वार्ता सुनाई उनने यही—
'जो है शो' की कन्यका पर रेलवाले कुदृष्टि
घूरा किए बिना भीति मुगलों की सराय में
मोटी तोंद उन्हें सूझी मारवाड़ीय लक्षण ॥
अन्त में 'राय शाहब' ने खिलत की खङ्ग को दिखा
दो तार ठोके वक्तर में, डरे वे, पैर में पड़े ।
वे बाबू हो गए उसके अतिथी सेठ राय के
जेल में बक्सर टिके, बखशा उनको नहीं ।
काम है एक, सुनिए, आवें जैंपुर आप जो
भूखे किसी बंगदेशी से वाचस्पत्य मिलैं यदि,
लेते आवें, तथा और बोझा है कुछ, लाइए ।
गोयनका रूढमल जी, सेठ पंडित ने लिया
मुझसे एक लिखित श्री भागवत-पुस्तक
कहते हैं वे मुझे देना 'श्री श्रीशंकर संग्रह'
वाणी विलगा के प्रेस, कुंभ कोणम, का छपा
स्वर्णबद्ध वही सेट बीस पुस्तक का यदि
आप लावें कृपा होगी धरें मण्डूकराय के
वहाँ से मैं मंगा लूंगा, व्यय भी बच जाएगा
रूढ़मल्ल महोदय से चीज़ भी निकल आयगी ।
न भूलना आप यहीं ले आना इस सेट का।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्यान वाचस्पति का अस्त्र तो
बुढ़ाये हैं घाटा ठोकर का यह हो गया
× × ×
पत्रोत्तर हमें शीघ्र लिखिएगा महाशय,
नाक के केश के 'केस' का पता भी कुछ दीजिए

आपका
श्रीचन्द्रधर शर्मा[1]

[७]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन
मेयो कालेज,
अजमेर
मा० कृ० १०/७६

अभिन्नहृदय मिश्र जी तथा झाबरमल्ल जी,

प्रणाम । नमस्कार ।

कलकत्ता के बर्म्मन प्रेस से एक 'सुदर्शन' नाम का पत्र निकलने वाला है। मासिक होगा। मुझसे लेख मांगा गया है। नाम-स्मरण से लिखने की इच्छा होती है। क्या इसमें कुछ आपकी अभिसन्धि है? यदि है, तो झट एक पंक्ति लिख भेजिए। यह Stop Press Message है। यदि मिश्र जी ने यह किया है तो 'जितं नास्मि केन', अब मुंह तथा लेखिनी का मुंह खुलेगा। यदि किसी और ने पेटेण्ट पर अधिकार जमाया है,

१. इस कविता-पत्र में आया है—'वृषस्यन्ती विषय की बात सच्ची कही। भला नहीं तो पालना बच्चा उन्हें क्या निज अंक में।' यह काव्यांश श्री रामकुमारजी से सम्बन्धित है। उनका विवाह होना था और कन्या खोजी जा रही थी। पं० शंकरलाल की कन्या के विषय में बातचीत चलती थी पर वह छोटी थी। इस संदर्भ में गुलेरी जी ने चटकारा लेते हुए पं० झाबरमल्ल शर्मा को मेयो कालेज अजमेर से लिखे १६.४.१८ के पत्र में लिखा था—"रामकुमार जी को खूब जानता हूँ—गोकुलचंद्र जी की याद मौके से दिलवाई। पं० शंकरलाल जी से पूछा था। उनकी कन्या छोटी है। रामकुमार जी को बड़ी चाहिए जो वृषस्यन्ती हो। (मिश्र जी से इसका अर्थ पूछना) शंकरलाल जी की कन्या मैंने भी देखी है। उन्होंने भी यही कहा छोटी है। वे छुट्टियों के अवसर पर 'विहार' जाने वाले हैं (सोना चौधरी का विहार नहीं, उनका ग्राम) वहां उनके कुटुम्बियों सगोत्रों में बड़ी कन्या होगी तो यत्न करेंगे, ऐसा कहते थे। फिर तकाजा कर दूंगा। रामकुमार जी उन्हें वहां पत्र लिखें।"

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो लिखिएगा 'द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः।' मौनापराध की क्षमा पूरी तरह माँगी जाएगी कहिए। तो दरबार में हाजिर होकर मांगूं।

आपका
श्रीचंद्रधर शर्मा

[८]

ॐ नमः शिवाय

जयपुर भवन,
मेयो कालेज,
अजमेर
२८.५.२०

प्रिय झाबरमल्ल जी, सप्रेम नमस्कार।

आपने तो हमें कलकत्ते से क्या बिदा किया, हृदय से भी विदा कर दिया। जसरापुर पहुंचकर ठीकरियों के प्रतिनिधि कागज भेज दिए, गोस्वामी-वृष[1] की पुस्तकें भेज दीं। (हाँ साथ में हरिदास की आत्मकहानी भेजी जिसे पढ़कर आनंद आया। भिवानी जाकर दर्शनशास्त्र की ऐसी रद्दी प्रति भेजी जिसके पन्ने जिल्द बँधाई में उल्टे-पल्टे सिले हैं, फिर चुप। न मिश्र जी का पता, न शंभूराम जी के कन्या के विवाह का पता, न घर आने का पता। रामकुमार जी अलवर से यहाँ आए, चोरी से घर गए, उनके द्वारा संदेश भेजा उसका भी उत्तर नहीं। न कुँवर साहब का पता कि बाँह टूटने का शकुन कैसा बैठा, तथा न सी० एल० शर्मा का पता। बस, आप तो गंगा नहा लिए। सभा के खोज-जर्नल के बारे में मिश्र जी से विनती की, पता नहीं कि इतनी नाराजी क्यों हुई कि उत्तर नहीं। सुना है कि गोधन छप गया, आप खेतड़ी के महापुरुष को उसे समर्पण करने गए, हमें नहीं भेजा। भिक्षुक के चित्र भेजे, उत्तर नहीं। खैर, मेरा प्रारब्ध। इधर की बात पहिले सुन लीजिए। कलकत्ते से आते यहाँ का चरखा चला। फिर शक्ति को सर्दी लगकर बीमारी बढ़ी, निमोनिया का भय था। हटते न हटते माता बोदरी उसे तथा अदिति को निकल आई। राम राम कर चंगे हुए। योगा साहिब[2] भी ज्वर को बुला लाए। बोदरी में कालेज से हुक्का पानी बंद था। पीछे वै० शु० ५ को शक्ति का चूडाकर्म कर लिया। प्रतापगढ़वाले बाई जी यहाँ ३।४ मास बिराज गए। मिलते, रोते और रुलाते रहे। वै० शु० ६ को माता जी का चातुर्वार्षिक श्राद्ध हो गया। मेरे श्वसुर फाल्गुन में मर गए वहाँ जाना जरूरी था। विचार यह हुआ कि इम्तहान के पर्चों से निबटकर मुलथान महाराज के पास जावें (वही जगह, जहाँ खेतड़ीवाले दुबे जी हैं तथा जहाँ जाने की बात शीतकाल में थी) तथा फिर देश। तदनुसार ज्येष्ठ कृष्ण

---

१. राधावल्लभी आचार्य श्री गोवर्द्धनलाल गोस्वामी। —सम्पादक
२. गुलेरी जी के ज्येष्ठ पुत्र योगेश्वर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ता० १० मई को यहाँ से चले। सकुटुम्ब मुलथान गए। वहाँ से रतलाम में पंजाब की बड़ी गाड़ी में 'सीधे रास्ते' जाने की सोच रहे थे कि एक तो पंजाब का रेल विप्लव हुआ, दूसरे शक्ति को ज्वर आ गया। सीधे अजमेर लौटे। मार्ग में रात्रि को शक्ति को 'फिट' आ गया जो उसे ज्वर में प्रायः आया करता है। यहाँ आकर चिकित्सा कराई। वह अच्छा हुआ तो योगेश्वर ज्वर लेकर पड़ गये। सात दिन लग गए। अब हम इतो भ्रष्टस्ततोभ्रष्टः हो गए। हाँ, बीच में चि० श्यामाचरण आकर विजया को ले गए। स्कीम यह थी कि देश जाते हुए उसे अमृतसर में साथ ले लेवें तथा लौटते हुए हिसार मार्ग से आकर भिवानी पदार्पण कर आवें। वह भी स्कीम रह गया। आज विजया को लाने बागवान को भेज रहा हूँ। आपका पत्र ता० १० का लिखा यहाँ १३ को आया तथा यहाँ से अमृतसर पहुँचा। वहाँ डाक प्रतीक्षा कर रही थी, कल लौटकर आई तब आपको तार दिया कि मेरे पत्र के लिए ठहरो। पत्र भी भेजा।

साहित्य सम्बन्ध में आपका 'सूर्य तथा मत्स्य' तो नहीं लिखा किंतु कच्छवंश महाकाव्य हथिया लिया, उसका सार लिख डाला। दर्शन उसके रामकुमार जी को भी करा दिए। नागरीप्रचारिणी सभा की 'पत्रिका' त्रैमासिक हो गई और केवल खोज की हो गई। संपादक हुए हैं, ओझा जी, मुंशी जी देवीप्रसाद जी, मैं और विमल बाबू श्यामसुन्दरदास। श्यामसुन्दर बड़े अच्छे आदमी हैं। अकर्मण्यों में एक ही कर्मण्य हैं। आप लोग उनसे दूर रहे हैं, अधिक परिचित नहीं हैं। मैं जितना-जितना परिचय पाता हूँ उतना ही उतना उन्हें अधिक अच्छा समझता हूँ। सभा को हाथ में लेने का काम हो गया है। देवीप्रसाद ग्रंथमाला का विषय तो जानते ही ही हैं। उनमें फाहियान छप गया है। सुङ्युन छप रहा है। हुएन्सांग का अनुवाद हो रहा है। शाहपुरा सूर्यकुमारी ग्रन्थ-माला का काम भी चल पड़ा है। सभा ने ओझा जी, मुंशी जी तथा मुझे बोर्ड आफ ट्रस्टीज में ले लिया है। बाबू साहब सदा अपने अनुकूल रहेंगे। सभा पर कब्जा कर लिया है। अब आप भी हमारे साथ हो जाइए। पत्रिका की संपादकता के लिए गवर्नमेंट की मंजूरी ले ली है। ओझा जी तथा मुंशी जी मई के सभा के वार्षिकोत्सव में जा आए। दिग्विजय हो गया।

अब सुनिये। सभा को डेढ़ लाख रुपये की जरूरत है। बड़ा भवन बनाना है। प्रेस खोलना है। सदा के लिए पक्का काम करना है कि चंदे की आकाशवृत्ति पर न रहे। बाबू साहिब मई में सभा का एक डेपुटेशन कलकत्ते ले जा रहे थे। ओझा जी, देवीप्रसाद जी तथा मुझे साथ ले चलते थे। मैंने देश जाने की बात कहकर टाला तो बोले कि आप न जाओगे तो मैं भी न जाऊँगा। अभी न चलेंगे तो बस दो वर्ष की गई क्योंकि 'हिन्दी मन्दिर' वाले पहुँच जायँगे, सम्मेलन होगा आदि। ओझा जी ने मुझे दबाया कि अवश्य जाओ तथा चंदा करा दो। मैं टालता रहा। इतने में ठाकुर साहिब बिसाऊ अजमेर आए। बोले कि मैं जून के प्रथम सप्ताह में कलकत्ता जा रहा हूँ। महीना भर रहूँगा। महाराजकुमार शाहपुरा भी यहीं थे। सभा के तो मुरीद अब महाराजकुमार और हम दोनों ठहरे। बिसाऊ ने मुझे आग्रह किया कि कलकत्ते मेरे साथ चलो। मैंने कहा कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभा का काम सेठों से करवा दो। शाहपुरा ने जेक लगाया। राजी हुए। अब ओझा जी तो गृह कार्य से छुट्टी गए हैं। श्यामसुन्दरदास ता० ६ जून को कलकत्ते जा रहे हैं। मुंशी देवीप्रसाद जी भी पहुँचेंगे। मैं बिसाऊ के साथ ता० ७ को जानेवाला हूँ। उसने कहा है कि दिल्ली में मुझसे मिलके साथ चलें। अब भैया, तुम इस बात को सुधार दो तो जुग-जुग गुण गावें। (यह तकल्लुफ नहीं, हृदय का सत्य उद्गार है)। जसरापुर के काम से निबट गए ही हो। बिसाऊ तो केवल अनुषंग है। सभा को अपना लो, मुझे तो अपना ही लिया है। मैं चाहता हूँ कि आप यों करें। पत्र पाते ही अजमेर चले आवें। यहाँ से अपने कलकत्ते साथ चलें। योगेश्वर को भी ले जाने का विचार है। यदि आप साथ हों तो अपने साथ का इंटर बिसाऊ के फर्स्ट क्लास से अच्छा ही समझता हूँ। यहाँ से हम, आप, योगा तीनों चले चलें, दिल्ली में बिसाऊ से मिलकर साथ-साथ कलकत्ते पहुँचें। मिश्र जी को भी कलकत्ते बुलाइए। वहाँ १५।२० दिन गम्मत रहेगी। सभा का काम हो जायगा। डेढ़ दो लाख रुपया आपकी जबान में है। बिसाऊ भी उद्योग करेगा। बाबू साहिब भी होंगे। बाबू साहब तथा सभा को हस्तगत करने का अच्छा अवसर है। (सोमदेव को पिलानीवालों ने मई के अन्त में बुलाया था। जबलपुरवाले सेठों का हिन्दी मन्दिर स्कीम भी कलकत्ते पहुँचनेवाला है। मध्यम तब तक वहाँ चला जाय तो वहीं मिलेगा। नहीं तो अपने साथ ले चलेंगे या वहीं मिलेंगे।) मिश्र जी तथा आप दोनों कलकत्ते चलें तो सत्संग रहे जिसकी वर्षों से आशा है तथा जिसका योग वर्षों में ही आता है। इधर मेरा यह धर्मसंकट मिट जाय। सभा का काम बन जाय। इस पर तैयार हो जाओ। सभा तथा बाबू जी के लिए कुछ संस्कार हो गए हैं उन्हें मिटा दो। सभा तथा बाबू जी को अपना करना अपने ही हाथ है। वे हैं भी अपने ही। यह पत्र आपको ता० १ या २ को अवश्य मिल जावेगा। आप इसके मिलते ही उत्तर भेजें। या तो अजमेर आ जावें या नारनौल मिलने का दिन तथा टाइम लिखें। वहाँ आकर मिल जावेंगे। स्टेशन मास्टर के C/o आपको तार दे दूँगा। मिश्र जी को भी रेवाड़ी से मिलने के लिए बुलावें। अपना मंडल साथ-साथ चले। कलकत्ते में संग रहे। बिसाऊ का साथ दिल्ली से छोड़ दूँगा यदि अपनी मंडली बन जाए। सभा के काम में सहायता के लिए उसे पकड़ा है। आप भी अब सभा का पाणिग्रहण कर लें। उत्तर शीघ्र।

हाँ, भिक्षुक की पुस्तक के चार फार्म छप गए। आगे की कापी भेजी तो प्रेस नें लौटा दी कि काट-छाँट बहुत है, कंपोज नहीं हो सकती। फेयर कापी कराकर भेजो। मैंने यह कहकर लौटाई कि चार्ज ज्यादा ले लेना, इसी को कर दो। महीना भर हो गया, चुप्पी है। हमारा नाम-प्लेट भी कहीं मारा ही गया समझो। खैर, ये बातें कलकत्ते में होंगी।

इस पत्र के उत्तर की, पूर्ण उत्तर की, आपके आने की प्रतीक्षा है।

आपका
श्रीचन्द्रधर शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[९]

जयपुर भवन, मेयो कालेज,
अजमेर
२७.८.२०

प्रिय झाबरमल जी, सप्रेम नमस्कार।

प्रतापगढ़ से राज श्री १०८ श्रीमती बाई जी साहिबा ने मुझे लिखा है कि आपका पत्र, साथ में मेरा पत्र, 'भारतीय गोधन' तथा 'आख्यायिका सप्तक' नामक दो पुस्तकें जो आपने उन्हें भेजी थीं, वे उन्हें मिलीं। उन्होंने मुझे लिखा है कि मैं उनकी ओर से आपको धन्यवाद दूँ। आपके निःस्वार्थ प्रेम से वे बहुत प्रसन्न हुई हैं। उनके पत्र का कुछ प्रकृत अंश यह है—

"कलकत्ते से पं० झाबरमल जी का पत्र मय आपके पत्र के और दो पुस्तकें 'भारतीय गोधन' और 'आख्यायिका सप्तक' मेरे पास पहुँच गई हैं। 'भारतीय गोधन' के शुरू में भाई का चित्र और चरित्र बहुत अच्छा यथार्थ लिखा हुआ है। मैंने सब रो रो के पढ़ा। उस परम पवित्र स्वर्गीय आत्मा के सद्गुणों की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। झाबरमल जी के इस प्रशंसनीय कार्य के लिए बहुत हार्दिक धन्यवाद हैं। आप मेरी तरफ से उनके पत्र का उत्तर लिख भेजने की कृपा करें। स्वर्गीय श्री दरबार की इच्छा शेखावाटी का इतिहास लिखाने की थी सो भी झाबरमल जी लिख रहे हैं सो उनका यह निःस्वार्थ कार्य बहुत प्रशंसनीय है। ऐसा करनेवाले अबकी बखत में थोड़े हैं। यह कार्य करना तो···जी···जी को चाहिए था पर वह तो दुनिया के झगड़े में फंसे बैठे हैं, ऐसे कार्य करने की उनको फुरसत कहाँ ? दूसरी पुस्तक के साथ नहीं करके भाई, दरबार के जीवन चरित्र को अलग पुस्तकें बनाई जायँ तो ठीक है। मेरी यह इच्छा है, आपकी क्या राय है सो कृपा कर लिखें और दोनों जीवन चरित्र बनाने में खरच क्या लगेगा सो भी लिखें। यह कार्य इन झाबरमल जी से आशा है कि अच्छी तरह से हो सकेगा। इनको मैं अब तक नहीं जानती थी इस पत्र से सब मालूम हुआ।"

आप बाई जी साहिबा को पत्रोत्तर लिखें तथा जो उन्होंने पूछा है उसका उत्तर दें।

आपका मित्र
श्रीचन्द्रधर शर्मा

[१०]

रेवाड़ी
१९.६.२२

प्रिय आपद् में स्मरणीय झाबरमल जी, नति।

कबूतर को कुआँ दीखता है। काशी की गर्मी असह्य हो पड़ी। बाबू साहब से आपने परिचय किया, परामर्श दिया, पत्रिका तथा सूर्यकुमारी ग्रंथमाला पाई, 'कलकत्ता-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाचार' दिया, मित्रता हुई। मैं सपरिवार (बूआ जी को काशी ही छोड़कर) लखनऊ, कानपुर, आगरा होता अजमेर ओझा जी के यहाँ पहुँचा। वहाँ परिवार को छोड़ा कि वे बाई जी लाल के पास प्रतापगढ़ उनकी इच्छानुसार जावें। बाई जी ने समझा कि इन्हें भेजता है स्वयं नहीं आता। तार दिया कि अपने साथ लाना। मुझे गुलेर जाना था। राजा साहब का राज्याभिषेक (इसका वर्णन पत्र में छापने को भेजना है) था। धूमधाम से राज्याभिषेक कराया। वहाँ जगद्धर भी आया था। वहाँ से ता० ३ को चला। महारानी विजयनगरम् का निमंत्रण तथा तार मिला कि कन्या के विवाह पर अवश्य आओ। विवाह चौमू के राजा कँवर राजसिंह से हुआ है। सीधा काशी गया, ५ दिन रहकर बरात की स्पेशल में लौटा। ७ घंटे जयपुर रहकर अजमेर गया। योगा, शक्ति, अदिति क्रम क्रम से ज्वर भोग चुके थे। बिसाऊ का पत्र आया कि अत्यावश्यक कार्य है, मुझसे मिल जाओ। अब सबको प्रतापगढ़ भेजा तथा स्वयं बिसाऊ गया। शेखावाटी के अन्तर्दर्शन किए, उष्ट्र-टैक्सियों को स्थान स्थान पर बैठे पाया तथा रथ-लौरियों को। बिसाऊ में एक कन्हैयालाल वैद्य तथा व्याकरणाचार्य बसते हैं, वो आपके साले बनते हैं किंतु उन्हें पता नहीं कि आपने अपना आशियाना कोडरमा बना लिया है तथा 'कलकत्ता समाचार' फिर निकलने लग गया है।...'लस्टिक' की लीला सुनी ही होगी। बिसाऊ में गए २० ही घंटे हुए थे कि स्वामी लक्ष्मीराम जी का तार आया कि मध्यम हैजे से अति पीड़ित dangerously ill है पहली ट्रेन से चले आओ। पैरों तले जमीन निकल आई। रातों रात चलकर चूरू आया, हिसार आया, वहाँ से मार्ग में भिवानी को नमस्कार करके यहाँ पहुँचा। भाग्य की गति देखिए। मेरे मन की यह अवस्था और ट्रेन का कनेक्शन चूक गया। हिसार की गाड़ी सवा घंटे लेट थी। अब यहाँ दिन भर पड़ा हूँ। रात को परमेश्वर कल्याण करे नहीं तो मेरी बुरी अवस्था है। चिन्ता से कुछ लिखा नहीं जाता।

काशी में ज्वर पाया, पीलिया हुआ, बहुत दुबला तथा अशक्त हो गया हूँ। इधर लगातार गर्मी की यात्रा ने बुरा हाल कर दिया है, तिस पर यह आशंका। परमेश्वर पाहि माम्।

आपका कातर
श्रीचन्द्रधर शर्मा

[१०]

नागरीप्रचारिणी सभा
बनारस सिटी
१६.८.२२

प्रिय झाबरमल जी, नति।

और बातें पीछे—आपके लिये प्रास्पेक्टस कल जाना है। घनश्यामदास बिड़ला सभा में आए थे। हमारे बाबू जी मिले। सब देखा भाला, कह गए हैं कि हम ता० १२ अगस्त तक कलकत्ते पहुँच जावेंगे। उस समय जो कर सकेंगे वह करेंगे। सभा से उनके पास पत्र गया ही है। आपसे प्रार्थना है कि उनसे मिलिए। उन्हें खूब उत्साहित करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कुछ करवा सकें, वह करवाइए। वे सभा की सब आवश्यकताएँ देख गए हैं—अब आपका काम है कि भरभरा दें। इस काम को आप ही करें। चौबे जी[1] से इस मामले में सहायता मिलने की कम संभावना है क्योंकि वे बरात में लाहौर[2] साथ न जाने के लिए बाबू जी तथा हमसे अधिक प्रसन्न न होंगे। बाबू साहब जब कलकत्ते गए थे तब आपने तो जैसा सत्य स्पष्ट व्यवहार मुझ जैसा किया था उसे सराहते थे। चौबे जी की कुछ भारतमित्री लटक उस समय उन्हें दिखाई दी थी। भवतु, यह प्राइवेट है।

आपने सभा का गोसाईं तुलसीदास जी की त्रिशतवर्षी पर जो आयोजन करने का विचार है वह पढ़ा सुना होगा। आपको सुनकर हर्ष होगा कि अलवर नरेश ने पाँच सहस्र देने को कहा है—तुलसी-ग्रंथमाला के प्रकाशन के लिये।

सूर्यकुमारी मिलती होगी, पत्रिका भी।

प्रोफेसर प्राणनाथ विद्यालंकार मिले ही होंगे।

मुझे बहुत कहना है, बहुत लिखना है, आधि को आँधी आप तक पहुँचाए बिना उफान कम न हो सकता है। आप क्या इधर न आओगे? एक दो दिन साथ रहते तो सब घटना दुर्घटना कह डालता—बहुत बोझ छाती पर है। न आते हो तो लिखूँगा तो सही।

कुँअर साहब को आशीर्वाद। पत्रोत्तर भेजिएगा। मिश्र जी कहाँ हैं?

आपका

श्रीचन्द्रधर शर्मा

[१२]

ॐ नमः शिवाय

विजयनगरम् महल

भेलूपुरा

श्री काशी जी

३.६.२२

प्रिय झाबरमल जी,

एक लम्बा पत्र मिला ही होगा। मध्यम के प्रयाण के ११वें दिन जगद्धर की डेढ़ वर्ष की कन्या गई। मध्यमा विधवा तथा क्षेमा लायलपुर गए। मैं रुगणा स्त्री के साथ यहां पहुंचा। उधर मध्यमा रुगण हुई, छोटी का गर्भ विकृत हुआ। छोटी बीमार होकर काशी पीहर आई। महीना भर बीमार रही। भाद्र शुदि नवमी को उसका काशीवास विकृत गर्भ से हो गया। कहिए कैसा कर्मभोग है। क्या साहित्य-सेवा हो, क्या पूजन-

---

१. हास्यरसावतार, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

२. हिंदी साहित्य सम्मेलन, लाहौर जिसके सभापति जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी थे।
—सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यान और क्या मित्रों का पत्रालाप । हाँ, आज कार्ड मिला है कि मिश्र जी रामरूप जी वैद्य के साथ कलकत्ता जाते हुए कल यहाँ आ रहे हैं; चलो कुछ घंटे कोई अपना दुखड़ा रोने को मिलेगा । उनके द्वारा आपको सन्देश भेजूंगा । आशा है कि आप प्रसन्न हैं। छन्नूलाल मिलता रहता है—वही जिसे ज्वालानाथ जी आपसे मिला लाए थे ।

आपका
श्रीचन्द्रधर शर्मा

To

Pandit Jhabarmal Ji[1] C/o
The Calcutta Samachar,
8/1, Ram Kumar Rakshit Lane
Chainti path, Bara Bazar Calcutta.

गुलेरी जी के नाम पत्र

महामना मदनमोहन मालवीय के पत्र

[१]

अभ्युदय
२४.२.१९०४

प्रिय चंद्रधर जी ! नमस्कार ।

आपका दूसरा लेख और पत्र पहुँचे । यह लेख लीडर की रीति से 'अभ्युदय' की आगामी संख्या में छपेगा । मैं उसका प्रूफ पास कर चुका हूँ। लेख के मैंने दो विभाग कर दिए हैं । राजा साहब का मत एक और आपकी टिप्पणी दो, दोनों ही इसी संख्या में छपते हैं।

मैंने चाहा था कि मैं लेख की नीति को कुछ कर सकूं। कहीं-कहीं कुछ शब्द बदले, किंतु विशेष नहीं बदल सका । अनुवाद में भी और स्वतंत्र लेख में भी भावों को प्रकाश करने के लिए कठिन संस्कृत-शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है । मुझसे भी सरल भाषा नहीं लिखते बनती, आपसे भी । लेकिन फिर भी यत्न कर रहा हूँ, आप भी कीजिए और जहां तक हो सके सरल भाषा के तद्भव शब्द और उन फारसी-अरबी शब्दों के, जो हमारे लेखों को समझ सकें । अभ्यास से यह सिद्ध होगा । यह बात हमको बहुत संतोष देती है कि आपके और हमारे विचार—जैसे धर्म के विषय में मिलते हैं, वैसे

1. इस अन्तिम पोस्टकार्ड पर गुलेरी जी ने ३.६.२२ ता० डाली है यह ६.६.२२ को शर्मा जी को मिला था ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति में भी। आशा है कि सदा हमारे और आपके विचार मिलते रहेंगे।

'अभ्युदय' का भार आप अपने ऊपर समझिए। मुझको अपना सहायक समझिए। मैं सदा आपका इतना काम नहीं कर सकूंगा, जितना इस समय करता हूँ और यह आपके कार्यों का हर्ज करके कर रहा हूँ। यदि आप स्वतंत्र होते और यहां आप इसकी सम्पादकता का पूरा भार अपने ऊपर लेते तो मैं विश्वविद्यालय के काम से तुरंत बाहर निकल जाता। यदि आप यहीं आ सकते हों, तो लिखिए। किसको यह भार अर्पण करूँ? बालमुकुन्द गुप्त जी को लिखा था, उन्होंने कहा कि एक महीने बाद करूँगा। फिर भी मैं आ सकूंगा या नहीं। शायद वे न आ सकें। हिंदी-पत्र का सम्पादक मिलना कठिन हो रहा है। सौ रुपये मासिक तक तो मैं देने को तैयार हूं, अधिक भी देना आवश्यक हो तो देने को तैयार हूं, किंतु एक पुरुष भी नज़र नहीं आता, जो इस काम को उठावे। यह हमारे देश और हमारी भाषा की दशा है। खैर, जो कुछ हो, जहाँ तक समय निकाल सकिए, टिप्पणी और लेख प्रति सप्ताह भेजिए। अभी प्रति सप्ताह आपकी आवश्यकता है। आगे चलकर चाहे कम भी कर दीजिएगा।

मुझे निश्चय है आपके लेखों को पढ़कर लोगों को पत्र से प्रीति होगी। अधिक क्या लिखूं, धन्यवाद। आपका किया, तो अपने का किया। ईश्वर आपके द्वारा देश का उत्तम उपकार करावे।

आपका
मदनमोहन मालवीय

[२]

॥श्री॥

वेल वीडियर
नैनीताल
१४.६.०६

प्रिय चंद्रधर जी,

नमस्कार !

आपका कृपापत्र और विश्वविद्यालय के प्रास्पेक्टस का अनुवाद पहुँचा। बहुत प्रसन्नता हुई। विलंब होने के कारण चित्त को संकुचित न कीजिए। सब काम अपने समय पर होता है। अंग्रेजी पुस्तक को अवश्य अपने पास रखिए।

मैं हृदय से चाहता हूं कि आप कुछ दिन की छुट्टी लेकर मेरे साथ रहें। अपने पवित्र सनातन धर्म और देश की सेवा करने की आप में शुद्ध वासना और योग्यता दोनों वर्तमान हैं, और मेरी ईश्वर से यह प्रार्थना है कि आपके समान दो चार ब्राह्मणत्व की महिमा और ब्राह्मणों के कर्तव्य को समझने वाले ब्राह्मण नवयुवकों को अभी से धर्म और देश की सेवा में युक्त कर दें। कर्त्तव्यों को जब देखता हूँ और कर्ताओं को नहीं देखता तो दुखी होता हूँ, किंतु फिर भी उन्हीं का स्मरण कर चित्त को शांति और ढाढ़स देता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हूँ, जिनकी अनभ्र दया से अशक्त भी शक्तिमान होकर सब कुछ कर सकते हैं। यदि आप अभी छुट्टी लेकर आ सकें तो ३ महीने तक मेरे साथ देश के भिन्न-भिन्न भागों में घूमकर आइए। मैं विजयादशमी के एक दिन या दो दिन उपरांत विश्वविद्यालय के कार्य के लिये यात्रा प्रारंभ करूँगा।

यदि आप नहीं आ सकते तो इच्छा ईश्वर की मानकर फिर भी अपने धर्म के कार्य का भार उठाने के लिये दिन प्रतिदिन तैयार करते जाइए। इस भार को उठाने वालों की संख्या कम है, उस संख्या को बढ़ाना हमारा आपका धर्म है।

हिंदी में साप्ताहिक पत्र निकालने का अब मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है। महीने भर के लगभग में आशा है पत्र निकल जायगा। आप उसके लिये जहाँ तक हो सके प्रति सप्ताह एक लेख भेजिएगा। प्रथम संख्या के लिये लेख भेजिए और सुयोग्य मित्रों को लिखने के लिये सन्नद्ध कीजिए। चंदा ३ रु० वार्षिक डाक महसूल सहित रखने का विचार है। नाम अब तक "अभ्युदय" ही अच्छा मालूम होता है। किंतु सर्वसाधारण को सुबोध नहीं होगा। इसलिये दूसरा कोई नाम आपको अच्छा मालूम हो तो लिखिएगा। इस भाग का उत्तर तुरंत लिखिएगा। "सूर्योदय" कैसा होगा? मैं यहाँ कदाचित् एक सप्ताह और रहूँगा।

आपका
मदनमोहन मालवीय

[३]

।।श्रीः।।

बहराइच
डाकबँगला
७.१.१९१०

प्रिय चंद्रधरजी ! नमस्कार

कांग्रेस का कार्य ईश्वर की दया से और आप ऐसे सन्मित्रों के सुभाशिषों से भली प्रकार हो गया। आपको यह भी समाचार पढ़कर प्रसन्नता अवश्य होगी कि मैं सुप्रीम कौंसिल का मेम्बर चुना गया हूँ। ईश्वर से प्रार्थना कीजिए कि इस घटना से कुछ देश का हित साधन हो।

मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है उसके सुधारने का यत्न कर रहा हूँ। आशा है थोड़े दिनों में अवश्य सुधर जायगा। मुझको कुछ अमलबेत नींबू चाहिए। सुना है जयपुर में बहुत अच्छे मिलते हैं। यदि यह सत्य है तो कृपा कर छः नींबू या चार प्रयाग भेज दीजिए। मैं पाँच दिन में यहाँ से प्रयाग जाऊँगा। आपके पूजनीय पिताजी महाराज का स्वास्थ्य अब आशा करता हूँ अच्छा है। कृपा कर समाचार लिखिएगा।

आपका
मदनमोहन मालवीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवानदास जी का पत्र

अभ्युदय कार्यालय
इलाहाबाद
७.६.१०

मान्यवर महोदय,

प्रणाम,

आपका कृपा-पत्र पाकर अनुगृहीत हुआ। खेद है कि कार्य अधिक होने के कारण पत्र का उत्तर देने में कुछ विलम्ब हुआ, उसके लिए आशा है क्षमा करेंगे।

मैं झूठ नहीं बोलता। अवश्य ही मैंने एक सज्जन को जो मेरे एक मित्र के साथ आए थे यह बात बताई कि मीराबाई के लेख के लेखक आप हैं। अवश्य ही मेरा यह कार्य सम्पादकीय धर्म के विरुद्ध हुआ है किन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि पहले तो मैंने नाम बताना अस्वीकार किया किन्तु पीछे केवल इसलिए बता दिया कि यह लेख राजनीतिक नहीं किन्तु धार्मिक और ऐतिहासिक है। फिर भी यह भूल हुई है और आपके निज के आदमी से हुई है। इसके लिए मैं अन्तःकरण से दुखित हूँ और क्षमाप्रार्थी हूँ। आशा है कि आप मुझे अवश्य क्षमा-दान देंगे। भविष्य में किसी भी लेख का किसी को पता न दिया जायगा यह आप विश्वास रखें। मैं फिर कहता हूँ कि किसी बुरे उद्देश्य या लापरवाही (Carelessness) से मैंने उक्त लेख के विषय में आपका नाम नहीं बताया किन्तु जानबूझकर जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है कि लेख राजनैतिक नहीं था। भविष्य के लिए आप निश्चिन्त रहें, ऐसा कभी न होगा। एक पुराण-प्रसंग आपका पत्र आने से पहले छप गया, दूसरा यथासंभव शीघ्र छपेगा। आपका यह लिखना उचित है कि, "और लेखों के लिए क्या यह उचित नहीं है कि मैं आपके पत्र की प्रतीक्षा करूँ और विचार करूँ।" मैं अब यही निवेदन कर सकता हूँ कि ऊपर मैंने जो कैफियत दी है उससे पूर्ण रूप से न्याय करेंगे और जैसा उचित होगा मुझे छोड़ें या दण्ड देंगे। खेद है कि आपने साहित्य सम्मेलन सम्बंधी लेख भी अभी भेजने की कृपा नहीं की। आशा है कि अपराध क्षमा कर उसे भेजकर शीघ्र अनुगृहीत करेंगे।

अभी तक ऐंट्रेंस का नतीजा नहीं निकला। निकलने पर भेजा जायेगा। आपका पहले कार्ड भी आया। बाबू रामगोपाल ने मालवीय जी के सभापति बनाने के लिए भेजा है। मुझ पर कृपा-दृष्टि बनी रहे। जब आप पहले मेरे नाम से लेख भेजते थे तो मैंने जोशी जी को खिन्न देखा। मैंने आपको लिख दिया कि आप मेरे नाम से लेख न भेजें क्योंकि मेरा यही उद्देश्य था कि लोग खिन्न भी न हों और 'अभ्युदय' पर आपकी कृपा भी बनी रहे। मैंने जो कुछ किया अच्छे उद्देश्य से किया। मैं अपनी भूल का समर्थन नहीं करता किन्तु हृदय की बात कहता हूँ।

भगवानदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का पत्र

मार्गशीर्ष कृ० ३०, संवत् १९६८ वि०

मान्यवर !

बहुत दिनों से आपका कोई पत्र नहीं आया। सिर्फ कभी-कभी बड़े विद्वानों की बड़ी-बड़ी बातों में आपका 'महद्‌यशी' नाम सुन लेता हूं। मेरे एक बंधु ने उस नाम से सम्पर्क चाहा है। वह जसरापुर के पं० झाबरमल्ल शर्मा हैं। बम्बई के 'भारत' अखबार में यही लिखा करते थे। होनहार आदमी हैं। आपके पड़ोसी हैं और आयुष्मान् हैं। उनका पत्र आपको मिलेगा, उन्हें अपना लेना। मेरी प्रार्थना है।

आपको अवश्य ही यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी कि जब तक सम्राट् भारत-वर्ष में रहेंगे, तब तक 'भारतमित्र' दैनिक प्रकाशित होगा। यह कार्य आप जैसे विद्वान सहायकों के ही भरोसे किया जा रहा है। परंतु, दोनों भाषाओं में समान योग्यता रखने वाले आप जैसे बिरले विद्वान उस दुस्साध्य कार्य को भी साध्य कर दिखाते हैं। क्या नवभावपूरित कोई कविता इस समय आप न भेजेंगे? अवश्य ही 'भारतमित्र' में बहुत-सी त्रुटियां रहती होंगी, परन्तु वे हम लोगों को नहीं मालूम होतीं। यदि आप समय-समय पर उनकी ओर हमारा ध्यान गुप्त नाम से ही सही, आकृष्ट करते रहें, तो बड़ी कृपा हो।···

आपका
अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी जी का पत्र

[१]

३२, अरमीनियन स्ट्रीट,
कलकत्ता
आषाढ़ कृष्ण ६, १९६८
५/७/१९११

प्रियवर गुलेरी जी, नमस्कार।

आपके तीन कृपापत्र लगातार आये। मैं रविवार को ही पत्र लिखता हूँ अतएव आज तीनों पत्रों के उत्तर लीजिए। कुछ विलंब अवश्य हुआ है, उसके लिये क्षमा भी माँग लेता हूँ।

आपने जो 'भारतमित्र' में पंडित बदरीनारायण चौधरी के लिए लिखा है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपने देखा होगा।

यहाँ की हि० साहित्य परिषद् ने भी उनके लिए लिखा है। 'अभ्युदय' में परिषद् की चिट्ठी छप चुकी है। वास्तव में वही इस समय सभापति होने के योग्य भी हैं। जौहर का जौहर भी निराला है। वह हमारी राय में नहीं हैं। पं० अमृतलाल और महावीरप्रसाद आजकल यहाँ नहीं हैं। हाँ, बाबूराव जी अपने मेल में हैं। यह आप जानते ही होंगे कि आजकल भा० मि० के संपादक अंबिकाप्रसाद जी हैं।

(२) सचमुच आपने 'निदर्शन' पर उचित सम्मति भेजी है। आपकी चिट्ठी पढ़कर मैं तो प्रसन्न हुआ ही पर मनसाराम जी भी बड़े ही प्रसन्न हुए। वह आपकी बहुत प्रशंसा करते हैं। सच्ची समालोचना इसी का नाम है। आपकी सम्मति आपके नाम सहित ज्यों की त्यों भारतमित्र में निकल जायगी।

(३) 'अधिकार चर्चा' नाम का लेख भी खासा है। वह भारतमित्र-संपादक के पास भेज दिया है। आपका नाम नहीं रहेगा। कोई कल्पित नाम दे दिया जायगा। अगले सप्ताह उसके निकल जाने की आशा है। अच्छा, यह तो कहिए कि सम्मेलन के समय आपके दर्शन मिलेंगे या नहीं! यदि आप नहीं आयेंगे तो मैं भी न जाऊँगा।

यहाँ कुशल है। आशा है वहाँ भी होगी।

सदैव आपका मित्र,

जगन्नाथ

[२]

भारत मित्र,
कलकत्ता
१५ सं० १९६९

प्रिय गुलेरी जी,

नमस्कार।

कहानी तथा पत्र आया। कहानी आप जरूर गढ़ डालते हैं पर चटपट नहीं। अगर चटपट गढ़ सकते हों तो एक और गढ़ डालिए। बारह महीने में एक गढ़ ही ली तो क्या हुआ। सचमुच आप बड़े ढीले हैं। जो हो आपकी कहानी बड़ी मजेदार और सुन्दर हुई है। बड़ा आनन्द आता है इसी से कहता हूँ कि और। होली की टिप्पणियां भी खासी थीं। क्यों न हो, आप आप ही हैं।

भवदीय
जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रायकृष्णदासजी का पत्र

बनारस सिटी
२५.४.१९१२

प्रियवर गुलेरी जी महाराज,

प्रणाम !

कृपा पत्र मिला। हम जो उलहना आपको देने वाले थे वही आपने हमें दिया। नतीजा यह हुआ कि हमारा उलहना व्यर्थ हो गया। वह, वह केवल वाग्विलास मात्र रह गया। आपके उलहने की जय हुई। इससे इतने दिनों तक पत्र न लिखने के हेतु क्षमास्व। हम आपकी कृपा से सुप्रसन्न हैं और हिंदी की ओर तथा उसके बुरे नहीं, भले सेवकों की ओर हमारा वही भाव है जैसा कि हमारे सौभाग्य से आपने प्रयाग में देखा था।

श्रीयुत ओझा जी महाराज को हमने तार दे दिया है। वे काशी में जब चाहें आवें, हम उनके स्वागत को तैयार हैं। हमारे लिए यह सौभाग्य-विषय है। आपको याद होगा हमने आपको एक बार चंद्रगुप्त विषयक कुछ प्रश्न ओझा जी से पूछने को लिखे थे। हमारे दुर्भाग्य से आपको ऐसा अवसर प्राप्त नहीं हुआ कि आप उन्हें पूछ सकें। यदि इस समय वह पत्र मिल सके तो भेज दीजिए। कृपा होगी।

हिन्दी के ना खुदा (नास्तिक) ना खुदा (कर्णधार) और चिंतनशील ही नहीं विचारशील···का भी प्रेमपूर्वक नमस्कार स्वीकार करिये।

कई कारणों से (जिन्हें मिलने पर कहेंगे) 'सरोज' कुछ दिनों के लिए बंद कर दिया है। आशा है कि 'सरोज' कभी-न-कभी जरूर विकसित होगा। पर शीघ्र नहीं।

आपके प्रश्नों का उत्तर मैं 'सभा' से पूछकर शीघ्र दूंगा। कोष का 'अ' प्रेस में गया। 'आ' की कापी दुहराई जा रही है। आशा है कि आधी मई तक वह भी प्रेस में चला जायगा। ऋण के विषय में भी हम लोग निरुद्योग नहीं।

कलकत्ते के सम्मेलन में चलने का इरादा तो है।

उधर 'मर्यादा' की एक संख्या में आपके कई वैदिक लेख निकले थे। उस दिन की प्रबंधकारिणी समिति में भी आपका एक ऐसा ही लेख लेखमाला के लिए आया था। क्या आपका इरादा कोई वैदिकेतिहासिक पुस्तक लिखने का है? यदि 'हां' तो बड़े ही हर्ष का विषय है, यदि नहीं है तो हमारी आपसे प्रार्थना है कि वैदिक ग्रंथों को मथकर नए नए तत्त्व निकालिये। यह काम आप ही लोगों का है। पाश्चात्यों ने उस क्षेत्र में जो काम किया है उस पर हमारे देशियों को सन्तोष न करना चाहिये। बल्कि कृतज्ञतापूर्वक उनका अनुकरण करना चाहिये। इसलिये, गुलेरी जी महाराज हाथ जोड़कर आपसे हमारी प्रार्थना है कि जरूर वैदिक साहित्य से नई-नई ऐतिहासिक बातों को निकालकर दरिद्रिनी हिंदी को धनवती बनाइये। आप लोग ही हिंदी के विषय में उदासीन रहेंगे तब हिन्दी की उन्नति क्या चन्द्रकान्ता या गोस्वामी जी की चपला से होगी। यदि आप यह कहें कि अभी हिंदी में वैसे पाठक नहीं तो निवेदन यह है कि वैसे पाठक बनाने से बनेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुपचाप बैठे रहकर प्रतीक्षा करने से वैसे पाठक कहीं आपसे आप न पैदा होंगे। यत्नात् सिद्धिः न दैवतः।

इसी से मिलता-जुलता हमारा एक और प्रस्ताव है। महाभारत पर भी ऐतिहासिक दृष्टि और विचार से एक पुस्तक बनाने की जरूरत है। हम मानते हैं, महाभारत का यद्यपि कोई अच्छा अनुवाद हिंदी में नहीं है तो भी महाभारत के अनुवादों का अभाव भी नहीं। साथ ही प्रायः हिंदी-भाषियों में से थोड़े ही ऐसे मिलेंगे जो भारतीय युद्ध की कथा से अज्ञ हों। ऐसी अवस्था में भारत की यदि एक ऐतिहासिक आलोचना यदि इसी हिंदी में प्रकाशित हो तो इससे हिंदी-पाठकों का बहुत उपकार होगा। उनके विचार की सीमा ऐसे ग्रंथों से बढ़ेगी, दूसरे संस्कृतज्ञ पण्डित को भी इस तरह की चीज़ से यह जानने का मौका मिलेगा कि हमारे प्राचीन ग्रंथों के सम्बन्ध में क्या-क्या खोज आजकल के पुरातत्त्ववेत्ताओं ने की है। और इस प्रकार से तभी शायद इस पथ पर चलने की कोशिश—नहीं, नहीं, इच्छा करें और नयी-नयी बातें खोज निकालें।

आज तक श्री चिंतामणि वैद्य रायबहादुर की महाभारत पर, अंगरेजी पुस्तक हम देखते रहे हैं। उसी के द्वारा यह भावना हमारे चित्त में हुई है। वैद्य जी की पुस्तक दोषों से खाली नहीं। फिर भी उन्होंने बहुत-सी नई बातें खोजी हैं। अब हमारी आपसे प्रार्थना है कि आप भी हिंदी में एक ऐसी किताब लिखें। मुमकिन है कि आपको बहुत ही कम अवकाश हो। इससे हमारी यह इच्छा नहीं कि आप यकबारगी इस काम को कर डालें। यह नहीं। जब अवकाश हो, कुछ-न-कुछ इस विषय को विचारिये और लिखिये। हमारी इच्छा और प्रार्थना, हठ और आग्रह, यही है कि आप इसे करें जरूर चाहे जल्दी से या देर में। आपकी किताब वैद्य जी से कहीं बढ़कर होगी। यह हमें निश्चय है।

वही, दास

देवीप्रसाद मुन्सिफ का पत्र

जोधपुर
१.३.१९१२

...। 'होनहार बालक' का दूसरा भाग छप गया। गलतियां रह गईं। अब तीसरे भाग का तकाजा है। अब जो कापियां आवेंगी, आपकी सेवा में भेजूंगा। प्रसवालों को ओलम्भा लिखा तो है, देखें क्या सुधार करते हैं। वही मसल हुई 'सौदाइयों का चारों तरफ से हजूम है। चोटी दिखा के यार के पीछे लगी।' आपने महाराजा साहिब, गुलेर को मेरी पुस्तकें लेने का शौक दिलाया, सो महाशय की मेहरबानी कदरदानी है। मैंने ही पांचों पुस्तकें वहां भेज दी हैं और आप श्रीमान् के नाम का, कृपा का हवाला-कार्ड भी लिख दिया है। जो सेवा मेरे योग्य हो, लिखते रहा करें। साहित्य-सम्मेलन की रिपोर्ट कब तक छपेगी?

आपका सेवक
देवीप्रसाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्र

[१]

ज्ञानमंडल, काशी
चैत्र सुदि १, मंगल, संवत १९७६

श्रीमन्मान्य महोदय,

प्रणाम। ३।३ को एक पत्र और "ढोल में पोल" आपकी सेवा में भेजकर मैं बाहर चला गया था। अभी कल वापस आया हूँ। पत्र की और 'पोल' की पहुँच नहीं पहुँची। इससे पहुँचने में संदेह है।

आशा है आप सानंद हैं। बिहारी के संबंध में कुछ मिला हो तो.........

हिंदी में जो कभी-कभी आप कुछ लिखते हैं वह पुस्तकाकार प्रकाशित हो तो अच्छा हो।

कृपापात्र
पद्मसिंह शर्मा

[२]

ज्ञानमंडल
श्री काशी
वै० १५।७६

श्रीमत्सु प्रणामाः।

बहुत दिनों से आपका कृपापत्र नहीं मिल। आशा है आप सानंद हैं। ज्ञानमंडल का सौर पंचांग और रोजनामचा आपकी सेवा में भेजा है। पहुँच लिखने की कृपा कीजिए। बिहारी और सतसई के संबंध में कुछ मसाला मिला हो तो भेजिए, आशा लगाए हूँ।

भवदीय
पद्मसिंह शर्मा

[३]

ज्ञानमंडल
काशी
४।३।१९

पंडित जी महाराज, प्रणाम।

कृपापत्र मिला, अत्यंत अनुग्रहीत हुआ। बिहारी बिहार, तीन महीने हुए मेरे पास भी इंदौर से पं० बनारसीदास ने तथा चौबे हरप्रसाद जी ने भेजा था, वही जो अब ना० प्र० पत्रिका में छपा है। वह रचना बिहारी की नहीं है। यह तो वह जबाने हाल से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुद कह रही है। अब देखना यह है कि उसकी बातें कहाँ तक ठीक हैं। शाहपुरे में उसके अस्तित्व की जाँच अवश्य कराइए। मुझे पिछले दिनों श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, जयपुर से मालूम हुआ था। उन्होंने एक पत्र में लिखा था कि डूंगरपुर महाराज के द्वारा जयपुर के राजकीय पुस्तकालय में बिहारी के संबंध में खोज हो रही है। उन्होंने इस पर यह अनुमान किया था कि मेरी प्रार्थना और आपकी (गुलेरी जी की) प्रेरणा से यह सब हो रहा है। चतुर्वेदी जी ने यह आशा भी प्रकट की थी कि इस खोज में बहुत कुछ पता चलना संभव है। जरा उस खोज की भी खबर लीजिए, क्या बात है। एक बात और सुनी है कि बिहारी के हाथ की लिखी सतसई जयपुर के राजकीय पुस्तकालय में है। 'बाबू श्यामसुंदरदास विमल बी० ए० पास' के अंतरंग मित्र डा० जगन्नाथदास रत्नाकर, जो इस समय अयोध्या राज्य के हर्ता कर्ता हैं, सतसई की एक बृहती टीका कोई तीस वर्ष से लिख रहे हैं, उनके अनेक एजेंट सतसई की पोथियाँ इधर-उधर से जुटाते फिर रहे हैं, विमल बी० ए० पास भी इस काम में उनके प्रधान सहायक हैं। रत्नाकर जी का एक एजेंट अभी १०-१२ दिन हुए, मेरे पास इसीलिए आया था कि मेरे पास सतसई की जो दो एक लिखित टीका हैं वह मैं रत्नाकर जी को दे दूँ क्योंकि वह सतसई का पाठ शुद्ध कर रहे हैं। आजकल जो सतसई छपी है या मिलती है, प्रायः सब अशुद्ध है। रत्नाकर जी के हाथ जो पोथी जयपुर से लगी है वह सबका फैसला कर देगी। यह समाचार कहाँ तक ठीक है? जिस तरह हो बिहारी का कुछ पता जरूर चलाइए।

पं० शालग्राम शास्त्री खुद उस्ताद हैं, उन्हें भला मैं क्या लिखता! यह सब आपका 'हुस्ने जिन' है, जो इस नाचीज बंदे के बारे में ऐसा ख्याल फरमाते हैं।

'ढोल की पोल' में मेरा कुछ नहीं है, मेरे पास यहाँ जो कापी है, वह आज की डाक से हुजूर की खिदमत में भेज रहा हूँ, कबूल फरमाइए।

कृपापात्र
पद्मसिंह शर्मा

[४]

नायक नगला, पो० चाँदपुर, बिजनौर
७।६।२०

श्रीमत्सु माननीय महाभागेषु सादरं प्रणामाः।

मुरादाबाद के पते पर भेजा हुआ कृपापत्र यथासमय वहाँ पहुँच गया था पर उत्तर में कारणवश विलम्ब हुआ, इसके लिए मैं लज्जित हूँ, क्षमा कीजिए। आप समझते होंगे कि 'कीने' के कारण मैंने उत्तर नहीं दिया। यह बात नहीं है, मेरा सीना 'कीने' से शक है, मैं शुतरकीना नहीं हूँ, फिर आपमें तो मेरी विशेष आदर बुद्धि है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप शोध सम्बन्धी पत्र निकालने का उपक्रम कर रहे हैं, यह जानकर हर्ष हुआ। हिंदीवालों का सौभाग्यसूर्य इतने दिन बाद उदय होने को है, इसका किसे हर्ष न होगा। हिंदीवालों के चिरदारिद्र्य को दूर कर दीजिये। भारत के प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों पर अंग्रेजी में अब तक जो लिखा गया है वही यदि हिंदी में हो जाये तो भी बड़े काम की बात हो। आप लोग तो जो कुछ भी लिखेंगे उसमें बहुत कुछ नवीनता होगी। अनेक अद्‌भुत रहस्यों का उद्‌घाटन होगा। 'खोजखाज'[1] की अच्छी छीछालेदर होगी। योरोपीयन और उनके चेले हिन्दोस्तानी रिसर्च स्कालर बहुत से विषयों में जो अज्ञान फैला गये हैं उसका निराकरण हो जायगा, इत्यादि बहुत सी आशाएँ हैं जिनका पूरा होना आपके थोड़े से ध्यान पर निर्भर है। पर गुस्ताखी माफ हो, आप बड़े ही कंजूस और अनुदार हैं। आपको अपनी दीन हीन जाति पर जरा भी दया नहीं आती। आप जैसे अलौकिक गुणशाली पुरुष जिस जाति में हों उसकी यह हीन दशा देखकर दुःख होता है। बंकिमचंद्र और रमेशचंद्र हिन्दी भाषा भाषियों में भी हैं परंतु हिंदीवालों का दुर्भाग्य है कि उनके लिए कुछ भी नहीं है। मुझे बार-बार ख्याल आता है कि क्या कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो आपको बलात् पकड़कर इधर लगाये और जो कुछ आपके अन्दर भरा है सब उगलवा दे। मेरा ख्याल है, दृढ़ धारणा है कि आप जैसा विद्वान् और सहृदय लेखक हिंदी में या हिंदी भाषा-भाषियों में दूसरा नहीं है। आप आधा समय भी साहित्य सेवा के लिए दे सकते तो गरीब हिंदी का दारिद्र्य दूर हो जाता। पर देश का दुर्दृष्ट कुछ नहीं करने देता, किन्तु दुःखमतःपरम्। नहीं मालूम यह विचार आपको क्यों विगलित नहीं करता, क्यों आपका हृदय नहीं पसीजता। क्षमा कीजिए, बहुत कुछ बक गया। हाँ, तो जो पत्र निकलेगा उसके 'संपादक' मनोरंजन ग्रंथमाला की तरह श्यामसुन्दराचार्य होंगे और आप लोग लेखक गण, मेरी राय में यह लक्षण कुछ अच्छा नहीं है।

खोज के बारे में भला नई बात क्या लिखूंगा। इस विषय में बिलकुल ही कोरा हूँ, फिर भी जो हो सकेगा, मौजूद हूँ। पत्र निकालिये तो। पत्र कब तक प्रकाशित हो जायगा ? आप अजमेर कब तब जायेंगे ? आशा है आप सानंद हैं।

भवदीय,
पद्मसिंह शर्मा

१. प्रतिभा : मई, १९२० ई० के अंक में प्रकाशित गुलेरी जी की टिप्पणी 'खोज की खाज'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत-साहित्य

शिवाऽर्चनम्

सृजते, पालनकर्त्रे, सहर्त्रे धारयित्रे नः ।
ईशित्रे, परपित्रे, नमो नमस्ते जगद्भर्त्रे ।

नहि हर ! प्रतिमासु रतिः कृता,
न च मया श्रुतयः परिशीलिताः ।
भवतश्चरणाम्बुजे मुनिव्रते,
मम नतिप्रतिपादनधृष्टता ॥१॥

सकरुणं रणतो भवतः पुरो
नहि मम क्षणदाक्षणदाजनि ।
गणपतात ! कुतः कृपणो भवान्
वितरणे करुणैककणस्य मे ॥२॥

विदितमेव शिवोऽस्य शिवैः कथम्,
जगदनिष्टविचारणचुञ्चुभिः ।
तिलकलिप्तललाटमदालसै-
र्विषयकीटजनैरवलोक्यसे ? ॥३॥

लालाटिकोऽपि यदि लागुडिकस्तवस्याम्,
"नायं प्रसङ्ग" इति भङ्गिविनस्ततभ्रूः ।
देशाय, सत्यमिति भीषितदेववृन्दात्,
स्वातन्त्र्यशौर्यसुषमामिह दापयेयम् ॥४॥

तदपि सोऽहमितिश्रुतप्रत्ययाद्,
भगवतो भवतो दिशि कर्षितः ।
किरति किं न रवेर्दिशि तत्प्रियो,
लघुरपि स्वकराणि स प्रस्थरः ॥५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावत्कपूजनमिषेण सुरालयेषु ।
पापानि कानि च कृतानि, मया महेश !
दोषो न मे, यदि भवेद्भव दर्शयस्व,
पापोपयोगि, निजवासविहीनदेशम् ॥६॥

माले मलीनासि, जपापसर्प,
सन्ध्ये न सन्धिर्घटते तवात्र !
पारायणासि त्वमरण्यरोदी,
त्वं भस्म भस्मैव, नतिर्न नुत्या ॥७॥

ये साधनत्वेन वृता भवन्त-
स्ते बाधकत्वं गतवन्त इत्थम् ।
दम्भार्पितोत्कोच वशीकृताः स्थ,
तच्छस्त्रभूताः कुटिला वृथैव ॥८॥

[२७. ७. १९०५ ई०]

ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति

"त्रैगर्तभूपकुल मान्यपुरोहितानाम् ।
मूर्द्धा प्रसिद्ध-मणिवत्कुलमौलिरत्नम् ॥
वाराणसेयबुधवन्दितशास्त्रसम्पन् ।
मत्स्यप्रदेशनृपपूजितपादपद्मः ॥
अध्याप्य सर्वशास्त्राणि ब्रह्मविद्यापरापरे ।
छात्रान् सहस्रशः श्री १०८ श्रीशिवराममहायशाः ॥
आप्तकामः सत्यकामो मुक्तकर्मफलस्पृहः ।
चतुर्भद्रतरो लोकात्सुकर्मा भूरिदक्षिणः ॥
मार्गासित-चतुर्दश्यां पराह्ने बुधवासरे ।
जीर्णवासस्तनुं त्यक्त्वा ब्रह्मभूयमवाप्तवान् ॥

विलपन्तः
चन्द्रधरसोमदेवजगद्धरयोगेश्वराः
जयपुरम्

मार्गशुक्ल ३ सं० ६७

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि ।
तरति शोकमात्मवित् ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशीर्वादः

त्रातारमार्यधर्माणां द्रष्टारं सर्वकर्मणाम् ।
जगदीशं मुहुर्नत्वा भक्त्या विज्ञापयामहे ॥
अद्याभिषेक्ष्यमाणः श्रीजार्जपञ्चमभूपतिः ।
धर्मगोप्ता भारतानां जयताज्जयतात्तमाम् ॥

''पतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥''
ऐडवर्डेश्चक्रवर्ति—जार्जपञ्चमभूपतेः ।
चित्रं यत्प्राज्यसाम्राज्ये रविरस्तं न गच्छति !
उदयादुदयं यावद् विक्रमते रविः ।
तावच्छासितुरस्यैकच्छत्रान्न च्यवते ह्यसौ ॥

अनरुन्तुदकरमक्षय्यकुजारोहं च नैकबुधयुक्तम् ।
बहुगुरु समदर्शनयुतममन्दमभ्रममथापि निर्दोषम् ॥
अश्रुतमित्रग्रहणं सदोदयं राज्यचक्रमस्यैतत् ।
ध्रुवसुवशं ध्रुवपरवशमतिशेते सौरमण्डलं व्योम्नः ॥

दर्शितसहानुभूतिः समदृष्टिरपीह सर्ववर्णेषु ।
न पितुः स्मारयसि त्वं ततोऽधिकं हर्षितप्रकृतिः ॥
सकरुणशासनकर्त्रा वंशोन्नेत्रा सदा प्रजापित्रा ।
न पतति नप्त्रा भवता जातेन विजित्वरी देवी ॥

नप्ता ऋषीणामार्षेयो मेधावी यः स्वयं ऋषिः ।
बहुभ्यः सङ्गतेभ्योऽसौ व्रियते यज्ञकर्मणि ॥
एवं विजयिनीपौत्रं सप्तमैड्वर्डनन्दनम् ।
कृतिनं पञ्चमं जार्जं भारतीया वृणीमहे ॥

तेन बाह्याभ्यन्तराणां क्लेशानां नामशेषता ।
एधमाना समृद्धिश्च भूयान्नः शाश्वतीः समाः ॥
बृटिशामीशिता राजन् ! भारतानामथेशितः ।
ईशितः पञ्चकृष्टीनां त्वं जीव शरदः शतम् ॥

यानि पदानि स्वप्ने भारतवर्ष्या न लेभिरे पूर्वम् ।
तद्दाता तद्द्सुतः कथं न राजेन्द्र ! तैर्वन्द्यः ?
अनुदिनमधिकाधिकतां त्वयि प्रजानां प्रजासु ते स्नेहः ।
यायादनुव्रतस्त्वं तांस्ते त्वामप्यनुव्रताश्च स्युः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिषद्विहितान्नियमाननतिक्रामन् समुद्र इव वेलाम् ।
महिषीसहितोऽस्माकं मानसपीठे विराजस्व ।।
दुर्भिक्षात्पिटकामयाद् वृकभयादाभ्यन्तरोपप्लवा-
द्दस्युभ्य: परचक्रतो व्यसनतो मौढ्याद विनाशात् त्वया ।

त्रातानामतिहर्षवर्षदमलास्राणां प्रजानां दृश-
स्त्वां नित्यं परिपान्तु, किं कवचिभि ? किं दैवतै: ? किं बलै: ?
ध्रुवो राजा विशां भूया ध्रुव कीर्त्तिर्ध्रुवोदय: ।
इत्याशिष: समर्प्यन्ते श्रीचंद्रधरशर्म्मणा ।।

[प्रथम प्रकाशन : भारतमित्र : १.७.१९११ ई०]

जय:

जयतु जयतु राजा पञ्चमो जार्जनामा,
जयतु जयतु राज्ञी सापि मैरी वदान्या ।
जयतु जयतु ताभ्यां त्रात एवार्यधर्मो,
जयतु जयतु नीवृद् भारतानां पुराण: ।।

(स्थिरत्वम्)

आरोपिता शिलायामश्मेव त्वं स्थिरा भवेत्युक्त्वा ।
विजहाति नैव भार्या कदापि जनिपरंपरास्वार्यम् ।।
अत एवाल्ङ्गलैर्लोकैर्भूपाल: सकलमङ्गलप्रसव: ।
स्कोनससमागतदृषद: संस्तरयुक्ते निवेश्यते पीठे ।।
वयमपि तमेव भूपं तद्राज्यस्याजरत्वमीहाना: ।
हर्षेण सादयामो देहल्यां हृदयदेहल्याम् ।।

(द्विजत्वम्)

अयमध्यषिच्यत पुरा पुरोधसा बृटिशराजपीठस्थ: ।
तज्जातकर्मसहितं प्रथमं जन्मास्य मन्महे सर्वे ।।
अधुना जगदाचार्यस्यार्थावर्तस्य देहलीं रम्याम् ।
उपनीतोऽलङ्कुरुते द्विजभूतो द्विजपतिर्द्विजावनिप: ।।

(उभयपक्षसुखदत्वम्)

सर्वभारतसाम्राज्य-विजयागारदेहलीम् ।
गुणानुरक्तजनता - चित्तमन्दिरदेहलीम् ।।
नतिभि: सर्वभूपानां घृष्टशाणितदेहलीम् ।
देहलीदीपक इव देहलीं समधिष्ठित: ।।
बृटिशां भारतानां च नयनानन्ददायक: ।
[illegible] ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(यशः)

बहुराजवतीं भूमिमेत्य राजन्वतीं व्यधाः ।
मध्ये राजन्यकं राज्ञन् ! विराडिव विराजसे ॥
न नाथसि प्रजानाथ ! नाऽघं नाथामहे त्वयि ।
नाथवन्तस्त्वया स्याम इति नाथामहे हरेः ॥

(इन्द्रत्वम्)

अदारयः सप्तसिन्धून् जाङ्गलेष्वथ धन्वसु ।
पचतः सुन्वतो वापि धर्माध्वन्यान् सदावसि ॥
वज्रस्य भर्तर् ! बलजित् ! पाञ्चजन्य ! प्रजापते !
कल्याणीकान्त ! सुक्षत्र ! इन्द्रप्रस्थे निषेदिवन् !
ऋते त्वत् तमसः पूरं न वयं विजयामहे ।
इन्द्रमेव प्रवृणुमो यद् राजानं भवादृशम् ॥

(आशिषः)

विपदां पूरात्सकलानस्मान् त्वत्ताताम्बा यदि नात्रास्यत् ।
केयं शान्तिः ? क्व खलु समृद्धिः ? क्व च विद्याप्रसरोऽप्यभविष्यत् ?
शतमिह जीव्याः शरतां राजन् ! स्युः प्रतिशरदं शतमपि मासाः ।
मासे मासे शतदिवसी स्याद् दिवसे दिवसे यामशतानि ॥
यामे यामे भारतभूमौ त्वदुपज्ञं सुखदा विधयः स्युः ।
भूयाद् येनाहर्पतिभासां सर्वपथीनस्तव जयघोषः ।
स्वराज्यमस्तु वा मा भूत् त्वत्कीर्त्तेः सम्प्रसारणम् ।
शाब्दिका वयमिच्छामस्तदादौ सम्प्रसारणम् ।
ध्रुवो राजा विशां भूया ध्रुवकीर्त्तिर्ध्रुवोदयः ।
इत्याशिषः समर्प्यन्ते श्रीचन्द्रधरशर्म्मणा ॥

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

राज राजेश्वर का स्वागत

"स्वागतं ते महीपाल ! दिष्ट्या राजेन्द्र ! वर्धसे ।
भवन्तमर्चयिष्याम आस्तां साधु भवानिह ॥"

(विष्टरः)

अर्घ्येषु षट्सु प्रथमाय तेऽर्हन्
प्रियाय राज्ञे गृहमागताय ।
शस्यैर्युता स्वादुजला फलाढ्या
भूर्भारती विष्टरतामुपैतु ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(पाद्यम्)

रत्नाम्भोधियँ प्लवैस्तीर्णवांस्त्वं
वाष्पारित्रैः कामगैरस्त्रवद्भिः।
लक्ष्म्यास्तातः सर्ववारां पतिस्ते
पाद्यायासौ कल्पतां राजराज !
मुक्ताहारैर्मन्दशीतैस्तरङ्गै-
र्मदीयांसौ तव नेनेक्तु पादौ॥

(अर्घः)

मात्स्यान्न्यायाद् ये विनाशं भजन्त-
स्त्वत्साम्राज्ये लेभिरे प्राणरक्षाम्।
हर्षोत्कानां प्रेमविस्फारिताक्षणां
तेषां मोदाश्रूणि तेऽर्घा भवन्तु॥

(आचमनीयम्)

विदिक्षु दिक्षु प्रसृतं प्रजापालनसम्भवम्।
उपस्पृश यशः स्वं त्वं वियद्गङ्गेव पावनम्॥

(मधुपर्कः)

एकच्छत्रे महिमा यस्त्वदीयके
चितोऽस्माभिर्मधूकृद्भिर्यथा मधु।
राजन् ! तेऽसौ मधुपर्कः समर्प्यते
संपृच्यस्व मधुना तेन नो मुदा॥
पितामह्या तव तातेन च त्वया
पुण्यश्लोकैर्मधु शान्तेः शुभंकरम्।
वृष्टं, तन्नः सुखपोषानपूपुषत्
पुनर्णवं मधु भक्तेरसोष्ट च।
स्वच्छे कंसे निहितं नो हृदो मुहु-
र्देवीयुतो मधुपर्कं जुषस्व तत्॥

(गौः)

कीर्त्तिप्रसूं कामदुधामनागसं
सत्यां प्रियां मङ्गलमातरं शुभाम्।
गां भारती हर्षरवैः सुपुष्पितां
समुत्सृजामो जयरम्भणाय ते॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(आशिषः)

शक्त्येव निजमहिष्या लोकभरण्या च हृदयरोहिण्या ।
अनुराधितया सर्वैर्दयार्द्रया ज्येष्ठया पुनर्वस्वा ।।
समवेतो भद्रपदप्रकाशया चन्द्रयन् प्रजास्वान्तम् ।
नक्षत्रेष्विव भारतभूपेष्वधितिष्ठ साम्राज्यम्[1] ।।

[प्रथम प्रकाशन : **मर्यादा** : दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

पञ्चनददेशस्तवः

हिमवन्मुकुटायाय सिन्धुलौहित्यवाससे ।
रत्नाकरान्तरीयाय तस्मै देशात्मने नमः ।
काश्मीरचर्चितशिरा राङ्कवोष्णीषमण्डितः ।
सोऽनर्घमुक्तापादार्घैः सिंहलेन सदार्चितः ।
घृतलोहाङ्गुलित्राणो दक्षिणः परवीरहा ।
पञ्चशाख इवाभाति तस्य पञ्चाम्बुसंज्ञितः ।
"सुस्रोतसः किं नु यन्ति पञ्च नद्यः सरस्वतीम् ।
आहो सरस्वतीदेशे पञ्चधेहाभवत् सरित् ।
इति[2] बभ्राम यत्रासौ ऋषिर्मन्त्रकरः पुरा ।
रसायाश्च रसस्यास्य समृद्धिर्वर्णनातिगा ।
इतो राजन्वती भूमिरुतो राजवती धरा ।
इतः पञ्चनदो देश उतः प्राणहरो मरुः ।
यत्र द्राक्षेक्षुगोधूमशाल्याढ्ये पीवरो वृषः ।
दयते कण्टकीबद्धतृष्णं धन्वक्रमेलकम् ।

पुरः कृतो हिमवता गङ्गया च प्रदक्षिणम् ।
कुरुक्षेत्रेण तीर्थेन मानेनात्मोत्तरीकृतः ।
पञ्चभिः सिन्धुषष्ठाभिर्नदीभिः परिपावितः ।
पावयित्वात्मसाच्चक्रे बहूनागन्तुकानयम् ।

---

१. **भावार्थ :**

घर में आए राजा, आचार्य, ऋत्विक, स्नातक, वर और प्रिय को विष्टर, पाद्य, अर्घ, आचमनीय, मधुपर्क और गौ से सत्कृत करते हैं। कवि राजा को मातृभूमि का विष्टर, रत्नाकर के जल का पाद्य, प्रजा के आनंदाश्रुओं का अर्घ, यश का आचमन और भक्ति का मधुपर्क देता है और उनके लिए गौ=सरस्वती वाणी को छोड़ता है। फिर दो छंदों से आशीर्वाद देता है !

—सम्पा०

२. यजुर्वेद : ३४।११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रीकान् पार्थान् पार्श्वकांश्च शकान् हूणान् क्रमागतान् ।
धन्यश्चुलुकयांचक्रे सागरः कुम्भजो यथा ।
एतान्निरग्नीनशुचीन् बाह्लीकान् गुर्जरानपि ।
आवासयद् वर्णभेदैर्मध्यीकृत्य स्वभूमिषु ।।
दुर्वर्णानामुपेतानां राजतत्वमपोह्यन्—
रसाढ्यः स्वप्रतापेनानयच्चित्रं सुवर्णताम् ।

उपह्वरे[1] गिरीणां च नदीनामपि संगमे ।
यत्र विप्रा अजायन्त बहवो वेदपारगाः ।
पृथिवीं पर्यटन्तस्ते नवतत्वैषणाहृताः ।
दूराद् दूरतरं गत्वाऽप्रथयन् जननीभुवम् ।
यदि दैवाद् विपत्काचित्परतोऽभिबभूव तान् ।
चक्रुः साहायकं हर्षान्नद्योऽपि किमु मानवाः ?
धर्मतो धनमाहृत्य स्वभूमिषु विविक्षवे ।
दस्युभिः संद्रुतायारात् स्तुवते कृपये पुरा[2] ।
सुगाधाः सुतरा भूत्वा नद्यस्ता लेभिरे यशः ।

प्रतुष्टुवुर्यदा सत्रं सरस्वत्यास्तटे पुरा ।
दृष्ट्वा [3]कवषमैलूषमृषयस्तत्र चुक्रुधुः ।
"दास्याः पुत्रः कितवको मध्येऽदीक्षिष्ट नः कथम्—
श्रोत्रियाणां कुलवता" मिति तं चाक्रुशन् मुहुः ।
पाणिपादमथो बद्ध्वा निर्जले निस्तृणे मरौ ।
अशनाया-पिपासाभ्यां मरणायैव तत्यजुः ।
ज्ञानेद्धतेजाः कवषः, कर्मणा न तू जन्मना ।[4]
ऋषीभूतो जगौ मन्त्रं नवं बद्धोऽपि मोक्षधीः ।
सरस्वती नदी त्वेनं न विसस्मार गीष्पतिम् ।
वक्रीकृतप्रवाहापि ग्लायन्तं तमुपाद्रवत् ।
धर्मतत्त्वमजानाना दृप्तास्ते जातिमानिनः ।
व्यतृषन् दिष्टयोगेन तितर्षयिषवः परम् ।
लिङ्गमात्रं न धर्मायेति निश्चिक्युर्जनास्तदा ।
प्रेम्णा परिससारैनं यत्र लोकविगर्हितम् ।
नदी तत्तीर्थमद्यापि गीयते परिसारकम् ।।

१. यजुर्वेद २६/१५; ऋग्वेदे ८/६/२८
२. ऋग्वेदे ३/३३; निरुक्ते २/२४
३. ऐतरेयब्राह्मणे २/१६; कौषीतकिब्राह्मणे १२/३,
४. ऋग्वेदे १०/३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपरेषां ऋषीणां च दुर्भिक्षे जीवनं विना।
मतिर्बभ्राम वेदान्ते देशान्तेषु तथा गतिः।
कालेन लब्धान्नजला ये मृत्योरवशिष्यिरे।
नाशिताचारवेदास्ते प्रत्याजग्मुर्भुवं निजाम्।
तेभ्यः सारस्वतो धीमान् शिशुराङ्गिरसः कविः।
मातुस्तीरेऽवसन्नेभ्यो[1] नष्टं वेदं पुनर्ददौ।
द्विजेषु ज्ञानजं श्रेष्ठ्यं प्रतिपादयतः शिशोः।
वंशजा द्विविधा[2] विप्रमूर्धन्यद्यापि संस्थिताः।

तत्र[3] स्रोतस्वती पुण्या या वसिष्ठं व्यपाशत।
यदैश्वर्येर्ष्यया ज्येष्ठा सपत्नी शतधाऽद्रवत्।
भूर्देवदुर्लभा रम्या तामुदग् भाति पार्वती।
कूपान्[4] सुधोदकान् यत्स्थांश्चिरं सस्मार पाणिनिः॥

तद्धि जालंधरं पीठं देव्याः स्तनमिवोन्नतम्।
सर्वकामपयो धातु श्रयन्ते देवमानवाः।
तापत्रयशमायायं त्रिपुण्ड्र इव राजते।
त्रिगर्तो हिमरोचिष्णुः प्रशस्ते भारतालिके।
दुर्योधनसहायोऽपि सुयोधनपरायणः।
संशप्तकानां वंशकरः सुशर्मा यं पुरान्वशात्।
सुशर्माणं समारभ्य यावत्संसारचन्दिरम्।
वीर्यवन्तः स्वराजस्ते त्रिगर्तान् पर्यपालयन्।
हन्त संसारचन्द्रस्यानिरुद्धप्रसवोचितम्[5]।
सुसमिद्धे रणजितस्तेजस्तेजस्यशाम्यत॥

द्राक्षाकेसरकस्तूरीराङ्कवाक्षोटसंपदा।
पूर्णां मरकतस्थालीं कश्मीरानुपढौकयन्।
चषके वूलराभिख्य आपूर्य तुहिनामृतम्।
गिरिगौरीगुरुर्वन्द्यो भक्त्या यमुपतिष्ठते।

---

१. मनुस्मृतौ २/१५१। २. जन्मना विद्यया च। ३. निरुक्ते ६/२६।
४. अष्टाध्यायी ४/२/७४। ५. अप्रतिहतप्रचारयोग्यम्, अथवा अनिरुद्धचन्द्रजननक्षमम् अनिरुद्धचन्द्रो हि बलवता सिखचक्रवर्तिना स्वकृपापात्रस्य राजन्यबन्धोर्गुलाबसिंहस्य कृते दुहितरौ याच्यमानोऽपि राज्यं तृणाय मत्वा गङ्गाद्धरं गतः कूर्माचलेशं दुहितरौ परिणाम्य प्राणांस्तत्याज न तु भाविकश्मीरेशेन यौनसम्बन्धममर्षयत्कुलध्न इतीतिहासः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहवः शारदादेशावाप्तविज्ञान-मण्डिताः।
कल्हणो जल्हणो मङ्खः शङ्कुबिल्हणलोष्ठकौ।
रुचको भामहो नीलः क्षेमेन्द्रोऽथ जगद्धरः।
जोनराजः सोमदेवः श्रीवरानन्दवर्धनौ।
कैयटो जैयटो रत्नकण्डो भल्लट-रुद्रटौ।
लङ्कको जेन्दुकः शम्भुरिच्छटानन्दकङ्कणाः।
अलको मम्मटश्चान्ये वश्यवाच उपस्थिताः।
गमुपश्लोकयामासू राजानमिव वन्दिनः।

अद्भुतां भारतारामत्राणे पञ्चास्यतां वहन्।
ससर्जाक्ष्वेडनान् दृप्तः परदर्पविलोपनान्।
यद्गर्जनप्रतिध्वानभिया प्रत्यन्तवासिनाम्।
अद्यापि शिथिला नीव्यो न नारीणां, नृणामपि।
यावदश्रूयतास्योग्रं घोरं गर्जनमागतैः।
नगर्यौ घोर-गर्जन्यौ[1] म्लेच्छैस्तत्र प्रतिष्ठिते।
नानुभूय यदावातान् नाभुक्त्वा यच्चपेटनाः।
नाविषह्य च यद्दंष्ट्रा म्लेच्छा भारतमाविशन्।
विधूय तान् सटालग्नान् मशकानिव भूरिशः।
यत्रत्यो रणजित्सिंहः स्वातन्त्र्यं प्रत्यपद्यत।
(म्लेच्छवृत्रसहस्राक्षः पश्यन्नेकदृशा प्रजाः।
यः समर्थोपि नीत्यक्षः शतद्रुं नात्यलङ्घयत्।
उपानात्सीन्मणिं नेत्रे कोहनूरं रविप्रभम्।
यं भ्राजिष्णुतमं धत्ते मुकुटे भारतेश्वरी।)
दशानां गुरुवीराणां शिष्यसिंहैरतन्द्रितैः।
अभाजि किन्तु नाभाजि कष्टो मुगलपञ्जरः।
शान्त्यालवाले बृटिशै रोपितं राष्ट्रपादपम्।
आयातावुदयच्छायं समुन्नतिफलेग्रहिम्॥
उत्पिपाटयिषु ज्ञात्वा कालविप्लववारणम्।[2]
ये निन्युर्निजदेहल्यां हेलया स्मृतिशेषताम्।
अन्तर्भेदनिशुम्भघ्नीं जाड्यशुम्भविमाथिनीम्।
चित्रं वहन्ति हृष्यन्तः शक्तिं कामपि ते पराम्।

[3]नदीमातृकतां निन्ये शक्रो यं देवमातृकम्।
कुल्याभिस्तस्य पर्यन्ता बृटिशैरुर्वरोकृताः।

---

१ Ghor, Ghazni. २. सन् १८५७ भवो देशीय सेना-विरोधः। ३. ऋग्वेदे ३/३३/६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदभिजनो जन एष कीर्तिगीतं
जनपदमौलिमणेः किमप्यासीत् ।
भवति सदा सुखदो महोदयानं
गुणगरिमा पठितः श्रुतः स्मृतो वा ।।

[प्रथम प्रकाशन : **संस्कृत-रत्नाकर** : वर्ष ६, अंक १, चैत्र १९७१ वि०]

ग्रीष्मः

प्रस्वेदाप्लुतमाननं जलपटीयोगैः समुत्पुंसतः
क्लान्तैर्बाहुविवर्तनैर्भ्रमयतो निर्विश्रमं वार्जनम् ।
सन्तापोऽघृणशापशेष इव मे नायाति निःशेषतां
शान्तिः कामिनि धीरतेव न मनाक् स्वप्नेऽपि सम्भाव्यते ।।१।।

धूलीतापो नयनपटलं तर्षतापश्च कण्ठं
रथ्यातापश्चरणयुगलं भानुतापोऽपि शीर्षम् ।
सर्वाण्यङ्गानि च परिसरंस्तप्तवायुप्रवाहः
कष्टं नित्यं तपति जनतामेष पञ्चाग्नितापः ।।२।।

दिननायक-खरदशशतकरकरटाकृष्यमाणसारोयम् ।
राज्ञोऽपि हन्त ! लोको न किमप्याप्यायनं लभते ।।३।।

कोणे निलीय निभृतं दिवसं समाप्य
वीथीषु शङ्कितपदं रजनौ भ्रमामः ।
सम्मर्दतो भयजुषो विजने शयामः
कालेन चित्रमिह चौरसमाः कृताः स्मः ।।४।।

[प्रथम प्रकाशन : **संस्कृत रत्नाकर**]

सामयिक समासोक्तयः

जयति करजराजिर्दानवेन्द्रस्य वक्षो
नलिनदलविदारं दारयन्ती मुरारेः ।
धनजनबलदर्पो धर्ममार्गादपेतं
प्रभवति नहि पातु या लिलेखेति सत्यम् ।।१।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविधविबुधतेजः पुञ्जपुञ्जीकृताङ्गा
तदुपचितमहास्त्रस्तोमदुर्धर्ष-मूर्तिः ।
जयति रचितहासा कापि शक्तिः परा द्राक्
शमयति महिषं या स्मार्धनिष्क्रान्तमेव ॥२॥

दशशतभुजयुग्माकृष्टशस्त्रं प्रमत्तं
विरचितदुरवध्यं यो व्यधात् कार्तवीर्यम् ।
निशितपरशुधारास्नाननिर्धूतपापं
जयति शिवविनीतो जामदग्न्यो महात्मा ॥३॥

दनुजदलनदीक्षासप्ततन्तौ मघोनो
भुवनवलयजेताध्वर्यवं यश्चकार।
रविशशिकूलभूतो भारताधीश्वराणां
जयति पुरुमहिम्नां क्षत्रियाणां स वंशः ॥४॥

निकटजनपदैकागारिकं सन्धिभेद—
प्रकटितनिजवृत्तं या निजग्राह तूर्णम् ।
जलनिधिमिह वेलाभङ्गविप्लाविताशं
जयति तटगिरीणामावलिर्दुष्प्रवृद्धा ॥५॥

[प्रथम प्रकाशन : संस्कृत-रत्नाकर]

प्रार्थना

धर्मो यतो जगदधीश ! ततः सदा त्वं
भूतिर्जयश्च नियतं हि ततो यतस्त्वं
धर्माय युद्ध्यति चमूर्नृपजार्ज भक्ता
तस्यै जयं परमकारुणिक ! प्रयच्छ ॥१॥

जित्वा रिपूञ्जगति शान्तिसुखं वितन्वन्
संघोषितो जयरवैर्निजवाहिनीभिः
साम्राज्यपालनमकण्टकमादधानो
जीव्याच्चिरं नरपतिर्भवतः प्रसादत् ॥२॥

[प्रथम प्रकाशन : पाटलीपुत्र : ३१ अक्तूबर, १९१४ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्याभूषण पं० हरिनारायण पुरोहित के नाम पत्र

श्रीः

समुदितं तिमिरस्य निवारणं
भवभयापह - शर्म्म - सुसूचकम्।
बहुविभं जितसर्वकलाधरं
'हरि' मिहाद्य नतिर्मम गच्छतु ॥

मित्रोदये (क) कस्य मनः प्रसादो
न जायते येन जगत्समृद्धिः।
कलाधरः (ख) पाण्डुरतां दधानो-
प्यस्योदयं शंसति लक्षजिह्वः[1] ॥

चन्द्रः गुलेरी

पं० अनंतराम मिश्र के नाम पत्र

ओ३म् नमः शिवाय

मेयो कालेज, अजमेर
१६.२.१९१७

श्री श्री पितृव्यचरणेष्वभिवादाः श्री ज्येष्ठतातस्य पत्न्यै च। कुशलमत्र सर्वविधं तत्र कुर्याच्छ्रीपरमगुरुमहिमा। पत्रं नस्यं च श्रीवंशीधरशर्मद्वारा समधिगते। अत्र साञ्जलिबन्धमिदं विज्ञापयामि, बालचापलं क्षन्तव्यम्। यदा यदा मया नस्यं पितृष्वसुः कृते याचितं तदा तदा श्रीमद्भिः प्रहितम्। यदा यदा च मया तत्रभवतो मूल्यं पृष्टं तदा तदिदमेवोत्तरितं यत् यथा पितृष्वसा तव माननीया तथैवास्माकमिति। अहमनया व्यवस्थया कमपि भेदं न मन्यमानस्तुष्ट एवासम्। परन्तु ज्येष्ठ-तात-पत्नया कथाप्रसंगे बडेट् द्वित्रिवारं श्राविता यत्पञ्च-दशमुद्राऽऽसन्नमूल्यकं नस्यं गतमिति तथा च तदसह-मानया निवेदितोऽहम् मयापि बुद्ध यद्भवतामाशयो विभिन्नः ज्येष्ठतातपत्न्याश्च विभिन्नो भवेत्। भवन्तः संकोचेन यथोचितमेव विचारयन्ति न तथा सेति भवन्तो मम कारणेन किमिति वृथा ज्येष्ठतातपत्नीदृष्टावपदस्था भवेयुरिति सर्वं गोपनीयं, मुद्राः प्रेषिताः इद-माख्यानं च भवत्कर्णगोचरमेव तिष्ठतु। ज्येष्ठा मन्दज्वरेण रुधिरदारिद्र्येण अपाचकतया च क्लिन्ना मासद्वयात्कृष्णज्वरिता च तिष्ठति। न जाने कोऽयं कर्मभोगः? "एकस्य दुःखस्येत्यादि" स्मरामि।

सर्वथा विधेयः
श्रीचन्द्रधर शर्मा

---

१. (क) सूर्य, २. हरि, ३. मित्र
(ख) चन्द्रः गुणी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं० रामकुमार मिश्र (जसरापुर, खेतड़ी) के नाम पत्र

अजयमेरुः
१०.७.२०

श्रील रामकुमारेभ्यो नतयः पत्रमागतम्,
ओझाजिनः प्रसीदन्ति वयं च सकुटुम्बकाः ॥१॥

गतं न शोच्यं यद्वर्तमानावस्था फलावहा
न भूयाच्छिक्षणे यातस्यापि मे जयपत्तने ॥२॥

स्वातन्त्र्यं खेदराहित्यमचिन्तां स्थिरतां सुखम्,
संगं ओझाजिनां सर्वं कथं जह्यो दुराशया ॥३॥

कथं न स समायाति सदरो नृहरः परम्,
प्रथमा मुद्रिता संख्या द्वितीया मुद्र्यतेऽधुना ॥४॥

प्रतिश्रुत्य न चायाति यस्तं मा स्मर पिङ्गले!
वाजिनं वा पुनः श्वानं कुतः कामयसेऽधुना ॥५॥

उरोजपीडनं स्वीयमेव किं ते मुदावहम्,
परंतु भोगराहित्ये न सौभाग्यं भवादृशाम् ॥६॥

जा (झा) वरस्तु मया गच्छन् दृष्टः, पत्रं समागतम्,
मिश्राः श्रुता गमिष्यन्तो, गता इत्येव बुद्ध्यते ॥७॥

लेखान्तरं भवान् किंचिद् वितरत्विति वाञ्छ्यते,
जनोऽयं येन तार्तीयमंकं संपूरयेत् खलु ॥८॥

पत्रं प्रेष्यं सुखं ज्ञाप्यमाज्ञाप्यं करणीयकम्,
सदाचाराच्च कौलस्त्रीयोग्याद्विच्याव्यमत्र च ॥९॥

—श्रीचन्द्रधर शर्मणः

स्वदेशीया व्यवस्था : सुभाषित

उतस्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छापशुमच्च यूथम् ॥

(ऋग्वेद ४.३.३८.५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।। (मनुः)
सदैव वासनात्यागः शमोयमिति शब्दितः।
निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते ।।
विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा।
सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभा मता।।
देशसेवकवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति सा मता।
चित्तैकाग्र्यं तु सल्लक्षये समाधानमिति स्मृतम् ।।
विदेशवस्तुनिर्मुक्तिः कथं मे स्यात्कदा विधे।
इति या सुदृढा बुद्धिर्वक्तव्या सा मुमुक्षुता ।।

—(अपरोक्षानुभूतौ, किञ्चित्परिवर्त्य)

मुख्यः पुरुषयत्नोत्थो विचारः स्वात्मदर्शने।
गौणो वरादिको हेतुर्मुख्यहेतुपरो भव ।।
गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात्पौरुषादृते ।
उष्ट्रं दान्तं वलीवर्दं तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ ।।

—(योगवासिष्ठे)

उपानद्गूढपादस्य सर्वा चर्मावृतेव भूः।। (नीतिः)

[प्रथम प्रकाशन : **समालोचक** : अक्टोबर, १९०५ ई०]

वात्स्यायनीयकामसूत्रटीकायाः जयमङ्गलायाः कर्ता

महामहोपाध्यायगुरुवरश्रीपण्डितदुर्गाप्रसादैः संस्कृतं वात्स्यायनमुनेः कामसूत्रं जयमङ्गलाभिधया टीकया सह रचितमस्ति । सा च तत्रापरत्र च यशोधरकृतेति गीयते। तत्तदध्यायसमाप्तिस्थ-पुष्पिकायास्तात्पर्यमवगत्य यशोधरस्य तत्कर्तृत्त्वे सन्दिहानमानस एवाहमभवम् । सा चेत्थम्—

'इति श्रीवात्स्यायनीयकामसूत्रटीकायां जयमङ्गलाभिधानायां। विदग्धाङ्गनाविरहकातरेण गुरुदत्तेन्द्रपादाभिधानेन यशोधरेणैकत्र कृतसूत्रभाष्यायाम् ।। अमुकाधिकरणेऽमुकोध्यायः ।।

[किं चास्मादवतरणादिदमवगम्यते यशोधरात्प्रागपि जयमङ्गलानामटीकासीत्, परन्तु टीकाग्रन्थः पृथगेव मूलग्रन्थात्प्राचारीत्; महाशयेन स्वीयं विदग्धाङ्गनाविरहं यापयितुमेव प्रतिप्रकरणं प्रत्यधिकरणं प्रतिसूत्रं च टीका मूलानुसारिणी विहिता।] फलञ्चाप्यस्य कष्टस्य कर्मणः प्रत्यक्षमेवाधिगतं, यत्परःशतेष्वपि वत्सरेषु यातेषु टीकासंस्कर्ता टीकानिर्मातेति प्रासिध्यत ।

तस्यैव कामसूत्रस्य पुनर्मुद्रणे पण्डितकेदारनाथैरन्तिमस्याध्यायस्य, प्राक्तने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्करणे मूलमात्रमेव मुद्रितस्य टीका, विजयनगरस्थं कमपि कोषपुस्तकमाश्रित्य समायोजि। तस्याः पुष्पिका "इति सप्तमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः। आदितः षट्त्रिंशः। समाप्तञ्च कामसूत्रटीकायां जयमङ्गलाख्यायाम् औपनिषदिकं नाम सप्तममधिकरणम्॥" इतिरूपेण ज्ञापयति यदस्ति न्यूनान्न्यूनमेकं प्राचीनपुस्तकं यद्यशोधरकराभ्यां नामृज्यत।

पुनश्च सूक्ष्मतया जयमङ्गलायां विभाव्यमानायां यट्टीकासंस्कर्तुर्यशोधरस्य जीवनचरित्रविषयकं रोचकमुपाख्यानं वर्णयन्त्य इमाः प्रशस्ताः पुष्पिकाः प्रत्यध्यायसमाप्तावेव स्फुरन्ति। अस्ति च मूलसूत्राणां विभागः प्रकरणेष्वधिकरणेषु चापि यथैवाध्यायेषु। तेषाञ्च प्रकरणानां समाप्तौ लघ्वी पुष्पिकोपलभ्यते। या मूलटीकाकृत एव कृतिः स्यात्। मूलानुसारेणानाध्यायविरतौ यशोधरः स्वीयाः पुष्पिका आयोजयत्। वास्तवष्टीकाकृच्च प्रकरणान्ते विषयान्तमज्ञापयत्, सत्यां प्रकरणाधिकरणविभक्तौ पुनरध्यायकल्पनायां मन्दादर एव टीकाकृल्लक्ष्यते यतो नवमपृष्ठे ग्रन्थपरिसंख्याव्याख्यानावसरे च "तत्राध्यायसंख्यानं पूर्वशास्त्रेभ्य इदं स्तोकमिति दर्शनार्थम्।"

प्रकरणाधिकरणसंख्यानमन्यनिरपेक्षार्थमित्याह तत्र चादितश्चतुर्ष्वध्यायेषु [त एव चत्वारि प्रकरणानि सन्ति] न लघ्वी पुष्पिकोपलभ्यते, केवलं बृहत्येव, पञ्चमाध्यायान्ते [स च पंचमप्रकरणस्य प्रथमाधिकरणस्यापि चान्तः] केवलमेकस्मिन्नेव पंडितदुर्गाप्रसादैः उपर्युक्ते मूलपुस्तके लघ्वी पुष्पिकोपलभ्यते, या तैः पाठान्तरेषु पादटीकायां धृता। परतश्च प्रतिप्रकरणविरामे लघ्वी समाप्तिसूचना, प्रत्यध्यायावसानं च यशोधरस्य विदग्धाङ्गनाविरहकातरत्वख्यापिका पुष्पिकोपलभ्यते। अतो मन्यामहे यदत्र प्राचीना पुष्पिका प्रकरणविरामैः सह संवादिष्वध्यायविरामेष्वासीत्, तत्र ततः सा यशोधरेणापासार्यत, यत्र चाध्यायान्तःपातित्वात्प्रकरणानामध्यायान्तेष्वर्पयिष्यमाणया स्वीयपुष्पिकया सह संघर्षं नाऽभजत तत्रात्यजत।

इदानीं त्रिवेन्द्रम् [अनन्तशयन] संस्कृत-ग्रन्थावल्यां प्रकाशिता कामन्दकीयनीतिसारस्य टीका शंकराचार्यकृता जयमङ्गलेत्यभिधाना दृष्टिपथमुपेयुषी प्रमाणान्तरमुपस्थापयति। वात्स्यायनीय कामसूत्रटीकायाः प्रथमं पद्यमिदम्—

"वात्स्यायनीयं किल कामसूत्रं
प्रस्तावितं कैश्चिदिहान्यथैव।
तस्माद्विधास्ये जयमङ्गलाख्यां
टीकामहं सर्वविदं प्रणम्य॥"

तुलनीयमनेन सह शंकराचार्यकृतायाः कामन्दकीयनीतिसारटीकायाः जयमङ्गलायाः द्वितीयं पद्यम्—

कामन्दकीये किल नीतिशास्त्रे
प्रायेण नाऽस्मिन् सुगमाः पदार्थाः।
तस्माद्विधास्ये जयमङ्गलाख्यां
तत्पञ्चिकां सर्वविदं प्रणम्य॥

न केवलं टीकयोर्नामनी [illegible] परन्तूभयोः शैली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमप्यपूर्वं सौसादृश्यं भजते। सैव व्याकृतिः विवेचनरीतिः, स एवोदाहरण-प्रत्युदाहरण-विचार-तर्कोपस्करणप्रौढिमा, तदेव प्राचीन टीकाकारानुगुणं स्वातन्त्र्यमुभयत्रोपलभ्यते अनुपदं निर्दिश्यमानयोतरवरणयोस्तु शब्दवाक्यसादृश्यमपि अस्मत्पक्षं पोषयत्येव।

'यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाशेति' वात्स्यायनसूत्रस्य व्याख्यानावसरे जयमङ्गला—

"दाण्डक्य इति संज्ञा। भोज इति भोजवंशजोऽभिमन्यमानोऽभिगच्छन्। स हि मृगयां गतो भार्गवकन्यामाश्रमपदे दृष्ट्वा जातरागो रथमारोप्य जहार। ततो भार्गवः समित्कुशानादायागत्य तामपश्यन्नभिध्याय च यथावृत्तं राजानमभिशाप। ततोऽसौ सबन्धुराष्ट्रः पांसुवर्षेणावष्टब्धो ननाश। तत्स्थानमद्यापि दण्डकारण्यमिति गीयते।"

एवमेव 'दाण्डक्यो नृपतिः कामादित्यादि कामन्दकीयपद्यस्य व्याख्याः शङ्कराचार्यकृता जयमङ्गला—

तत्र नाम भोजवंशमुख्यः तन्निमित्तप्रसिद्धनामा दाण्डक्यो नाम। स च मृगयां गतस्तृषितो भृग्वाश्रमं प्रविश्य तत्कन्यां रूपयौवनवतीमेकाकिनीं दृष्ट्वा जातरागस्तां स्यन्दनमारोप्य स्वपुरमाजगाम। भृगुरपि समित्कुशादीनादाय वनादागत्य तामपश्यन्नभिध्याय च यथावृत्तं ज्ञात्वा जातक्रोधस्तं शशाप, 'सप्तभिरहोभिः पांसुवृष्ट्या विपद्यतामि'ति। स तयाक्रान्तस्तथैव ननाश।

एवमहमनुमिनोमि बाधकप्रमाणान्तरानुपलम्भे यत् शङ्कराचार्येणैव कामन्दकीयार्थशास्त्रस्य वात्स्यायनीयकामशास्त्रस्य च टीके जयमङ्गलाख्ये, मल्लिनाथीयाः कालिदासकाव्यटीकाः संजीवन्य इव सनाम्नी निरमायिषाताम्।

वैदिकपृषताः गोदानम्

ॐ॥ वैदिकविज्ञानमहोदधेर्गुरूपदेशतीर्थे निषेदुषा पुराणव्याख्यानवीचिभिर्दोलिता ये केचन पृषताः समनुभूयन्ते तेषु कतिपये भवदीयपाठकेभ्य उपहारीकरिष्यन्ते।

तत्र प्रथमः

महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे तृतीयसर्गे त्रयस्त्रिंशे पठ्यते

'अथास्य गोदानविधेरनन्तरं
विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः'

तत्र 'गावः केशा दीयन्ते अवखण्ड्यन्ते अत्रेत्त्याधारे ल्युटि गोदानं नाम कर्मेति व्याख्या। प्रमाणे मल्लिनाथः केशवकोशात्—

'गौर्नादित्ये बलीवर्दे ऋतुभेदर्षिभेदयोः।
स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि॥
पुंस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्युद्दधार। तच्च गोदानम्—

'केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥

इति मनुना (२.६५) समानार्थेनाप्यपरेण शब्देन विहितम्। प्राचीनगृह्यसूत्रेषु तु गोदाननाम्नैव वेदग्रहणपरको विवाहपूर्वकः समावर्तनापरनामा संस्कारो व्यवह्रियते। यथा "चूडोपनयनगोदानविवाहाः।···। एतेन गोदानम्। षोडशे वर्षे।" इत्याश्वलायन-गृह्यसूत्रे (१.१८:१); "अर्थातः षोडशे वर्षे गोदानम्। चूडाकरणेन केशान्तकरणं व्याख्यातम्। ब्रह्मचारी केशान्तान् कारयते सर्वाण्यङ्गलोमानि सं॑ हारयते।" इति च गोभिलगृह्यसूत्रे (३.१.१-४) समुपलब्धेः। आभ्यामवतरणभ्यामिदमपि प्रतीयते यद्गोदान-मिति नामास्य संस्कारस्य पुरा योगरूढमासीत्, तदेव गृह्यासु प्रायुज्यत; तद्व्याख्यान-भूतं च केशान्तपदं कालवशात्पद्यबद्धस्मृतिषु तस्मिन्नेव संस्कारे रुरोह। अत एव केशान्त-करणमिति क्ल्प्त्यन् केशान्तान् कारयते इत्यत्र बहुवचनं च।

इदानीमुपलब्धस्य गोदानपदस्य वास्तवमर्थमनुसरन्तः पुरातनकालिकेषु श्रौतसूत्रेषु यामः। तत्र गोदानं शिरसो भाग इति पश्यामः। तथा च कात्यायनश्रौतसूत्रे "अपरेण दक्षिणाग्निं दक्षिणं गोदानमुन्दति" (५.२.१४) "दक्षिणं गोदानं वितार्योनत्ति इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः (७.२.९) इति च। क्लेदयतीत्यर्थः। मन्त्रोऽयं शुक्लयजुषि (४.१)। पठ्यते च कृष्णयजुःकल्पे—'अथास्य प्राङ्मुखस्य दक्षिणं गोदानमद्भिरनुबध्य आप उन्दन्तु जीवसे दीर्घायुत्वाय वर्चसे" इति। क्लेदयन्तु जीवनाय। मन्त्रोऽयं तैत्तिरीय-संहितायां द्वितीय प्रपाठकारम्भ एव। तद्व्याख्यानावसरे सायणोऽपि गोदानं शिरसो भाग इत्याह। तच्च गोदानं गवि भूमौ दीयते शयनकाले इति, गवां केशानां उदानं उद्गमो यत्र, गावः केशाः उन्द्यन्ते यत्र विधिनेति वा कर्माधिकरणल्युटा व्युत्पाद्यते। एवं शिरोभागवाचको गोदानशब्दस्तस्मिन्नङ्गे विधीयमाने कर्मणि मञ्चाः क्रोशन्तीत्या-दिवज्जहत्स्वार्थया लक्षणया श्रौतसौधादवतीर्य गृह्यगृहं समाससादेति नाविदितं भाषा-तत्वविदाम्।

अथ कोऽयं श्रौतो गोदानसम्बन्धी विधिर्यस्यारोपेण गृहस्यापि गोदानप्रसाधन-कर्म्मणो गोदानत्वं जात? मिति प्राप्ते ब्रूमः। सोमयागान् तत्प्रकृतिमग्निष्टोमं वा विधित्सुः पूर्वं दीक्षते। तत्र कृष्णयजुर्वेदब्राह्मणे विधीयते "केशश्मश्रु वपते नखान्निकृन्तते" तदुत्तरं चार्थवादेन कर्म्मै तत्स्तूयते "मृता वा एषा त्वगमेध्या यत्केशश्मश्रु मृतामेव त्वचम-मेध्यामपहत्य यज्ञियो भूत्वा मेधमुपैति स्वस्त्युत्तराण्यशीयेति" कुशलेनोत्तराणि कर्माणि साधयेयम्। अत एव "आप उन्दन्तु जीवसे दीर्घायुत्वाय वर्चसे" इति मन्त्रेण गोदानक्लेदनं वपनपूर्वाङ्गम्। अयं विधिः प्रतीकोल्लेखेन वाजसनेयिब्राह्मणदेवात्रोद्धृयते, न ब्राह्मणान्त-रात्; लेखविस्तारभिया। शाखाभेदे मन्त्रभेदमपहाय नास्ति तादृशो भेदश्च।

"अपराह्णे दीक्षेत, पुरा केशश्मश्रोर्वपनाद् यत्कामयेत तदश्नीयात् यदि उ नाशिशेत् अपि कामं नाश्नीयात्। १। अथोत्तरेण शालां परिश्रयन्ति तदुपकुम्भमुप-निदधति तन्नापित उपतिष्ठते तत्केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्तते, अस्ति वै पुरुष-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यामेध्यं यत्रास्यापो नोपतिष्ठन्ते, केशश्मश्रौ च वाऽस्य नखेषु चापो नोपतिष्ठन्ते तद्यत्केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्तते मेध्यो भूत्वा दीक्षाऽइति[1]। २। तद्धैके सर्व एव वपन्ते सर्वऽएव मेध्या भूत्वा दीक्षिष्यामहऽइति, तदु तथा न कुर्याद्, यद्वै केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्तते। ३। सु दक्षिणेवाग्रे गोदानं वितारयति[2]।···५। स दक्षिण-मेवाग्रे गोदानमभ्युनत्ति इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः इति। ६। अथ [3]दर्भतरुण-कमन्तर्दधाति···। अथ क्षुरेणाभनिदधाति···।७। प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति। तूष्णीमेवोत्तरं गोदानमभ्युनत्ति···। ८। अथ नापिताय क्षुरं प्रयच्छति स वपति।···। ९। अथ स्नाति···। १०।···अथ प्राङिवोदङ् ङुत्क्रामति···। ११। अथ वासः परिधत्ते···। १२। तद्वा अहत[4] स्यात्···। १८।···अथैनं शालां[5] प्रपादयति···। २१। इति तृतीयकाण्डस्य द्वितीये खण्डे;

अथाग्रेण शालां तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते···। ७। तद्वै नवनीतं भवति···। ८।··· अथाक्ष्यावानक्ति।···११।···अथैनं दर्भपवित्रेण पावयति···। १८। अथाशिषामारम्भं वाचयति···। २४।···अथाङ्गुलीर्न्यञ्चति। मुष्टीकरोति···। २५।'···इति तृतीये खण्डे;

"तानि वै पञ्च जुहोति। ५।" इति च तुरीये खण्डे।।

एवं दीक्षणीयेष्टिरारभ्यते। श्रुवेणोपघातं पञ्चाहुतयो या होतव्या दीक्षणीयेष्ट्-यारम्भे, तासु मन्त्राः—"आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा; मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा; दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा; सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा; आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावा-पृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा। विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो बुरीत सख्यम्। विश्वो राय इषुध्यक्ति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा।" (शुक्लयजुषि ४।७-८)

न केवलं 'अमेध्यां त्वचमपहत्य यज्ञियो भवती' त्येव वपनकर्म प्राप्तं, अस्त्यन्य-दप्यस्याभिरूपब्राह्मणं प्रतिपादकं तस्यावश्यं कर्तव्यत्वसूचकं च। दीक्षारूपं यज्ञियं कर्म जन्मान्तररूपमेव; लौकिकं पापमयं जीवनं परित्यज्य यज्ञं—सोमस्य राज्ञः साम्राज्यं—पूततं जन्म श्रयतो दीक्षितस्य दीक्षैव गर्भान्तरधारणम्। अत एव ब्राह्मणे मुहुर्मुहुर्दीक्षितस्य सा सा कर्तव्यतोपदिष्टा, या या तस्य गर्भस्थेन सादृश्यं विदध्यात्। यथा शतपथब्राह्मणे—"स जघनेनाहवनीयमेत्यग्रेण गार्हपत्यं सोऽस्य संचरो,···ऽअग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य, गर्भो दीक्षितो, ऽन्तरेण वै योनिं गर्भः संचरति, स यत्स तत्रैजति त्वत्परि त्वदा वर्तते तस्मादिमे गर्भा एजन्ति त्वत्परि[6] त्वदावर्तन्ते।···" (३.३.२८); "उद्गृभ्णीते वा

---

१. दीक्षे + इति।

२. पृथक्करोति छेदनाय। अत्रापि स एव गोदानार्थो द्रष्टव्यः।

३. तरुणकं सुकुमारतृणम् अभिनिदधाति कर्तयति केशानिति शेषः।

४. अहतं नवं अखण्डितम्।

५. शालां प्राचीनवंशे दीक्षितविमितं नाम भागम्।

६. त्वत् त्वत् = इतस्ततः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एषोऽस्माल्लोकाद्देवलोकमभि यो दीक्षते···" (३.४.१); "गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते स छन्दाँसि प्रविशति, तस्मान्न्यक्नाङ्गुलिरिव[1] भवति, न्यक्नाङ्गुलय इव हि गर्भा;" (३.५.६.); "अथ मेखलां परिहरते। सा वै शाणी भवति, मृद्व्यसत्[2] इति न्वेव शाणी; यत्र वै प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद् यज्ञात् तस्य यन्नेदिष्ठमुल्वमासीत्ते शणाः, तस्मात्ते पूतयो वान्ति; यद्वस्य जराय्ववासीत्तद्दीक्षितवंसनं, अन्तरं वा उल्वं जरायुणो भवति, तस्मादेषान्तरा वाससो भवति; स यथैतः प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद् यज्ञात्" (३.५.१०.११); "अथ नीविमुद्गूहते। अथ प्रोर्णुते गर्भो वाऽएष भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्बेनेव जरापुणव तस्माद्वै प्रोर्णुते" (३.४.१५.१६); [3]"कृष्णविषाणाँ सिचि बध्नीते। तां वाऽउत्तानामिव बध्नाति उत्तानेव वै योनिगर्भं विभर्तिः अथ दक्षिणां भ्रुवमुपर्य्युपरि ललाटमुपस्पृशतीन्द्रस्य योनिरसीति, इन्द्रस्यह्येषा योनिः, अतो वा ह्येनां प्रविशन् प्रविशति, अतो वा जायमानो जायते" (३.४.१८.२९); "अथ न दीक्षतः काष्ठेन वा नखेन वा कण्डयेत, गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते, यो वै गर्भस्य काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेदपास्यन्मृत्येत्ततो दीक्षितः पामनो[4] भवितोर्दीक्षितं वा अनुरेताँ सि, ततो रेताँ सि पामनानि जनितोः, स्वा वै योनी रेतो न हिनस्त्येषा वाऽएतस्य स्वा योनिर्भवति यत्कृष्णविषाणा, तथो हैनमेषा न हिनस्ति, तस्माद्दीक्षितः कृष्णविषाणयैव कण्डूयेत, नान्येन कृष्णविषाणायाः (३.५.३१)" इत्यादि बहुत्र।

कृष्णयजुर्ब्राह्मणादपि स्थालीपुलाकन्यायेन "अथो पयसा वै गर्भा वर्द्धन्ते, गर्भ इव खलु वै एष यद्दीक्षितो यदस्य पयोव्रतं भवत्यात्मानमेव तदर्द्धयति" (६.२.५) "गर्भो वा एष यद्दीक्षितो योनिर्दीक्षितविमितं यद्दीक्षितो दीक्षितविमितात् प्रवसेद्यथा योनेर्गर्भः स्कन्दति तादृगेव तत्, न प्रवस्तव्यमात्मनो गोपीथाय"[5] (६·२·५) एवं विधा।

ऐतरेये बह्वृचब्राह्मणे (१.१.३) चाम्नायते—"पुनर्वा एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्ति। अद्भिरभिषिञ्चन्ति, रेतो वा आपः, सरेतसमेवैनं तत्कृत्वा दीक्षयन्ति। नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति, आज्यं वै देवाना सुरभि घृते मनुष्याणामायुतं[6] पितॄणां नवनीतं गर्भाणां, तद् यन्ननीतेनाभ्यञ्जन्ति स्वेनैवेनं तद्भागधेयेन समर्धयन्ति। आञ्जन्त्येनं, एकविंशत्यादर्भपिञ्जूलैः पावयन्ति। दीक्षितविमितं प्रपादयन्ति, योनिर्वा एषा दीक्षितस्य यद्दीक्षितविमितं, योनिमेवैनं तत्स्वां प्रपादयन्ति, तस्माद्ध्रुवाद्योनेरास्ते च चरति च

---

१. न्यक्नाङ्गुलिः=अप्रसारिताङ्गुलिः बद्धमुष्टिः।

२. असत् स्यात्; उल्बं गर्भस्याभ्यन्तरा पेशी पूतयो दुर्गन्धाः जरायुर्गर्भस्य बाह्या पेशी।

३. कृष्णविषाणां कृष्णसारमृगश्रृङ्गम्। सिचि कटचाम्।

४. पामा चर्मरोगः कण्डूतिः। भवितोर्जनयितोः भवितु जनयितु।

५. गोपीथाय रक्षायै।

६. सर्पिर्विलीनमाज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं विदुः। आयुतं=अस्तु ईषत्तरलं। आज्यं निष्पक्वमप्युच्यते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्माद् ध्रुवाद्योनेर्गर्भा धीयन्ते च प्र च जायन्ते।···वाससा प्रोर्णुवन्त्युल्वं वा एतद्दीक्षितस्य यद्वासः, उल्वेनैवेनं तत्प्रोर्णुवन्ति। कृष्णाजिनमुत्तरं भवति, उत्तरं वा उल्वाज्जरायु, जरायुणैवैनं तत्प्रोर्णुवन्ति। मुष्टीकुरुते, मुष्टी वै कृत्वा गर्भान्तः शेते, मुष्टीकृत्वा कुमारो जायते।···उन्मुच्य कृष्णाजिनमवभृथ—मभ्यवैति, तस्मान्मुक्ता गर्भा जरायोर्जायन्ते। सहैव वाससाभ्यवैति तस्मात् सहैवोल्वेन कुमारो जायते।" इति।

अत एव गर्भसादृश्यसम्पादनाय दीक्षितस्य केशश्मश्रुवपनं नखनिकृन्तनं चावश्यं प्राप्तं, न क्वापि प्ररूढकेशश्मश्रुरुन्नखो वा गर्भः कोऽपि श्रुतो लोमशो वा गन्धारीणामविकेव। तच्च वपनं प्राधान्येन गोदान एवेति दीक्षापूर्वाङ्गभूतं वपनमेव श्रौतो गोदानसम्बन्धी विधिर्गोदानविधिर्यदुत्तरं दीक्षा निर्वर्त्यते। न च स्नानाभ्यञ्जनादिकमानन्तर्यविघातकमिति वाच्य—मव्यवहितानन्तर्यस्यापेक्षैव नास्ति; विप्रकृष्टानन्तर्यमप्यानन्तर्यमेव, यज्ञकर्मण उत्तरोत्तरं सन्तानान्मध्ये रोधाभावादान्तर्यमव्याहत; मेध्यत्वसम्पादककर्मणां सर्वेषामेव प्रधानं प्रथमं च गोदानकर्म उपलक्ष्यते च तेन सर्वमभ्यञ्जनादि, अत एव प्रधानकर्मणो दीक्षया आनन्तर्यमेव प्रधानं प्रथमं च गोदानविधेरिति चतुर्भिः। तस्माद् गोदानविधेरनन्तरं दीक्षेति वक्तुं समुचितम्।

अत एव गृह्योक्तं गोदानविधिं लिखन्गोदानशब्दस्मरणमात्रेण जातश्रौतगोदानवपन तदुत्तरदीक्षापरिस्फूर्त्तिर्महाकविर्विवाहदीक्षामिति पदे कमप्यद्भुतं चमत्कारं पुपोष क्षेमेन्द्राभिष्टुतं च स्वीयं वैदिककल्पपरिचयं ददौ। इतरथा दीक्षापदोपयोगस्य वैयर्थ्यापत्तेः। न च "दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयनव्रतादेशे' ष्विति धातुपाठे विवाहार्थो व्रतादेशे गत इति वाच्यम्। यथा यथा प्रयोगोपलम्भस्तथा तथा धातुपाठार्थोपचयः; न तु धातुपाठमाश्रित्य शब्दघटनं कुम्भकारवत्। समानार्थेषु वा शब्देषु सदृशो वर्णसमुदायो धातुत्वेन गृह्यते, प्रयोगबाहुल्याविरुद्धश्चार्थस्तत्र तस्य नियम्यते। ततः शब्दौघस्य भ्रमणेन नवनवार्थान्भजति शब्दे वृद्धि यात्यर्थपारायणमपि। उदाहरणं चात्र गोदान—गोदानविधि—केशान्तकरण—केशान्तकर्म प्रयोग एवापश्याम। दीक्षाशब्दोपि यागपूर्वाङ्गे प्रयुज्यमानः सकुंचितार्थं विहाय क्रमशो नियममात्रे प्रससार। गोदानशब्दप्रयोगसहयोगस्वारस्यमन्तरा न दीक्षाशब्दस्य सन्निकर्षसौष्ठवमप्यस्ति। विवाहसम्बन्धि पूर्वाङ्गीनं व्रतादेशं निरवर्तयदित्यर्थस्तु तदुत्तरं विवाह विधिं निरवर्तयदिति वर्णनान्तरमपेक्षते तत्तु नोपलभामहे पद्ये वा पद्यान्तरे वा। नापि महाकवयो धातुपाठं पुरतः कृत्वाऽप्रचलितार्थगवेषणाय तिष्ठन्ति। नाप्यस्ति च कोपि व्रतादेशो विशेषेण विवाहसम्बन्धी। नग्नस्त्र्यदर्शनादिस्तु समावर्तना (गोदाना)ङ्गभूतस्तस्य समाप्तिरेव विवाहः। अक्षारलवणाशनादिस्तु त्रिरात्रव्रतादेशो विवाहोत्तरकालिको न गोदानविध्यन्तरः; चतुर्थीहवनान्तः स पूर्वं विवाहमपेक्षते न तु गोदानविवाहयोर्मध्ये पतति। अतो विवाह एव दीक्षेति व्याख्यानमन्तरा न किमपि शरणम्। उररीकृते च तस्मिन् लुप्तोपमया यथा गोदानसम्बन्धिनः श्रौतविधेरुत्तरं दीक्षा यागसाधिका निर्वर्त्यते तथैव गुरुर्दिलीपो गृह्यकेशान्तकर्मणी (पूर्वं गोदाननामना व्यवहार्यस्या)ऽन्ते स्नातकस्य रघोर्गृहमेधसाधनं विवाहं निरवर्तयदित्यस्ति कोऽपि सहृदयसंवेद्यश्चमत्कारातिशयो गोदानविधि-अनन्तर-दीक्षेति शब्दचतुष्टयपारम्पर्यध्वनितः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्सामयिकाः श्रव्यकाव्यप्रेमिणः श्रौतकर्मणामविरलप्रचारत्वान्मन्दतन्त्रीनिनादमिव महाकवेराशयं व्याख्यानमन्तरैव बुबुधुरिति मन्यामहे। दुर्व्याख्याविषमूर्च्छितायाः कालिदासभारतयाः सञ्जीवनाय यतमानोऽपि मल्लिनाथ सूरिर्यदि स्वकाले तन्निमानं भजति वैदिककर्मकल्पकलापे न स्वारस्यमेतत्पर्यचिनोत्तर्हि किमाश्चर्यं यद्विक्रमसम्राजो विंश्यां शताब्द्यां वाङ्गः कश्चन टीकाकारो गोदानं धेनुदानमिति व्याचिख्यौ नामशेषतां गते श्रौतविधौ ?

भवभूतिरपि कालिदासस्य छायामनुहरन्नुत्तरचरितस्य प्रथमाङ्के जानक्या मुखे "एदे क्खु तक्कालकिदगोदाणमङ्गला चत्तारो भादरो विआहदिक्खिदा तुम्हें" इति क्षिपति। उदाहरणान्तरेषु तस्यापि वैदिकपरिचयः प्रतीयते। एतदंशव्याख्यानावसरे टीकाकृतो वीरराघवस्य पाण्डित्यं पश्यन्तु "गोदानमङ्गलं क्षीरकर्म तस्य मङ्गलार्थत्वान्म-ङ्गलत्वम्। विवाहेन दीक्षिता विवाहदीक्षिता इति विवाहहेतुकव्रतवन्त इत्यर्थः" ! ।ओ३म।

(प्रथम प्रकाशन : संस्कृत-रत्नाकर)

प्रजा परिषदः स्थापना विधिः

ॐ नमः शिवाय

अथ प्रजापरिषदः स्थापने शास्त्रीयो विधिः। शुभ दिने प्रातः पुरोधो द्वारा श्री गणपति गौर्यादि पूजन कलश स्थापन नवग्रह मखश्च कार्यः तत्र संकल्प. ॐ तत्सदित्यादि मद्यजमानस्य सकल प्रजाभिनन्दन पूर्वक सौराज्य कामस्यास्य समवेतात्मा प्रजा परिषदः प्रतिष्ठा द्वारा सकलाभीष्टसिद्धि कामो विशिष्ट होम युत ग्रहमखमहं करिष्यामि तत्र साधारण हुत्यनन्तर वाजप्रसवीयाख्य पञ्चानां मन्त्राणामाहुति शतद्वय गुणयोगेन संकलित सहस्र संपद्यते। ते च मन्त्राः —

१ वाजस्येमं प्रसव २ वाजस्यमा प्रसव,
३ वाजस्यानु प्रसव ४ सोमं राजानमवसे
५ अर्यमणं बृहस्पतिं।

(यजु ९।२३-२७)

ततः स्विष्टकृत पूर्वं पुरोधाः सकलत्र पूजोपचार सहचरितः सभा मण्डप प्रविश्य शुभावकाशे पृथिवीं सभां चावाह्य पूजयति। ततः सवादित्रतूर्यघोषो राजपरिच्छद पुत्रामात्यिक समवेतो राजा प्रविशति। प्रविशति च तस्मिन पुरोधाः पठति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।

किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरंहितो भवति वाजिनाय॥ (१०.७१.१० ऋग्वे).

सर्वे सभासदः प्रागेव समवेता भवन्ति। पीठसविधे राज्ञि समायाते पुरोधास्तं तिलक-कङ्कणे धारयति। उत्तिष्ठन्नेव राजा पृथिवीं पूजयति तत्र मन्त्रः—

नमो मात्रे पृथिव्यै (यजु ९।२२)

पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम्। (यजु १०।२३)

ततः सभां पूजयित्वा प्रार्थयते मन्त्रैः—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।

येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमाददे।

अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु॥ (अथर्व ७।१२।१.

ततः पीठ उपविशति। तत्र मन्त्रः—

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।

साम्राज्याय सुक्रतुः॥ (यजु १०।२७)

ततः सूर्यघोषैः सर्वेभ्यः सभारम्भे निवेदिते सभासदः अनुज्येष्ठं राज्ञे उपदा ढौकयन्ति राज्ञो दक्षिणं जानु च स्पृशन्तः प्रत्येकं शपथं च गृह्णन्ति। ततः सर्वे सभ्याः सम्भूय नव-कुसुमनिर्मितामेकामेव मालामादाय राज्ञः कण्ठे आसज्जयेयुः। तत्र मन्त्रः—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राच्यां दिशि त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्यां वृत्रहन् वृत्रहासि।
यत्र यन्ति स्रवन्त्यस्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभो हव्य एधि॥
(काठक ८।१७)

देवा वै राजन्याज्जायमानाद् बिभयुस्तमन्तर्हितं दाम्नापौम्भन् अपोब्धो वा एष जायते यद् राजन्यो यद्वा एषोऽनपोब्धो जायेत न किंचन स्यात्सर्वा इमाः प्रजा अभिभवेद् भयात् (काठक ११४)

ततस्तां स्रजं धारयन् राजा स्वस्थाने ऽध्यासीनान् सभासदः अनुमन्त्रयेत -

अस्मे वो अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुः।
अस्मे वर्चांसि सन्तु वः॥ (यजु १०।२२)
यद्वो मन परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद् व आवर्तयामसि मयि वो रमतां मन॥ (अथर्व ७।१२।३)
सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः॥ (अथर्व १९।५५।५)

ततः सभाकार्यारम्भः। पुरोधाश्च वेदिसमीपे गत्वा राष्ट्रभृतो जुहोति। तत्र ऋताषाडित्यादीनां (यजु १८।३८-४३) षण्णां मन्त्राणां प्रत्येकं विंशति स्स्रुतयः येन संकलने विंशदुत्तर शत संख्याः। ततः पुरोधाः स्विष्टकृद्धोमादारभ्य पूर्णाहुत्यन्तं कर्म संपूरयतीति शुभम्॥

पण्डितश्रीचन्द्रधरशर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजी-साहित्य

On 'Siva-Bhagavata' In Patanjali's Mahabhashya.

Much has been written by eminent scholars about the ancient sect of Bhagavatas. The earliest inscription making use of the word 'Bhagavata' as an attributive of a follower of a particular sect is that edited by Dr. Fleet in **Jour. R. As. Soc.**, Oct. 1909, in which Heliodoros, son of Dion, of Takshasila, a **Yonaduta** of king Antialkidas at the court of Tratar Raja Kasiputa Bhagabhadra, is described as a **Bhagavata**. Evidently he was a Vishnu-bhagavata, for the inscription commemorates the erection of a **Garuda-dhvaja** to **devadeva Vasudeva**.

I wish to draw the attention of scholars to the fact that Siva-bhagavatas, can claim the same antiquity as Vishnu-bhagavatas. From the very earliest days there were two sects of Bhagavatas who believed Bhagavat, conceived either as Vishnu or Siva, to be the supreme cause, and **bhakti** or devotion to him as of more importance than ritual or sacrifice.

This inscription mentions Antialkidas Nikephoros who, according to Vincent Smith, was a contemporary with the early years of Eucratides **circa**. 170 B. C. Menander's invasion took place about 150 B. C., only a few years after, and his siege of Saketa and Majjhamika is alluded to by Patanjali in words which leave little doubt that the events took place in the lifetime of the great grammarian.

Now, Patanjali mentions the word **Siva-bhagavata** while commenting on Panini V. 2. 76. The passage is as under :

अयः शूल-दण्डाजिनाभ्यां ठक्-ठञौ ५। २। ७६

किं योऽयं:शूलेनान्विच्छति स आयः शूलिकः ?

किं चातः ?

शिवभागवते प्रामोति ।

एवं तर्ह्युत्तरपदलोपोऽच द्रष्टव्यः । अयः शूलमिवायः शूलम् । यो मृदुनोपाये-नान्वेष्टव्यानर्थान्त्रभसेनान्विच्छति स उच्यत आयःशूलिकः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

An explanation of the context is necessary.

Patanjali takes pains to explain that words formed by Panini V. 2. 72, 75 and 76, are not to be taken in a literal sense, but only in a metaphorical one. Thus **sitaka, ushnaka** (Panini V. 2. 72) do not mean 'he who does cold', or 'he who does hot,' for then they might be applied to snow or sun, but they respectively mean 'a person who takes a long time over doing a thing which has to be done soon,' and 'a person who does a thing betimes.' Similarly, **parsvaka** (Panini V. 2. 75.) does not mean 'he who seeks his ends by the side, for then it might mean 'a king's servant' but it is taken to mean 'one who proceeds to perform in a roundabout way things which can be performed in a straightforward manner.' We now come to Panini V. 2. 76. from which we get the word **Ayurvedika**. Patanjali asks if this word is to be taken in the literal sense of one 'who goes about, or seeks his ends with an iron dart' ? On this he asks, what would then happen ? The reply is that then the word would apply to a **Siva-bhagavata**. Evidently, the members of that fraternity must then have been in the habit of going about, or seeking their ends, with an iron **sula** in hand. Finally Patanjali says that the word is not io be taken in the literal sense, and, therefore, cannot apply to a **Siva-bhagavata**, but it is taken to apply to express one who has recourse to extreme or harsh or rash measures to seek an end which can be secured by milder methods.

Patanjali's denial that the word does not apply to **Siva-bhagavatas** is a proof of the existence of the class in those days. They must have used an iron spear as a distinctive mark like modern **Jogis** who carry an iron trident. Siva's weapon is **sula** or **trisula**, whence his epithet **Suli**.

Ajmer. Chandradhar Guleri.

[The Indian Antiquary : November, 1912.]

Kakatika Monks.

In **J. R. A. S.** for January, 1912, Professor H. Luders, while commenting unon a Brahmi inscription, in which the word **kakatikanami** occurs, observes—

'It is more difficult to say who is meant by **kakatikanami**. I take this to be a p roper name, and "as a cooking place in a Vihara can hardly be intended for anybody but the monks living there, **kakatika**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

would seem to be the name of those monks, though I cannot say why they were called so."

Taking the Professor's assumption that **kakatika** is the name of an order of monks to be correct, may I venture to offer an explanation? To me the word appears to be an **apabhramsa** from Sanskrit **kaukkutika** formed by Panini 4. 4. 46. Unfortunately, Patanjali does not comment on the **sutra**, but the **sutra** itself explains the formation of **'kukkutim pasyati = kaukkutikah'** as **'samjnayam,'** **i.e.**, not in the literal sense of 'one who sees a hen,' but as a name, or attributive class name. The **Kasica** illustrates by **'kaukkutiko bhikshuh'** and explains that by **'kukkuti'** here is meant, by a transferred epithet, the spaco over which a hen can fly at one flight. The **bhikshu** who limits his vision over so much of the ground before him as can be covered by one (proverbially short) flight of a hen is meant by the word. There must have been **bhikshus** who submitted themselves to this sort of discipline to subdue the sense of sight and to avoid the **himsa** of small insects. The Buddhists and Jainas set a great store by **ahinsa**, and the sight of a Jaina **sadhu**, brushing the ground before him with a silk broom and treading with his neck bent low at a snail's pace, is not rare even now in India. If we assume that some **bhikshus** were called **kaukkutikas** after this habit of theirs, we can understand the latter contemptuous sense of 'hypocrite' attributed to this word by the metrical Sanskrit **kosas**. It is with a certain diffidence that I offer this explanation, but the word **Samjnayain'** in Panini's **Sutra** itself supports my conjecture, I think.

Ajmer Chandradhar Guleri.

[The Indian Antiquary, January, 1913]

A Poem By Bhasa.

Pandit T. Ganapati Sastri of Travancore has laid all lovers of Sanskrit literature under a deep debt of gratitude by his discovery of twelve or rather thirteen of the dramas of the almost forgotten poet Bhasa, who is known to have preceded Kalidasa. Three of these he has edited in the Trivandrum Sanskrit Series.

I beg to draw the attention of scholars to a **kavya** or epic poem by the same poet. It is reerred to in the **Prithviraja-vijaya. mahakavya,** also called **Prithvi-mahendra-vijaya.** I quote from a manuscript in the possession of P. Gaurishankar H. Ojha, copied from the one in the Deccan College Library.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Text.

स्वका [सत्का] व्यसंहारविधौ खलानां दीत्पा [सा] नि वह्नेरपि मानसानि।
भासस्य काव्यं खलु विष्णुधर्मात्सो [न्त्सो] प्याननात्पारतवन्मुमोच ॥

Commentary.

सतां काव्यं तद्विषये संहारविधौ दाहे दोषारोपणेमेरपि सकाशाद्दुर्जनानां चित्तानि दीप्तान्यजडानि भवन्ति अत्र साधनमाह सोग्निरपि भासमुनेः काव्यं विष्णु-धर्मान्मुखात्त्यक्तवान् नादहदित्यर्थः अत एव पारतवदित्युपमा अग्निर्हि वस्त्वन्तरवत्पारतं दग्धुमशक्तो मुखान्मुञ्चति भासव्यासयोः काव्यविषयेस्पर्धौ कुर्वतोस्सर्वोत्कर्षवर्तित्वेन परीक्षकान्तराभावात् परीक्षार्थमग्निमध्ये तयोर्द्वयोः काव्यद्वयं क्षिप्तम् तयोर्मध्यादग्नि-र्विष्णुधर्मान्नादहदिति प्रसिद्धिः खलैस्तु प्राप्तं सत्काव्यं दह्यते इत्यग्नेस्सकाशात्खलानां दाहकत्वमित्यर्थः।

[Leaf 1 (number 3), page 2, lines 4-11].

From this we learn that **Vishnudharma** (plural) was a **kavya** of Bhasa and it was put in the fire for being tested. The commentator, Jonaraja (son of Bhatta Nonaraja, son of Lolaraja) who commented on the **Kiraturjuniya** and **Srikanthacharita** also, calls Bhasa a **muni**, and says that he and Vyasa were-rivals and one work of each was thrown into the fire, which, as a referee, did not consume the excellent work of Bhasa named **Vishnudharma**. It is not said whether the work of Vyasa escaped unhurt. The submission of the works of Bhasa to the ordeal; by fire is alluded to by Rajasekhara in Jalhana's **Sukti-muktavali** in the verse—

भासनाटकचक्रेपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोभून्न पावकः ॥

where **chhekaih**[1] should be taken to mean **vidagdhaih** (=critics), and where the surviving work of outstanding merit is said to be **Svapna-Vasavadatta,** and not **Vishnudharma.** The epithet **jalanamitte** (jvalana-mitra=friend of fire) applied to Bhasa in **Gaudavaho** (v. 800) refers, I think, to this episode in the poet's life rather than to 'an incident in the play' (of **Svapna-Vasavadatta**) as is said by M. Sylvain Levi. Testing the qualities of a drama or a poem by its combustibility or otherwise is indeed quaint. In his **Prabandha kosha,** Rajasekhare-suri alludes to the custom of authors taking their new books to Kashmir

1. **Chheka** is a Pali word meaning skilful, expert, **vide** Childers' **Dictionary sub voce.—D. R. B.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

where the works were examined by Pandits and placed in the hands of Bharati or Sarasvati, who sat on a throne. If the work was of merit' the goddess nodded in the approval and flowers were showered upon the poet; if not, it was thrown to the ground.

Thus there was a tradition in the 12th century of a **kavya** named **Vishnudharma** (plural) of great excellence by Bhasa. The fact that Bhasa is called **muni** and a rival of Vyasa, and the possibility **Vishnudharmottara,** one of the **Puranas** going under the authorship of Vyasa, looks like the namesake and counterpart of the lost **Vishnudharma** by Bhasa, would, no doubt, be very gratifying to Pandit Ganapati Sastri, who, carried away by the enthusiasm of his discovery, the importance of which be it far from me to under-rate, makes Bhasa anterior to Kautilya Chanakya and Panini. I shall discuss his case for this assumption in another note. But those who are not prepared to accept Vyasa and Bhasa as contemporaries, would admit that. in the 12th century and thereafter, tradition remembered them as rivals of almost equal eminence and remembered a **kavya** by the latter named **Vishnudharma.**

Chandradhar Guleri.

Mayo College, Ajmer,

[There are two works of the name of **Vishnudharma** or **Vishnudharmottara,** of which one, according to Buhler, is as old as A. D. 500 (**ante,** Vol. XIX., p. 408). Both professing to be **Puranas,** one was naturally attributed to Vyasa, who is supposed to be the auther of all **Pnranas.** As it is inconceivable that one auther can compose two different works bearing one and the same name, the other **Vishnudharma** appears to have been hoisted upon Bhasa. A rivalry was accordingly imagined to have sprung up between him and Vyasa, and the tradition about the ordeal of fire which originally pertained to **Svapnavasavadatta** was transferred to **Vishnudharma.**—D. R. B.]

The Real Author of Jaymangala, A Commentary On Vatsyayana's Kamasutra.

By Pandit Chandradhar Guleri, B. A.; Ajmer.

In Mahamahopadhyaya Pandita Durga Prasadaji's edition, Vatsyayana's **Kamasutra** is accompanied by a commentary named Jayamangala, therein ascribed to one Yasodhara. At the end of every **adhyaya,** the colophon is as under—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति श्रीवात्स्यायनीयकामसूत्रटीकायां जयमङ्गलाभिधानायां ।
विदग्धाङ्गनाविरहकातरेण गुरुदत्तेन्द्रपादाभिधानेन यशोधरेणैकत्रकृतसूत्रभाष्यायां ।
———अधिकरणे———अध्यायः ॥

To me it apperas clear from the above that the commentary, named **Jayamangala,** was not the work of Yasodhara, who occupied himself during his separation from a cultured lady, in writing out the **bhashya,** immediately after its corresponding text. The commentary existed before him, but was separate from the text of the **Sutras.** Yasodhara whiled away the days of his separation by putting the text and the commentary together. For this labour he has been amply rewarded, by being called the author of the old commentary for hundreds of years !

To the second edition of **Kamsutra,** Pandit Durgaprasadaji's son has added an appendix containing the commentary on the last book which in the former edition was without it. This part of the commentary is printed from a Vizianagaram manuscript, and its colophon is—

इति सप्तमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः । आदितः षट्त्रिंशः । समाप्तं च कामसूत्रटीकायां जयमङ्गलाख्यायामौपनिषदिकं नाम सप्तममधिकरणम् ॥

Here we come across at least one manuscript of the commentary not tampered with by this worthy. From a close examination of the commentary one finds another interesting thing. This long colophon, giving the autobiographical details of the redactor, is found at the end of every **adhyaya,** but at the end of every **prakarana,** there is another pithy colophon incorporated in the text. The text is doubly divided into **prakaranas** and **adhikaranas** as well as into **adhyayas.** The text marks the end of **adhyayas** and **adhikaranas** by a colophon which the redactor follows, while the original commentator seems to have marked the ends of **prakaranas** only. He did not think much of the division of the text into **adhyayas** also, when it was already divided into **prakaranas** and **adhikaranas,** for he says—

तत्राध्यायसंख्यानं पूर्वशास्त्रेभ्य इदं स्तोकमिति दर्शनार्थम् । प्रकरणाधिकरणसंख्यानमन्यनिरपेक्षार्थम् । (p. 9)

In Pandita Durgaprasadji's edition, these pithy colophons are not given for the first four **adhyayas,** which are the same as the first four **prakaranas.** At the end of the fifth **adhyaya,** which is also the end of the fifth **prakarana** and first **adhikarana,** the colophon. नायकसहायदूतीविमर्शः पञ्चमं प्रकरणं पञ्चमश्चाध्यायः occurs in one Ms. consulted and not in others; but after that these **prakarana** endings regularly occur. From this I suppose that they were removed when a **prakarana** and an **adhyaya** ended in the same place, to make room for the bigger

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and newer colophon but when the **prakarana** endings did not coincide with the **adhyaya** endings they were allowed to stand.

I find further evidence of the fact that Yasodhara was not the author of **Jayamangala** from a commentary of Kamandaki's **Nitisara**, published in Trivandrum Sanskrit Series No. XIV. This is also named **Jayamangala**, but its author is Sankararya.

The following is the first verse of the **Jayamangala** on Vatsyayana—

वात्स्यायनीयं किल कामसूत्रं प्रस्तावितं कैश्चिदिहान्यथैव ।
तस्माद्विधास्ये जयमङ्गलाख्यां टीकामहं सर्वविदं प्रणम्य ।।

Compare this with the second verse of Sankararya's **Jayamangala** on Kamandaki—

कामन्दकीये किल नीतिशास्त्रे प्रायेण नास्मिन् सुगमाः पदार्थाः ।
तस्माद्विधास्ये जयमङ्गलाख्यां तत्पञ्चिकां सर्वविदं प्रणम्य ।।

No only the names and the beginning verses, but the general styles of both the **Jayamangalas** are similar. Both discuss questions of grammar in the same way and explain, criticise or quote references in the same spirited fashion of ancient commentators. Here is one passage from both in which the words and phrases are almost the same—

Vatsyayana :—

यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद्ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाशः

Jayamangala :—

दाण्डक्य इति संज्ञा । भोज इति भोजवंशजः । अभिमन्यमानोऽभिगच्छन् । स हि मृगयां गतो भार्गवकन्यामाश्रमपदे दृष्टवा जातरागो रथमारोप्य जहार । ततो भार्गवः समित्कुशानादायागत्य तामपश्यन्नभिध्याय च यथावृत्तं राजानमभिशशाप । ततोऽसौ सबन्धुराष्ट्रः पांसुवर्षेणावष्टब्धोननाश । तत्स्थानमद्यापि दण्डकारण्यमिति गीयते (p. 24)

Kamandaki's **Nitisara**—

दाण्डक्यो नृपतिः कामात् etc.

Sankararya's **Jaymangala**—

तत्र दण्डको नाम भोजवंशमुख्यः तन्निमित्तप्रसिद्धनामा दाण्डक्यो नाम । स च मृगयां गतस्तृषितो भृग्वाश्रमं प्रविश्य तत्कन्यां रूपयौवनवतीमेकाकिनीं दृष्टवा जातरागस्तां स्यन्दनमारोप्य स्वपुरमाजगाम । भृगुरपि समित्कुशादीनादाय वनादागत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तामपश्यन्नभिध्याय च यथावृत्तं ज्ञात्वा जातक्रोधस्तं शशाप सप्तभिरहोभिः पांसुवृष्ट्या विपद्यतामिति । स तथाक्रान्तस्तथैव ननाश । (p. 20.)

Unless these be cases of unconscious similarity, I propose to conclude that Sankararya commented on both the **Arthasastra** of Kamandaki and the **Kamasastra** of Vatsyayana. He named both his works **Jayamangala,** just as Mallinatha's commentaries on Kalidasa are called **Sanjivani.**

[The Indian Antiquary, July, 1913.]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट

: १ :

श्रद्धांजलियां

शोक-समाचार

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के एक विशेष सार्वजनिक अधिवेशन में जो रविवार १ आश्विन १९७९(१७ सितंबर १९२२) को हुआ निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुए—

(१) इस सभा को अत्यंत शोक है कि इसके २० वर्ष के पुराने सभासद् उप-सभापति, बोर्ड आफ ट्रस्टीज़ के सदस्य, नागरीप्रचारिणी पत्रिका और सूर्यकुमारी पुस्तक-माला के संपादक, सभा के परम सहायक तथा हितैषी, हिंदी और संस्कृत के असाधारण विद्वान और पुरातत्ववेत्ता, स्वनामधन्य पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी का गत मंगलवार १२ सितंबर को प्रातःकाल असमय और अकस्मात् काशीवास हो गया जिसके कारण विद्वानों का एक रत्न खो गया और इस सभा का तो एक दृढ़ स्तम्भ सदा के लिये टूट गया।

(२) यह सभा गुलेरी जी के संबंधियों के साथ अपनी आंतरिक समवेदना प्रकट करती है और जगन्नियंता जगदीश्वर से प्रार्थना करती है कि गुलेरी जी की आत्मा को शांति और उनके कुटुम्बियों को धैर्य प्रदान करे।

(३) उक्त गुलेरी जी ने इस सभा के अनेक उपकार किए हैं उनसे वह कभी उऋण नहीं हो सकती और न इस बात को कभी भूल सकती है कि वे किस प्रकार उसकी सहायता, उन्नति तथा प्रतिष्ठा के लिए सदा सफलतापूर्वक तत्पर रहते थे। उनके स्थान की पूर्ति होना असंभव है। अतएव यह सभा निश्चय करती है कि उनकी स्मृति में एक तैलचित्र सभाभवन में लगाया जाय और यदि आगे चलकर यह संभव हो तो उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का कोई विशेष आयोजन भी किया जाय।

[नागरीप्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

गुलेरी जी हिन्दू विश्वविद्यालय में अरिअण्टल कॉलेज में प्रिंसिपल थे। आप वैदिक साहित्य तथा संस्कृत और प्राकृत के अच्छे विद्वान थे। हिन्दी की तो आपने बड़ी सेवा की है। सन् १९०० में आपने जयपुर में 'नागरी भवन' स्थापित किया। कई वर्षों तक 'समालोचक' नामक पत्र का सम्पादन किया। इसके सिवा हिन्दी के कई पत्रों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप बराबर लेख लिखते रहे। काशी की 'नागरीप्रचारिणी सभा' की पत्रिका का सम्पादन आप ही कर रहे थे। 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला' का प्रकाशन भी आप ही के योग्य सम्पादकत्व में होता था।

आपकी मृत्यु से हिन्दी साहित्य की जो हानि हुई है उसका अनुभव हिन्दी के सभी प्रेमी कर रहे हैं।

[सरस्वती : अक्तूबर, १९२२]

पं० गुलेरी जी का गोलोकवास

हिन्दी ! हत्भाग्य है। संस्कृत भाषे ! तेरे दिन बुरे हैं। विकराल काल ! तू क्रूर है। क्या यह सच है कि पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अब संसार में नहीं रहे ? सहसा विश्वास नहीं होता। हा हंत !! यह कैसा दुःसंवाद है। हिन्दी-साहित्य पर वज्रपात हो गया। हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी पर विपत्ति का पहाड़ फट पड़ा। अजमेर के मेयो कॉलेज के गौरव की ध्वजा टूट गई। देश की पण्डित-मण्डली में से एक मेधावी विद्वद्वरिष्ठ का स्थान सदा के लिए रिक्त हो गया। प्राच्य और प्रतीच्य उभय ज्ञानगरिमा का एक वन्दनीय केन्द्र उठ गया। सहयोगी पत्र 'आज' में पढ़ा कि गत सोमवार की रात पंडित-प्रवर चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी का देहावसान हो गया।

पंडित गुलेरी के साथ हमारा बहुत घनिष्ठ स्वीयत्व सम्बन्ध था और इसलिए आज हमारे शोक का पार नहीं है। हम इस अकांड पतित् विपद् से स्तब्ध हो गए हैं। गुलेरी जी के गोलोकवास से हिन्दी-साहित्य की जो क्षति हुई है, वह पूर्ण होती दिखाई नहीं देती।

हिन्दी-जगत् के धुरन्धर विद्वानों में उनकी गणना की जाती थी। कई वर्षों से तो उन्होंने काशी नागरीप्रचारिणी सभा को विशेष रूप से अपना लिया था। महावीर-प्रसाद द्विवेदी जी से उनका बड़ा गहरा सम्बन्ध था।

हिन्दू विश्वविद्यालय में अपना पदभार ग्रहण करने से पहले वे कलकत्ता आए थे। बड़ी साहित्य-चर्चा हुई थी, कई योजनाएं बनी थीं। कराल काल ने सब बातों पर पानी फेर दिया। हा, कष्ट !! हा, कष्ट !!

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्।
भाष्वानुदिष्यति हसिष्यति पङ्कज श्रीः॥
इत्थं विचिन्तयाति कोशगते द्विरेफे॥
हा, हन्त, हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

[कलकत्ता-समाचार : १५ सितम्बर, १९२२ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुलेरी जी का गोलोक-गमन

सच किसी कवि ने कहा है—

"जाकी इहां चाहना है, ताकी उहां चाहना है;
जाकी इहां चाह ना है, ताकी उहां चाह ना !"

स्वर्गीय पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए० की मृत्यु का समाचार वास्तव में हिन्दी-साहित्य के ऊपर दारुण वज्रपात है। अभी उनके भाई सोमधर शर्मा गुलेरी[1] का देहांत हो चुका था; हाल ही में प्यारी पुत्री की मृत्यु का शोक भी उन्हें व्यथित कर चुका था। कुछ ही दिन हुए, हमने लेख देने के लिए गुलेरी जी से प्रार्थना की थी, उन्होंने हमें उत्साहित करते हुए हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली थी। पर हाय, हमें यह लिखते मर्मान्तिक कष्ट हो रहा है कि आज हम उनके लेखों की जगह उनकी मृत्यु का दारुण संवाद छाप रहे हैं।

गुलेरी जी सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका घराना विद्वत्ता के लिए सदा से प्रसिद्ध है। उनके पूर्व-पुरुष कांगड़ा जिले के गुलेर प्रांत के निवासी थे, इसी से उनकी उपाधि 'गुलेरी' थी। गुलेरी जी के पिता पं० शिवराम जी शास्त्री जयपुर नरेश महाराज रामसिंह के साथ जयपुर में आकर बस गए थे। गुलेरी जी ने पिता से संस्कृत का अध्ययन करके सन् १८९३ ई० से महाराजा कॉलेज में अंगरेजी पढ़ना शुरू किया। १९०३ सन् में आप प्रयाग विश्वविद्यालय में ग्रैजुएट हुए। उन्होंने इसी समय के प्रसिद्ध मान-मन्दिर के जीर्णोद्धार में सहायता दी और लेफ्टिनेंट गैरट के साथ "दि जयपुर आवजर्वेटरी ऐंड इट्स विल्डर" नाम की पुस्तक लिखी। गुलेरी जी वैदिक साहित्य, भाषा-विज्ञान तथा पुरातत्त्व के विद्वान, सुलेखक और प्राकृत, पाली, बंगला, मराठी आदि भाषाओं के ज्ञाता थे। हिन्दी के लेखकों में वे प्रथम श्रेणी के उत्कृष्ट लेखक थे। वैदिक विषयों का ज्ञान उनका बहुत बढ़ा-चढ़ा था। संस्कृत में वह अनायास धाराप्रवाह बातचीत कर सकते थे। उनकी भाषा (हिन्दी) बहुत ही उच्चकोटि की और विनोदपूर्ण होती थी। उन्होंने मि० जैन वैद्य के साथ **समालोचक** पत्र का सम्पादन कई साल तक किया था और अब भी पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा के साथ 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन करते थे। उनकी कहानियाँ बहुत अच्छी होती थीं। उनकी 'बुद्धू का कांटा' शीर्षक कहानी लोगों ने बहुत पसंद की थी। वह पढ़ते अधिक और लिखते कम थे।

जयपुर के सामंत राजकुमारों के संरक्षक होकर वह कुछ दिन अजमेर के मेयो कॉलेज में रहे थे। इधर हिन्दू विश्वविद्यालय ने उनको कुछ समय के लिए जयपुर दरबार से मांग कर, अपने यहां पं० रामावतार शर्मा पांडेय जी के स्थान पर, प्राच्य विभाग के प्रिंसिपल का पद दिया था। वास्तव में गुलेरी जी इस पद और सम्मान के सर्वथा उपयुक्त थे। कराल काल ने काशी में ही ११ सितम्बर सोमवार को रात्रि के समय, सदा के लिए इस विद्वान को चिर-निद्रा की गोद में सुला दिया। गुलेरी जी की रहन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

१. सोमदेव शर्मा गुलेरी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहन बहुत सीधी-सादी थी। वह अंगरेजी के ग्रेजुएट जान नहीं पड़ते थे। सफेद पगड़ी और बगलबंदी पहनते थे। गले में दुपट्टा, आँखों में चश्मा, कण्ठ में रुद्राक्ष की माला और पैरों में देशी जूता रहता था। वह बड़े ही सरल, मधुर भाषी और हँसमुख थे। हमें द्वितीय हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में उनकी सौम्य मूर्ति के दर्शन मिले थे। वे जितने नम्र थे उतने ही अन्याय के प्रति रुद्र मूर्ति हो जाते थे।

उनकी मृत्यु से हिन्दी साहित्य को जो क्षति हुई है, उसका पूरा होना असंभव ही प्रतीत होता है। हम इस शोकमयी स्थिति में उनके परिवार को धैर्य दें तो किन शब्दों में ? ईश्वर से उनकी सद्गति के लिए प्रार्थना भी व्यर्थ ही है। एक तो वह स्वयं सच्चरित्र धार्मिक थे, दूसरे उनकी मृत्यु मुक्ति पुरी काशी में हुई है। इसलिए उनकी सद्गति तो स्वयं सिद्ध है। तथापि लोकाचार के अनुसार हम उनके शोकार्त परिवार से सहानुभूति दिखाते हुए उनकी आत्मा को शांति मिलने के लिए जगदीश्वर से प्रार्थना करते हैं।

[माधुरी : २७ सितम्बर, १९२२ ई०]

असामयिक मृत्यु

गत सोमवार (२६ भाद्र) को आधी रात के समय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का देहावसान हो गया। गुलेरी जी हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और इतिहास के ख्यातनामा ज्ञाता थे। बह संस्कृत, पाली और प्राकृत के भी अच्छे पण्डित थे। आजकल यह मेयो कालेज, अजमेर को छोड़कर हिन्दू विश्वविद्यालय की सेवा कर रहे थे। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति और आपके कुटुम्बियों को धैर्य प्रदान करे।

[मर्यादा : भाद्रपद, १९७९ ई०]

प्रचण्ड विद्वान

चंद्रधर जी संस्कृत और हिंदी के प्रचंड विद्वान थे। इसका कुछ पता उनके गवेषणापूर्ण लेखों से चलता है। मुझको लगभग १८ वर्षों से उनको जानने का सौभाग्य प्राप्त था। इसलिए मैं कह सकता हूं कि उनके हृदय में हिंदी भाषा के प्रति कितना अनुराग था और उनकी कितनी उत्कट इच्छा रहती थी कि हिंदी का आधुनिक साहित्य सर्वांग सुंदर होकर संसार के उच्च से उच्च कोटि के साहित्य से समानता करे। उनके छोटे भाई भी हिंदी के सुलेखक थे। इतनी कम अवस्था में इन प्रतिभावान् भाइयों का संसार से उठ जाना हम सबका ही दुर्भाग्य है।

—पुरुषोत्तमदास टण्डन

[कानपुर हिंदी साहित्य-सम्मेलन, सन् १९२३ई० के सभापति पद से दिए भाषण से]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोक ! महाशोक !!

शोक ! महाशोक !! आज हिन्दी संसार का एक उज्ज्वल नक्षत्र सदा के लिए अस्त हो गया । संस्कृत के धुरंधर विद्वान, हिन्दी, अंगरेजी, पाली आदि अनेक भाषाओं के पूर्ण पण्डित श्रीयुत चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी आज इस संसार में नहीं हैं । ११ सितम्बर सोमवार की रात को कोई डेढ़ बजे के करीब आपने इस असार संसार से नाता तोड़ा। आपके स्वर्गवासी होने से हिन्दी-संसार की जो क्षति हुई है वह वर्णनातीत है । ईश्वर आपके शोक संतप्त कुटुम्बियों तथा आत्मीय जनों को सांत्वना प्रदान करे।

[अभ्युदय : कुवांरवदी १०, सम्वत १९७९ वि०]

स्वर्गीय गुलेरी जी

स्वर्गीय पण्डित चंद्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए० हमारे प्रान्त के उन इने-गिने मातृभाषा-प्रेमी विद्वानों में से थे जो अपनी मातृभाषा की दीनावस्था से घृणा करके उसका बहिष्कार करने के बदले उसे और अधिक प्रेम और भक्ति के साथ अपनाते हैं । संस्कृत, प्राकृत, और हिन्दी के तो वे असाधारण विद्वान थे ही; अंग्रेजी, पाली, बंगला तथा मराठी आदि विषयों में उनकी विशेष गति थी । व्यंग्यपूर्ण समालोचना लिखने में वे बड़े पटु थे। थोड़ी-सी अवस्था में ही उन्होंने हिन्दी साहित्य की खासी सेवा की। उनका रहन-सहन सादा और स्वभाव सज्जनोचित तथा सरल था । उनकी मृत्यु से हिन्दी ने अपना एक अमूल्य रत्न खो दिया। केवल ३९ वर्ष की अवस्था में ऐसे महानुभाव की मृत्यु हो जाने से हिन्दी-साहित्य को जो क्षति हुई है वह किसी तरह पूरी नहीं की जा सकती। ऐसे महानुभाव के स्वर्गवास का समाचार सुनकर किसका हृदय शोकान्वित न होगा ? हम नहीं जानते कि इस समय असह्य वेदना के अवसर पर हम स्वर्गीय गुलेरी जी के कुटुम्बियों के साथ किन शब्दों में अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रदान करें ? हम परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह मृतात्मा को शान्ति तथा उनके कुटुम्बियों को सान्त्वना प्रदान करे ।

[प्रभा : १ अक्तूबर, १९२२ ई०]

गुलेरी जी का स्वर्गवास

हमें यह सुनकर अत्यन्त दु:ख हुआ कि केवल ३९ वर्ष की अवस्था में प्रतिष्ठित हिन्दी-साहित्य सेवी पण्डित चंद्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए० का स्वर्गवास हो गया । आपकी मृत्यु से हिन्दी ने अपना एक रत्न खो दिया। आप हिन्दी के उन इने-गिने विद्वान महारथियों में से थे जिन पर हिन्दी समुचित गर्व कर सकती थी और जो अपनी विद्वत्ता से मातृभाषा को लाभ पहुँचाने का सतत प्रयत्न किया करते थे। आप संस्कृत, प्राकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और हिन्दी के असाधारण विद्वान थे और अंग्रेजी, पाली, बंगला तथा मराठी आदि भाषाओं से भी परिचित थे। पुरातत्व, दर्शन, इतिहास आदि विषयों में आपकी विशेष गति थी। व्यंग्यपूर्ण समालोचना लिखने वालों में आपका विशेष स्थान था। आपका रहन-सहन सादा और स्वभाव सज्जनोचित तथा सरल था। ऐसे महानुभाव की अकाल मृत्यु से किसका हृदय दुःखित न होगा। हम इस असह्य वेदना में गुलेरी जी के कुटुम्बियों से हार्दिक सहानुभूति रखते हैं और ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह मृतात्मा को शांति तथा उनके कुटुम्बियों को धैर्य प्रदान करे।

[**प्रताप** : १८ सितम्बर, १९२२ ई०]

स्व० पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

अभी हम लोग पं० सोमदेव शर्मा गुलेरी के असामयिक और आकस्मिक वियोग को भूले भी नहीं थे, हमारी आँखों के आँसू अभी सूखने भी नहीं पाए थे कि इतने में कराल काल ने पं० जगद्धर शर्मा गुलेरी की सहधर्मिणी को इस लोक से बुला लिया। यही नहीं, इतने से ही निर्दय और कठोर काल को सन्तोष नहीं हुआ; कठोर काल ने संस्कृत और हिन्दी के विद्वान, सादगी के अवतार और प्रेम की मूर्ति पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी को भी ११ सितम्बर के दिन हम लोगों के बीच में से उठा लिया। हा! कुटिल काल! तुझे गुलेरी जी पर कुछ दया न आई। तू सचमुच दुष्ट और निर्दय है। श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी की अकाल मृत्यु से जो दुःख हिन्दी-जनता को पहुँचा है, वह लिखा नहीं जा सकता। परमपिता परमात्मा स्वर्गीय गुलेरी जी के आत्मा को सद्गति प्रदान करें और श्री भाई जगद्धर शर्मा गुलेरी को धैर्य और सन्तोष प्रदान करें जिससे वे ऐसे भयंकर कष्ट को सहन कर सकें।

[**विद्यार्थी** : आश्विन, सं० १९७९ वि०]

स्वर्गीय गुलेरी जी

पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के लोकान्तरित होने से हिन्दी-जगत का जो स्थान रिक्त हुआ है, उसकी पूर्ति ५० वर्ष में भी होनी कठिन है। उनकी नैसर्गिक प्रतिभा, प्रगाढ़ विद्वत्ता, बहुभाषा-विज्ञता, अनुकरणीय देशभक्ति, सरलता और सौजन्य को देखते हुए हमें यह कहने में जरा-सा भी संकोच नहीं है कि वे हिंदी प्रांतों के ही नहीं, समस्त भारत की विद्वन्मण्डली के एक रत्न थे। उनके सामने देश-सेवा का विस्तृत क्षेत्र पड़ा था, जिसमें वे शनैः शनैः आगे बढ़ रहे थे; पर निर्दय काल ने उनकी शुभाकांक्षाओं और देश की आशाओं पर एकाएक पानी फेर दिया। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे और इस अभागे देश में उन्हीं के समान अनेक ऐसे विद्वानों को जन्म दे जिनमें विद्वत्ता, देशभक्ति और सौजन्य का एक साथ समावेश हो।

[**श्री शारदा** : अक्तूबर, १९२२ ई०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वर्गीय गुलेरी जी

पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी के स्वर्गवास से सब हिंदी भाषा प्रेमियों को दुःख होगा। उनका यह असमय महाप्रयाण दुर्भाग्य का प्रमाण है। गुलेरी जी मातृभाषा के अनन्य भक्त थे। हिन्दी के मन्दिर का ऐसा प्रेमी पुजारी शायद ही दूसरा हो। संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान, अंगरेजी के योग्य ज्ञाता तथा देशी भाषाओं के जानकार होने पर भी वह हिन्दी से जो प्रगाढ़ प्रेम रखते थे वह अपूर्व था। वह आजकल हिंदू विश्वविद्यालय के प्राच्य विभाग के प्रधान थे। 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन करते थे और 'स्वर्ण कुमारी ग्रंथमाला (सूर्यकुमारी पुस्तकमाला) निकालने में लगे थे। भगवान उनकी आत्मा को शांति दे और उनके कुटुम्ब को धैर्य।

[मारवाड़ी अग्रवाल : अश्विन, १९७९ वि०]

: २ :

सम्मतियाँ

अज्ञेय

गुलेरी जी ने कुल तीन कहानियां लिखीं; पर उन तीनों में से भी एक ऐसी सर्वांग सुंदर रचना हुई कि कोई भी कहानी-संग्रह उसे लिए बिना प्रतिनिधित्व का दावा नहीं कर सकता।

अमरनाथ झा

गुलेरी जी की कहानियां इस योग्य हैं कि इनकी तुलना और भाषाओं की कहानियों से की जाय। बोलचाल की भाषा जैसी होनी चाहिए, वैसी ही है, कृत्रिमता कहीं नहीं है। मानवचरित्र का प्रत्येक कहानी में विलक्षण वर्णन है।

इंद्रनाथ मदान

उसने कहा था कहानी की दृष्टि से इतना महत्व नहीं रखती जितना इतिहास की दृष्टि से। हिंदी-कहानी जब घुटनों के बल चलती थी तो यह पांव के बल खड़ी होकर चलने लगी थी। उस समय कहानी में कथानक, चरित्र, वातावरण और उद्देश्य को लाना होता था। इस कहानी में इन सबको नाटकीय स्तर पर रचा गया है।

कृष्णानंद

गुलेरी जी की कृतियां संस्कृत, हिंदी और अंगरेज़ी—इन तीनों में हैं, परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनकी अधिकांश कृतियां हिंदी में ही हैं। नागरी-हिंदी के प्रति इन्हें सहज ममता थी और इसकी उन्नति के लिए इन्होंने जो किया है, वह बहुत ही उत्कृष्ट और विशिष्ट है।

अनोखे प्रतिभामय पुरुष गुलेरी जी की हिंदी-सेवा की उत्कृष्टता और विशिष्टता इनकी कृतियों की पुष्टता तथा विविधता के साथ विषयों की तत्त्वज्ञता और शैली की विशेषता में है। पौरस्त्य-पाश्चात्य, प्राचीन-अर्वाचीन, साहित्य तथा विज्ञान रचना एवं आलोचना के ये समान अधिकारी थे और इन सबमें सजीव मुहावरेदारी तथा संकेतमयता एवं वक्रता तथा व्यंजना की इनकी मार्मिक शैली सिद्ध थी। एक-दो कृतियों से ही अमर आदर्श स्थापित कर देने वाले ये अमर और आदर्श कृती हो गए हैं। 'उसने कहा था' की अमरता तो सर्व प्रसिद्ध है। इनकी और कृतियों, विशेषतः निबंधों की अमरता वैसी ही प्रसिद्ध होगी।

कैलाशचन्द्र भाटिया

पुरानी हिंदी गुलेरी जी का शोधात्मक निबंध है। यह गुलेरी जी के मौलिक विचारों का खजाना है जिसका अभूतपूर्व महत्व प्रथम प्रकाशन के समय तो था ही, आज भी उतना ही बना हुआ है। पुस्तक में उनके मौलिक विचार आरंभ में हैं, तत्पश्चात् उन्होंने अपने विचारों की पुष्टि में 'शाङ्र्गधर पद्धति', 'प्रबंधचिंतामणि', 'कुमारपालप्रतिबोध', 'दोहाग्रंथ', 'खड़ीबोली-मलेच्छ भाषा', 'हेमचन्द्र का व्याकरण' तथा 'हेमचन्द्र की रचना' से उद्धरण देकर उनकी व्याख्या करके अपने मत की पुष्टि की है।

प्रायः यह कहा जाता है कि मूल भाषा संस्कृत है और आधुनिक आर्यभाषाएं, उसकी बेटियां हैं अर्थात् उससे विकसित हुई हैं। उन्होंने (गुलेरी) इसके विपरीत संस्कृत को मूलधारा से निकली नहर माना, मूलधारा नहीं।...सुप्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जी की चिंतन-प्रक्रिया गुलेरी जी के कथन से मेल खाती है।...प्रायः समझा जाता है कि उन्होंने अपभ्रंश को ही 'पुरानी हिंदी' की संज्ञा दी। ऐसा नहीं है, वस्तुतः उन्होंने अपभ्रंश के दो रूप स्वीकार किए—पुरानी अपभ्रंश (प्रारंभिक अपभ्रंश), पिछली अपभ्रंश (उत्तरकालीन अपभ्रंश)। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया—'पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से।'

गिरधर राठी

"गुलेरी जी अनेक भाषाओं के प्रकांड विद्वान थे और अनेक विषयों के अध्येता, ज्ञाता और लेखक।...हिंदी भाषा के बनते (बिगड़ते) हुए रूप पर उनकी तीखी टिप्पणियां भी चौंकाती हैं—इसलिए कि जिस रोग का निदान उन्होंने ७०-८० वर्ष पहले किया था, वह आज महारोग बन गया है। वे एक तरह से संस्कृत भाषा में ही जन्मे, अंग्रेजी माध्यम से पढ़े और हिंदी के रचनाकार रहे। पर वे न तो पंडिताऊ हिंदी के पुरोधा हैं, न ही अंग्रेजी की बैसाखी वाली हिंदी के। उनकी भाषा में अनोखा चुलबुलापन, जिसे विदेशी भाषाओं से सीखने में उज्र नहीं है, पर उनकी जूठन नहीं बनना चाहती। इसी तरह संस्कृत से भी सम्बन्ध ऐसा है कि हिंदी का स्वतंत्र व्यक्तित्व बना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहे। एक निश्छल किस्म का मूर्ति-भंजक रूप उनके लेखन में जगह-जगह है।

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

गुलेरीजी की रचना-शैली नितांत स्पष्ट, सरल एवं व्यावहारिक है। भावभंगी चटपटी है। शब्दावली चलती, सरल और विशिष्टतापूर्ण है तथा वाक्य-विन्यास आकर्षक, गठित और मुहावरेदार है। गुलेरी जी मुहावरे पर जान देने वाले और व्यंग्यपूर्ण हैं। ···गुलेरी जी प्रधानतः सामयिक विषयों पर लिखते थे। उन सामयिक विषयों में आलोचना, इतिहास और समाजसुधार के प्रश्न विशेषतः आते हैं।

गुलेरी जी की रचना-शैली की प्रधानता उसकी व्यावहारिकता में है। उनकी शैली में विचित्र चलतापन है।···गुलेरी जी संस्कृत भाषा और साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। यह बात उनके गंभीर लेखों से स्पष्ट हो जाती है। जिस समय वे अपने विषय का सतर्क प्रतिपादन करते हुए पाए जाते हैं उस समय उनकी भाषा परिमार्जित तथा प्रौढ़ ज्ञात होती है। वहां उनका साहित्यिक मसखरापन भाव की विशुद्धता से आक्रांत रहता है। उनके गंभीर विषयों पर लिखे गए लेखों की भाषा प्रायः संस्कृत-बहुला है।···उनकी भाषा-शैली में अकृत्रिम वैयक्तिकता है।

जैनेन्द्र कुमार

गुलेरी विलक्षण विद्वान थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनमें गजब की जिंदादिली थी। और उनकी शैली भी अनोखी है। वह पंडित-परम्परा के कथाकार थे। उन्हें उनकी एक कहानी 'उसने कहा था' ने महान बना दिया। इस कहानी में वह कला और लेखन के श्रेष्ठतम आयामों को छूते हैं। वह न केवल विद्वता में अपने समकालीन साहित्यकारों से ऊँचे ठहरते हैं, अपितु एक दृष्टि से वह प्रेमचंद से भी ऊँचे साहित्यकार लगते हैं। प्रेमचंद ने समसामयिक स्थितियों का चित्रण तो बहुत बढ़िया किया है, पर व्यक्ति-मानस के चितेरे के रूप में गुलेरी का जोड़ नहीं हैं।

नंददुलारे वाजपेयी

गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी बहुत ही अधिक स्थान और समय घेरती है और कहानी के नवीन प्रतिमानों को देखते हुए विराट या महाकाव्यात्मक कहानी (एपिक स्टोरी) कही जा सकती है। लम्बी कहानियां प्रसाद जी ने भी लिखी हैं और प्रेमचंद जी ने भी। इन दोनों की कहानियों में 'उसने कहा था' की-सी बोझिल विशालता नहीं है।

डॉ० नगेन्द्र

गुलेरी जी की कहानियों में स्पष्ट ही शास्त्र से बंधे हुए वातावरण से प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण की ओर जाने की प्रवृत्ति है। उनके जीवन-मान, संवाद प्राकृतिक हैं।···'उसने कहा था' तो अवश्य हिंदी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से है, परन्तु पहली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों कहानियों में बहुत कुछ कच्चापन है। 'सुखमय जीवन' में तो वास्तव में कहानी अच्छी तरह बन भी नहीं पाई। उसकी चरम घटना में विस्मय का अत्यंत अस्वाभाविक और अतिरंजित प्रयोग है। 'बुद्धू का कांटा' उससे कहीं अधिक सफल है, परन्तु उसमें भी अतिरंजना और अप्रासंगिकता है। इसकी नायिका—(शायद यह पारिभाषिक और कृत्रिम नागरिक विशेषण उसके लिए गुलेरी जी स्वीकार न करते)—कुछ अधिक वाग्वीर और पहलवान है। इसके अतिरिक्त उस पहाड़ी टट्टू वाले की सारी कहानी ही अप्रासंगिक है।

नामवर सिंह

हिंदी के साधारण पाठक गुलेरीजी को 'उसने कहा था' जैसी अमर कहानी के लेखक के रूप में ही जानते हैं। जो पाठक औसत से कुछ ऊपर हैं उनकी दृष्टि में गुलेरीजी 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहिं कुठाउं' जैसे अनूठे निबंधों के विदग्ध लेखक हैं। जिन अध्येताओं की पहुँच आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' तक है उनके लिए गुलेरी का महत्व इस बात में है कि "शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरी जी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं।" वैसे देखें तो एक कहानी से अमर हो जाने वाले लेखक कम ही हैं—शायद नहीं। गुलेरीजी इस दृष्टि से अद्वितीय हैं। उस सदी का यह भी एक चमत्कार है। लेकिन इस चमत्कार से क्षति भी हुई है। गुलेरीजी की अन्य रचनाओं की ओर ध्यान नहीं गया।

···गुलेरीजी हिंदी में सिर्फ एक नया गद्य या नयी शैली नहीं गढ़ रहे थे बल्कि वे वस्तुतः एक नयी चेतना का निर्माण कर रहे थे और यह नया गद्य नयी चेतना का सर्जनात्मक साधन है। संस्कृत के पंडित उस जमाने में और भी थे। लेकिन 'उसने कहा था' जैसी कहानी और 'कछुआ धरम' जैसा लेख लिखने का श्रेय गुलेरी को ही है—इसलिए वे हिंदी के लिए बंकिमचन्द्र भी हैं और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी।

पुरुषोत्तमदास टण्डन

चंद्रधरजी संस्कृत और हिंदी के प्रचंड विद्वान थे। इसका पता उनके गवेषणापूर्ण लेखों से चलता है। उनके हृदय में हिंदी भाषा के प्रति अनुराग था। उनकी उत्कट इच्छा रहती थी कि हिंदी का आधुनिक साहित्य सर्वांग सुन्दर होकर संसार के उच्चकोटि के साहित्य से समानता करे।

प्रभाकर माचवे

गुलेरीजी हिंदी में 'उसने कहा था' कहानी के लिए ही विशेष माने जाते हैं, जो कि गल्प-लेखन की शैली में एक प्रतिमान उपस्थित करती है—विशेषतः बोली का प्रयोग संवादों में जिस सहजता से प्रयुक्त किया गया है और जैसा अमृतसर के बाजार का वर्णन बहुत कम शब्दों में चित्रवत् गुलेरीजी उपस्थित करते हैं, उसकी मिसाल मिलनी बहुत मुश्किल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयाग शुक्ल

पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुलेरीजी की ख्याति 'उसने कहा था' के लेखक के रूप में सुरक्षित रही है। जिसने भी यह कहानी एक बार पढ़ी, वह फिर इसे कभी भूल नहीं सका।...जब भी इस कहानी को याद करो, पूरी-की-पूरी कहानी चित्र लिखित-सी आकर सामने खड़ी हो जाती है। गुलेरीजी की कहानियों को पढ़ते हुए भी उनकी भाषा के अनेक रंग, उनकी अद्भुत वर्णन क्षमता, मानव-सम्बन्धों के अनेक तार मन को आह्लादित और विचलित कर जाते हैं। सच तो यह है कि इन कहानियों पर कोई भी टिप्पणी अधूरी लगने के लिए अभिशप्त है। इनका मर्म जानने के लिए तो इन कहानियों के पास ही जाना पड़ता है जो नहीं गए उनका दुर्भाग्य।

बच्चन सिंह

वस्तुतः यह कहानी (उसने कहा था) सोमनाथ के मंदिर की मूर्ति की तरह आकाश में लटकती हुई प्रतीत होती है। यदि भावुकता के चुम्बक को हटा दिया जाए, तो मूर्ति धरती पर खण्ड-खण्ड हो जाएगी। समीक्षकों ने उसकी भावुकता को ही विशेषता के रूप में ग्रहण कर लिया क्योंकि वे स्वयं भावुक थे।

बाबूराम सक्सेना

उसने कहा था हिन्दी-साहित्य की अमूल्य थाती है। उसे पढ़कर जो 'रस' मिलता है, वह सचमुच अद्वितीय है। कितनी ही अन्य कहानियां उसकी छाया मनःपटल से नहीं मिटा सकीं।.. कहानीकार की प्रतिभा की झलक 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का कांटा' में भी मौजूद है। सचित्र और ब्योरेवार वातावरण और भारतीय परिस्थितियों के साथ अप्रत्यक्ष सहृदयता प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है।...इनकी कहानियों में सिद्ध-हस्तता की छाप है। पाठक के हृदय में सवाल रहता है कि इनकी और कहानियां कहां हैं?

भगवतीप्रसाद सिंह

जयपुर में पढ़ते हुए ही ये (महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज) गुलेरी-परिवार के सम्पर्क में आए। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पहले जयपुर कालेज के विद्यार्थी रह चुके थे और अब मेयो कालेज, अजमेर में संस्कृत के अध्यापक थे। उनका परिवार जयपुर में रहता था, इसलिए वे छुट्टियों में बराबर वहां आया करते थे। उनके पिता पं० शिवराम अच्छे साधक थे। पं० चन्द्रधर से गोपीनाथ जी की घनिष्ठता थी। वे बंगला भी जानते थे, चंद्रनाथ वसु के 'हिन्दुत्व' तथा 'शंकुतलातत्व' नामक ग्रंथों का उन्होंने हिन्दी रूपान्तर किया था। उन्हीं के माध्यम से गोपीनाथ जी का रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा से परिचय हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुकुटधर पाण्डेय

गुलेरी जी द्विवेदी युग के प्रतिनिधि लेखक तथा सशक्त कथाकार थे। कहानी के क्षेत्र में कम लिखकर ज्यादा नाम कमाने वालों में एक गुलेरी जी भी थे। इस कहानी में युद्धभूमि और युद्धप्रसंग का जैसा विराट वर्णन पाया जाता है, जान पड़ता है लेखक प्रत्यक्षदर्शी हो। यह गुलेरी जी की लेखन-कला का चमत्कार है।

राजेन्द्र यादव

हिंदी की पहली मौलिक कहानी और कलापूर्ण कहानी 'उसने कहा था' गुलेरी जी ने कथाशिल्प की दृष्टि से कथानकों को जिस सांकेतिक ढंग से संयोगों और घटनाओं के माध्यम से बुना है, वह कहानी को प्रौढ़ स्तर पर ही प्राप्त होता है। सजीव वातावरण तथा स्मृति-चित्रों से इसकी पूर्ण दीप्ति, सभी बातें कहानी-कला में गुलेरी जी की महत्त्व-पूर्ण उपलब्धियां हैं। कहानियों में मानवीय और यथार्थ पात्रों की अवतारणा के कारण स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य गुलेरी जी का ऋणी है।···मान लीजिए 'उसने कहा था' का लहनासिंह न मरता तो? मान लीजिए, वह युद्ध में घायल होकर या बिना घायल रिटायर होकर 'मेजर चौधरी' (अज्ञेय) की तरह वापस लौट आता···।

रामचंद्र शुक्ल

पं० चंद्रधर जी संस्कृत के प्रकांड विद्वान् और अँगरेजी की उच्चशिक्षा से सम्पन्न व्यक्ति थे। ये जैसे धुरंधर पंडित थे वैसे ही सरल और विनोदशील प्रकृति के थे।

गुलेरीजी ने 'सरस्वती' के कुछ ही महीने पीछे अपनी थोड़ी अवस्था में जयपुर से 'समालोचक' नामक एक मासिक पत्र अपने संपादकत्व में निकलवाया था। उक्त पत्र द्वारा गुलेरी जी एक बहुत ही अनूठी लेखशैली लेकर साहित्यक्षेत्र में उतरे थे। ऐसा गंभीर और पांडित्यपूर्ण हास, जैसा इनके लेखों में रहता था, और कहीं देखने में न आया। अनेक गूढ़ शास्त्रीय विषयों तथा कथा-प्रसंगों की ओर विनोदपूर्ण संकेत करती हुई उनकी वाणी चलती थी। इसी प्रसंगगर्भत्व (एल्यूसिवनेस) के कारण इनकी चुटकियों का आनंद अनेक विषयों की जानकारी रखनेवाले पाठकों को ही विशेष मिलता था। इनके व्याकरण ऐसे रूखे विषय के लेख भी मजाक से खाली नहीं होते थे।

यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित-वक्रता गुलेरीजी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है। अतः इनके लेखों का पूरा आनंद उन्हीं को मिल सकता है जो बहुज्ञ या कम-से-कम बहुश्रुत हैं।

संस्कृत के प्रकांड प्रतिभाशाली विद्वान् हिंदी के अनन्य आराधक श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी की अद्वितीय कहानी **उसने कहा था** में पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यंत निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है; पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झांक रहा है। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुंचता। इसकी घटनाएं बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।

रायकृष्णदास

एक दिन हम लोग पं० श्रीधर पाठक से मिलने गये। वहां स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर चर्चा चल पड़ी। गुलेरी जी ने बड़ी दृढ़ता से कहा—कोई कारण नहीं है जिसके आधार पर हम लोग स्त्रियों को पुरुषों से नीचा समझें।—मैं उनके उदार विचारों से बड़ा प्रभावित हुआ।

वस्तुतः गुलेरी जी में प्रकांड पांडित्य के साथ-साथ बड़ी सरलता भी थी। ये दोनों विशेषताएं दुर्लभ व्यक्तियों में एकत्र होती हैं। संस्कृत का उनका पांडित्य अनंत था। फिर भी वह हिंदी के हार्दिक प्रेमी थे।

लक्ष्मीनारायण लाल

गुलेरी जी की तीनों कहानियां अनुभूति के नहीं, लक्ष्य के धरातल से लिखी गई हैं। इनकी सृष्टि तथा निर्माण में आदर्श लक्ष्य सबसे बड़ी प्रेरणा थी। अनुभूतियां इनमें साधनतत्त्व के रूप में आई हैं, प्रेरणातत्त्व के रूप में नहीं:···हिंदी-कहानी के उस शैशवकाल में कहानी की इतनी समुचित और कलात्मक भाषा, शैली और प्रवाह देना, गुलेरी जी के कहानीकार व्यक्तित्व की अपूर्व क्षमता है। जिस समय प्रेमचंद और प्रसाद अपनी कहानी-कला के प्रारम्भिक काल में थे, उस समय गुलेरी जी ने इन कहानियों की सृष्टि से कहानी-कला के विद्यार्थी और पाठक दोनों के सामने आश्चर्य खड़ा कर दिया।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

उसने कहा था गुलेरी जी की कीर्ति का प्रधान स्तम्भ है। यह चरित्र-प्रधान कहानी है और निःस्वार्थ प्रेम, आत्मत्याग, बलिदान और वीरता का सजीव चित्र प्रस्तुत करती है।···लहनासिंह का चरित्र निर्दोष और कलात्मक है। वह मानवता की उच्च भूमि पर स्थित है। वह संवेदनशील वीर, निर्भय, निःस्वार्थी, देशप्रेमी, कर्त्तव्यपरायण और त्यागभावना से ओतप्रोत है। उसकी वीरता यूरोपीय chivalry की याद दिलाती है। गुलेरी जी ने उसके चरित्र द्वारा एक महान आदर्श प्रस्तुत किया है।···कहानी में शृंगार और वीर रस का निष्कलंक और शुद्ध निरूपण हुआ है।

विजयमोहन सिंह

कहानी के बीच भी गुलेरी जी का पंडित तथा भाषा शास्त्री मुखर हो उठता है और साथ ही मौके का फायदा उठाकर वे संस्कृत के 'शास्त्र-जड़' पंडितों पर चुटकियां कसने से भी नहीं चूकते। अतः स्वयं महत्वपूर्ण भाषा-शास्त्री, शास्त्रज्ञ होते हुए भी उन्हें शास्त्र कैसे जड़ हो जाता है, उसके खतरों का पूर्ण परिज्ञान था। शास्त्र को जड़ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सीमा से बाहर निकालने और इसी क्रम में उसका सार्थक प्रयोग करने की चेतना ही उनके शोधपरक निबंधों तथा संस्कृति विषयक चिंतन में भी गहरी रचनात्मकता उत्पन्न करती है और यहीं किसी 'संधि' से अवसर पाकर उनकी कथा-रचना का रस-स्रोत भी फूट पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी स्तर पर आकर उनके बहुआयामी व्यक्तित्व में अन्तर्निहित एकसूत्रता स्थापित हो जाती है।

विरोधाभास प्रतीत होने वाली सारी सलवटें मिट जाती हैं।

विजयेन्द्र स्नातक

उसने कहा था से जहां गुलेरी जी को साधारण हिंदी-पाठक पहचान सका वहां इस पहचान से एक हानि भी हुई, उनका समग्र योगदान ओझल हो गया। और पाठक कहानी तक ही उनके प्रदेय से संतुष्ट बना रहा। 'उसने कहा था' के वटवृक्ष के नीचे मानो गुलेरी जी के कृतित्व-यश के अन्य पक्ष पनप नहीं सके। वस्तुतः गुलेरी जी तो बहुमुखी प्रतिभा के धनी, सर्जक साहित्यकार, प्राच्यविद्या विशारद तथा भाषावैज्ञानिक महापंडित थे। उनके द्वारा इन विधाओं में जो कार्य हुआ उसका अनुसंधान की प्रविधि से न तो आकलन ही हुआ और न ही हिंदी-जगत् को पूरी तरह ज्ञान है। यदि उनके सम्पूर्ण कृतित्व का विधिवत् अनुशीलन-आकलन किया जाए, तो निस्संदेह उनका प्रदेय अत्यंत मूल्यवान् एवं उपादेय सिद्ध होगा। वह मात्र 39 वर्ष की अल्पायु में ही दिवंगत हुए किंतु उनकी सर्जनक्षमता के स्तर को देखकर विमुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी की शैली हिंदी में सबसे निराली है। वैसी भाषा, वैसी व्यंजकता, वैसी मुहावरेदारी कहीं किसी में देखने को नहीं मिली। उनके व्यक्ति-व्यंजक निबंधों को पढ़कर समझने में थोड़ी सावधानी न रखी जाए तो फिर कुछ का कुछ समझा जा सकता है। इनकी भाषा-शैली पर दृष्टि न रहे तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल को समझना अपेक्षाकृत सरल है। जिसकी बुद्धि परिपक्व है,उसे शुक्ल जी को समझने में प्रयास करने की अपेक्षा नहीं। पर परिपक्व बुद्धि होकर भी जो बहुश्रुत नहीं है, उसे गुलेरी जी के निबंध केवल शैली की विशेषता दिखाकर रह जाएंगे। उनमें जो अनेक संकेत गर्भित हैं उन्हें तभी समझा जा सकता है जब उनके संकेतित ग्रंथस्थल देखे गए हों।

'उसने कहा था' के जोड़ की दूसरी कहानी फिर कभी नहीं लिखी जा सकी। 'मैंने कहा' और 'तूने कहा' लिखने वाले भी सामने आए, पर नकल और असल में आकाश-पाताल का अन्तर बना ही रहा।

शिवदानसिंह चौहान

उनके (गुलेरी) निबंध भी अनूठे हैं। उनमें केवल लेखक की प्रगतिशील चेतना की ही छाप नहीं है, बल्कि शैली भी अत्यधिक सुष्ठु और परिमार्जित है। उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यंग्य भी परिष्कृत और शक्तिशाली है। 'मारेसि मोहिं कुठाउं', 'कछुआ धरम' और 'संगीत' आदि निबंधों में समाज की रूढ़िवादिता आदि पर तीखे या शिष्ट व्यंग्यों से प्रहार किया गया है। इनकी शैली का चमत्कार अनुभव करने की वस्तु है।

उसने कहा था हिंदी-साहित्य में एक बेजोड़ रचना है। पहले महायुद्ध से सम्बन्धित सैनिक लहना सिंह की यह करुणा-मिश्रित कहानी एक साथ ही कथा-विन्यास, विचार-वस्तु, रचना-तंत्र, भाषा और शैली, सभी दृष्टियों से इतनी प्रौढ़, सन्तुलित और सजीव रचना है कि आश्चर्य होता है कि हिंदी कहानी के आरम्भ में ही, जब आचार्य द्विवेदी अभी खड़ीबोली का साहित्यिक रूप स्थिर करने के भगीरथ प्रयत्न में संलग्न थे, गुलेरी जी ने कहानी की भाषा का यह प्रौढ़ रूप किस तरह निखार लिया।

श्यामसुन्दरदास

गुलेरी जी हिंदी और संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे। उनकी लेखनी में बल था। वे हिंदी में हास-उपहास, व्यंग्य, करुण आदि का ऐसा सुंदर चित्रण करते थे कि उन्हें पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। मीठी चुटकियां तो हृदय को चुभ जाने वाली होती हैं।

सुरेश शर्मा

गुलेरी जी का गद्य बोझिल गद्य नहीं है। उनके गद्य की लय बातचीत और बहस की है। अपने समय के बहुत-से दूसरे लेखकों की तरह गुलेरी जी भाषा लिखकर अनुपस्थित नहीं हो जाते बल्कि वह हमेशा मौजूद रहते हैं। एक-एक शब्द में, एक-एक पंक्ति में—अंतत: वाक्यविन्यास और विरामचिह्नों में! लेटे हुए अगर आप उनका गद्य पढ़ रहे हैं तो कुछ पंक्तियों के बाद अचानक आप पाएंगे कि आप अपने कमरे की खाली कुर्सी पर जाकर बैठ गए हैं और मेज की दूसरी तरफ पं० श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी बैठे हैं—पतली कमानी के चश्मे में सिर पर पाग और गले में लम्बा अंगोछा लपेटे; और आपसे बहस कर रहे हैं—अपने अहवाल बयान कर रहे हैं! सत्तर-इकहत्तर वर्ष बाद, उसी ताजगी से।

सुशीलकुमार फुल्ल

गुलेरीजी कहानीकार नहीं थे और न ही कवि, इस आशय का प्रत्यक्ष संकेत उनके (आत्मकथ्य) में मिलता है। आचार्य शुक्ल ने 'उसने कहा था' को 'अद्वितीय' कहकर परवर्ती विद्वानों के लिए एक लीक बना दी, जिसे आज तक निरंतर दोहराया जाता रहा है परंतु वास्तविकता यह है कि उनकी कहानियां समग्र रूप से देखे जाने पर कथ्य तथा कलात्मकता दोनों ही दृष्टियों से छोटी पड़ जाती हैं। आलोचकों ने जो आदर्श उनकी कहानियों पर आरोपित किए हैं, कहानियों का अवलोकन करते ही वे भुर-भुराकर बिखर जाते हैं। आलोचकों ने गुलेरी जी की रचनाओं को खूंटी समझकर, अपनी मान्यताएं टांगकर, उन्हें अमर कहानीकार घोषित कर दिया है। व्यक्ति गुलेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को क्षण भर के लिए भुलाकर यदि उनकी कहानियों का परीक्षण करें तो रचनात्मक कमजोरियां, अनावश्यक विस्तार, संयोजन की शिथिलता तथा रोमांस की ललक एवं मांसल चित्रण का मोह एकाएक स्पष्ट हो उठता है।...'अनाड़ी के सामने लहँगा पसारने' या 'न पसारने' की समस्या का समाधान ही उनको आतंकित करता हुआ जान पड़ता है। बस !

हरदयाल

गुलेरी जी की तीनों कहानियां प्रेम-कहानियां हैं। 'सुखमय जीवन' में प्रेम का उदय प्रथम दृष्टि में होता है। 'बुद्धू का कांटा' में प्रेम का उदय प्रथम दृष्टि में नहीं होता, थोड़े से साहचर्य के कारण होता है। 'उसने कहा था' में प्रेम ा उदय पूर्णतः साहचर्यजनित है।...गुलेरी जी की कहानियों में—विशेषतः पहली दो कहानियों में—कुछ ऐसी चीजें हैं जिनसे कहानियों की चुस्ती कम होती है—जैसे बीच-बीच में कहानीकार प्रत्यक्ष रूप से पाठक के सामने आकर किसी किस्सागो के समान सूचनाएं देना अथवा विषयांतर करके किसी ललित निबंधकार के समान विभिन्न विषयों पर टिप्पणियां करने लगना; किंतु गुलेरी जी की कहानियों का मूल्यांकन करते समय हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि वह हिंदी कहानी के शैशवकाल की रचनाएं हैं। हमारा स्पष्ट मत है कि गुलेरी जी की कहानियां हिंदी कहानी-साहित्य की स्पृहणीय उपलब्धियां हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ समालोचक ॥

मासिक पत्र।

बाबू गोपालराम गहमरनिवासी द्वारा सम्पादित

नागरी भवन जैपुर से प्रकाशित।

भाग १ { जैपुर श्रावण सं० १९५९ वि० / JAIPUR–August 1902. } अङ्क १

मुद्रित विपय।

यूनियन प्रेस कम्पनी लिमिटेड—जबलपुर में मुद्रित।

['समालोचक' : प्रवेशांक का मुखपृष्ठ]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरस्वती

सचित्र मासिक पत्रिका।

भाग १५, खण्ड १] १ जून १९१४—ज्येष्ठ शुक्ल ८, १९७१। [संख्या ६, पूर्ण संख्या १७४

उल्लु-ध्वनि = हुर्रा।

बङ्गाली समाचारपत्रों में प्रायः पढ़ते हैं कि अमुक नेता या अमुक महापुरुष का स्वागत स्त्रियों ने शङ्ख बजा कर, खीलें बरसा कर, फूल बरसा कर, और 'उलु'-ध्वनि से किया। यह उलु-उलु अथवा उल्लु-ध्वनि उस देश में स्त्रियों का हर्ष प्रकट करने के लिए प्रचलित है। इस अव्यक्त ध्वनि का उल्लेख श्रीहर्ष ने अपने नैषधचरित में किया है—

> कापि प्रमोदास्फुटनिर्जिहान-
> वर्णैव या मङ्गलगीतिरासाम्।
> सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणा-
> मुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार ॥ सर्ग १४, श्लोक ५१

जब वैदर्भी ने नल को वरमाला पहना दी तब आनन्द से गद्गदकण्ठ स्त्रियां मङ्गलगीत गाने लगीं। वही मानों उल्लु-ध्वनि हुई। इस पर प्रकाश नामक टीका का कर्ता नारायण (दाक्षिणात्य) लिखता है—

> विवाहाद्युत्सवे स्त्रीणां ध्वन्यादिमङ्गलगीतिविशेषो गौडदेशे उलूलुः इत्युच्यते (?)। सोऽप्यव्यक्तवर्ण उच्चार्यते। स्वदेशरीतिः कविनोक्ता।

अर्थात्—विवाह आदि उत्सवों पर स्त्रियों के मङ्गलगीत गौड़ (बङ्गाल) देश में उल्लु कहलाते हैं और वे स्पष्टवर्ण (अनर्थक ध्वनिमात्र) होते हैं। कवि ने यह अपने देश की रीति कही है।

नारायण इस रीति को केवल वङ्गदेश की रीति समझता था, और आज कल भी यह रीति केवल बङ्गाल में ही है। परन्तु अनुमान होता है कि स्त्रियों ;

[सरस्वती (सम्पा० महावीर प्रसाद द्विवेदी) में गुलेरी जी की रचना]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ नमः शिवाय

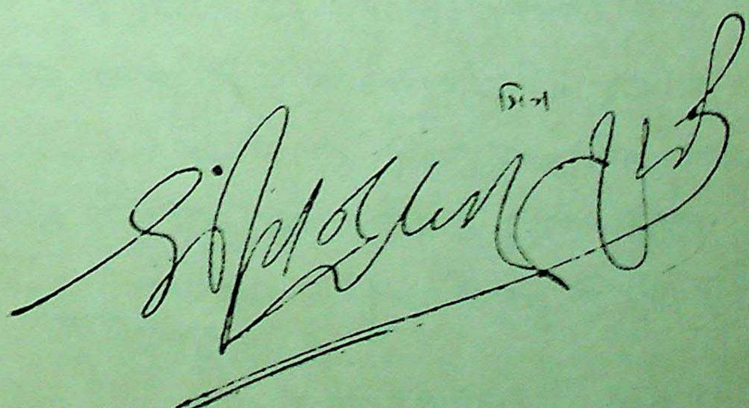
अजमेर
दीपावली ।।.७०

प्रियवर राय साहिब, आशीर्वाद

रसविषयक आपके प्रश्न मिले. वैद्यराज रामदयालुजी को मैंने पत्र दे दिया है वे "एक दो रोज़ में" उसका पूरा उत्तर भेजने को कह गए हैं. आते ही भेज दूंगा.

ओझाजी का रुपया अभी नहीं आया!

मित्र



[गुलेरी जी के हस्ताक्षर]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयपुर भवन
मेयो कालेज
अजमेर
22.१०.२०

प्रिय माननीय राय साहब, आशीर्वाद

श्रीविंध्यवासिनी का दर्शन कर कल यहां पहुंचा घर में सभी बहुत अस्वस्थ हैं, बड़ी चिन्ता है।

जयपुर न ठहर सका किंतु आपके काम का यत्न आरंभ किया है।

कृपा करके पत्र पाते ही पांच सेर अच्छे परवल पार्सल पोस्ट से भेज दीजिए तथा उसमें १०० बंगला पान। इसमें विलम्ब न हो। बीमार को चाहिए।

अपना नाम 'वि' सूची से हटा लीजिए।

कविवर मैथिलीशरण आए हैं तो उनका इस्तीफा दें तथा अपने अनुरोध से हटा लीजिए।

पार्सल शीघ्र। पत्रोत्तर शीघ्र। यहां पोस्ट कार्ड अंगुली से मिलें तो कुशलावेदन।

आपका
श्रीचन्द्रधर शास्त्री

[गुलेरी जी के हस्ताक्षर]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Jaipur House,
Mayo College.
Ajmer
Feb 15/21

My dear Rai Sahib,

I have already written to you about Pandit Vireshwarji's reply about the land. I hope you are doing the needful about it. I think the making of gold thread was an old industry for I find Kautilya referring to it. He calls 'guna' or threadmaking of gold one out of three ornamental industries from gold. He speaks of "Benares" cotton & woollen cloth also but I cannot say whether this refers to your brocaded work.

I have no reason to offer how and when the industry came to be principally located at Benares.

I am glad to hear of the progress of your कलापरिषद् and shall look forward with much interest to your monograph.

The reference to Kautilya is to Chapters 32 and 33

Yours very sincerely,
Chandradhar Guleri.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

[गुलेरी जी के अंग्रेजी में हस्ताक्षर]

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ४ :

गुलेरी जी की रचनाएँ

कथा/कहानी

१. उसने कहा था : 'सरस्वती'—जून, १९१५ ई०
२. घण्टाघर : 'वैश्योपकारक'—वर्ष १, संख्या ८, कार्तिक १९६१ वि०, १९०४ ई०
३. धर्मपरायण रींछ : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
४. बुद्धू का कांटा : 'पाटलीपुत्र'—१९१४ ई०
५. सुखमय जीवन : 'भारत मित्र'—१९११ ई०
६. हीरे का हीरा : 'जनसत्ता'—६ जुलाई, १९८७ ई०

संस्मरण :

७. बाबू अयोध्याप्रसाद के संस्मरण : 'समालोचक'—अगस्त १९०५ ई०

इंटरव्यू (भेंटवार्ता) :

८. संगीत की धुन : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०५ ई०

निबन्ध/लेख/टिप्पणियां :

९. अक्ल बनाम नस्ल (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १९२० ई०
१०. अधिक सन्तति होने पर स्त्री का पुनर्विवाह (टिप्पणी)—'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
११. अधिकार चर्चा (लेख) 'भारतमित्र'—१९११ ई० (?)
१२. अनमेल (टिप्पणी) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
१३. अनुवादों की बाढ़ (टिप्पणी) प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
१४. अपनी बात (टिप्पणी) 'समालोचक'—दिसम्बर, १९०३ ई०
१५. अमंगल के स्थान में मंगल शब्द (निबंध) 'सरस्वती'—नवम्बर, १९११ ई०
१६. अवन्ती सुन्दरी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
१७. अशोक शास्त्री (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८. अश्वमेध (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१९१२ ई०
१९. असूर्यम्पश्या राजदारा (टिप्पणी) 'प्रतिमा'—अप्रैल, १९२० ई०
२०. आंख (निबध) 'सरस्वती'—फरवरी, मार्च, मई, जून, अगस्त तथा सितम्बर, १९०५ ई०
२१. आगमन (टिप्पणी) 'समालोचक'—अगस्त, १९०२ ई०
२२. आत्मघात (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
२३. आर्ष हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
२४. इण्डियन नेशनल कांग्रेस (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
२५. उलुलू ध्वनि=हुर्रा (टिप्पणी) 'सरस्वती'—जून, १९१५ ई०
२६. एकतंत्र (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०५ ई०
२७. एक प्रसिद्ध मंत्र (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
२८. कछुआ धरम (निबंध) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १९१९ ई०
२९. कलकत्ते का अशोकारिष्ट (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
३०. कस्तूरी मृग (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर १९२० ई०
३१. कांग्रेस और स्वदेशी (टिप्पणी) 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
३२. काकपद (टिप्पणी) 'सरस्वती'—जुलाई, १९१३ ई०
३३. कादम्बरी के उत्तरार्द्ध का कर्त्ता (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
३४. कादम्बरी दशकुमारचरित के उत्तरार्द्ध (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका'—१९२१ ई०
३५. कानपुरी राय (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०
३६. कालिदास के समय मे हूण (लेख) 'सरस्वती'—सितम्बर, १९१३ ई०
३७. काशी (निबंध) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०५ ई०
३८. काशी की नींद और काशी के नूपुर (निबंध) 'भारतमित्र—१९ मार्च, १९१६ ई०
३९. काशी के पण्डित—१-२ (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी; मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
४०. काशी नागरी प्रचारिणी के कार्यकर्त्ता (लेख) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०
४१. क्रियाहीन हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
४२. कुछ पुराने रिवाज और विनोद (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
४३. क्या संस्कृत हमारी भाषा थी ? (लेख) 'समालोचक'—मार्च, १९०४ ई०
४४. खसों के हाथ में ध्रुवस्वामिनी (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' —१९२० ई०
४५. खेल भी शिक्षा है—१-२ (लेख) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३; मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
४६. खोज की खाज (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
४७. गुलेरीजी : अपने शब्दों में (आत्मपरिचय), ८ जुलाई, १९१७ ई०
४८. गोसाइं तुलसीदास जी के रामचरितमानस और संस्कृत-कवियों का बिम्ब-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबिम्ब भाव—१-२ (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
४६. घड़ी के पुर्जे (लेख) 'प्रतिभा'—अक्तूबर १६२० ई०
५०. चतुर्भाषी (टिप्पणी) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १६०४ ई०
५१. चाणूर अंध्र (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
५२. चार भाषाएं (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १६०४ ई०
५३. चारण (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
५४. चारणों और भाटों का झगड़ा : बारहट्ट का परवाना (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
५५. छट्ट (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
५६. जय जमुना मैया की (लेख) 'समालोचक'—मई, १६०४ ई०
५७. जयसिंह प्रकाश (शोध लेख) 'सरस्वती'—१६१० ई०
५८. जातीय साहित्यालोचना की आवश्यकता (अनुवाद) 'समालोचक'—सितम्बर, अक्टूबर-नवम्बर, १६०३ ई०
५६. जालहंस की सुभाषित मुक्तावली और चंद की षट्भाषा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १६१६ ई०
६०. जोड़ा हुआ सोना (लेख) 'प्रतिभा'—जून, १६२० ई०
६१. झख मारना (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—दिसम्बर, १६२० ई०
६२. डिंगल (निबन्ध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
६३. डिनामिनेशनल कालेज (लेख) 'समालोचक'—मई, १६०४ ई०
६४. ढेले चुन लो (लेख) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १६२० ई०
६५. तुतातिल = कुमारिल (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
६६. दूध के पैगम्बर (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १६२० ई०
६७. देवकुल (निबन्ध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
६८. देवानां प्रिय (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
६६. दो प्रश्नों का एक उत्तर (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १६२० ई०
७०. धनौरे की भटियारी की गन्दा दहनी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १६२० ई०
७१. धर्म-संकट (लेख) समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ ई०
७२. धर्म के शत्रु (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-दिसम्बर, १६०४ ई०
७३. धर्म और समाज (निबन्ध) 'प्रतिभा'—जून, १६२० ई०
७४. धर्म में उपमा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १६२० ई०
७५. नागरी भवन का उत्सव (टिप्पणी) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १६०४ ई०
७६. नागरी प्रचारिणी सभा (टिप्पणियां) 'समालोचक'—सितम्बर, १६०३ ई०
७७. निदर्शन पर सम्मति (टिप्पणी) 'भारतमित्र'—८ जुलाई, १६११ ई०
७८. निवेदन (टिप्पणी) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १६०४ ई०
७६. नौरंगशाह के नौरंग (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १६२० ई०
८०. न्यायघण्टा (कथा-लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८१. पंच महाशब्द(लेख) 'नागरी प्रगारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
८२. पंडित महामण्डली का पत्र (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
८३. पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घस्, यस्=ज़ (z) (टिप्पणी) 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
८४. पाठ्य-पुस्तकों का सुधार(टिप्पणी)'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
८५. पाणिनी की कविता (लेख)'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—जनवरी, १९२० ई०
८६. पुराना व्यौपार (लेख) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
८७. पुरानी पगड़ी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
८८. पुराने राजाओं की गाथाएं (टिप्पणी) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
८९. पुराण प्रसंग (लेख) 'अभ्युदय'—१९१० ई० (?)
९०. पूत्कार=पुकारना (टिप्पणी) 'प्रतिभा—जनवरी, १९२० ई०
९१. पूर्णपात्र (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
९२. पृथुवैन्य का अभिषेक (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
९३. पृथ्वीराजविजय महाकाव्य (लेख) 'सरस्वती'—जून, १९१३ ई०
९४. पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १९२० ई०
९५. प्रदर्शिनी(टिप्पणी): 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
९६. बंग का भंग (लेख) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०५ ई०
९७. बनारसी ठग (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
९८. बिरामण की सरवण की (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका—१९२२ ई०
९९. बेसिर की हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
१००. बौद्धों के काल में भारतवर्ष (लेख)'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर,१९०३ ई०
१०१. ब्रह्मचारी को पान खिलाना (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—दिसम्बर, १९२० ई०
१०२. भारतधर्ममहामण्डल का उत्सव (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
१०३. भारद्वाज गृह्यसूत्र (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १९२० ई०
१०४. भाषा की भाषा(टिप्पणी)'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
१०५. भिक्षा के कण (टिप्पणी) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
१०६. मण्डी की मनोरमा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मार्च, १९२० ई०
१०७. मध्याह्न में चाण्डाल (टिप्पणी) 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
१०८. मनु वैवस्वत(लेख)'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
१०९. मनोरंजक श्लोक—१, २, ३ (टिप्पणी) 'सरस्वती'—अगस्त, १९०४; नवम्बर, १९१०; नवम्बर, १९११ ई०
११०. मनोरमा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
१११. मनोरमा की आर्ष हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११२. मनोरमा की चीत्कार (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
११३. महर्षि च्यवन का रामायण (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
११४. महर्षियों की वृष्टि (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
११५. मान्यवर गोखले (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०
११६. मारेसि मोहिं कुठाउं (निबन्ध) 'प्रतिभा'—सितम्बर, १९२० ई०
११७. मीराबाई (लेख) 'अभ्युदय'—१९१० ई० (?)
११८. मेंढ़कों की टर्र (टिप्पणी) 'वेंकटेश्वर'—१८ मार्च, १९१० ई०
११९. यंत्रक (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१२०. युवराज की पहुनई (टिप्पणी) 'समालोचक—अक्तूबर, १९०५ ई०
१२१. यूनानी प्राकृत (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
१२२. यूनिवर्सिटी बिल (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
१२३. यूरोपियन संस्कृत (लेख) 'श्रीराघवेन्द्र'—सं० ९-१०, वैशाख-ज्येष्ठ १९६२ वि०, १९०५ ई०
१२४. रंग की दुरंगी (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर, १९०४ ई०
१२५. रड्डा छन्द (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
१२६. राजसूय (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९१२-१२ ई०
१२७. राजाओं की नीयत से बरकत : उनका कमाई के लिए मूर्तियां पधराना (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१२८. राष्ट्रभाषा का प्रस्ताव (टिप्पणी) 'समालोचक' अगस्त, १९०३ ई०
१२९. लायलपुर के बछड़े (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १९२० ई०
१३०. लासा के लासा लग गया (टिप्पणी) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
१३१. वंशच्छेद (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी-मार्च-अप्रैल, १९०५ ई०
१३२. वर्ण विषयक कतिपय विचार (लेख) 'मर्यादा'—जून, १९२० ई०
१३३. वाजपेय (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१९१२ ई०
१३४. विक्रमोर्वशी की मूल कथा—१,२ (शोध लेख) 'समालोचक'—अप्रैल; नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
१३५. विचार स्वातंत्र्य (टिप्पणी) 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
१३६. विलायती राजनीति (टिप्पणी) 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०
१३७. विवाह की लाटरी (लेख) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १९२२ ई०
१३८. वेद में पृथिवी की गति (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १९०५ ई०
१३९. विश्वविद्यालय बिल (टिप्पणी) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
१४० वेलावित्त (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१४१. वैदिक भाषा में प्राकृतपन (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१४२. शिक्षा का सुधार कैसे होगा ? (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-दिसम्बर, १९०४ ई०
१४३. शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन (लेख) 'विद्यार्थी'—१८ नवम्बर, १९१४ ई०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४४. शुनःशेप की कहानी (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१६१२ ई०
१४५. शैशुनाक मूतियां (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
१४६. श्वेतकृष्ण (टिप्पणी) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १६०५ ई०
१४७. श्रद्धा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १६२० ई०
१४८. श्री श्री श्री श्री (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
१४६. संगीत (भाषण-लेख) 'मर्यादा'—मार्च, १६११ ई०
१५०. संपादक नागरी प्रचारिणी पत्रिका के नाम (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' —१६१० ई०
१५१. संस्कृत-प्रेम (टिप्पणी) 'समालोचक'—दिसम्बर, १६०३ ई०
१५२. संस्कृत की टिपरारी (निबन्ध) 'सरस्वती'—अप्रैल, १६१८ ई०
१५३. संस्कृत में अकबर का जीवनचरित (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
१५४. समालोचक : कुछ टिप्पणियां 'समालोचक'—अगस्त; सितम्बर; अक्तूबर-नवम्बर, १६०३ ई०
१५५. समालोचक का प्रथम वर्ष (टिप्पणी) 'समालोचक'—अगस्त, १६०३ ई०
१५६. समालोचक का तीसरा वर्ष (टिप्पणी) 'समालोचक'—अगस्त, १६०४ ई०
१५७. समालोचक का चौथा वर्ष (टिप्पणी) 'समालोचक'—अगस्त, १६०५ ई०
१५८. समालोचक का नया वर्ष (लेख) 'समालोचक'—अगस्त, १६०५ ई०
१५६. सरलादेवी घोषाल का विवाह (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर, १६०५ ई०
१६०. सवाई (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
१६१. साँप के काटने का विलक्षण उपाय (लेख) 'इंदु'—जनवरी, १६१३ ई०
१६२. साधु-संन्यासी (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १६०३ ई०
१६३. सिंहलद्वीप में महाकवि कालिदास का समाधि स्थल : कालिदास की देशभाषा (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग-१—१६२० ई०
१६४. सिटीजन आफ इण्डिया (टिप्पणी) 'समालोचक'—दिसम्बर-जनवरी, १६०४ ई०
१६५. सुकन्या की वैदिक कहानी (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०
१६६. सुगतेता-मृगनेत्रा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १६२० ई०
१६७. सोऽहम् (लेख) 'समालोचक'—अगस्त-नवम्बर, १६०३ ई०
१६८. सौत्रामणी का अभिषेक (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०
१६६. स्वदेशी वस्त्र (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १६०३ ई०
१७०. हलवाई (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—दिसम्बर, १६२० ई०
१७१. हिन्दी के अनुवादकर्ता (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १६०५ ई०
१७२. हिन्दी-साहित्य (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १६२० ई०
१७३. हूण (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
१७४. होली की ठिठोली वा एप्रिल फूल (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १६०६ ई०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा : पुस्तकें/पत्र-पत्रिकाएं

१७५. अर्धांगिनी : 'समालोचक'—अगस्त, १९०४ ई०
१७६. अवध-समाचार : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
१७७. आनंदकादम्बिनी : 'समालोचक'—अगस्त, १९०३ ई०
१७८. 'आरा नागरी प्रचारिणी सभा' का द्वितीय वार्षिक विवरण : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
१७९. उपन्यास : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
१८०. करपल्लवी और गुप्तलेख : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०
१८१. कलकत्ता रिव्यू : 'समालोचक'—अगस्त, १९०३ ई०
१८२. कान्यकुब्ज : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च १९०६ ई०
१८३. कायस्थ-समाचार : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
१८४. काल-निर्णय : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
१८५. किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास : 'समालोचक'—अगस्त, सितम्बर, १९०३ ई०
१८६. केनो : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
१८७. खूब तमाशा : 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
१८८. गीतार्थ पद्यावली : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
१८९. ग्लैडस्टोन का जीवनचरित्र : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
१९०. चीनदर्पण : 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०
१९१. छपी हुई व्यवस्था : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
१९२. जैनमत समीक्षा : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
१९३. ज्ञानमण्डल का स्वार्थ : 'प्रतिभा'—दिसम्बर, १९१९ ई०
१९४. टाड राजस्थान : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर १९०३ ई०
१९५. त्रैभाषिक व्याकरण शब्दावली : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०
१९६. दो नवीन चरित्र : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
१९७. धनौरे की भटियारी की गंदादहनी : 'प्रतिभा'—अप्रैल १९२० ई०
१९८. धर्म संगीत : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
१९९. नवीन भारत—१-२ : 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १९०५; जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
२००. निगमागमचन्द्रिका : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३ ई०
२०१. निबन्धमालादर्श : 'समालोचक'—जून-जुलाई, १९०३ ई०
२०२. पंचगीत : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
२०३. परमापंच प्रकाश : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०
२०४. पायनियर : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३ ई०
२०५. प्रयाग समाचार : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०४ ई०
२०६. प्रवासी : 'समालोचक'—अगस्त, १९०३ ई०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०७. प्राचीन हिन्दी पोथियों की खोज-रिपोर्ट : 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०

२०८. बाबू रामदीनसिंह की जीवनी : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०

२०९. बिहार बंधु : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

२१०. ब्रज-विलास : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०

२११. भारतवर्ष का इतिहास : 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १९०४ ई०

२१२. भारत-जीवन : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३; सितम्बर, १९०५ ई०

२१३. भारतमित्र : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०५ ई०

२१४. भारतमित्र की उपहार-पुस्तकें : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३; जनवरी-मार्च, १९०६ ई०

२१५. मण्डी की मनोरमा : 'प्रतिभा'—मार्च, १९२० ई०

२१६. मनोविनोद : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०

२१७. मोजफ्फरपुर हिन्दी भाषा प्रचारिणी सभा का चतुर्थ वार्षिक विवरण : 'समालोचक'—मई, १९०४ ई०

२१८. राघवेन्द्र : 'समालोचक'—सितम्बर; नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०

२१९. राजपूत : 'समालोचक'—सितम्बर; अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

२२०. राजपूत और हम : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

२२१. राजस्थान समाचार : 'समालोचक'—अगस्त; अक्तूबर-नवम्बर, १९०३; सितम्बर, १९०५ ई०

२२२. वृहद्देवता : 'समालोचक'—अगस्त, १९०५ ई०

२२३. वेंकटेश्वर : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३ ई०; अप्रैल, १९०५ ई०

२२४. वैश्योपकारक : 'समालोचक'—अगस्त-सितम्बर, १९०५ ई०

२२५. श्री भारतधर्म महामण्डल रहस्य : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०

२२६. समुद्रयात्रा पर व्यवस्थाएं : 'वेंकटेश्वर'—२८ अक्तूबर, १९१० ई०

२२७. सरस्वती : 'समालोचक'—अगस्त; अक्तूबर-नवम्बर, १९०३; अगस्त-सितम्बर; नवम्बर-दिसम्बर, १९०५ ई०

२२८. सहयोगी साहित्य : 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी; मार्च-अप्रैल; मई; जून-जुलाई; अगस्त, १९०४ ई०

२२९. साधु संन्यासी : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

२३०. सुदर्शन : 'समालोचक'—अगस्त; सितम्बर; अक्तूबर-नवम्बर, १९०३; अगस्त, १९०५ ई०

२३१. सुदर्शन की सुदृष्टि : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

२३२. हिन्दी-प्रदीप : 'समालोचक'—अगस्त; सितम्बर, १९०५ ई०

२३३. हिन्दी बंगवासी : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

२३४. हिन्दू : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

२३५. हिन्दूस्थान रिव्यू और कायस्थ समाचार/राजपूत : अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य

२३६. अमल की तारीफ : (राजस्थानी कविता)—१ मार्च, १६०५ ई०
२३७. आहिताग्निका : 'समालोचक'—अक्तूबर, १६०५ ई०
२३८. झुकी कमान : 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ ई०
२३९. प्राकृत के कुछ सुभाषित : (अनूदित) 'सरस्वती'—दिसम्बर, १६१६ ई०
२४०. प्रार्थना : कुसुमांजलि—जनवरी, १६०२ ई०
२४१. बेनाक बर्न : (अंग्रेजी से अनूदित) 'समालोचक'—अगस्त, १६०५ ई०
२४२. भारत की जय : 'समालोचक'—अक्तूबर-दिसम्बर, १६०४ ई०
२४३. रवि : 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १६०६ ई०
२४४. शिव की व्यापकता : 'कल्याण' (शिव अंक)—अगस्त, १६३३ ई०
२४५. सुनीति : (अंग्रेजी से अनूदित) 'पाटलीपुत्र'—३१ अक्तूबर, १६१४ ई०
२४६. सोऽहं : 'सरस्वती'—नवम्बर, १६०७ ई०
२४७. स्वागत : 'समालोचक'—नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ ई०

जीवनचरित

२४८. आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी : 'मर्यादा'—फरवरी, १६१२ ई०
२४९. मनीषि समर्थदान जी : 'सरस्वती'—अक्तूबर, १६१४ ई०
२५०. महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान जी : 'सरस्वती'—अक्तूबर, १६१४ ई०
२५१. महेन्द्रलाल सरकार (डॉ०) : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १६०४ ई०
२५२. राव संसारचन्द्र सेन बहादुर : 'सरस्वती'—जुलाई, १६०६ ई०
२५३. हर्बर्ट स्पेंसर : 'समालोचक'—जनवरी-फरवरी, १६०४ ई०
२५४. हाहा ताता !!! : 'समालोचक'—मई, १६०४ ई०

पत्र-साहित्य

खुली चिट्ठियां

२५५. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यकर्त्ता ! : 'समालोचक'—अक्तूबर-दिसम्बर, १६०४ ई०
२५६. कुछ लोगों के नाम : 'समालोचक'—अगस्त, १६०४ ई०
२५७. खरे सज्जनों को खरी चिट्ठियां : 'समालोचक'—अगस्त, १६०४ ई०
२५८. हिन्दी भाषा के उपन्यास-लेखकों के नाम : 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १६०५ ई०

प्रेरित पत्र

२५९. मिस्टर जैन वैद्य के नाम : 'समालोचक'—सितम्बर, १६०४ ई०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२६०. 'राजपूत महासभा' और 'राजपूत' पत्र के नाम : 'समालोचक'—सितम्बर, १९०३ ई०
२६१. समालोचक-सम्पादक के नाम : 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल; जून-जुलाई, १९०४ ई०; जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
२६२. सरस्वती-सम्पादक के नाम : 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०

व्यक्तिगत पत्र

२६३. पं० झाबरमल्ल शर्मा के नाम
२६४. पं० दीनदयाल शर्मा के नाम
२६५. बाबू श्यामसुन्दरदास के नाम
२६६. रामकृष्णदास के नाम
२६७. विद्याभूषण पं० हरिनारायण पुरोहित के नाम
२६८. सम्पादक 'अभ्युदय' के नाम : 'अभ्युदय'—१६ फरवरी, १९११ ई०
२६९. सम्पादक 'भारतमित्र' के नाम (हिन्दी में ऋग्वेद) : 'भारतमित्र'—शनिवार माघ सुदी, सं० १९६६ वि०; १९०९ ई०
२७०. सरस्वती-सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम
२७१. पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का पत्र
२७२. पं० जगनाथप्रसाद चतुर्वेदी का पत्र
२७३. पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्र
२७४. भगवानदास का पत्र
२७५. महामना पं० मदनमोहन मालवीय का पत्र
२७६. रामकृष्णदास के पत्र

सम्पादित ग्रंथ/शोध/अनुवाद

२७७. अशोक धर्मलिपियां (सह-सम्पादित शोध ग्रंथ) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२०-१९२२ ई०
२७८. गोधन (पं० झाबरमल्ल शर्मा विरचित 'भारतीय गोधन' ग्रंथ की भूमिका)
२७९. देवीचन्द्रगुप्तम् (खण्डित नाटक) : विशाखदत्त पर शोध कार्य (?)
२८०. निवेदन [ज्ञान योग (विवेकानन्द ग्रंथावली, प्रथम खण्ड) की भूमिका] 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी—१९२१ ई०
२८१. परिचय (पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत 'बुद्धचरित' की भूमिका) 'नागरी प्रचारिणी सभा, काशी—१९२० ई०
२८२. पुरानी हिन्दी (निबंध-प्रबंध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२०-२२ ई०
२८३. पृथ्वीराजविजय महाकाव्य (सह-सम्पा०) वैदिक यंत्रालय, अजमेर
२८४. शकुंतलातत्व [श्री चंद्रनाथ वसु विरचित बंगला-पुस्तक का हिन्दीरूपांतर (अज्ञात)]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२८५. हिंदुत्व [श्री चंद्रनाथ वसु विरचित बंगला पुस्तक का रूपान्तर] (?)

संस्कृत-साहित्य

२८६. आशीर्वाद (कविता) 'भारतमित्र'—१.७.१९११ ई०
२८७. ईश्वर से प्रार्थना (कविता) 'पाटलीपुत्र'—३१ अक्तूबर, १९१५ ई०
२८८. ग्रीष्म : (कविता) 'संस्कृत-रत्नाकर' (?)
२८९. जय : (कविता) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
२९०. पंचनद देशस्तव (कविता) 'संस्कृत-रत्नाकर'—वर्ष १, अंक १, चैत्र १९७१ वि०
२९१. पं० अनंतराम मिश्र के नाम पत्र—(अज्ञात)
२९२. पं० रामकुमार मिश्र (जसरापुर खेतड़ी) के नाम पत्र
२९३. प्रजा परिषदः स्थापना विधि (?)
२९४. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (कविता)—१९१० ई०
२९५. राजराजेश्वर का स्वागत (कविता) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
२९६. वात्स्यायनीय-कामसूत्रटीकाया जयमंगलायाः कर्त्ता (लेख) 'संस्कृत-रत्नाकर' —१९१४ ई०
२९७. विद्याभूषण पं० हरिनारायण पुरोहित के नाम पत्र
२९८. वैदिक पृषताः गोदानम् (लेख) 'संस्कृत रत्नाकर'—वर्ष ९, अंक ८
२९९. शिवाऽर्चनम् (कविता)—२२ जुलाई, १९०५ ई०
३००. सामयिक-समासोक्तयः (कविता) 'संस्कृत-रत्नाकर'—(?)
३०१. स्वदेशीयाव्यवस्था (काव्य-उद्धरण) 'समालोचक'—अक्टोबर १९०५ ई०

अंग्रेजी-साहित्य

३०२. आन शिवा-भागवता इन पातंजलिज महाभाष्या (लेख) 'दि इण्डियन एण्टीक्वरी' —नवम्बर, १९१२ ई०
३०३. ए पोयम बाई भासा (अंग्रेजी-लेख) 'दि इण्डियन एण्टीक्वरी'—नवम्बर, १९१३ ई०
३०४. ए साइन्ड मौलाराम (लेख) 'रूपम्'—अप्रैल, १९२० ई०
३०५. ककातिक मकन्स (लेख) 'द इण्डियन एण्टीक्वरी'—जनवरी, १९१३ ई०
३०६. द जयपुर आब्जर्वेटरी एण्ड बिल्डर्स (सह-सम्पादन) १९२० ई०
३०७. द रियल ऑथर ऑफ जयमंगला : ए कमेंटरी ऑन वात्स्यायना'ज कामसूत्रा (लेख) 'दि इण्डियन एण्टीक्वरी'—जुलाई, १९१३ ई०
३०८. द लिटरेरी क्रिटिसिज्म (लेख) 'रूपम'—१९१९ ई०

□□

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

98481

Any Other

Recommended By डा० विष्णुदत्त राकेश

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar